

THE

# CHOWKHAMBĀ SANSKRIT SERIES.

A

COLLECTION OF RARE & EXTRAORDINARY SANSKRIT WORKS

NO. 398

श्री  
मण्डनमिश्रकृता

## मीमांसानुक्रमणिका

महामहोपाध्याय-गङ्गानाथशास्त्रशर्मणा मैथिलेन रचितेन

मीमांसामण्डनेन मण्डिता

न्यायोपाध्यायेन दुषिंदराजशास्त्रिणा

संस्कृता शोधिता च ।

MĪMĀNSĀNUKRAMANIKĀ

by

Maṇḍana Miśra,

With an Original Commentary,

Mīmāṃsāmandana

by

Mahāmahopādhyāya

Gaṅgānātha Jhā, M. A., D. Litt., LL. D.

Edited by Nyāvopādhyāya Pandit Dhundhirāj Sāstrī

FASCICULUS V-५

PUBLISHED & SOLD BY THE SECRETARY,

CHOWKHAMBĀ SANSKRIT SERIES OFFICE,

Vidya Vilas Press, North of Gopal Mandir, Benares

1930

❖ श्रीः ❖

आनन्दधनविद्योतिसुमंनोभिः सुसंस्कृता ।  
सुवर्णाऽङ्कितभव्याभशतपत्रपरिष्कृता ॥ १  
चौखम्बा-संस्कृतग्रन्थमाला मञ्जुलदर्शना  
रसिकालिकुलं कुर्यादमन्दाऽऽमोदमोहितम् ॥ २ ॥

स्तवकः—३९८

*Printed by Jai Krishna Das Gupta  
at the Vidya Vilas Press, Benares,*



THE  
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES

A

COLLECTION OF RARE & EXTRAORDINARY SANSKRIT WORKS

Nos. 377, 380, 383, 389 & 398.

THE  
MIMĀMSANUKRAMANĪKĀ

By

MANDANA MIS'RA

With an Original Commentary

ŚHIMĀMSĀMANDĀNA

By

MAHĀMAHOPĀDHYĀYA

GANGĀ NĀTH JHA M. A., D. LITT., LL. D.

Edited by

NYĀYOPĀDHYĀYA KĀVYATĪRTH-

Pandit Dhundiraj S'astri

FASCICULUS I to V. १-५.

PUBLISHED & SOLD BY THE SECRETARY,

CHOWKHMA SANSKRIT SERIES OFFICE.

Vidya Vilas Press, North of Gopāl Mandir, Benares.

1930

Revised According to Ad. Xp. 1867-1868 (A. R. 1867)

Printed-Published & sold by  
JAI KRISHNADAS-HARIDAS GUPTA,  
The Chowkhamba Sanskrit Series Office,  
VIDYA VILAS PRESS,  
North of Gopal Mandir,  
BENARES CITY

*Printed by Jai Krishna Das Gupta  
at the Vidya Vilas Press, Benares,*

# कारिकाणामकाराद्यनुक्रमणिका ।

| विषय                                 | पृष्ठ |
|--------------------------------------|-------|
| अ                                    |       |
| अङ्ग प्रयाजादि सकृत् प्रकुर्यात् २४८ |       |
| अग्निर्वै ब्राह्मणो जात्या ३५        |       |
| अग्निष्टोमस्त्वेतदर्थं ३१७           |       |
| अग्निहोत्रपद नाम ३०                  |       |
| अग्निहोत्रार्थोद्भूते यजि ३५१        |       |
| अग्न्यर्थमेतन्न गुण क्रतूनाम् १-३    |       |
| अग्न्यादिशब्दो ध्रुवमहित-य ३१९       |       |
| अङ्गहीनोऽप्यधिकृत २२८                |       |
| अङ्गाभ्यासाऽध्वरामिधे ४५०            |       |
| अङ्ग पुरोडाश उपैति पा                |       |
| शुकम् ४७५                            |       |
| अच्छिद्रवाचोऽप्यनुषङ्ग एव ४८         |       |
| अज्जनादि भवेत्तस्याम् ३७६            |       |
| अतिदेशो विधेरिष्ट २८३                |       |
| अतः शब्देऽपि विज्ञाते ९              |       |
| अत्र वाऽमुत्र वा फलम् १८०            |       |
| अथ प्रयोजकाध्याय १५६                 |       |
| अथान्येनेत्यखिल क्रतु ५१७            |       |
| अथाय धर्मजिज्ञासाम् ३                |       |
| अधिकौ न पुरोडाशौ ४४३                 |       |
| अदाभ्य प्रकृतौ ग्राह्य ६१            |       |
| अद्रव्योऽप्यधिकारवान् २२८            |       |
| अध्युधिका होतृयजेर्विकार ४२९         |       |
| अध्वर्युणा प्रेषणमेव कार्यम् १४९     |       |
| अध्वर्युमन्त्र करणी विरोधे १४७       |       |
| अध्वर्योश्चर्मसाहुति १४१             |       |
| अनुदयो व्याकरणाद् गवाद्या. २७        |       |

| विषय                             | पृष्ठ |
|----------------------------------|-------|
| अनिरुक्तोदयेऽपीज्या २५५          |       |
| अनीक्षण व्रत पुंस १५८            |       |
| अनुयाजः स्विष्टकृद्गुण ४००       |       |
| अनुयाजा स्युः सहीमनै ३९३         |       |
| अनुष्ठानावसायोऽर्थात् ३७         |       |
| अन्ते भवेत् वैकृतमङ्गजातम् २०७   |       |
| अन्त्ये बीजे वाग्यमस्य प्र       |       |
| हाणम् ४६१                        |       |
| अन्यत्रानियमो भवेत् १९३          |       |
| अन्यत्रापि चोहेत्पुनरुन्तरेषु ९३ |       |
| अन्याप्रामाण्यसिद्धौ ६           |       |
| अन्वाधानमस्यां न च दे            |       |
| वतापरम् ४७९                      |       |
| अपान्निनीति प्रतिपत्तिरेव १६९    |       |
| अब्राह्मणस्याधिकृतिर्न सत्रे २६७ |       |
| अभिक्रम प्रयाजाङ्गम् ७२          |       |
| अभ्यस्यधर्म षडहस्य कार्यं ३०७    |       |
| अभ्यस्या यथोक्त खलु सा           |       |
| मिधेनी ४०६                       |       |
| अभ्यास आतडलतोऽवहन्ते ४४८         |       |
| अभ्यासक्रिया स्यात्प्रथमो        |       |
| त्तमान्ते ३१७                    |       |
| अभ्यासमृच्छेत् परमेकधेति २३५     |       |
| (वर्णकान्तरेण) अभ्यासे           |       |
| नातिजगती ३२८                     |       |
| अभ्यासो निमित्ते गुरुवन्द        |       |
| नादे. २३५                        |       |
| अभ्यूहन चापि निवर्ततेऽत्र ३६६    |       |

| विषय                             | पृष्ठ |
|----------------------------------|-------|
| अमुख्योऽपि गुणो ग्राह्यो         |       |
| येनान्येऽपि गुणान्वितोः          | ४९०   |
| अर्धोऽस्तेऽर्धग्रहस्तृष्णीम्     | ७५६   |
| अवघाते सकृन्मन्त्रः              | ४७१   |
| अवश्यमार्गवधसमर्पणं              |       |
| स्यात्                           | २३३   |
| अघेष्टौ न कृतौ तन्त्रम्          | ४६७   |
| अव्यक्तयागेषु तु सोमधर्माः       | २९८   |
| अश्वग्रहे वैदिकजेऽङ्गमिष्टिः     | १०६   |
| अश्वः स्यात् समस्तस्य            |       |
| निवर्तनाय                        | ३८८   |
| अष्टसंख्याऽवयुत्योक्ता           | ३४    |
| असन्नयत्स्वप्ययमेव कालः          | २५३   |
| असन्निकृष्टसादृश्यम्             | १०    |
| असान्नाय्येऽप्ययं यज्ञिः         | २५७   |
| अस्त्येव मैत्रावरुणस्य गार्धः    | ४३०   |
| अस्मिन्ने न काश्यानि             | ३७४   |
| अस्थनां चेन्न जपादिकम्           | ३७३   |
| अहर्गणे स्युर्दशरात्रधर्माः      | ४०५   |
| अहीनोपसर्दा संख्या               | ९६    |
| अह्नां-सहस्रसंख्या स्यात्        | २७१   |
| अहर्गणाक्षोपचयो विधेयः           | ३०८   |
| अहीनोपि भवेदेवम्                 | ४०४   |
| अंशुग्रहाङ्गं प्रकृतिस्थधर्माः   | १२६   |
| आ                                |       |
| आकृतित्यतिरिक्तेऽर्थे            | १२    |
| आग्नेयमन्त्रः प्रकृतेः प्रयोज्यः | ८०    |
| आग्नेययागश्च पृथक्प्रदानम्       | ४५०   |
| आग्नेयविध्यन्तमुपैति सौर्यः      | ३०१   |
| आग्नेयोऽन्यो रुगर्धिन            | ६३    |
| आग्नेयः पर्वणोर्भवेत्            | ६४    |
| आधारसन्नतविधिर्गुणमा-            |       |
| त्रनिष्ठः                        | ५१    |

| विषय                              | पृष्ठ |
|-----------------------------------|-------|
| आज्यस्य धर्मो मधुनीरयोः           |       |
| स्यात्                            | ३०२   |
| आज्यान्न शेषकार्याणि              | १११   |
| आधानं कर्तुमिभिन्नम्              | ५८    |
| आधारे स्यादेवमेव व्यवस्था         | ४९६   |
| आपराश्रिकभेदः स्यात्              | ४५५   |
| आमिश्रायां पयोगताः                | ३०४   |
| आरम्भणीयां सकृदादितः              |       |
| स्यात्                            | ३१८   |
| आरम्भणीया विकृतौ                  | ४८६   |
| आरुण्यं क्रयणस्याङ्गम्            | ७०    |
| आर्ते हविष्येकतरेऽपि यागः         | २४९   |
| आर्चिर्वज्र्य ब्राह्मणस्यैव       | ५०३   |
| आर्च्यप्रयोगो-बलवान् यवादौ        | २४    |
| आवर्तेताह्वानमह्नां समूहे         | ४६३   |
| आसादने स्याद्विधिरुक्तेरस्य       | ३८१   |
| आर्षेये न विकल्पः स्यात्          | ४३७   |
| इ                                 |       |
| इज्यात्रयं त्वहीने स्यात्         | ४५६   |
| इदानीं नित्यसम्बन्ध               | ११    |
| इषो श्येनसमो विधिः                | २८२   |
| इष्टिं कृत्वा सोमयागं न कु-       |       |
| र्यात्                            | २२०   |
| इष्टेर्भवेदैक्षुर्पशुर्विकारः     | २९६   |
| इष्टेः पश्चात्सोमधर्मा विकारः     | २२३   |
| इष्ट्यङ्गमुपवीतता                 | ७२    |
| उ                                 |       |
| उत्कर्षो नाग्निहोत्रस्य           | २०२   |
| उत्कृष्टव्यः स्यात्पुरोडाश एव     | २२२   |
| उत्कृष्ट्येरन् देवताः सूक्तवाक्ये | ४६५   |
| उत्त राग्रन्धर्मात्तरा            | ३२७   |
| उपश्रवेकपुरोडाशे                  | ४४५   |

| विषय                          | पृष्ठ |
|-------------------------------|-------|
| उपाशु स्याद्ब्रुवाज्यत        | ४४४   |
| उद्भृत्य चासादनमत्र नास्ति    | ३६५   |
| उद्भिन्नाम गुणो नैव           | २९    |
| उपक्रमत् सा तुरगस्य दातु      | १०७   |
| उपगान समुच्चयेम्              | ३९३   |
| उपगा प्रकृता मता              | १३७   |
| ( द्वितीयवर्णकम् ) उप         |       |
| स्थान प्रगोतया                | ३३२   |
| उपहामा न बाधन्ते              | ३९०   |
| उपाशुक्तं प्राज्ययजिप्रयुक्ता | ३१६   |
| उपाशुस्तत्र हीयते             | २५१   |
| उलूखलक्य बहुबीजयागे           | २०६   |
| उस्त्राशन्दाऽनवन्धायाम्       | ३६९   |
| उपाशो च चतुर्ग्रह             | ४४३   |

ऊ -

|                               |     |
|-------------------------------|-----|
| ( वर्णकान्तरेण ) ऊह ब्र       |     |
| जेत् धान्यमसीति वाक्यम्       | ३२० |
| ऊहस्तथा स्याद्धरितादिशब्द     | ३४० |
| ऊग्रौ विकृत्या खलु पाशमन्त्रो | ३४१ |

क

|                            |     |
|----------------------------|-----|
| ऋक्शादबद्धा भवतीह मन्त्र   | ४५  |
| ऋक्सामभिन्नो यजुरेव मन्त्र | ४६  |
| ऋगागमे क्रम स्थाप्तात्     | १९५ |
| ऋगागम स्यात्प्रवमान आद्ये  | ४०६ |
| ऋग्वेदबोदितान्युच्चै       | ८८  |
| ऋच संस्कारक सोम            | ३२५ |
| ऋत्विजस्त्विह नान्ये स्युः | ४२३ |

प

|                               |     |
|-------------------------------|-----|
| एकत्रिके स्यात् तृष्णमाद्यमेव | ४०४ |
| एका च पञ्चेति गवो नि-         |     |
| वृत्ति                        | ३८७ |

| विषय                      | पृष्ठ |
|---------------------------|-------|
| एकैकश सत्राफल समग्रम्     | २३१   |
| एकद्विवाची न सलूहितस्य    | ३४६   |
| एकधेति सहायकम्            | ३६७   |
| एकमेव फल तत               | १७७   |
| एकादशिन्या विकृतिस्तु     |       |
| तस्य                      | ३४६   |
| एकैव भिन्नदेवत्य          | ४७०   |
| एक पदार्थो जनयत्यपूर्वम्  | ३९    |
| एकेषु मैत्रावरुणस्य भागः  | ४३१   |
| एतौ पशौ क्षत्रविड्ब्राह्म |       |
| णानाम्                    | २२१   |

ऐ

|                                |    |
|--------------------------------|----|
| एन्द्रषु सोमेषु तु भक्षमन्त्रा | ८२ |
|--------------------------------|----|

क

|                               |     |
|-------------------------------|-----|
| कण्वरथ तरे सर्व               | ३३७ |
| कपालेषु न तन्त्रता            | ४७१ |
| कपाल न तुषाक्षितम्            | १८३ |
| कर्तव्यमातिथ्यमिडात्तन्त्रमेव | ४३२ |
| कमण्येकस्मिन् गुणा स्युः      |     |
| समस्ता                        | ४६२ |
| कर्म नान्यत् प्रतिनिधौ        | २३८ |
| ( तृतीयवर्णकम् ) कर्मस्व      |     |

|                                |     |
|--------------------------------|-----|
| कश्चुतिर्मन्त्रे               | ३३३ |
| कर्माद्यपि फलादितः             | ६८  |
| कर्मान्तरे न समवैति द          |     |
| धीन्द्रियार्थम्                | ५४  |
| कर्मान्तरं पञ्चशरावयाग         | २५१ |
| काण्डं पुरोडाशगुणे क्रमेण      | २०४ |
| काम्ययागेषु न क्रम             | २१६ |
| काम्ये तन्त्रन्तु वैकृतम्      | ४२० |
| काम्यं यथेच्छं पुनरेव कुर्यात् | ४७७ |

| विषय                                  | पृष्ठ |
|---------------------------------------|-------|
| काम्येऽपि न स्यात्सकल-                |       |
| ग्रहेभ्यः                             | ४१२   |
| कार्यं प्रधानं सकलांगयुक्तम्          | ४४७   |
| काम्येऽपि ग्रांशु भवेत्प्रधानम्       | १५३   |
| काम्ये समाख्यानबलेन                   |       |
| याज्या                                | ८०    |
| काम्ये सर्वाङ्गसङ्ग्रहः               | २३८   |
| कार्यहानेस्तदग्राह्यम्                | २४६   |
| कार्यैकत्वे स्याद्गुणानां             |       |
| विकल्पः                               | ४९३   |
| कालार्थं स्वर्द्धगुच्यते              | ४७७   |
| काले सौत्रामणी स्वरे                  | १८४   |
| कुम्भ्येका पशुसंहतौ                   | ४६९   |
| कुर्यात्कश्चिदहीनके                   | ५०२   |
| कुशानां बाधकाः शराः                   | ३९१   |
| कृतेऽपि त्र्योमकालवान्                | १८२   |
| कृत्स्नोऽङ्गुतौ श्येनवचः              | ३५०   |
| कृत्स्नादयः स्युर्विदुषैव वाच्याः     | १४६   |
| केचिदिहेऽपिगुणाः खलु यागाः            | १९०   |
| कौत्सादि पूर्व बाधेन                  | ३९५   |
| क्रत्वङ्गभावोऽनृतवारणस्य              | १०३   |
| क्रत्वर्थेऽस्मिन्मन्त्रिमात्रेव कर्ता | २७६   |
| क्रत्वर्थं त्वस्थिकर्तृकम्            | ३७३   |
| क्रत्वर्थं नैव दातव्यम्               | २७२   |
| क्रत्वर्थं स्यात् पयोव्रतम्           | १७७   |
| क्रत्वाश्रयस्तूभयसामके                |       |
| स्यात्                                | ४११   |
| क्रमेण विनियोगोऽस्ति                  | ९०    |
| क्रमोऽर्चुदानेऽधिगतः प्रदाने          | २०५   |
| क्रमः पदार्थेषु गुणे पशूनाम्          | २०३   |
| क्रमः परिवर्णयुतेऽञ्जनादौ             | २०५   |
| क्रमः समाख्यां बाधते                  | ९५    |
| क्षाम्येऽत्र कृत्स्ने यजतेर्विधानम्   | २४९   |

| विषय                                | पृष्ठ |
|-------------------------------------|-------|
| ग                                   |       |
| गणे क्रत्वर्थमेकस्य                 | ५०२   |
| गणेषु चैकादशिनस्य धर्माः            | २९७   |
| गतिस्तुनेर्मध्यमपर्वणाः सा          | २८९   |
| गवादिशब्दोऽभिधानि जानिम्            | २८    |
| गव्यस्य सांवत्सरिका वि              |       |
| काराः                               | २९८   |
| गाने नाह्नां पृथग्मात्रः            | ४६०   |
| (वर्णाकान्तर) गानं जग-              |       |
| त्साम यतो जगत्याम्                  | ४१०   |
| गायत्रता नाक्षरलोपने स्यात्         | ३०८   |
| गायत्र्यादावृणावापः                 | २८३   |
| गीतिमात्रं भवेत्साम्                | ३२४   |
| गीतिरेवानिदिश्येत्                  | २८४   |
| गीत्या समतं नदिरापदं                |       |
| स्यात्                              | ३२४   |
| गीत्युपाया विकल्पिताः               | ३३१   |
| गुणलोपस्तु सार्वाङ्गः               | ४००   |
| गुणलोपे च मुख्य स्यात्              | ३७७   |
| गुदानां स्यात्समुच्चयः              | ४९९   |
| गोदोहनादेर्विकृतौ विधिर्ना          | १२२   |
| गोदोहनं क्रतोर्नाङ्गम्              | १५७   |
| ग्रहादिभिर्नैष्टिकहोम इष्यते        | ४७६   |
| ग्रावस्तुतो विधेर्भक्षः             | ११४   |
| ग्राह्यस्तुतीये सवने स नूनम्        | ४०८   |
| ग्राह्यो वैकल्पिको न तु             | २४२   |
| ग्राह्यं तन्मुखमात्रकृत्            | २४६   |
| ग्राह्यं न्यूनमपि श्रुतम्           | २४५   |
| ग्राह्यं मुख्यं न प्रवृत्तिर्विरोधे | २१९   |
| च                                   |       |
| चतुर्थोऽवोऽपि खलु बर्हिहीने         | ४०९   |
| चतुर्थाग्नेय एव हि                  | ७५    |

| विषय                            | पृष्ठ |
|---------------------------------|-------|
| चतुस्सख्याद्वय ग्राह्यम्        | १२६   |
| चमसाधन्यव पृथक्                 | १३१   |
| चरात्रेव पिपि पौष्णे            | १००   |
| चरुशेषाद्भुत्तरे                | ४५८   |
| चरुपधाने न यजि                  | ६०    |
| चरौ हिरण्ये विधिरौषध            |       |
| स्यात्                          | ३०२   |
| चातुर्होत्रेऽनग्निरेवाधिकामी    | २७६   |
| चित्रिण्याद्या मध्य चित्तौ      | २१४   |
| चोदना सम्प्रतिता धर्मे          | १४    |
| छ                               |       |
| छन्दोऽन्तरेऽप्यस्ति च म-        |       |
| श्रमन्त्रा                      | ८६    |
| छन्दो विवृत्त्या न विवर्ततेऽथ   | ४१६   |
| छान्दो मन्त्राद्दोक्षिताक्त पशु |       |
| स्यात्                          | २८०   |
| छेदप्रयाक्ता न खलूपप            | १६८   |
| • ज                             |       |
| जज्ञभ्यमान प्रकृताऽधि-          |       |
| कारी                            | १०४   |
| जयादयो वेदिकहामशेषा             | १०५   |
| जाघनी च प्रिकृत्यते             | ५००   |
| जातिभेदे पृथक्कुम्भी            | ४७०   |
| जीवतामस्थियन्न स्यात्           | ३७२   |
| जीवत्यायुर्हिहाशास्यम्          | ३७६   |
| जुहोतेरेव नामैतत्               | ३१०   |
| जुह्वादिपात्रा पृथग्वा कार्गम्  | २६८   |
| ज्योति प्रभृत्यपि भवेत् य       |       |
| जिभेत्तुनाम                     | ५२    |
| ज्योतिष्टोमे ग्रहाग्रस्वम्      | ५६    |
| ज्यातिष्टोमेऽस्ति मर्क्षणम्     | ११३   |
| ज्योतिष्टोमो यजुर्वेदे          | ८९०   |

| विषय                         | पृष्ठ |
|------------------------------|-------|
| त                            |       |
| ततश्चरौ सवपनश्च न स्यात्     | ३६३   |
| ततो निरूपिते भित्तिद्वये     | १२    |
| ततोऽन्ये स्थुरिहर्त्विज      | ३७१   |
| ततोऽभिधेयरूपं यत्            | १२    |
| तत्काल तु प्रदीयते           | २७२   |
| तत्तच्छ्रुत फल काम्ये        | १७९   |
| तत्राज्यभागाद्यधिकं च कि     |       |
| ञ्चन                         | ४७५   |
| तत्रोद्वाहो हविर्ग्रहे       | २५६   |
| तत्साम्न च प्रतिकृष्यते      |       |
| ऽर्थात्                      | ४१३   |
| तत्साम्नाराश्चापि तन्त्राञ्च |       |
| मित्रा                       | ४६०   |
| तथा गौगुलवाञ्जनम्            | ३९४   |
| तथा चरौ सायवन न कार्गम्      | ३६३   |
| तथावघातादिविधिर्निय          |       |
| न्ता                         | १७२   |
| तथा समस्तं चमसेन वा-         |       |
| ध्यम्                        | ३८९   |
| तथोपधानन्न विधेयमत्र         | ३६४   |
| नदाद्युत्कर्ण इष्यते         | १९९   |
| तदेवाङ्गेषु नो पृथक्         | ४५१   |
| तद्वादशशतादूर्ध्वम्          | २७३   |
| तद्वाध समसख्यया              | ३६५   |
| तद्भेदे तु वसा पृथक्         | ४५३   |
| तद्भेदेकपालके                | २८३   |
| तन्त्रा यूप स्यात्पशूना ज्ञा |       |
| याणाम्                       | ४५९   |
| ततोऽपि दुःख यजमानगामि        | १४४   |
| तमेकैकः प्रकुर्वीत           | ३७१   |
| तस्यावदेय हृदयादि नान्यत्    | ४२८   |

| विषय                          | पृष्ठ |
|-------------------------------|-------|
| तस्यैव चाशसनमन्त्रापाठः       | १४५   |
| तस्यां तु देवता तान्त्री      | ४४४   |
| तथा पलाशः खदिरेण              |       |
| बाध्यः                        | ४३५   |
| तद्यावदुक्तांगयुत प्रकुर्यात् | ४३१   |
| ( वर्णकान्तरेण ) तस्यै श्रु-  |       |
| तादौ न भवेत्तथाहः             | ३२२   |
| ताः प्राग् लोकस्पृणान्वयात्   | २१४   |
| नार्तियेष्वपि नैव सा          | ४८५   |
| तृच गोये भवेत् साम            | ४८७   |
| तृतीयविषयो गतः                | १६१   |
| ते तु ब्रह्मादयो नान्ये       | १३८   |
| तेषान्तु मन्त्रांस्तरणे पुनः  |       |
| पठेत्                         | ४८३   |
| तेषामग्न्याधानतो धारणं        |       |
| स्यात्                        | ४६५   |
| तेषाम्पशौ संनहनं न-           |       |
| मन्त्रावत्                    | ४८३   |
| तेषां समाख्यया कर्म           | १३९   |
| ते स्युरभ्युदये पुनः          | ३५३   |
| त्यागः परस्वीकरणं च दानम्     | १७४   |
| त्रिके त्रिकेऽङ्गमभ्यस्येत्   | ४५२   |
| त्रित्वन्नियम्येत कपिञ्जलेषु  | ४४९   |
| त्रिषणौ रथकृन्न हि            | २३०   |
| त्रेतायां श्रौतकर्मैव         | ४८४   |
| ज्यगैर्जेतेति न यागशेषैः      | ४२८   |
| त्वष्टा न पात्नीवतदेवता       |       |
| स्यत्                         | ८५    |
| इयम्बिकावधृतिः स्तुतिः        | ४३९   |
| द                             |       |
| दक्षिणा सकृदश्रुतेः           | ४२४   |
| दक्षिणा स्यात्परिक्रयः        | ३६८   |

| विषय                            | पृष्ठ |
|---------------------------------|-------|
| दण्डप्रदानं पुनरर्थकर्म         | १६९   |
| दध्ना जुहाति पयसेति न हो-       |       |
| मभेदः                           | ५४    |
| दध्नः प्रणीता धर्माः स्युः      | ३३६   |
| दध्नः प्रयोजिकाऽऽमिश्रा         | १६१   |
| दम्पत्योश्च यजिः सह             | २२६   |
| दर्शमन्त्रार्थायोर्घोषः         | ३९१   |
| दर्भेरिहाम्बज्वलनं न कुर्यात्   | ३६५   |
| दर्विहोमेऽखिले स्वाहा           | १४२   |
| दर्विहोमपद नाम                  | ३०९   |
| दर्विहोमाम्त्वपूर्वका.          | ३११   |
| दर्शस्य नैमित्तिकमङ्गमेषः       | २५१   |
| दर्शादिकाले च पुनः पुनः         |       |
| स्यात्                          | २३४   |
| दर्शादियागे यजमान एक            | २३१   |
| दर्शादियागः सततञ्च कार्याः      | २३४   |
| दर्शोष्टिधर्माः सकलंष्टिगामी    | २५५   |
| दशते लिङ्गदर्शनात्              | १३६   |
| दशपेयकयः पृथक्                  | ४५७   |
| दानं द्वेप्याय नानातिः          | ३७२   |
| दीक्षामानं विकल्पितः            | २५८   |
| दीक्षा स दक्षिणा नांगं          | १३२   |
| दीक्षासु क्रमः श्रुत्या विधायते | १९२   |
| दीक्षाहुतीनां तु समुच्चयः       |       |
| स्यात्                          | ३८२   |
| दीक्षितो दीक्षणीयान्ते          | २१६   |
| दीक्षितैः प्राश्यते मधु         | ४२२   |
| दीर्घसंस्थासु तर्दनम्           | ९८    |
| देयं कल्पान्तरं बहु             | २७४   |
| देयं भूगोलकं न तु               | २७०   |
| देयं सर्वगुणंऽपि तत्            | २५२   |
| देवताऽभ्युदयेऽन्यास्यात्        | २५४   |



| विषय                             | पृष्ठ |
|----------------------------------|-------|
| देवतैक्ये वर्सा नञाम्            | ४१३   |
| देवनमस्य गुण पितृयक्ष            | १८९   |
| देशादिवाक्ये नियमो विधेय         | १७१   |
| देशान्येकस्मिन्धानानाम्          | ४५१   |
| देश कर्तान्य स चान्यप्रयोगे      | ४६३   |
| दैक्षस्य चान्ये पशवो वि          |       |
| कारा                             | २९६   |
| दोहद्वये दोहगुण समत्वात्         | १२४   |
| द्रव्यादिफलवाक् स्तुत्ये         | १७५   |
| द्रव्येषु कौम्येषु न चोद         |       |
| कोक्तम्                          | ४३५   |
| द्रव्येकभावात्सङ्घट्टिधर्मा      | ३१६   |
| द्वन्द्वानि न स्युर्गोत्रमानकर्म | १७७   |
| (चतुर्थवर्णकम्) द्वया            |       |
| प्रगाथे गतन्त्यम्                | ३३१   |
| द्वयो प्रणीतिर्न हि सोमि         |       |
| की स्यात्                        | २८८   |
| द्वयो फल भद्रपदाभिधेयम्          | १५०   |
| द्वयोगुणा स्यु परिधौ             | ४८८   |
| द्वयोर्विनाशे पुनरादधाति         | २४०   |
| द्वादशाहे द्वादशैता              | २५९   |
| द्वियक्षे प्रतिपद्विधि           | ९७    |
| द्विरैन्द्रावयवे भक्ष            | ११२   |
| द्वेदिन्य स्यान्नेष्टिधर्मो वि   |       |
| कारे                             | २२२   |
| द्वैपृष्ठमुभयश्रुतौ              | ४५०   |
| द्वौ चापि मन्त्रौ प्रकृतौ        |       |
| निविष्टौ                         | ३४२   |
| द्वयपक्षेऽपि तद्विधि             | २६३   |
| द्वयार्थमोपभृत धृतम्             | १६५   |
| द्वयान्नातमन्त्रा उभयप्रयोज्या   | १४६   |

| विषय                            | पृष्ठ |
|---------------------------------|-------|
| ध                               |       |
| धर्मातिदेशो स्वरसामशब्द         | २८९   |
| धर्मातिदेशे पदमग्निहोत्रम्      | २८८   |
| धर्मातिष्ठा न च पृष्ठशब्द       | २९१   |
| धर्माश्च सोमावभृथात्            |       |
| प्रधासे                         | २८६   |
| धर्मास्तु दैक्षस्य पशो स        |       |
| मीपे                            | १२४   |
| धर्मास्त्वपूर्वेण खलु प्रयुक्ता | ३१२   |
| धर्मोपदेश प्रतिनिध्युपात्ते     | १२८   |
| धर्मो व्यवस्थयाऽह्ना स्यात्     | ३०४   |
| धाना पयस्या शकलश्च              |       |
| शेषात्                          | १५२   |
| धानार्थमवहन्यते                 | ३८०   |
| धाग्याशब्दोदिना मध्ये           | २११   |
| धारायागेऽप्येवमेव कम            |       |
| स्यात्                          | ४६१   |
| धार्या वत्सत्वक पुरोक्ता        |       |
| हत च                            | ४९१   |
| धेनुका दक्षिणा नेष्टौ           | ३७१   |
| धेनु समस्तस्य निवर्तिका         |       |
| स्यात्                          | ३८६   |
| न                               |       |
| न कटपसूत्राण्यनपेक्षमानम्       | २५    |
| न कृष्णलेषु व्यादेशः            | ३६८   |
| (द्वितीयवर्णकम्) न कृ           |       |
| ष्णले स्याद्वधानकर्मा           | ३५६   |
| न खादिरी खलेवाली                | २७८   |
| न ग्रहैक्यं विवक्षितम्          | ७०    |
| न चानतिद्वारभृतिप्रदा           |       |
| नादङ्गेष्विभक्षा विनिवर्ता      |       |
| नीया                            | ४८१-  |

| विषय   | पृष्ठ | विषय  | पृष्ठ |
|--|-------|---|-------|
| न चातिदेश्यो गुणकाम इष्टः ३००                        |       | न मन्त्रादौ प्रतिनिधिः २३९.                 |       |
| न चाभिधारो वसने च वस्त्रे ३८५                        |       | न मानसमहर्षिर्ननं ४२२                       |       |
| न तयोः कर्तुमिन्नता ४५५                              |       | न मुष्टिर्वाग्यमार्थाय ७४                   |       |
| न तूत्तरा द्रोहविधौ जि-<br>संख्या ४४९                |       | न राजसूयेष्टिषु सात्र कार्या ३५८            |       |
| न ते स्युः पशुकामेष्टौ ३५३                           |       | न त्रिभिर्मेदो नृपकतौ ४६७                   |       |
| न त्वत्यन्ताङ्गहीनकः २२९                             |       | न लोभभूलं स्मरणं प्रमाणम् २२०               |       |
| न त्वसौ फलभागी स्यात् २४१                            |       | न लौकिकाश्रियमः समाप्तौ २३०                 |       |
| न त्वादधातिः क्रतुमध्यगेष्टिषु ४७६                   |       | न वाजिने सामधर्मः ३०३                       |       |
| न दीक्षणीयाऽप्यस्थनां चेत् ३७३                       |       | न विहिते इति यावज्जीवका<br>लोऽग्निहोत्रे ६५ |       |
| न देवताकर्माणि तु प्रधानम् ३१४                       |       | न वैष्णवोक्त्यापि गुणातिदेशः २८७            |       |
| न सोम इति सुश्रुतिः ४३६                              |       | नष्टेऽवदाने हविरन्तरं स्यात् २४७            |       |
| न चोदकेनांगविधोपसत्सु ४३३                            |       | न सत्रे वरणं भवेत् ३६९                      |       |
| न तु प्रदानं प्रतिकर्णणीयम् ४१४                      |       | न सर्वादानं हविषोऽवखण्ड्य १०८               |       |
| न देवतार्थाः स्तुतशस्त्रपाठः ४२                      |       | न साप्तदश्यं प्रकृतौ विरोधात् १२१           |       |
| न द्यावापृथिवीयस्य नञि-<br>ताऽऽप्रयणे भवेत् ४९१      |       | न सोमयागो भवतीति धर्मा २९५                  |       |
| न द्रव्यसंख्यादिरपि प्रयोक्ता ३१५                    |       | न सोमलिप्तैरुदकेष्टिषु १७१                  |       |
| न धर्मोपनतो देयः २७१                                 |       | न स्यात्तन्त्रं देवसूनाम्पराधार्थम् ४०२     |       |
| न पर्णता स्याद्विकृतौ द्विरुक्तेः १२१                |       | न स्याद्वावाये कथितोऽनुपङ्गः ४८             |       |
| न पावमानी प्रति पावमानी १२३                          |       | न स्यान्नित्यं रात्रिशेषाशनादि १८०          |       |
| न पेयणं चोदकतश्चरौ स्यात् ३६२                        |       | न स्वामिनोऽसन्तपन फल<br>स्यात् १५०          |       |
| न प्रोयणीयेत्यतिदेष्टुनाम २८६                        |       | न स्वामिनः प्रतिनिधिः २४०                   |       |
| न प्रोक्षणादीन्युपसत्सु बहि-<br>षाम् ४८२             |       | न हविश्चतुरादेयं ४४३                        |       |
| न प्रोक्षणं हन्ति पिषिप्रयुक्तम् ३१२                 |       | न हि व्रजेन् यज्ञपतिस्त्रिधा-<br>याम् ३२०   |       |
| न बाधः स्तोमवृद्धौ तु ३९६                            |       | न होतृकामो यज्ञेऽस्थनाम् ३७५                |       |
| (वर्णक्रान्तरेण) न ब्रह्मभा-<br>गव्यतिरिक्तदानम् ३८९ |       | नाश्रितः शकृन्ना पशुः १६३                   |       |
| न भिन्नकल्पाः खलु सत्रि-<br>णः स्युः २६६             |       | नाग्निवाचा यजि वदेन् ६२                     |       |
| न मन्त्रमूहेत् प्रतिनिध्युपात्ते ३४४                 |       | नाजो धेनोदिपु ब्राह्मः ३७८                  |       |
|  |       | नाडा लोपे पुनः क्रिया २५०                   |       |
|  |       | नादित्ये पयसा धर्माः ३५२                    |       |

| विषय                                   | पृष्ठ |
|--|-------|
| नाद्यप्रयोगे प्राचर्ग्यम्              | २९    |
| नङ्यादर' स्यात् वपनादि<br>मन्त्रे      | ४०५   |
| नाधानमङ्गलं पावमान्या                  | १२२   |
| नाग्निगोस्तेन्द्रता कार्या             | ४७४   |
| नानाबीजे पृथक् पृथक्                   | ४७१   |
| नानाहिकाना विहिता<br>त्रिवृत्ता        | ५०६   |
| नान्त्ये हि पत्नीयजनान्त<br>संस्था     | ३१७   |
| नान्यानुष्टुबिहोत्तरा                  | ३३०   |
| नाम चित्रापदं तथा                      | ३०    |
| नाम श्येनपद पुन                        | ३१    |
| नारण्यभुक्तिः क्रियतेऽत्र दा<br>र्शिकी | ४८०   |
| नारम्मणीर्येति च दीक्षणीये             | ३५७   |
| नार्जने नियमः क्रतोः                   | १५७   |
| नात्र दानादि दीक्षिते                  | ४४०   |
| नावाहनं कार्यमुरुकमस्य                 | ३५७   |
| नावृत्तिरदानस्य तु                     | ४२१   |
| नाम्ना देया. पर्युदासात्               | २७०   |
| नासावाहवनीयक                           | ५०१   |
| नास्मिन्नाधानसंस्कारा                  | ५०१   |
| नास्य स्यान्नित्यधारणम्                | ५०१   |
| नास्यां स्यात्तक्षणादिकम्              | ३७९   |
| नास्विष्टकृच्छ्रेषकृतिः सपूर्वे        | ४३२   |
| निकायिनां पूर्ववदुत्तरेषु              | २९९   |
| निगमाध्याज्यपानिति                     | ४०३   |
| नित्यमियेष दधिग्रहहोमम्                | १८७   |
| नित्ये काम्ये च दध्यदि                 | १७६   |
| नित्ये गौदोहनं नहि                     | १७६   |
| निराकृतेषु सर्वेषु                     | ७     |

| विषय                              | पृष्ठ |
|-----------------------------------|-------|
| निर्मन्थ्यशब्दोऽप्यतिदेशको न२८८   |       |
| निर्मन्थ्य योगनियम                | ३३    |
| निर्वापकमार्थमनोऽन्तरं            |       |
| म्भवेत्                           | ४७७   |
| निर्वापमन्त्रे ध्रुवमूहनं स्यात्  | ३३६   |
| निर्वापादौ पृथङ् मन्त्रा          | ४७२   |
| निशीष्टिर्दर्शतन्त्रा स्यात्      |       |
| सामिधेन्यादिक विन्ना              | ४८५   |
| निषेधमात्रं लशुनाशनादौ            | २३३   |
| निष्कासोऽवभृथाद्भिन्नः            | ४५७   |
| निष्कृष्याध्यायतात्पर्यम्         | ५     |
| नीवारं ब्रीहिधर्मा स्यु           | ३३५   |
| न देवतासंस्करणाय याग              | ३६०   |
| नेन्द्राग्निपीतो भवतीन्द्रपीत     | ८६    |
| नेष्टिर्धार्वाग्निशमने            | ३५१   |
| नैकादशिनमन्वहम्                   | ४८१   |
| नैन्द्रापौष्णेऽस्ति पेषणम्        | १००   |
| नैमित्तिकविकल्पोऽत्र              | १६४   |
| नैमित्तिके धर्मगुणः श्रुतौ नौ     | १२७   |
| नैमित्तं चेत्तत् समुच्चयेनैव      | ४९३   |
| नैव त्रयस्त्रिंशदिहोपलब्धाः       | ८५    |
| नैषा प्राक् जातकर्मणः             | १८३   |
| नोत्कृष्यते पिष्टलेपि             | २०१   |
| नोत्तरोत्पत्तिवृहती               | ३२९   |
| नोत्थातुमग्नीन् विहरेति मन्त्रा   | ७८    |
| नोत्पादयेद्वस्त्रमनञ्च यज्ञे      | २९०   |
| नोपमदङ्गमगादि हि सौम्यम्          | १८६   |
| नोपस्तृत्यभिधारणे                 | ३६६   |
| नोपात्तदर्भौ विधृती पवित्रे       | १५२   |
| नोदस्तु कार्या हरिषत्पदादौ        | ३२१   |
| नोहं विदध्यात् खलु चक्षुः<br>रादौ |       |

| विषय                                    | पृष्ठ | विषय  | पृष्ठ |
|---|-------|---|-------|
| नोह प्रयोज्यो विकृतौ च<br>पत्न्याम् ३४३ | ३४३   | पाठः पृथक् स्यात्खलु स-<br>न्निपातिनाम् ४७८ | ४७८   |
| नोहः सवित्रादिपदेषु कार्याः ३१६         | ३१६   | पाठ्योऽनध्यायेऽपि मन्त्रो-<br>ऽध्वरादौ ४९४  | ४९४   |
| नोहादयो मन्त्रागतास्तु मन्त्राः ४५      | ४५    | पात्नोवते तु प्रवदेन्न पूर्वाम् ८४          | ८४    |
| नोहोऽधिगौ तुल्यविधानपक्षे ३४३           | ३४३   | पात्राणां स्यात् धारणं<br>सर्वकाले ४६४      | ४६४   |
| - ५                                     |       | पानं चोग्रहवेन हि ११७                       | ११७   |
| पश्चावदानं हृदयादिकेपि ४३६              | ४३६   | पार्वणौ वैकृते न स्तः ३३८                   | ३३८   |
| पत्नीनां चाग्निकारोऽत्र २२६             | २२६   | पित्र्यं कर्माथापराह्णादिकाले २७८           | २७८   |
| पत्नीपदे सन्नहनाय नोहः ३४२              | ३४२   | प्रतीकास्तु नियम्यन्ते २४३                  | २४३   |
| पत्न्याश्च सन्नाह इहेष्यते नवै ४८०      | ४८०   | पुत्रे फलं स्याज्जातेष्टेः १८३              | १८३   |
| पदकर्माप्रयोजकम् १६२                    | १६२   | पुनरेकमहर्भवेत् २६५                         | २६५   |
| पयोधर्मा स तु भवेत् ३०३                 | ३०३   | पुरोडाशः क्रतोः पंशौ ४८४                    | ४८४   |
| परस्य चमसेऽपि त्रौ ११६                  | ११६   | पुंसो निषेध. शतयाननोत्तया १०४               | १०४   |
| पर्युदासेऽन्यता भवेत् ४३८               | ४३८   | पुंसो हिरण्यस्य धृति. क्रतोर्न १०५          | १०५   |
| परिक्रयार्थो न भवेद्विभागः ११०          | ११०   | प्रतीकखण्डोऽभ्युपदिष्टधर्मा १२८             | १२८   |
| परिक्रयो न भक्षः स्यात् ३६९             | ३६९   | पूर्णादितन्त्रां विहितं कृतवाय १०२          | १०२   |
| परिष्कृत्यः स्याद् यजमानकर्मा १४२       | १४२   | पूर्वेऽयैवोपरमो यजिः स्यात् ४३३             | ४३३   |
| परिधिर्यूपधर्मात् ३३५                   | ३३५   | पूर्वाह्णादौ देवकार्याणि<br>कुर्यात् २७८    | २७८   |
| परिधुक्तिः स्वकालार्था १८२              | १८२   | पृष्ठमेकं विश्वजिति ४१२                     | ४१२   |
| परं पूर्वस्य बाधकम् २६४                 | २६४   | पौराडाशो वाग्विसग प-<br>शौ चेत् ४६१         | ४६१   |
| पर्वाण्तेस्तौ व्यवस्थितौ ३३८            | ३३८   | पौर्णमासस्य वैमृधः १८१                      | १८१   |
| पवमानेऽधिकोदुष्टनी ३९६                  | ३९६   | पौर्णमास्या तु सा भवेत् ४८५                 | ४८५   |
| पवमानेष्टितन्त्राता ४६७                 | ४६७   | प्रकृते स्याद् मिदाहुतिः २६२                | २६२   |
| पशुजायार्थारशना सधर्मा १२६              | १२६   | प्रक्रिया बाधते क्रमम् ९५                   | ९५    |
| पशुः सान्नाय्यधर्माकः ३०३               | ३०३   | प्रक्षेपयुक्तो यजिरेव हाम १७३               | १७३   |
| पशोः पुरोडाशं उपस्करोति ३६१             | ३६१   | प्रमथ्येनोत्तरा कुक्कुप् ३२८                | ३२८   |
| पशोलिङ्गं विवक्ष्यते १६०                | १६०   | प्रतिनामर्तिजो भिन्नः १३३                   | १३३   |
| पशौ प्रयाजेषु विधिगुणस्य ३८०            | ३८०   | प्रतिमासं तदावृत्तिः ४२८                    | ४२८   |
| पशौ हविः स्यात् गृथगंगमगम् ४२७          | ४२७   |   |       |
| पश्चादुक्तासम्भरणाच्च दीक्षा २०९        | २०९   |   |       |
| पश्वेकत्वविवक्षा स्यात् १५२             | १५२   |   |       |
| पाकशिहोजायोः सोऽर्थात् १९३              | १९३   |   |       |

| विषय                             | पृष्ठ     |
|----------------------------------|-----------|
| प्रतिषिद्धं गृह्यते              | २४०       |
| प्रतिहामो न चोत्कर्षे            | २६१       |
| प्रत्यक्षादिविरोधेन              | ८         |
| प्रत्यक्षाव्यभिचारित्वे          | ६         |
| प्रत्यहं न द्विसामत्वम्          | ४१८       |
| प्रत्युक्ति पूर्वमन्त्रामाक      | ११७       |
| प्रयुक्तं साम पूरयेत्            | ३२६       |
| प्रमाणपञ्चकामावो                 | १०        |
| प्रमाणानां प्रमाणत्वे            | ११        |
| <u>प्रमाणेन प्रमाणस्य विरोधे</u> | <u>१०</u> |
| प्रमाणं चोदना तदा                | ७         |
| प्रमा प्रकरणं भवत्               | ८९, १०५   |
| प्रयाजार्थेऽभिधारणम्             | १६५       |
| प्रयाणे च सकृन्मन्त्रा           | ४७३       |
| पृथग्धत्त्वमहर्गणे               | ४२६       |
| प्रयाका स्विष्टकृच्छ्रेण         | १६४       |
| प्रयोज्यता नित्यमिरापदस्य        | ३२३       |
| प्रवृत्ते न पुनर्मुख्यम्         | २४५       |
| प्रवृत्त्या पशुषु क्रमः          | १९४       |
| प्रशंसा बाहुसस्तुतिः             | ३४६       |
| प्रशंसाऽश्वे पशूक्तिः स्यात्     | ३६        |
| प्रस्थातुमर्क्षं न पशौ वदन्ति    | ४३०       |
| प्रस्तरे यष्टबाणं गुणात्         | ३५        |
| प्राकाशबाधे न तु सर्वबाधो        | ३८८       |
| प्राग्दक्षिणा नो पुनरादधानौ      | ३८२       |
| प्राघासिकातिदेशः स्यात्          | २८४       |
| प्राचीतिशब्दो वदतीह              | .         |
| शास्त्रम्                        | १६७       |
| प्राचीनवर्षास्तुतये प्रतीची      | १०२       |
| प्राजापत्या न बाधये              | ३९२       |
| प्राजापत्याः सर्वसोमोप-          | .         |
| निष्ठात्                         | ४६५       |

| विषय                              | पृष्ठ     |
|-----------------------------------|-----------|
| प्रातरादियजि सद्य                 | १९८       |
| प्रातराद्या षोडशिनो               | २६२       |
| प्राप्तस्य तस्य श्रवणं द्विरात्रे | ४०९       |
| प्रायश्चित्त स्याद्विकल्पेन नाशे  | ४२३       |
| प्रासो विषाणाप्रतिपत्तिकर्म       | १७०       |
| प्रास्येदन्त्याहे विषाणा          | .         |
| गणस्य                             | ४६१       |
| प्रथे तदर्थं च न कर्तुं सैक्यम्   | १४८       |
| फ                                 | .         |
| फलस्य भक्षणादि स्यात्             | ११९       |
| फलादयोऽप्यत्र न चाति              | .         |
| देश्या                            | २९९       |
| ब                                 | .         |
| बर्हिःशब्दस्तृण वक्ति             | ३२२       |
| बर्हिः सर्गहवि शेष                | १३०       |
| बलवाश्चोदककर्म                    | १९७       |
| <u>बलीयसी श्रुतिलिङ्गात्</u>      | <u>६१</u> |
| बहवस्ते बहुश्रुत्या               | १३५       |
| ब्रह्मर्थं वक्तुकामिन             | ८         |
| ब्रह्मेकदेशग्रहणेऽन्त्यलोप        | ४०३       |
| बाध प्राप्ते क्वचिद्भवेत्         | ९३        |
| बाध्येत वत्सेन पुरोक्तस           | .         |
| र्गम्                             | ३८७       |
| बार्हस्पत्यो न बाधकः              | ३९२       |
| बुधन्वान् नाग्निरिष्यत            | ३९८       |
| ब्रह्मणे सर्वभक्षा स्युः          | ३६७       |
| भ                                 | .         |
| भवेदपूर्वोऽवभृथाख्ययागः           | ४३४       |
| भवेज्जगत्साम मखे विकारे           | ४२०       |
| भक्षोऽस्ति कृष्णलचरोः             | ३६६       |
| भक्षकमो यथाप्राप्ति               | ११६       |
| भक्षप्रैषाच्छादनाद्यत्र नित्यम्   | २७९       |

| विषय                           | पृष्ठ | विषय                           | पृष्ठ |
|--------------------------------|-------|--------------------------------|-------|
| भवेद्गोका धुरि सामगीतौ         | ४०४   | मन्त्रेणोपहवः कार्यः           | ११७   |
| भवेद्गोलायो हविषः सद्रूपत्वम्  | ३०१   | मन्त्रेतरौ ब्राह्मणशब्दवाच्य   | ४४    |
| भवेदपूर्वो गृहरोधकर्म          | ४३१   | मन्त्रे स्थितं भावपदं विधिर्ना | ४३    |
| भवेद्विशामेव न साप्तदश्यम्     | २६०   | मन्त्रोच्चारं मापिका न         |       |
| भागे समाख्यानगुणं प्रकुर्यात्  | २८६   | स्वरः स्यात्                   | ४६४   |
| भिन्नादिहोमोऽपि पुनर्निमित्ते  | २५५   | मन्त्रो दर्शोदधृते न च         | ३५२   |
| भिन्ना विरुद्धगुणभागिति        |       | मन्त्रो न गौणे विनियोजनाय      | ७६    |
| वाजिनेज्या                     | ५३    | मन्त्रोऽनेका ब्राह्मणांका      |       |
| भिन्ने यजौ फलविधिः             |       | विरुद्धयः                      | ४०७   |
| सह रेवतीभिः                    | ५४    | मन्त्रो वेद्युक्षणं सकृत्      | ४७२   |
| भिन्नैकदेशेऽपि भवेज्जुहोतिः    | २४८   | मन्त्रः स्वप्नादिकं सकृत्      | ४७३   |
| भिन्नं पशौ स्यात् पृथगा        |       | मन्त्र्याग्रतादिः सकलप्र       |       |
| ज्यपात्रम्                     | २०७   | हाणाम्                         | ४१२   |
| भिन्नं यजुः स्याद्विनियोग-     |       | मन्त्रादिकं खलु भिन्नमन्त्राः  | १२    |
| भेदात्                         | ४७    | मन्त्रादिवाग् विस्तृतवेदमूला   | २०    |
| भूम्ना स्युः सृष्ट्यो मताः     | ३६    | माघी दोक्षासु-पूणिमा           | २५९   |
| भूयः श्रुतिश्च समिदादि-        |       | मानोपाहरणं बन्ध                | ४५६   |
| यजीन् भिनन्ति                  | ५०    | माषाकवचः स्तुतिः               | २७४   |
| भूतिभेदे तन्त्रभेदः            | ४६६   | मांसं विधेयं सवनीयकार्ये       | १५४   |
| भेदो यजेर्भवति सप्तदश-         |       | मुख्यक्रमात्क्रमाऽङ्गेषु       | १९६   |
| त्वसंख्या                      | ५२    | मुख्यद्रव्यं सद्रूपग्रहः       | २४३   |
| भेदो दाक्षायणे नहि             | ५९    | मुख्यप्राप्तं तदानयेत्         | २४४   |
| म                              |       | मुख्यात्पाठक्रमो बली           | १९६   |
| मनुष्योऽत्राधिकारभाक्          | २२६   | मुख्याभावे नमानयेत्            | २३९   |
| मनोता न विकारभाक्              | ४०१   | मुख्यार्थाः स्वामिसंस्क्रियाः  | १३०   |
| मन्त्रक्रमो बली तत्र           | १९७   | मुनिरपि बहुशाम्बं कर्म         |       |
| मन्त्रास्तु वेदः क्रियमाणवाची  | ४४    | चौकं जगादे                     | ६५    |
| मन्त्रास्तु परवे पृथक्         | ४७४   | मुष्ट्यादयः स्युर्गणशः क्रमेण  | २०४   |
| मन्त्रास्तु गीति प्रपदन्ति साम | ४६    | स्लेच्छप्रयोगात् पिकनंशक्तिः   | २५    |
| मन्त्रस्थार्थो विवक्षितः       | १८    | य                              |       |
| मन्त्रान्ते स्यात्कर्मणः स-    |       | यजुर्विशेषो जिगदो न निम्नः     | ४६    |
| न्निपातः                       | ४९५   | यजुरथोऽर्धयुमुपेति ना-         |       |

| विषय                        | पृष्ठ |
|-----------------------------|-------|
| न्यम्                       | ६००   |
| यजेत राजा सपुरोहितस्तु      | २६६   |
| यज्ञ. प्रजा चाव्ययन च       |       |
| नित्यम्                     | २३६   |
| यद्येकत सा हविषस्तु सु      |       |
| स्यात्                      | १०९   |
| यद्वा सोम पूर्णमिष्टेरपि    |       |
| स्यात्                      | २२०   |
| यागान्यर्था ग्रहेष्टका      | २१३   |
| यागे पूर्णमिष्टिचिद्व्रतम्  | २१५   |
| याग कुर्याल्लौकिकेऽग्नौ     |       |
| निषाद                       | २७७   |
| याच्ञाक्रीती द्रव्यभावेऽपि  |       |
| कार्य                       | २७८   |
| याज्यानुवाक्ये संस्कारो     | ४००   |
| याज्यानेकी विकल्प्यते       | ४९९   |
| याज्यापात्रो वषट् पठेत्     | ११८   |
| यावच्छक्तिक्रिया नित्ये     | २३७   |
| यावदुक्ता स्त्रिय. क्रिया   | २२७   |
| यावद्दीक्ष निषिद्धानि       | २६०   |
| यूप एवापरुष्यते             | २००   |
| यूपगुणा रशना त्रिवृदिष्टा   | १८९   |
| यूपगुणं स्वरमाह नृ षष्ठी    | १९०   |
| यूपस्य नेवापशयेऽङ्गजातम्    | २९१   |
| यूपाज्जनाज्य न भवन्ति       |       |
| धर्मा                       | १५१   |
| यावदर्थ मनोऽर्च             | ४२५   |
| यूपान्तिकाहुतिस्तन्नाम्     | ४५४   |
| यूराहुतिर्नास्ति खलस्य मेढौ | ३५९   |
| यूपेऽरन्निगुण पशोः          | ७१    |
| यूपे सूर्य इति स्तुतिः      | ३५    |
| यूपैकदेशः स्वररप्रयाका      | १६७   |

| विषय                           | पृष्ठ |
|--------------------------------|-------|
| योनिवर्णक्रमो नहि              | ३३३   |
| यो यदर्था स तच्छेष             | ६७    |
| यौगिक प्रोक्षणीपदम्            | ३३    |
| यौगिक स्विष्टकृतपदम्           | ३०९   |
| र                              |       |
| रजाशयादिष्वनुषज्य पूर्ति       | ४७    |
| राजमखस्य यजीतरदङ्गम्           | १८५   |
| राजा क्षत्रिय उच्यते           | ५७    |
| रागिसत्रे फल स्तुतौ            | १७८   |
| रुक्म पर दीक्षितसंस्कृते       |       |
| स्यात्                         | २०५   |
| ल                              |       |
| लिङ्ग वाक्यस्य बाधकम्          | १६९   |
| लुप्ताथकं यत् विकृतौ न         |       |
| तत्स्यात्                      | ३१०   |
| लोके च वेदे च न शब्दभेद        | २७    |
| लौकिके वेदिके च तत्            | ३१०   |
| व                              |       |
| वचनाच्च क्वचिद्भवेत्           | १४०   |
| वचनात्कृष्णले पाक.             | ३६५   |
| वत्सरमुख्यमभिन्नत इष्टि        | १८८   |
| वत्सालम्मा यजिर्नाहि           | ६०    |
| वत्से न पाक. क्रियते वि        |       |
| रोधात्                         | ३८४   |
| वनिष्ठुरग्नौ दर्शनं विकुर्यात् | ४२९   |
| वनिष्ठुभावो नोलूके             | ३४६   |
| वर्चा पदे स्वामिफलप्रकाश       | १४९   |
| वर्णाशये नित्यमिदं त्रय        |       |
| स्यात्                         | २३६   |
| वषट्कर्ता च भक्षयेत्           | ११५   |
| वसानौ दम्पनी प्रोक्तौ          | २२७   |
| वसार्थमपि नो पृथक्             | ४७०   |

| विषय                        | पृष्ठ | विषय                        | पृष्ठ |
|-----------------------------|-------|-----------------------------|-------|
| वाक्यन्त कर्म विदधाति       |       | विभज्य नयनं तस्याः          | ४२५   |
| य एवमादि                    | ५०    | विरोधे बहुधर्मता            | ४८७   |
| वाक्यादङ्गे देशकालादिभेदः   | ४५८   | विवर्णश्चाधिकश्च सः         | ३३५   |
| वाक्याद्धर्मातिदेशः स्यात्  | ३११   | विश्वजित् सफलो यागः         | १७७   |
| वाक्येन प्रक्रिया बाध्या    | ९३    | विहारयोस्तन्त्राभेदः        | ४५४   |
| वाक्येन स स्यात् क्वचिद-    |       | वेदप्रामाण्यमिष्टवेवम्      | १५    |
| न्यकर्म                     | १४३   | वेदिरेवापकृष्यते            | २०१   |
| वाचां स्वरस्वङ्गविधि        |       | वेदिगृपगुणो न हि            | १३२   |
| प्रयुक्तः                   | ३१३   | वेदाक्तपाने वमने चरुः       |       |
| वाच्यवाचकसम्बन्ध            | १४    | स्यात्                      | १०७   |
| वाज्रपेयपद नाम              | ३१८   | वैरूप पृष्ठसाधनम्           | ४१९   |
| वायव्य यजिमतर्कम्           | ५९    | वैदिकान्येव तानि तु         | २९२   |
| वारण यज्ञमात्राङ्गम्        | ७३    | वैश्वदेवे तु नामता          | ३४    |
| वाक्षाग्निर्वाधने तूष्यम्   | ५००   | वंशेन कालं कलयेद्वनस्य      | २५२   |
| वार्ताध्यावाज्यभागयाः       | ७३    | व्यभिचारविशेषाऽन्या         | १३    |
| वासादिपूर्वस्थ निवर्तक      |       | व्यभिचारो भवेज्ज्ञाने       | ११    |
| स्यात्                      | ३८३   | व्यवस्था स्यात्प्रयाजादौ    | २८१   |
| वासादिरन्वाहरणादिधर्मा      | ३८३   | व्रीहिविकारे यवबाधक स्यात्  | ४३५   |
| वासिष्ठशब्दो भवतीह गौणः     | २६७   | व्यूढः समूहस्य भवेद्विकारः  | ४१५   |
| वासो न पच्येत नहीदमन्नम्    | ३८४   | विधिरेवार्थाः               |       |
| विकृतावप्यतिग्रहाः          | ४४२   | शतं गवामेव तु दक्षिणासु     | ३८५   |
| विकृतौ पौष्णपेषणम्          | ९९    | शब्दान्तरे विधियुते खत्तु   |       |
| विक्रयी प्रकृतेभ्योऽन्यः    | १३८   | कर्माभेदः                   | ४९    |
| विदेवनादेविहिताऽपकर्षः      | २०८   | शमिताऽध्वयुरेव स्यात्       | १३६   |
| विधिरष्टाकपालवाक            | ३२    | शाखां क्षिपेत् प्रस्तरहा-   |       |
| विधिशब्दस्तु मन्त्रे स्यात् | २९७   | मकाले                       | १६८   |
| विधिरुपाख्येयवरण            | २२९   | शाखाप्रहारः प्रतिपत्तिकर्मा | १६८   |
| विधेय जाघनी यागे            | ९७    | शिष्टकमस्याचमनाच्च कापः     | २३    |
| विधेर्बलात्तावदपूर्वसिद्धिः | ४०५   | शिष्टे नञ् प्रतिषेधार्थाः   | ४३८   |
| विभज्य दानं खलु दक्षि-      |       | शुद्धे कर्मणि सा कार्या     | १८४   |
| णायाः                       | ३८५   | शुद्धाधि कारो नेज्यादौ      | २२८   |
| विरोधे परिधेर्गुणाः         | ४८८   | शेषक्रिया नास्ति तु शेषनाशे | २४७   |



| विषय                              | पृष्ठ | विषय                          | पृष्ठ |
|-----------------------------------|-------|-------------------------------|-------|
| शेषक्रिया सर्गहविर्भा एव          | १०९   | सत्रा स्याद्बहुकर्तृकम्       | ४२३   |
| शेषस्य भक्ष प्रकृतत्विजा          |       | सत्राङ्ग नोत्तरो यजि          | ३७०   |
| स्यात्                            | २४८   | सत्रा स्याद्बहुदशाहकम्        | ४२४   |
| शेषो निषिद्ध उत्सर्गो             | २५३   | सत्रे गृहपति कुर्यात्         | ५०२   |
| श्येनेऽङ्गधर्मो नवनीतमा           |       | सत्रेऽग्निहोत्रामन्यत् स्यात् | ६२    |
| ज्यम्                             | १५३   | सत्रे दानमदृष्टकृत्           | २७६   |
| श्येनेऽसर्वत्विजा कम्             | १४२   | सत्रेऽधिकारी न भवेन्निरग्नि   | २६८   |
| श्रयणं स्यादधर्मकम्               | ३५३   | सत्रा पचि प्राजहिदेऽग्नि      |       |
| श्रुते प्रतिनिधौ चैवम्            | २४४   | होत्राके                      | ४७७   |
| श्रुत्यर्थाभ्या पाठबाध क्रमेषु    | २१०   | सत्रेऽसौ स्वामिनो भवेत्       | २४०   |
| श्रुत्या क्रम स्यात्              | १९२   | सत्रेषु दक्षिणा न स्यात्      | ३७०   |
| श्रुत्या विरुद्धा स्मृतिरप्रमाणम् | २११   | सत्रेऽकाहाङ्गमेवात्रा         | २९३   |
| श्रुत्येन्द्रमन्त्रोऽग्निगुणो यथा | ७६    | सत्रोद्यमे विश्वजित्प्रवृत्तौ | २५२   |
| श्रौते चक्षौ नावकी गौष्टिरिष्टा   | २७७   | सत्रा पञ्चदशाहक               | ३०५   |
| श्लक्ष्णं पृथु चापि चरुश्च        |       | सद्वक् प्रतिनिधिर्ग्राह्य     | २४२   |
| कुर्यात्                          | ३६४   | स नूतमाख्यातपदामिधेय          | ३९    |
| श्लोकस्तोत्राश्च बाधकम्           | ३९४   | सन्देहे निर्णय स्तुते         | ३७    |
| श्वेतोऽज्ञो कायुरेव               | २७८   | सन्नापनन्नेह तथार्थलोपात्     | ३६३   |
| प                                 |       | स पात्रमानेऽग्नौ कर्म         | ११५   |
| पट्वित्तिकोऽग्निरय न हि           |       | समपात्रास्त्वनुज्ञाप्य        | ११८   |
| नित्य                             | १८८   | समस्य वडक्रयो वाच्या          | ३४७   |
| पण्णा यज्ञीना फलमेकमेव            | ४८६   | समाख्या विनिवाजिका            | ९१    |
| पडहान्ते चाशना स्यात्             | ४२१   | समानमिष्टिजितयेऽपि बहि        | १७४   |
| पडेकादौ विकल्प स्यात्             | ५००   | समानय प्रयोक्ता स्यात्        | १६५   |
| षोडश्युत्कर्ण इष्यते              | २०२   | समाख्या कल्पयेद् भक्षम्       | ११३   |
| स                                 |       | समासु गान कर्तायम्            | ३२६   |
| स गृह्यते चाग्रयणाश्च तूष्ण्यात्  | ३०७   | समासोऽश्वे विकल्पित           | ३४८   |
| सगुणा देवता वाच्या                | ३९८   | समिदादौ क्रम पाठात्           | १९४   |
| सकृत्कण्डूयने मन्त्र              | ४७३   | समिदादौ यजिर्विधि             | ३३९   |
| सध्यासमन्त्रो ग्रहणस्य मन्त्र     | ८१    | समुच्चयो वाससा स्यात्         | ३९४   |
| स चैकनिकशब्दतोमः                  | २१८   | समुच्चय क्रयद्रव्ये           | ४९९   |
| सत्यमिष्ट्या विभागो यौ            | ८     | समेषु मुख्यधर्माः स्यात्      | ४८७   |

| विषय                              | पृष्ठ | विषय                                | पृष्ठ |
|-----------------------------------|-------|-------------------------------------|-------|
| समं विश्वत्ते पुनरग्रतोक्तिः      | ४१४   | सामोहः कियते नृभिः                  | ३२५   |
| सम्मार्जनं संस्करणं स्तुवादेः     | ४२६   | सामदृश्यं नियम्यते                  | ४४१   |
| सर्वकामविधिर्भावेत्               | १७९   | साम्नैव कियते स्तोत्रम्             | ३३२   |
| सर्वाग्रहार्थाः सवनस्य धर्माः     | १२५   | साम्नो धर्मा व्यवस्थिताः            | ३३६   |
| सर्वाङ्गं चाङ्गे नवनीतमिष्टम्     | १५४   | सांगप्रयोगाय घृतादिधर्माः           | १५१   |
| सर्वपृष्ठेष्टितः सवृत्            | ११२   | सांगार्थमभिमर्शनम्                  | १३१   |
| सर्वस्वारः समाप्यते               | ३७५   | सांगार्था सौमिकी वेदिः              | १३१   |
| सर्वस्वे ज्ञातयौ न स्युः          | २७०   | सांग्रहणी गुण आमतोमः                | १८६   |
| सर्वादितो न प्रतिकर्षणं           |       | साम्नां विकल्प आधाने                | ४३९   |
| स्यात्                            | ४११   | सुध्याहाङ्गमृथग् भवेत्              | ४६८   |
| सर्वार्थाऽसंवदतेर्मलिन्या         | १०५   | सुब्रह्मण्याऽहर्गणे नन्नामादौ       | ४६३   |
| सर्वे कामाः सकृन्न स्युः          | २७०   | सुब्रह्मण्यो न भक्षयेत्             | ११४   |
| सर्वेषां स्यात्तन्त्रमाधानमेकम्   | ४५९   | सूक्तवागाशिषोऽङ्ग न                 | ३७३   |
| सर्वं दद्यात् पुनर्गन्धे          | २६५   | सूक्तनाभिधानाद्ब्रह्मोऽङ्ग मन्त्राः | ७२    |
| सवनीये पशोस्तन्नाम्               | ४८९   | सूक्तोक्त ऊर्णा यजमानः              |       |
| सवनीये हविष्कृन्त                 | ४८५   | शब्दः                               | ३२१   |
| सस्तोत्रशस्त्रः खलुषोऽशी          |       | सैवान्नकामस्यावेष्टिः               | ६०    |
| स्यात्                            | ४०८   | सोमपा ब्राह्मणाः शतम्               | १२०   |
| स स्वर्गस्त्वविशिष्टत्वात्        | १७८   | सोमयजेतरे गुणयागाः                  | १९१   |
| सहस्रादधिकं तच्च                  | २७४   | सोमस्य चातिदेशोऽस्मिन्              | ३३४   |
| साकंप्रस्थाथ्यके च न              | १११   | सोमाङ्ग इष्टौ न पुनर्ब्रतग्रहो      | ४७९   |
| साकांक्षमेकार्थमिहैकवाक्यम्       | ४६    | सोमाधाने सोमकालस्य                  |       |
| साक्षाच्छ्रुतं द्रव्यमिह प्रदेयम् | २८७   | बाधः                                | ५२१   |
| साङ्गस्यादावन्ततो योगमोक्षौ       | ४६२   | सोमेन यागविधिरस्य गुणा              |       |
| साङ्गोऽस्ववभृतो भवेत्             | ४५४   | प्रहोक्तिः                          | ५१    |
| सात्त्वैन्द्रवायव्यत एव पूर्वा    | ४१३   | सोमेन वेदिः पृथगिष्टिक              |       |
| साद्यस्के तु पशुकर्मः             | १९५   | मर्णाम्                             | ४७६   |
| सा नोपलक्ष्या तु वषट्कृतेऽपि      | ८६    | सोमे सप्तदशविंशजः                   | १३८   |
| साभ्युत्थानोऽकथेऽपि स्यात्        | २५७   | सोमोर्ध्वं साश्रायधर्मा-            |       |
| सामागमेनाधिकसंख्यपूर्तिः          | ४०५   | विकारः                              | २२३   |
| सामानविध्येऽध्रिगुयुङ् न          |       | सौत्यस्य त्रैकादशिनैषु धर्माः       | २०९   |
| मेणी                              | ३२२   | सौत्रामणीग्रहे न स्युः              | १११   |

| विषय                         | पृष्ठ | विषय                             | पृष्ठ |
|------------------------------|-------|----------------------------------|-------|
| सौत्रामणो चितेरङ्गम्         | १८१   | स्थाण्वाहुनिश्चापि न तत्र        |       |
| सौमिकोऽलकृते पश्चात्         | २००   | कार्या                           | ३५२   |
| सौर्ये चरावङ्गविशेष इष्ट स   |       | स्थाल्या चरो पाकविधि             |       |
| चोदनालिङ्गसमानभावात्         | २९४   | प्रकुर्यात्                      | ३६२   |
| सौर्येऽनुमेयान्यङ्गानि       | २९२   | स्थितमेव च दीयते                 | २७१   |
| सौर्ये विकटपादभिमर्शमन्त्रा  | ३०७   | स्मार्ताश्च धर्मा उपनीतकार्या    | २३३   |
| सौर्ये सूर्यपद वदेत्         | ३९७   | स्याच्छेषभक्ष पुनरर्जदर्शवत्     | ४८१   |
| सौर्ये हवि स्याच्चरुरोदनस्तु | ३६१   | स्यात्प्रायणीयादिषु जागृ         |       |
| सख्या प्रयोजवृन्दस्य         | २१०   | ति पृथक्                         | ४७८   |
| सख्या स्यान्मुष्टिलोपनम्     | ३७७   | स्यात्षोडशी तु प्रकृतौ प्रयोगे   | ४०७   |
| सख्यापेतास्ते समुचित्य       |       | स्यात्सर्वपृष्ठे षडहोक्तपृष्ठम्  | २८६   |
| वाच्या                       | ४९३   | स्यात्सूक्तवाकेन यजि. प्रहार     | ७८    |
| संस्कारकर्मेव क्लिष्टविघात   | १७३   | स्यात्स्वामिनिष्ठ वपनादिकर्म     | १४३   |
| संस्कारकर्मात्मक प्रयाज      | ३६०   | स्यात्स्वामिनो वै वमने स         |       |
| संस्कारा सर्वकर्तृषु         | ५०३   | याग                              | २०८   |
| संस्कारो वार्यते पशौ         | ४५६   | स्यादन्तरालवचने यजते             |       |
| सस्थाज्येन पृथग् यजि         | ३५५   | विधानम्                          | ५०    |
| सस्थादिनाना ग्रहणं दिनेभ्यः  | ३०७   | स्यादिन्दुपीत सवनत्र-सोम         | ८७    |
| संस्थासु नाङ्गान्युपदेशभाजि  | १२९   | स्यादूहनं मेघपतेर्विकृत्याम्     | ३४५   |
| स्फ्यादिरुद्धननादिन          | ६९    | स्यादेकार्थे मन्त्रवाक्ये वि     |       |
| स्याद् वाजपेये खदिरो हि गूपः | ४३४   | कल्प                             | ४९६   |
| स्तुतिर्जतिर्लवाक्ष्य तु     | ४३९   | स्यादेवाय ब्राह्मणोत्पन्नमन्त्रे | ४९५   |
| स्तुति क्षेपिष्ठिना वायो     | १५६   | स्यादक्षिणा नेह च दर्श           |       |
| स्तुति शूर्पेऽग्रहेतुत्वम्   | १८१   | चोदिता                           | ४८१   |
| स्तुतिर्गवरोधनम्             | १७४   | स्युरिष्टका दूरगता सधर्मा.       | १२७   |
| स्तुतिर्निवीतं विहितोपवीते   | १०१   | स्युर्लौकिके स्पर्शन एव मन्त्रा. | ३४१   |
| स्तोत्रे त्वसौ लौकिक एव      |       | स्वरोऽङ्गे मुख्यहेतुक            | ८८    |
| वह्नि.                       | २९०   | स्वयोनौ साप्रकण्वाख्यम्          | ४०१   |
| स्तोत्रे शस्त्रे विकारो नः   | ४०२   | स्वसोन्युत्तरयोश्च तत्           | ४०२   |
| स्तोमस्यैव त्रिज्ज्वं स्यात् | ४२०   | स्वर्गस्तथाऽग्निश्च न हि         |       |
| स्तोमेष्वागन्तृचाऽन्तत       | २१२   | प्रयोका                          | ३१४   |
| स्थपतिस्तु निषाद स्यात्      | २३०   | स्वर्गादिफलमिज्यादे              | २२४   |

| विषय                              | पृष्ठ | विषय                            | पृष्ठ |
|-----------------------------------|-------|---------------------------------|-------|
| स्वर्वेकम्न स्यात् त्रयाणां       |       | हविर्धानं गुणो न चाम्           | १३३   |
| पशूनाम्                           | ४६०   | हविष्कृदेहीति न हन्ति मन्त्रः   | ७७    |
| स्वस्थानवृद्धिर्दीक्षादेः         | ४६८   | हव्यावदानं युगपत्पशूनाम्        | २०६   |
| स्वस्थानवृद्धिं लभते त्रयनीका ४१५ |       | हिरण्यगर्भः प्रथमे न मन्त्रः    | ३८१   |
| स्वस्थानेषूपसत्ततिः               | २११   | हिरण्यमाला सकलत्विगङ्गाम्       | १४४   |
| स्वामिधर्मा त्वसौ भवेत्           | २४१   | हीपादि सौम्यफलं निय-            |       |
| स्वामिसप्तदशाश्च ते               | १३२   | मायं शिष्टम्                    | ५५    |
| स्वामीत्युक्तवैव नान्यकृत्        | १३४   | होतव्याः स्फयादयो न हि          | १५९   |
| स्वामी सदोमानफलस्य शेषी १४५       |       | होतुस्तु भक्षाऽभिषवे महामे      | २५०   |
| स्वारम्भकाले न च ताम्र-           |       | होतुर्वृत्तिः स्यादित् पाणि-    |       |
| कुर्यात्                          | ३५८   | मासिकी                          | ४८२   |
| स्विष्टकृत्यप्यपूर्वं स्यात्      | १६०   | होमाभिषवकतां च                  | ११५   |
| ह                                 |       | हामे ऽग्निं बाधते घर्मा         | ४४०   |
| हरणार्थं पृथग्वासः                | ४२७   | होमं कुर्याज्जापयन् श्रौतचहो    | २७७   |
| हविर्गणे देवतया ऽतिदेशः           | ३०६   | होलाककर्मानियमेन कार्याम्       | १६६   |
|                                   |       | होत्रा मन्त्रः स्यात्समुच्चय एव | ४९७   |

सर्वविधपुस्तकप्राप्तिस्थानम्—

जयकृष्णदास-हरिदास गुप्तः—

चौखम्बा संस्कृत सीरिज् आफिस, विद्याविलास प्रेस,

गोपालमन्दिर के उत्तर फाटक, बनारस सिटी ।

मण्डनमिश्रकृता

## मीमांसानुक्रमणिका

महामहोपाध्याय - गङ्गानाथझाशर्मणा

मैथिलेन रचितेन मीमांसामण्डनेन

व्याख्यानेन मण्डिता ।

## उपोद्धातः ।



प्रयागे टीबोसाहिबमहाशयस्य प्राचीनपुस्तकसङ्ग्रहे मण्डनमिश्रकृतमीमासानुक्रमणिकापुस्तकम्प्रयोपलभ्यते । मित्रपर्यवावृणोविन्दुसानां साहाय्येन पुस्तकान्तरमप्यासादित काश्यामेव । मीमांसाधिकरणानां प्रातिस्विकरूपबोधको ग्रन्थ इदानीन्तनैरेक एवोपलभ्यते न्यायमालारूप । १० तत्राधिकरणस्वरूपस्य पत्रवद्धतया तद्वगतिर्न सुकरा भवति कोमलधियामित्याकलय्य 'बालानां सुखबोधाय' तत्र किमपि कर्तव्यमिति च विचार्य सरलया भाषयाऽधिकरणस्वरूपनिरूपणे प्रवृत्तोऽहं मीमांसाचार्यस्य मण्डनमिश्रस्यैव कृतिं तन्मूलतया निरधारयम् । यतोऽत्रानुक्रमणिकायां प्रायशः श्लोकपादेनैकेनाधिकरणसिद्धान्तोऽवधृत । अतस्तस्यैव श्लोकपादस्य व्याख्यानरूपेणात्र पञ्चावयवनिरूपणमधिकरणं सुस्पष्टं विलिखितम् । यद्यपिविषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् । निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गशास्त्रेऽधिकरणं बिदु इति प्राचीनानां लक्षणमधिकरणस्या लक्षणमुपलभ्यते-तदनुसारेण च सङ्गतेर्न भवत्यधिकरणाङ्गता-तथाऽपि न्यायमालारीति रेवात्रानुसन्तेति सुधीर्भिर्विभाव्यम् । यद्येकस्यापि शास्त्ररसिकस्येदं सन्तोषकरं स्यात् तर्ह्यान्मानं कृतकृत्यमस्म्यते -

विंदुषा वशवद -

गङ्गानाथझाशर्मा ।

॥ श्रीः ॥

मण्डनमिश्रकृता

# मीमांसानुक्रमणिका

महामहोपाध्याय-गङ्गानाथझाशर्मणा  
मैथिलेन रचितेन मीमांसामण्डनेन  
व्याख्यानेन मण्डिता ।

पित्रोस्तीर्थलतातीर्थनाथयोश्च गुरोस्तथा ।  
श्रीचित्रधरमिश्रस्य मीमांसापारदृश्वनः ॥  
सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य जयदेवस्य मद्गुरोः ।  
भ्रातुः श्रीविन्ध्यनाथस्य प्रभोर्लक्ष्मीश्वरस्य च ॥  
पादसर्ककिरणो नित्यं हृदब्जे दीप्यताम्मम ।

मीमांसाशास्त्रसङ्क्षेपं व्याचक्षाणेन यत्नतः ।  
मीमांसानुक्रमणिकाव्याख्या सञ्चिख्यतेऽधुना ॥  
अधिकरणस्वरूपं हि सङ्क्षेपेण प्रदर्शितम् ।  
साधने बाधने युक्तिर्विज्ञेया वार्तिकादितः ॥०

अथ प्रथमोऽध्यायः धर्मप्रमाणनिरूपकः

तत्र प्रथमः पादः विधिरूपनिरूपकः ।

वामपार्श्वस्थाङ्गा आदावधिकरणानुसारिणस्ततो जैमिनीय-

सूत्राध्यायपादसूत्रानुसारिणो बोद्धव्याः ।

अथातो धर्मजिज्ञासा ।

( १ ) १।१।१ अथायं धर्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय प्रमाणतः ।

आदौ—

एकैकस्याधिकरणस्य ( १ ) सङ्गतिः ( २ ) विषयः ( ३ ) संशयः  
( ४ ) पूर्वपक्षः ( ५ ) सिद्धान्त इति भवन्ति पञ्चावयवाः । तत्रादावधि-  
करणेऽत्र ( १ ) अथोतवेदस्य वेदाध्ययनानन्तरं किं कर्तव्यमिति भव-  
त्याकाङ्क्षा इयमेवात्र सङ्गतिः ।

( २ ) विषयश्चास्य 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इति वाक्यम् ।

( ३ ) एतस्मिन् विषये संशय — इदं वाक्यं वेदार्थज्ञानं तद्वत्तुभूतं विचारं च विधत्ते — उत वेदाक्षरग्रहणमात्रमिति । विचारस्यापि वैधत्वं उक्तविधिप्रयुक्तं एव मीमांसाशास्त्रारम्भोऽन्यथा त्वविधय एवति संशयस्य मूलम् ।

( ४ ) तत्र पूर्वपक्ष — नैव विधत्ते इदं वाक्यमर्थज्ञानहेतुभूतं विचारम् — स्वर्गायाक्षरमात्रग्रहणमस्य विधेयमिति । एव च मीमांसाशास्त्राकाध्ययनविधिप्रयुक्तमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तस्तु — विचारो विधेय एव । अत उक्तविधिप्रशादेव विचारशास्त्रारम्भणीयमिति भवत्येव मीमांसाशास्त्रस्याध्ययनविधिप्रयुक्तेति ॥

तदेतद्भट्टमतेनाधिकरणस्वरूपम् । प्रभाकरमतेन विज्ञिद्वयान्तरम् । अधिकरणस्य विषयवाक्यमस्य मते 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इति नैव सम्भवति तस्य नित्यानुवादत्वेनाप्युपपद्यमानत्वान् । अत 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत' इत्येवात्र विषयवाक्यम् । अत्र ह्याध्यापनमाचार्यकर्तृकं विहितम् । न चाध्यापनमध्ययनं विना सम्भवति । अत आचार्यकर्तृकाध्यापनविधिना माणवककर्तृकाध्ययनमप्याक्षिप्तमेव । अत एव पृथगाध्ययनविधिकल्पनापि नावश्यका । एतावद्भेदानन्तरं पूर्ववदेव विचारशास्त्रं विषय — तदारम्भणीयं वा न वेति संशय — नारम्भणीयमिति पूर्वपक्ष — अध्यापनविधिप्रयुक्तेनाध्यापनेन नृध्यमानस्यार्थस्य विचार्यत्वाद् विचारशास्त्रमपि वैधमेवेत्यारम्भणीयमेवेति सिद्धान्तः ।

सर्वमेतदभिप्रेत्याह मण्डनमिश्र — अथेति । 'अथम्' भगवान् सूत्रकारा जैमिनि — 'प्रमाणतः' उक्तविधिप्रयुक्तत्वेन 'धर्मजिज्ञासां धर्माय जिज्ञासाताम् — को धर्मः किलक्षणं कान्यस्य साधनानि कानि साधनमभ्यासानि किम्परश्चेत्येव रूपम् — 'आदौ' प्रथमे सूत्रे — 'प्रतिज्ञाय' (इत्येतावत्पर्यन्तमप्यमाधिकरणस्वरूपम्) 'जिज्ञासां कुरुते' इत्युत्तरेण वाक्यसमाप्तिः ॥ १ ॥

( २ ) १।१।२ द्वितीयमूत्रेण जिज्ञासां कुरुतेऽधुना ॥

प्रामाणाभासरूपादीन् सङ्करेण निरूपयन् ॥

( १ ) द्वितीयाधिकरणस्य सङ्कतिर्यथा — धर्मजिज्ञासा कर्तव्येति प्रतिज्ञानन्तरं कोऽसौ धर्मो यो जिज्ञासितव्यः किं च तत्तल्लक्षणमित्यन्वितं भवत्याकाङ्क्षा ।

( २ ) धर्मजिज्ञासैवास्य विषयः ।

( ३ ) तत्र संशयः—धर्मस्य लक्षणं ज्ञानं च सम्भवति न वेति ।

( ४ ) तत्र पूर्वपक्षः—अलौकिकत्वाद्वर्गो न लक्ष्यितुं शक्यते । अत एव तत्र प्रमाणमपि नास्ति—नास्ति च तस्य ज्ञानस्योपाय इति ।

( ५ ) सिद्धान्तस्तु—लौकिकाकारराहित्येऽपि धर्मस्य लक्षणं तत्र प्रमाणं च सम्भवति । तच्च लक्षणं द्वितीयसूत्रोक्तं 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति । अर्थत्वे ( निःश्रेयससाधकत्वे ) सति वेदप्रोक्तत्वमित्यस्यार्थः । एवं च वेद एव धर्मे प्रमाणमित्येतदप्युक्तं भवति । अनेनैव च वेदस्य सर्वथा प्रामाण्यमेवेत्यपि सूचितम्भवतीति त्र्यंशोऽत्र सिद्धान्त इति भाट्टमते-नाधिकरणार्थः ।

प्रभाकरमतेन त्वेवं स्वरूपमधिकरणस्य । ( १ ) पूर्वसूत्रप्रतिज्ञात-धर्मजिज्ञासायाः कृत्स्नवेदाध्ययनानन्तर्यप्रयुक्तं 'वेदार्थो जिज्ञास्य' इत्येवं मतं सूचितं प्रथमाधिकरणे । अतो वेदार्थजिज्ञासायां प्रवृत्तायां कियान् वेदार्था जिज्ञास्य इति विचारः प्रवर्तते । ( २ ) अत्र विषयो धर्मप्रमाणभूतो वेदार्थ एव ॥ ( ३ ) तत्र संशयः—किं यत् किञ्चिद्देवं प्रोक्तं विधिप्रोक्तं कार्यं रूपं मन्त्रार्थवादप्रोक्तं सिद्धान्तरूपमित्युभयमेवात्र धर्मज्ञानसम्पादकत्वेन जिज्ञास्यमाहंस्विद्विधिप्रोक्तकार्यरूपमात्रमिति । ( ४ ) तत्र पूर्वपक्षः—समस्तवेदार्थोऽत्र धर्मज्ञानकारणत्वेन जिज्ञास्य इति । ( ५ ) सिद्धान्तश्च—कर्तव्यबोधको विध्यंश एव वेदस्य धर्मज्ञानसाधक इति स एवात्र जिज्ञास्य इति ॥ कर्तव्यबोधक विधिसंस्पृष्टमेव वाक्यं साक्षाद्वाचकं प्रमाणं चेत्यन्विताभिधानवादिनः प्रभाकरस्य निबन्धः । अत एव भाट्टाभिमतधिकरणस्वरूपे यद्यप्यस्य न कोऽपि विरोधस्तथाप्यादावेवान्विताभिधानवादे स्वकीयमाहं प्रदर्शयितुमयमधिकरणस्य स्वरूपान्तरमुद्भावितवान् । एव च यत्किञ्चित् कार्यं निःश्रेयससाधनत्वेन वेदे विहितं तद्धर्म इत्युभयसम्मतम् ।

तदेतदधिकरणमभिलक्ष्याह—द्वितीयेति निरूपयन्नित्यन्तेन । 'द्वितीयसूत्रेण' चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इत्यनेन—'प्रमाणाभासरूपादीन् सङ्करेण निरूपयन्' चोदनायां वेदे प्रमाणाभासत्वसंशयं व्युदस्यन् 'न च तथाभूतमप्यर्थं ब्रह्माचोदनेत्यादिभाष्यग्रन्थेन—'अधुना' 'जिज्ञासां' धर्मविषयिणीं को धर्मः किं लक्षणश्चेत्यादिरूपां—'कुरुते' प्रवर्तयतीत्यर्थः ॥ २ ॥



( १ ) सङ्गति । चोदनालक्षणत्व धर्मस्योक्तम्-तन्प्रामाण्यपरा  
ज्ञाऽधुना प्रवर्तत इति ।

( २ ) वेदप्रामाण्यपरीक्षैव विषय ।

( ३ ) संशय — धर्मप्रमाणभूतवेदप्रामाण्य परीक्षणायैव वति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — प्रमाणमात्राधीनत्वात्प्रमेयसिद्ध प्रमाणस्वरूपपराज्ञा  
नावश्यकतीति ।

( ५ ) सिद्धान्त — विचारशास्त्रेऽस्मिन् सर्वस्यापि विषयस्य परीक्षा  
णीयतैव प्राप्नोत्यत धर्मप्रमाणस्य वेदस्यापि परीक्षा कर्तव्यमिति भट्टमतं-  
नाधिकरणम् ।

प्रभाकरमतेन त्वित्थम्—धर्मज्ञानोपायो वेद इति चादनासूत्रे साधिते  
वेदे किमुक्तमित्येव चिन्ता कर्तव्योत वेदस्य प्रामाण्याप्रामाण्यचिन्ता ताव  
दादौ प्रवर्तयितव्येति संशये-वेदार्थस्य प्राधान्यात्तस्यैव चिन्ताऽधुना प्रव-  
र्तयितव्येति पूर्वपक्ष । सिद्धान्तस्तु—अनुष्ठानावसरे हि किमधुना कर्तव्य-  
मित्यपेक्षाया वेदार्थविचार एव प्राधान्येनाभ्युत्तिष्ठति विचारशास्त्रे तु  
यत्र धर्मज्ञानस्य क उपाय इति विचार प्रस्तुतस्तत्र तस्योपायस्य की  
दृशप्रामाण्य विश्वसनीयत्व चेत्येव विचार प्रधानपदवीमारोहति । अ-  
नवधारिते हि वेदस्य प्रामाण्ये तदुक्तौ श्रद्धा नादियादेव ॥

सर्वमेतदभिप्रेत्याह—निष्कृत्येति । ‘अध्यायस्य’ प्रथमाध्यायस्य ता-  
त्पर्यं अर्थ—‘निष्कृत्य’ साराशेनोद्धृत्य—‘ब्रवीति’ वर्णयतीत्यर्थ । धर्मे  
यद्वेदस्य प्रामाण्य तत्परीक्षैव प्रथमाध्यायार्थ इति सूचितम् ॥ ३ ॥

( ४ ) १।१।४ अन्याप्रामाण्यसिद्धौ हि नोदनैवेति सिध्यति ।

तेन प्रत्यक्षसूत्रे हि धर्मेऽन्यत् प्रतिषिध्यते ॥

( १ ) वेद एव धर्मे प्रमाणमिति सिद्धान्तितम् । तत्र भवति विचि-  
कित्सा—प्रत्यक्षानुमानदीन्येव कस्मान्न भवन्ति धर्मेऽपि प्रमाणास्तीति ।  
तन्निवृत्त्यर्थमत्र धर्मं प्रति प्रत्यक्षादीना प्रामाण्य परीक्षयते । इयमेव अनु-  
स्थाधिकरणस्य सङ्गति ।

( २ ) धर्मविषये प्रत्यक्षादिप्रामाण्यमेवास्य विषय ।

( ३ ) तत्र संशय — धर्मज्ञान वैदिकविधिभिरेव जन्यते उत प्रत्यक्षा-  
दिभिरपीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — प्रत्यक्षादीना प्रमाणत्वाद् धर्मेऽन्यत् च प्रमेयत्वाद् भव-  
त्मेव तैरपि धर्मज्ञानमिति ।

(५) सिद्धान्तः । प्रत्यक्षं हि वर्तमाने इन्द्रियसंप्रयुक्ते च विषये प्रवर्तते । धर्मे तु नास्ति वर्तमानत्वन्नापीन्द्रियसंयोगः । तस्मात् धर्मस्य प्रमेयत्वेऽपि प्रत्यक्षयोग्यता नास्ति । यस्तु प्रत्यक्षस्यात्यन्तैर्मविषयस्तत्रानुमानोपमानार्थापत्यभावानां प्रवृत्तिर्नास्त्येव, प्रत्यक्षेण गृहीत एव व्यामिसाद्गृह्यादौ तेषां प्रवृत्तेः सम्भवात् । तस्मान्नास्ति प्रत्यक्षादिगम्यत्वं धर्मस्येति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह अन्याप्रामाण्येति । 'अन्येषाम्' शब्दातिरिक्तानां प्रत्यक्षादीनाम्- 'अप्रामाण्यस्य' धर्मविषयकप्रमाकरणत्वाभावस्य- 'सिद्धौ' यदैतत् सिद्धं भवति तदैव- 'हि' यस्मात्- 'नोदनैव' वैदिकविधिरेव- 'धर्मे प्रमाणम्' इति शेषः- 'इति सिध्यति' निश्चितं भवति- 'तेन' तस्मात्- 'प्रत्यक्षसूत्रे'-चतुर्थे- 'अन्यत्' शब्दादतिरिक्तं प्रत्यक्षादि- 'धर्मे' धर्मविषये- 'प्रतिपिध्यते' प्रमाणत्वेनेति शेषः ॥ ४ ॥

(५) १।१।५ निराकृतेषु सर्वेषु धर्मो नास्तीति शङ्क्यते ।

प्रमाणं चोदनां तत्र ब्रवीत्यौत्पत्तिकादिना ॥-

(१) धर्म-प्रत्यक्षादीनां प्रामाण्ये निराकृते चोदनायाः प्रमाणत्वं विचारणीयं प्राप्नोति । इयमेव पञ्चमाधिकरणस्य सङ्गतिः ।

(२) धर्मप्रमाणचोदनाप्रामाण्यमेव विषयः ।

(३) तत्र संशयः- 'धर्माविवोधिकायाश्चोदनायाः प्रामाण्यमुतनेति ।

(४) तत्र पूर्वपक्षः- नास्ति धर्मे किञ्चित्प्रमाणम् । प्रत्यक्षादयो न भवन्ति तत्र प्रमाणम् । तथा-शब्दोऽपि न भवति । शक्तिग्रहणपूर्वकं हि शब्दस्य प्रामाण्यम् । शक्तिश्च लोकप्रसिद्ध एव गोघटादौ गृह्यते । धर्म-स्त्वलौकिकः । अतस्तत्र शक्तिग्रहणं दुर्घटम् । तस्मात्तत्र प्रमाणान्नास्ति । प्रमाणभावाच्च धर्मोऽपि नास्त्येवेत्यभ्युपगन्तव्यमिति । एवं च धर्मं प्रति चोदनायाः प्रमाणत्वं न सिध्यति ।

(५) सिद्धान्तस्तु शब्दार्थसम्बन्धस्य नित्यत्वात्-तद्ग्रहणस्य च वेदवाक्यादौ प्रसिद्धपदसाहचर्येण सम्भवात्-सम्भवत्येवंप्रामाण्यशङ्कानास्कन्दितस्य शब्दस्य प्रामाण्यं प्रत्यक्षादिभिरगृहीते धर्मे । तस्मात् सिद्धं चोदनायाः प्रामाण्यम् इति ॥

तदेतदभिप्रेत्याह- निराकृतेष्विति । 'सर्वेषु' प्रत्यक्षादिषु- 'निराकृतेषु' धर्मप्रमाणत्वेन- तत्र प्रमाणभावात्- 'धर्मो नास्तीति शङ्क्यते' । एतस्याः शङ्कायाः समाधानरूपेण- 'तत्र' धर्मे- 'चोदनाम्' वैदिकविधिव्याक्यमेव- 'प्रमाणम्' अपेक्षितज्ञानकरणम्- 'ब्रवीति' व्युत्पादयति- 'औत्पत्तिकादिना' पञ्चमेन सूत्रेणेति योजना ॥ ५ ॥

बहर्थ वक्तुकामेन तमर्थ सौत्रमिच्छता ।

वृत्तिकारमतेनैव त्रिसूत्री वर्ण्यतेऽन्यथा ॥ ५ ॥

शब्दे निरूपणीय 'बहुम्' अर्थम् शून्यवादादिनिराकरणरूप- 'वक्तुका  
मेन' वर्णयितुमिच्छुकेन-अथ च 'तमर्थ' 'सौत्र' सूत्रसूचितम् 'इच्छता'  
सत्रसूचितमेवैतत्सर्वमिति दिदर्शयिषता भाष्यकारेणेति शेष- 'त्रिसूत्री'  
तृतीयमारभ्य पञ्चमसूत्रपर्यन्तो ग्रन्थ- 'वृत्तिकारमतेन' वृत्तिकारकृतव्या  
ख्यानुसारेण- 'अन्यथा' पूर्वोक्तप्रकारादन्येन प्रकारेण 'वर्ण्यते' व्याख्यायते।

एतच्छ्रुलोकमारभ्यो नविशश्लोकपर्यन्ते ग्रन्थेऽत्राधिकरणनिरपेक्षा अथ  
च प्रमाणनिरूपणोपयोगिन एवार्था वर्णिता इति ध्येयम् ॥ ५ ॥

सत्यमिध्याविभागो यो वृत्तिकारनिरूपितः ।

बौद्धस्त्वं सहते नेति नन्वित्येतेन कथ्यते ॥ ६ ॥

वृत्तिकारस्तृतीयसूत्रं नशब्दाध्याहारेण व्याख्यानवान् । एव च न  
स्यार्थः । धर्मज्ञानस्य निमित्तं न परीक्षणीयम् । प्रसिद्धमिति हि प्रत्यक्षा  
दीनि प्रमाणानि । शास्त्रमपि शब्दप्रमाणरूपं तदन्तर्गतत्वात् प्रसिद्धमेव ।  
अतस्तदपि न परीक्षितव्यम् इति । एव निरूपिते तृतीयसूत्रार्थे शङ्कास्मा  
धानाभ्यां प्रमाणानां स्वतः प्रामाण्यं परतः प्रामाण्यं चतुर्थसूत्रार्थरूपेण  
वर्णितम् । तदुक्तं भाष्यकारेण- 'यस्य दृष्टं करणं यत्र च मिथ्यति  
प्रत्ययः स एवासमीचीनः प्रत्ययो नान्यः' इति । तत्रैव चतुर्थसूत्रयोजना  
यद्विषयज्ञानं तेनैवेन्द्रियाणां सम्मुखिगे यत् जन्यते तत् ज्ञानं प्रत्यक्षं  
'सत्' प्रमाणमेव ॥ चतुर्थसूत्रस्य 'प्रत्यक्षम्' इत्यन्तस्यैवाशस्यायमर्थः ।  
अवशिष्टस्त्वश्लोकेऽग्रिमेण त्रयोदशश्लोकेन सङ्गृह्यते ॥

एव सदसद्विषयत्वेन प्रत्यक्षज्ञानस्य सदसत्त्वे निरूपिते तत्र बौद्धो  
विषयाणां सत्त्वमसृष्ट्यमाणः सर्वेषां ज्ञानानां निरालम्बनत्वं ज्ञेयतो वा  
शून्यत्वं वर्णयामास प्रत्यक्षस्य व्यभिचारित्वप्रदर्शनेन तत्पसिद्धिनिरा  
करणार्थम् । एतदभिप्रेत्याह सत्यमित्येति । यस्य ज्ञानस्य विषयः  
सन् तत् सत्यं यस्यासन् तदसदिति यो ज्ञानानां विभागो वृत्तिकारेण  
निरूपितः, तं विभागं बौद्धो न सहते । इदमेव बौद्धस्यामर्षणं 'अनु सर्वं  
एव निरालम्बन- स्वप्नवत् प्रत्ययः' इत्यादिना भाष्यस्थेन शङ्काग्रन्थेन  
कथ्यते इति योजना ॥ ६ ॥

प्रत्यक्षादिविरोधेन दूषिते परसाधने ।

तदशक्तिं परो मत्वा पुनः प्रत्यवतिष्ठते ॥ ७ ॥

ज्ञानस्य निरालम्बनत्वे प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधः । तथाहि स्तम्भोऽयं कुड्योऽयमित्यादि प्रत्यक्षदृष्टमेवार्थं प्रमाणजातं विषयीकरोतीति सर्वजन-  
प्रसिद्धम् । एवं प्रमाणविराधाद्वाभ्युपगमात्रेणाहंज्ञानस्य निरालम्बनत्वमि-  
त्याद्येवम्प्रकारेण 'परस्य' निरालम्बनवादिनः 'साधने' निरालम्बनत्वसाधके  
हेतौ-दूषिते सति-सिद्धान्तिनेति शेषः- 'परः' शून्यवादी- 'तस्य' ज्ञानस्य  
'अशक्ति' बहिः प्रवर्तितुमसामर्थ्यम् ज्ञानस्याभ्यन्तरत्वात्तस्य बहिः प्रवर्तितुं  
सामर्थ्यव्वास्तीति- 'मत्वा' विचार्य- 'पुनः' प्रत्यवतिष्ठते । एतत्प्रत्यवस्थानं च-

प्रवर्तितं हि किं शक्तं स्तम्भाद्यर्थे बहिः स्थिते ।

अथवाऽऽत्मांशपचैतत् ग्राह्ये क्षीणं न वस्तुनि ॥ -

तद्यद्येतेन बाह्योऽर्थो गृह्यते दूषणं ततः ।

तदुक्तं, सर्वमात्मांशे प्राप्ते तन्नोपपद्यते ॥

न चाप्याकारभेदेन ज्ञानज्ञेयावधारणम् ।

न चान्यतरधर्मत्वं विस्पष्टं तत्र गृह्यते ॥

इत्यादि श्लोकवार्तिकेऽनुसन्धेयम् । एवं च प्रत्यक्षस्य बाह्यग्राह-  
कत्वात् बाह्यस्य चार्थस्यासत्त्वात्सर्वमपि प्रत्यक्षं व्यभिचार्येव । एवं  
च तस्य सर्वथा परीक्षणीयत्वमेवेति परीक्षा न कर्तव्येति रिक्तं वच  
इति पूर्वपक्षिणोऽभिप्रायः ॥ ७ ॥

प्रत्यक्षव्यभिचारित्वे प्रबन्धेन प्रसाधिते ।

इदानीमनुमानस्याव्यभिचारोऽभिधीयते ॥ ८ ॥

'प्रबन्धेन' निरालम्बनशून्यवादिनः करणात्मकेन 'अतो न व्यभिचर-  
ति प्रत्यक्षम्' इत्यन्तेन भाष्यप्रबन्धेन- 'प्रत्यक्षस्य अव्यभिचारित्वे' 'प्रसङ्गिते'  
'इदानीं' तदनन्तरम्- 'अनुमानस्य' द्वितीयप्रमाणस्य- 'अव्यभिचारः' दोष-  
राहित्येन प्रमाज्जनकत्वम्- 'अभिधीयते' व्यवस्थाप्यते- इति योजना । एवं  
चानुमानस्यापि प्रमाणत्वेन प्रसिद्धत्वात् तदपि न परीक्षणीयामत्याशयः ।

यद्यपि प्रत्यक्षस्य व्यभिचारित्वात्तन्मूलकमनुमानाद्यपि व्यभिचा-  
रीति पूर्वपक्षे प्रत्यक्षस्याव्यभिचारित्वे तन्मूलकस्थानुमानां दौर्गन्ध्यव्यभि-  
चारित्वमित्येतावन्मात्रं वक्तुमावश्यकं तथाऽप्यात्मीयलक्षणेनाप्यनुमाना-  
दीनां प्रसिद्धत्वमपरीक्ष्यत्वं चेति वक्तुं पृथगुपन्यास इत्यवधेयम् ॥ ८ ॥

अतः शब्देऽपि विज्ञाते, वक्तृदोषविवर्जिते ।

सत्यार्थब्रुदेरस्यापि ब्रवीत्यव्यभिचारिताम् ॥ ९ ॥

'अतः' पूर्वोक्तादेवे, हेतोः प्रमाजनकत्वरूपात्- 'शब्देऽपि वक्तृदोषवि-  
वर्जिते विज्ञाते' सति शब्दाप्रामाण्यस्य वक्तृदोषमात्रमूलकत्वम्- वेदे

आपोरुषेयत्वादेव वक्तुस्तद्वोपस्य चासम्भव एवति निश्चिते सति-‘अस्य शब्दस्यापि-‘सत्यार्थबुद्धे’ यस्मादस्मादव्यभिचारिणी बुद्धिरुदेति तस्मात् कारणात्-‘अव्यभिचारिताम्’ प्रमाजनकत्वम् ‘ब्रवीति’ व्यवस्थापयतीति योजना । शब्दसामान्यलक्षणं चाक्तं वार्तिके —

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।

पुसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥ इति ।

एव च शब्दप्रामाण्यस्यापि प्रसिद्धत्वात् सोऽपि न परीक्षणीय इति भावः ॥ ६ ॥

असन्निकृष्टसादृश्यज्ञानं सदृशदर्शनात्

उपमानं यदेतच्चाव्यभिचारीति कथ्यते ॥ १० ॥

‘सदृशस्य’ गवयस्य-‘दर्शनात्’-यत् तस्य ‘असन्निकृष्टे’ गवि ‘सादृश्यज्ञानम्’-गोसदृशोऽयमिति ज्ञानम्-तदेव ‘यत्’ उपमानम् उपमितिकरणम्-‘तत्’ ‘अव्यभिचारि’ प्रमाजनकम्-‘इति कथ्यते’ व्यवस्थाप्यते । एवं चोपमानप्रमाणस्यापि प्रसिद्धत्वात्सदपि न परीक्षणीयमित्यर्थः ॥ १० ॥

प्रमाणेन प्रमाणस्य विरोधेऽन्यार्थकल्पनाम् ।

अर्थापत्तिमपि स्वार्थे वदन्त्यव्यभिचारिणीम् ॥ ११ ॥

‘प्रमाणस्य’ एकेन प्रमाणेनावधारितम्यार्थस्य ‘जोर्वात दवदत्त’ इत्येवरूपस्य-‘प्रमाणेन’ अन्येन प्रमाणेनावधारितेनार्थं गृहे नास्तीत्येव देवदत्ताभावेन-‘विरोधे’ असामञ्जस्ये सति-या तद्विरोधपरिहाराय ‘अन्यस्य अर्थस्य’ वहिर्भावरूपस्य ‘कल्पना’ तामेरूपाम्-‘अर्थापत्तिम्’ ‘अपि’-‘अव्यभिचारिणीम्’ प्रमाजननीम्-‘वदन्ति’ व्यवस्थापयन्ति सम्प्रदायविद् इति शेषः ॥ एव चार्थापत्तिप्रामाण्यस्यापि प्रसिद्धत्वात् सोऽपि न परीक्षणीयेत्याशयः ॥ ११ ॥

प्रमाणपञ्चकाभावोऽप्यभावोऽन्यप्रतीतिकृत् ।

सोऽपि न व्यभिचारीति-चोदनाऽपि तथोच्यते ॥ १२ ॥

वस्तुसत्तावबोधार्थं यत्प्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकं तद् यत्र घटादौ वस्तु रूपे-सत्याप्तपि शक्तौ-न पूर्वर्तते तत्र भवत्येवोभावस्य प्रामाण्यम् । एवमेव अभावाख्य प्रमाणं प्रमाणपञ्चकाभावरूपमुच्यते । अथ आभाव ‘अन्यप्रतीतिकृत्’ प्रत्यक्षादिप्रमाणजन्या या ‘प्रतीति’ ज्ञानम् तद्वेक्षया ‘अन्या’ अन्नप्रकारिका-‘प्रतीति’ ज्ञानं ‘करोति’ । अथात्र ‘सोऽपि’ अभाव-अभावप्रमाजनकत्वादेव ‘अव्यभिचारी’ । एव च आभावप्रामाण्यस्यापि प्रसिद्धत्वात् सोऽपि न परीक्षणीय इत्यर्थः ॥ एवं च अणुणा-

अपि प्रमाणानां प्रामाण्यस्य प्रसिद्धत्वाद्यथा तानि न परीक्षणीयान्येवमेव  
चोदनाऽपि शब्दप्रमाणान्तर्गता प्रसिद्धप्रामाण्या नैव परीक्षणीयेत्युप-  
संहरति चोदनाऽपीति ॥ १२ ॥

४) प्रमाणानां प्रमाणत्वे हेतुरव्यभिचारिता । ४/१-  
व्यभिचारवती तेन चोदना शिष्यते परैः ॥ १३ ॥

यस्मात् 'प्रमाणानां' 'प्रमाणत्वे'-अथार्थज्ञानजनकत्वे-तेषाम् 'अव्य-  
भिचारिता' एव हेतुः सिद्धान्तिनोक्तः-तस्मात्-'परैः' वेदप्रामाण्यनिषेध-  
कैः-'चोदना' वैदिकं विधिवाक्यं-'व्यभिचारवती' सव्यभिचारा मिथ्या-  
प्रतीतिजननी-'शिष्यते' उपदिश्यते वर्ण्यते इति यावत् ॥

इयमेव शङ्का वृत्तिकारमतेन चतुर्थसूत्रोत्तरांशस्य 'अनिमित्तं विद्य-  
मानोपलम्भनत्वा'दित्येवंरूपस्यार्थः । तदक्षरार्थश्च-शब्दः चोदना  
'अनिमित्तम्' अप्रमाणम्-कुतः-'विद्यमानोपलम्भनत्वात्'-यद् विद्यते  
तस्योपलम्भोऽपि भवत्येव-यस्योपलम्भो न भवति तत्र विद्यते-नोपल-  
भ्यते तु यागाद्यनन्तर स्वर्गादि पश्वादि वा-तस्मान्नेव विद्यते पश्वादि-  
रूपोऽर्थः-एवं सति यागेन पशुः सम्पद्यत इति या वैदिकी चोदनो तस्या  
मिथ्यात्वमेवेति व्यभिचारवती चोदनेति 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म' इति  
रिक्तं वच इति शङ्काया आशयः ॥ १३ ॥

व्यभिचारो भवेज्ज्ञाने हेतुदोषेऽप्युतान्यथा ।

तद्दोषसिद्धये तेन सम्बन्धः कार्य इष्यते ॥ १४ ॥

केनचित् प्रमाणेन यदा ज्ञानं जन्यते तदा तज्ज्ञानं मिथ्येति निश्ची-  
यते-यदि तस्य कारणेषु कश्चिद्दोषो दृश्यते अथवाऽन्यत् किमप्यप्रामा-  
ण्यकारणमुपलभ्यते । शब्दप्रमाणे च दोषस्तद्वक्तव्येव सम्भवेत्, अथ वा-  
यदर्थवत्त्वेन शब्द उच्चारितस्तेनार्थेन तस्य वाच्यवाचकरूपसम्बन्ध-  
गत एव । एवं च 'तस्मिन्' शब्दे 'दोषस्य' सिद्धये-दोषास्तित्वप्रदर्श-  
नार्थम्-'सम्बन्धः' शब्दार्थयोः-'कार्यः' अनित्यः पुरुषकृतोऽत एव सदोष  
एव 'इष्यते'-पररिति शेषः ।

चतुर्थसूत्रोत्तरार्धोपन्यस्तस्य . समाधानं पञ्चमे सूत्रे वर्णितम्-तच्च  
शब्दार्थसम्बन्धनित्यतोक्तिरूपम् । तस्योक्तेन पूर्वपक्षेण सम्बन्धो न  
सुग्रह इति तत्सम्बन्धं दर्शयितुमेवैव श्लोकः ॥ १४ ॥

इदानीं नित्यसम्बन्धसाधनायाश्रयद्वयम् ।

निर्णेतुं प्रथमः शब्दः स्फोटवादे निरूप्यते ॥ १५ ॥

'इदानीं' शब्दप्रमाणे यत्प्रमाणमेव कारणदोषाभावं विवक्षमाणः-'नि-

‘त्यसम्बन्धसाधनाय’ शब्दार्थसम्बन्धस्य नित्यत्व साधयितुम्-‘आश्रयद्वयं तत्सम्बन्धस्याश्रयभूत शब्दमर्थं च ‘निर्णतु’ निरूपयितुम्-‘प्रथम’ आदौ-‘शब्द’ एव-‘स्फोटवादे’-‘अथ गौरित्यत्र क शब्द’ इत्याख्य ‘तस्मादक्षराण्येव पदम्’ इत्यन्ते भाष्यग्रन्थे-‘निरूप्यते’ इति योजना । इदमत्राकृतम् । सम्बन्धद्वयाधारो हि सम्बन्धो नानिरूपितयोस्तयोर्निरूपयितुं शक्यते । नहि वर्णातिरिक्तस्य शब्दस्य ( पराभिमतस्फोटादिरूपस्य ) शशविषाणायमानस्य सम्बन्ध एव सम्भवति न तत्र । नित्यत्वम् । अतः प्रयोजनवद् वर्णानां शब्दत्वप्रतिपादनं सम्बन्धप्रस्तावादेष नाप्रसक्तं क्रियते । एव च आस्तां तावत्सम्बन्ध शब्दस्वरूपमेव तावन्कीदृशमिति प्रथमतो निरूपयाम इत्याशयः सिद्धान्तिनः ॥ १५ ॥

ततोऽभिधेयरूपं यत् सम्बन्धस्याश्रयान्तरम् ।

तन्निरूपयितुं नित्या जातिरस्तीति साध्यते ॥ १६ ॥

‘तत’ शब्दस्वरूपनिरूपणानन्तरम्-‘सम्बन्धस्य’ शब्दार्थसम्बन्धस्य-‘यत् आश्रयान्तरम्’-उक्तस्य सम्बन्धस्यैक आश्रयः शब्दस्तस्मादपरो द्वितीयो य आश्रय ‘अभिधेयरूपम्’ अर्थरूपम्-‘तन्निरूपयितुं’ नित्या जाति’-शब्दाभिधेया-‘अस्तीति’ ‘साध्यते’-अथ गौरित्यस्य शब्दस्य कोऽर्थः इत्याख्य ‘आकृति शब्दार्थ’ इत्यन्तेन भाष्यग्रन्थेनैति योजना । प्रयोजनं चास्योक्तं वार्तिककारैः —

आकृतिव्यतिरिक्तेऽर्थे सम्बन्धो नित्यताऽस्य च ।

न-सिध्येतामिति ज्ञानात्कालच्यत्वमिहोच्यते ॥ इति ।

आकृतिशब्देन चात्र जातिरवोच्यते यथोक्तम्-‘गवादिशब्दाऽभिधाति जाति’ इत्यग्निमे सप्तविंशच्छ्लोके ॥ १६ ॥

ततो निरूपिते भित्तिद्वयेऽपि परमार्थतः ।

सम्बन्धनित्यतामाह कर्त्रभावेन हेतुना ॥ १७ ॥

एव पूर्वोक्तप्रकारेण ‘भित्तिद्वये’-शब्दार्थसम्बन्धस्य सम्बन्धिरूपाश्रय-द्वये शब्दार्थरूपेण परमार्थतः तत्र-‘निरूपिते’ व्यवस्थापिते-‘तत’ तद-नन्तरम्-‘कर्त्रभावेन हेतुना’-‘यस्य कर्ता नास्ति तत्र कृतकम् शब्दार्थसम्बन्धस्य च कर्ता नास्ति तस्मान्न स कृतक’ इत्येतेन हेतुना-‘सम्बन्धस्य’ शब्दार्थस्य नित्यताम् ‘आह’ व्यवस्थापितवान्-अतोपसिक्तस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध इत्येतेन पञ्चमसूत्रस्याद्यखण्डेनाथ च अथ सम्बन्धः क इत्याख्य ‘तस्मादपौरुषेय शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध’ इत्यन्तेन भाष्यग्रन्थेन उक्तं च वार्तिककृता—

सम्बन्धोऽस्ति च नित्यश्चेत्युक्तमौत्पत्तिकादिनेति ॥

एष एव नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः 'तस्य' धर्मस्य 'ज्ञानम्' ज्ञानकारणं प्रमाणं भवतीति 'तस्य ज्ञानमि'त्यनेन सूत्रांशेनोक्तम् । प्रत्यक्षमिदमि-  
नवगम्यमानस्य धर्मस्य ज्ञानं नित्येन शब्देन चोदनालक्षणेन नित्यशब्दा-  
र्थसम्बन्धद्वारैव जन्यते । नित्यत्वादेव चास्य कर्तृदोषाद्यप्रामाण्यकार-  
णाभावादनवद्यप्रामाण्यमिति पर्यवसितोऽर्थः । उक्तं च वार्तिके—

न मृषा वैदिकं वचः ।

स्वायं वक्तुनपेक्षत्वात् पदार्थपदबुद्धिवत् ।

तत्कृतः प्रत्ययः सम्यक् नित्यवाक्योद्भवत्वतः ।

वाक्यबुद्धिवदेवेति ॥

एवं च चोदनालक्षणे एव धर्मो नान्यलक्षणे इति सिद्धम् ॥ १७ ॥

अथ चित्रादियागेषु सद्यः फलमपश्यता ।

व्यभिचाराद् य आक्षेपः सोऽधुना विनिवार्यते ॥१८॥

शब्दस्य प्रामाण्यं प्रतिपत्ता- पूर्वपक्षिणा—'चित्रादियागेषु' पश्वादि-  
दृष्टफलसम्पादकतया वेदे विहितेषु—'सद्यः' कर्मसमाप्त्यनन्तरकाले—'फ-  
लम्' पश्वादिरूपं सम्पन्नम्—'अपश्यता' नैव भवतीति दृष्टवता—उक्तानां  
विधीनाम् अर्थेन 'व्यभिचारात्' मिथ्यात्वात्—'य आक्षेपः' कृतः प्रदर्शित-  
तश्चात्र त्रयोदशे श्लोके—'सः' आक्षेप—'अधुना विनिवार्यते' परिह्रियते-  
'अथ यदुक्तं अनिमित्तं शब्द' इत्यारभ्य 'तच्चैव हि तत्र कारणं शब्दश्चे'  
त्यन्तेन भाष्यग्रन्थेनेति योजना । तत्परिहारो यथा कर्मानन्तरमेव फलमिति  
न विध्यर्थोऽपि तु कृते कर्मणि फलमवतीत्येतावन्मात्रम् । लौकिकेऽपि  
कर्मणि कृष्यादौ भवत्येव कालान्तरेऽपि फलमिति ॥ १८ ॥

व्यभिचारविशेषोऽन्यो यज्ञायुधिवचोगतः ।

नैमिदानीं निराकर्तुं विभुरात्मा प्रसाध्यते ॥१९॥

वेदस्य प्रामाण्यमाशङ्कमानेन पूर्वपक्षिणा 'स एष यज्ञायुधी यजमानो-  
ऽज्जसा स्वर्गं लोकं यातीति' वाक्यमुपन्यस्य तत्र—'अस्यः चित्रादियागफ-  
लान्तरानिष्पत्तिमूलकाक्षेपात् अपरः—'व्यभिचारः'—'यज्ञायुधिवचोगतः'—  
उक्तवाक्ये यज्ञायुधिशब्देन यज्ञावाधारियजमानशरीरमेवोच्यते तच्च दग्धं  
नव स्वर्गं लोकं यातीति प्रत्यक्षविरुद्धोऽर्थ उक्तवाक्येनेत्यत इत्येवंरूपः  
प्रदर्शितः—'तम्' आक्षेप—'निराकर्तुम्' परिहर्तुम्—'आत्मा विभुः' अस्ति  
शरीराश्रितः स एव यज्ञायुधिशब्देन विवक्षितः स एव शरीरदाहानन्तरं  
स्वर्गं यातीति 'इदानीं' प्रसाध्यते—'यत्तु प्रत्यक्षविरुद्धमित्यारभ्य 'तस्मा-  
द्विरोध' इत्यन्तेन पञ्चमसूत्रमाध्यसमाप्तिपर्यन्तमाध्यग्रन्थेनेति योजना ॥



अथ चात्मा शरीरेन्द्रियादिभ्यो व्यतिरिक्तो नित्यो विभुः सर्वज्ञान-  
गताहम्बुद्धेराश्रयो विषयज्ञानशक्तिस्वभावो मानसप्रत्यक्षगम्यश्चेति  
भाट्टा — सत्रैषा ज्ञानाना ज्ञानज्ञेयज्ञातुरूपाशत्रयेणानुस्यूतत्वात् यत्प्रमाणं  
ज्ञानकरण तस्यैव प्रमाणस्यात्माऽपि विषयो भवति न तु मानसप्रत्यक्षमा-  
त्रगम्यो ज्ञान चात्मनो गुण एव प्रतिशरीरभिन्नश्चेति प्राभाकरा ॥१६॥

(६) १.१६/२३ वाच्यवाचकसम्बन्धनित्यता या प्रसाधिता ।

शब्दनित्यतया सा स्यात् तेन तन्निवृत्त्येत्येते ॥

वृत्तिकारीयव्याख्यानविषय प्रसक्तानुप्रसक्ततया निरूप्य पञ्चमसू-  
त्रगतमधिकरणसूत्रं परिगृह्णाति प्रष्टेनानेनाधिकरणेन ।

(१) तत्र धर्म शब्दस्यैव प्रामाण्यमिति निश्चित्य शब्दप्रामाण्यस्य  
दोषराहित्यप्रदर्शनाय शब्दार्थसम्बन्धस्य नित्यताऽपि प्रसाधिता । न च  
सम्बन्धनित्यतामन्तरेण सम्बन्धनित्यतासम्भव इति शब्दनित्यताऽधुना  
साधनीया भवतीति सङ्गतिः ।

(२) विषयश्च धर्मप्रमाणभूत शब्द एव ।

(३) तत्र सशय — विध्यादिरूप शब्दो नित्योऽनित्यो वेति ।

(४) पूर्वपक्ष — अनित्यएव शब्दो वर्णरूपत्वाद्धर्णस्य च अन्यत्वादिति ।

(५) सिद्धान्त — उणां शब्दाश्च नित्या एव अधाधितप्रत्यभिज्ञाविषय-  
त्वात् । या चास्त्येत्यन्तिर्मन्यते साऽस्याभिव्यक्तिरव । कारणाजन्मत्वादेव  
शब्दे वक्तादिदोषराहित्य प्रामाण्येति सिद्धान्तः ॥

तदेतदभिप्रेत्याह वाच्यवाचकति । शब्दार्थयोर्यो 'वाच्यवाचकसम्ब-  
न्ध' तस्य 'नि यता' सप्तदशश्लोक 'या' 'प्रसाधिता'—'सा' सम्बन्धनि-  
त्यता—'शब्दस्य' सम्बन्धिन—'नित्यतया' 'स्यात्' सम्भवति—'तेन' न  
स्मात् कारणात्—'तस्य' शब्दस्य 'नित्यता'—'उच्यते' व्यवस्थाप्यते गच्छे  
नाधिकरणेनेति शेषः ॥

(७) १.१२४ २६ चोदना साधिता धर्मे यद्यप्यन्यनिरासतः ।

- वाक्यार्थबुद्धिभूल तु नोक्तं तेन तदुच्यते ॥

(१) सप्तमाधिकरणमिदम् । शब्दस्य शब्दार्थसम्बन्धस्य च नित्यत्व  
सिद्धम् । वैदिकविधीनां पदसमूहात्मकाना नास्ति शब्दत्वन्नवा शब्दा-  
र्थसम्बन्धत्वम् । एव च धर्मविषये विधिवाक्यस्य प्रामाण्यमद्यत्वेऽपि  
न सिद्धमिति वाक्यप्रामाण्यमपि साधनीयमिति सङ्गतिः ।

(२) तत्र विधिवाक्यप्रामाण्यमेव विवर्त्य ।

(३) वैदिकं विधिवाक्यप्रमाणन्न वेति संशयः ।

(४) विधिवाक्यन्न प्रमाणम् तद्वदकसङ्गत्यपेक्षत्वेन निरपेक्षत्वाभावादिति पूर्वपक्षः ।

(५) पदार्था एवावगता वाक्यार्थं गमयन्ति नास्ति । पदार्थेभ्योऽतिरिक्तो वाक्यार्थो नाम । ततश्च पदवत् वाक्यस्याप्यर्थप्रत्यायनेऽस्त्येव निरपेक्षत्वमिति नास्त्यप्रामाण्यशङ्कावसर इति सिद्धान्तः ।

तदेतदभिप्रेत्याह चोदनेति । 'यद्यपि' 'धर्मे' धर्मज्ञानं प्रति- 'अन्येषां' प्रमाणानां प्रत्यक्षादीनां 'निरासतः' निरासंकृत्वा- 'चोदना' 'साधिता' धर्मप्रमाणत्वेन- तथाऽपि- 'वाक्यार्थबुद्धेः' वाक्यार्थज्ञानस्य 'मूलं' प्रामाण्यं- 'तु' 'नोक्तम्' पूर्वेष्वधिकरणेषु- 'तेन' तस्मात् कारणात् 'तत्' वाक्यार्थप्रामाण्यम् 'उच्यते' व्यवस्थाप्यतेऽनेन सममेनाधिकरणेनेति योजना ॥ २१ ॥

(८) १।१।२७-३२ वेदप्रामाण्यमिद्वैवं समाख्याबलतस्तु यत् ।

वेदानित्यत्वमेवाहुस्तन्निराक्रियते ततः ॥

(१) अष्टमाधिकरणमिदम् । भवतु नाम वेदस्य धर्मं प्रामाण्यम् । यदि पुरुषकृतोऽसावनित्यस्ताहि पुरुषापराधादस्य प्रामाण्यमपि शङ्कास्पदं भवतीति निरवयवप्रामाण्यस्थापनायापौरुषेयत्वन्ततश्च नित्यत्वं साधयन्त्यन्तप्रामाण्यसिद्धयर्थमेवेति सङ्गतिः ।

(२) वेदप्रामाण्यमेव विषयः ।

(३) वेदः पौरुषेयोऽपौरुषेयो वेति संशयः ।

(४) काठककौथुमादीनि श्रुतो वेदोऽखानां नामधेयान्युपलभ्यन्तेऽतो निश्चितं भवति यद् वेदाः कठ-कुथुमादिपुरुषैरेव निर्मिता इति पूर्वपक्षः ।

(५) उक्तानि नामधेयान्यध्ययनसम्प्रदायप्रवर्तकसमाख्यात्वेनाप्युपपद्यन्ते अतस्तानि वेदस्य पौरुषेयत्वसाधकानि न भवन्ति । अथ च वेदकर्ता कोऽपि नोपलभ्यते । एवं चापौरुषेया एव वेदाः । अपौरुषेयत्वादेव च पुरुषापराधजन्यदोषाशङ्काऽसम्भवान्तिद्वम्भवति वैदिकविधिवाक्यान्तमेव धर्माविबोधनं प्रति प्रामाण्यमिति सिद्धान्तः ॥

तदेतदभिप्रेत्याह वेदप्रामाण्यमिति । 'वेदप्रामाण्यम्' 'इष्ट्वा' स्वोक्त्यापि केचिन्- 'समाख्याबलतः'- काठककौथुमादिवेदशोकाणां नामान्युपलभ्य तदाश्रयेण 'वेदस्य' 'अनित्यत्वम्' पुरुषकृतत्वमूलकम्- 'आहुः'- 'ततः' तस्मात् कारणात् 'तत्' वेदे पौरुषेयत्वमनित्यत्वं च 'निराक्रियते' अष्टमेनावेनाधिकरणेनेति योजना ॥ २२ ॥

इति प्रथमाध्याये प्रथमः पादः ।

## अथ प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः

( अर्थवादप्रामाण्यनिरूपकः )

(१) १।२।१-१८ स्तुतिः क्षेपिष्ठता वायोः ।

(१) विध्यतिरिक्तान्यपि भवन्त्यर्थवादादीनि वैदिकानि वाक्यानि । धर्मं प्रति विधिवाक्यानां प्रामाण्यमत्राग्निमधुनाऽर्थवादवाक्यानां का-  
रतिरिति भवति विचारावसरः ।

(२) सर्वाण्येवार्थवादवाक्यान्वयं विषयत्वेनेष्टानि—किन्तु सर्वेषां  
मेवात्र विचारो दुर्घट इत्येकमेव वाक्यं 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवतेति'  
विचारविषयं क्रियते ।

(३) अस्य वाक्यस्य धर्मं प्रामाण्यमस्ति न चेति सशयः ।

(४) कर्तव्यविधायकवाक्यानामेवाऽनुष्ठेयरूपधर्मं प्रति प्रामाण्यं  
भ्रमभवति—उक्तवाक्ये च सिद्धार्थवर्णनमात्रमुपलभ्यते—अत एवविधानां  
वाक्यानां वैदिकत्वेऽपि नास्ति धर्मं प्रति प्रामाण्यमिति पूर्वपक्षः ।

(५) यद्ययुक्तवाक्ये नास्त्यनुष्ठेयविधानं किञ्चित्तथाऽपि तत्प्रकरणे  
स्थेयद्वान्तरमुपलभ्यते 'वायव्यं श्वेतमालभेतेति' तत्र वर्तते एवा-  
नुष्ठेयस्य छागालम्भनस्य विधानम् । तदेकवाक्यतया च वायुर्वै क्षेपि-  
ष्ठेति वाक्यं नेतुं शक्यते । एव च एकवाक्यतापक्षयोर्वाक्ययोरित्यमर्थं  
पर्यवस्यति—'यस्माद् वायु क्षेपिष्ठा देवता तस्मात् तदर्थं श्वेतालम्भनं  
कर्तव्यं क्षिप्रफललाभायेति' । एकं च प्राशस्त्यवर्णनेन पुरुषप्रवर्तनं प्रति  
विधिवाक्यस्य सहायता गच्छद्भिमतं वाक्यमपि धर्मावबोधं प्रति भवत्येव  
प्रामाण्यमिति सिद्धमन्तः ॥

प्राभाकरमतेन तु पूर्वपक्षस्वरूपं किञ्चिदन्यथा । तद्यथा—श्वेतताभि-  
न्नवादिमतेन विधिपदघटितस्यैव वाक्यस्य साक्षाद्वाचकता । विमतं  
च वाक्यं विधिपदरहितत्वादवाचकमत एवा माणमिति । तत्र च सि-  
द्धान्त—यद्यपि वायुसिद्धिं वाक्ये विधिपदं नास्ति तथाऽप्यन्येवेदं  
वायव्यमिति विधिघटितवाक्येनैकवाक्यतामापादयितुं तन्न्यविधिसम्भ-  
न्धद्वारा च भवत्येवास्यापि वाचकत्वप्रामाण्यं चेति ।

तदेतदभिप्रेत्याह स्तुतिरिति । 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवतेति' वाक्ये वा  
'वायो' 'क्षेपिष्ठता' अतिक्षिप्रतरं वर्ण्यते—सा 'स्तुतिः' न साक्षाद्विधिरपि  
तु देवतास्तावकमेव । तत्स्तुतिद्वारा च विहितकारानुष्ठाने प्रगेचनं कुर्वेद्  
विधिवाक्यस्य साहाय्यमनुतिष्ठतीति ।

अस्य चाधिकरणस्य केचित् स्वरूपान्तरमाहुः । वायव्यं श्वेतमाल-  
भैतेत्यस्य विधिवाक्यस्यैव प्रामाण्ये संशयः-तत्र वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवतेति  
वाक्योक्तप्राशस्त्यज्ञानसापेक्षत्वाच्च निरपेक्षप्रामाण्य तस्येति पूर्वपक्ष-स्तु-  
तिद्वारा प्ररोचनामात्रमत्र विवक्षितं पुनर्विधेस्तत्माकाङ्क्षता येन निर-  
पेक्षप्रामाण्यमस्य व्याहृत्येतेति सिद्धान्तः ।

(२) १।२।१६-२५ स्तुतिर्गुरुवरोधनम् ॥ सम्पाद १५

(१) अनुष्ठेयविधायकवाक्यान्तरेण सहैकवाक्यत्वात्प्रामाण्यं भूतो-  
र्थानामर्थवादवाक्यानामिति साधिते-यत्रार्थवादवाक्ये विध्यर्थ एवाव-  
गम्यते सोऽधुना विचारणीयः ।

(२) तादृशं वाक्यं 'औदुम्बरो यूपो भवति-उर्कं पशवः...'  
ऊर्जाविरुध्यै' इत्यत्र विचारविषयः ।

(३) तत्र संशयः । 'ऊर्जाविरुध्यै' इत्यनेन किमौदुम्बरयूपकरणस्य  
'ऊर्क' ( पशवः ) फलत्वेन विधीयते तेन फलविधिरेवत्यमुत स्तुतिमात्र-  
मस्यार्थ इति ।

(४) तत्र पूर्वपक्षः 'ऊर्जाविरुध्यै' इत्यत्र तादर्थ्यं चतुर्थी । तथा च 'औ-  
दुम्बरयूपकरणेन पशवः सम्पादनीयाः' इति स्पष्टोऽर्थः प्रतीयते । तेन  
फलविधिरेवेदमिति ।

(५) सिद्धान्तस्तु-नेदम्फलविधिर्भवितुं शक्नोति । नात्र प्रकरणे किञ्चि-  
द्विधायकं पदं दृश्यते-न चानुष्ठानप्रकरणे फलस्य सम्भवः-अतोऽत्र  
प्रकरणे साक्षाद्विधायकपदाभावात् 'औदुम्बरो यूपो भवतीत्यत्रैव वि-  
धिरुच्यते । तदुच्यते च तदैव सम्भवति यदाऽत्र प्रकरणे स्तुतिर्भवति ।  
स्तुतिश्च 'ऊर्जाविरुध्यै' इति वाक्यमन्तरेणान्यत्रास्तीति विध्यर्थमप्यस्य  
मनावकत्वेनाङ्गीकर्तव्यमिति ।

प्राभाकरमतेन चास्याधिकरणस्य स्वरूपं यथा । भूतार्थानामर्थवाद-  
वाक्यानां प्रामाण्यं प्रतिपादितं प्रथमेऽधिकरणे । यत्र पुनः कार्यतैवाव-  
गम्यते कार्यान्तरेण सैकवाक्यत्वं तदधुना विचार्यते । यथोक्तवाक्ये  
औदुम्बरो यूपः कर्तव्य इति विहितम् 'औदुम्बरो यूपो भवतीत्यनेन  
वाक्येन अथ च 'ऊर्जाविरुध्यै' इत्यनेन 'ऊर्कः' पशोः 'अलरोधनं' सम्पा-  
दनं कर्तव्यमिति कार्यान्तरं विहितम् । गम्यते चानयोर्विधानयोरेकवा-  
क्यत्वम्-यस्मादुदुम्बरपशवः साध्यन्ते तस्मादुदुम्बरेण यूपः कर्तव्यः  
इति । तत्र किमेकवाक्यत्वाद्यस्योपाया-उन स्वतन्त्रमेव विधिद्वयं ग्राह्य-  
मिति । विध्यमवभासने किञ्चभावार्थवादत्वं स्पष्टमिति किम्

युक्तमिति भवति सशय ॥ तत्र सम्भवत्या साध्यार्थावगता सिद्धा  
 र्थावगतिर्न न्याय्या-तथा च पशुसम्पादनरूप साध्यमेवावगमयति 'ऊ-  
 र्जोऽवरुध्यै' इति वानयम्-न पुन स्तुतिरूप सिद्धार्थवर्णनमिति पूर्वपक्ष ।  
 सिद्धान्तस्तु-यावद्वाक्यान्त्येकवाक्यतामापाद्य विध्येकत्वेन नेतु शक्यानि  
 तावन्नानाविप्रिकरणतोऽप्याय्या-अतोऽत्र वाक्यद्वयस्यैकवाक्यतैव न्या-  
 य्या-तथा चौदुम्बरो यूपो भवतीत्यस्य साध्यावगमकत्वाद्धिप्रित्यमुर्जोऽव-  
 रुध्यै इत्येतस्य तु सिद्धार्थावगमकत्वात्स्तुतित्वमेवेति ॥

तदेतद् द्वितीयाधिकरणमभिप्रेत्याह स्तुतिरिति । 'ऊर्जोऽवरुध्यै' इति चाक्ये यत् 'ऊर्ज' पशो 'अवरुध्यै' सम्पादनमुक्तं तत्  
 'स्तुति'रेव न विधिरिति योजना ॥

१।२।२६-३० स्तुतिः शूर्पेऽन्नहेतुत्वम् ।

(१) अस्य परोऽप्यर्थवादो यत्र वाक्यान्तरविहितानुष्ठानस्य साधक-  
 त्वेन हेतुरिचोप यस्यते-अयमेवार्थवादो हेतुवन्निगद इति नाम्ना प्रसिद्ध ।  
 सोऽयमधुना विचार्यते ।

(२) 'शूर्पेण जुहोति' इति शूर्पेण होम 'कर्तव्य इत्यनुष्ठानविधेरनन्त-  
 रमुपलभ्यते वाक्यम्- 'तेन ह्यन्नं क्रियते' इति ।

(३) तत्र सशय-किमिदं वाक्यं शूर्पेण होमे हेतुक्ति-त्वेन नेयमुत  
 स्तुतित्वेनेति ।

(४) तत्र पूर्वपक्ष- 'हि' 'शब्देन हेतुरुच्यते । तेनायमर्थ-यस्मा  
 च्छूर्पेणान् क्रियते तस्मादनेन होमः कर्तव्य इति । इयं च हेतुक्तिराव  
 श्यकी-यतो बहूनि होमसाधनानि शूर्पेणुवस्फथादीनि-तेषु शूर्पेणैव होम  
 कर्तव्यो नेतरैरिति हेतुर्वक्तव्य । इतरथा विकल्पः स्यादिति ।

(५) तत्र सिद्धान्त-शूर्पस्य होमसाधनत्व साक्षाद्धोत 'शूर्पेण जु  
 होतीति' वाक्यादवगतम् । अतोऽस्मिन् प्रकरणेऽपूरस्य साधनस्याशौ-  
 चत्वाच्चान्यत्साधनं प्राप्नोति-ततश्च नावश्यकता हेतुपादानस्य । तस्मात्पू-  
 र्ववाक्यविहितशूर्पस्तुत्यर्थतैव युक्ता-तस्याश्च प्रयोजनमित्यर्थवादवत्  
 नरोचनैवेति ।

एतदेव तृतीयमधिकरणमभिप्रेत्याह स्तुतिरिति । 'शूर्पेऽन्नहेतुत्व'  
 यद् अत्र 'तेन ह्यन्नं क्रियते' इत्यत्र वाक्ये-सा 'स्तुतिः'-न तु हेतुक्ति-  
 वन्नेयमिति । एव च विधिवाक्यकवाक्यतया गृहीतानामर्थवादवाक्या-  
 नामपि धर्मे प्रामाण्यमिति सिद्धम् ॥

१।२।३१-३२ मन्त्रस्यार्थो विवक्षितः ॥ २३ ॥

(१) वैदिकवाक्येषु विधिवाक्यस्यार्थवादवाक्यस्य च धर्मं प्रति प्राया

एयं साक्षात्परम्परया वा साधितम् । सन्त्यपराण्यपि वेदवाक्यानि यत्र लिङाद्यभावाच्च विधित्वं स्तुतिनिन्दाद्यभावाच्च नार्थवादत्वं वा गृह्यते । एतानि च मन्त्रनाम्ना प्रसिद्धानि । एतेषां च किम्प्रयोजनं किं वा प्रामाण्यं धर्मं प्रतीतिं विचारणीयम्प्राप्नोति ।

(२) मन्त्रा एवात्र विषयाः ।

(३) तत्र सशयः-मन्त्राः किमविवक्षितार्था उच्चारणमात्रेण यागस्योपकुर्वन्त्युत विवक्षितार्था अपेक्षितार्थप्रकाशनेन तस्योपकुर्वन्तीति । यथा 'वहिर्देवसदनन्दामीति' अत्र इदमविवक्षितार्थमुच्चारणमात्रेणोपयोग्युत विवक्षितार्थं दामीत्यनेन बहिर्लवनं प्रकाशयत् तल्लवने प्रयुक्तमेव यागस्योपकाराति सशयः ।

(४) तत्र पूर्वपक्षः-मन्त्रा अविवक्षितार्था एव-उपकुर्वन्ति च यागस्योच्चारणमात्रेणेति ।

(५) सिद्धान्तस्तु-स्वाध्यायनियोगसम्बन्धितया मन्त्रा नाविवक्षितार्थाः । स्वाध्यायस्य ह्यर्थवच्चा कार्यं प्रामाण्याभिधानादेव सिद्धा । एवं चानुष्ठायमानार्थोपप्रयिकानां देवतादीनां प्रकाशनेन विवक्षितार्थत्वं न शक्यते व्योहन्तुमिति । ११ येषु तु मन्त्रेषु किमपि कर्मसम्बन्धि सूचितन्नोपलभ्यते तेषां त्वनायत्योच्चारणमात्रेणादृष्टार्थत्वमङ्गीकरणीयमेव भवति ॥

एतदेव चतुर्थमधिकरणमभिप्रेत्याह मन्त्रस्येति । 'मन्त्रस्य' 'अर्थो' विवक्षितः-अतो नास्योच्चारणमात्रेणादृष्टार्थताऽपि तु कार्यापेक्षितार्थप्रकाशनेनैवार्थवत्तेति ॥

अभ्याधिकरणस्य स्वरूपान्तरं कैश्चिदुपन्यस्तम् । तद्यथा । यत्र मन्त्रोक्तविनियोगस्यार्थवादवाक्योक्तेन विनियोगेन विरोधोऽपलभ्यते तत्र कस्य प्रामाण्यमिति संशये-परस्परव्याहतत्वादुभयोरप्यप्रामाण्यमेवेति पूर्वपक्षे-अर्थवादेन हि वाक्यद्वारा विनियोगः सिध्यति-मन्त्रेण तु लिङ्गेनैवेति बलवत्तरो मान्त्रिको विनियोग इति स एव ग्राह्य इतरस्त्वनुवादत्वेन कथञ्चिन्नेय इति सिद्धान्तः ॥ २३ ॥

चत्वारोऽत्र नयाः पादे भाष्यकारेण वर्णिताः ॥ २४ ॥

द्वितीयपादार्थं सङ्गृह्णाति चत्वार इति । 'अत्र' द्वितीये- 'पादे'- 'चत्वारो न्यायाः' अधिकरणेन 'भाष्यकारेण वर्णिताः' इति योजना ॥ २४ ॥

इति प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः ॥

## अथ प्रथमाध्याये तृतीयः पादः ॥

( स्मृतिप्रामाण्यनिरूपकः )

१।३।१-२ मन्वादिवाग् विस्तृतवेदमूला

(१) वेदस्य धर्मं प्रामाण्यं साधितम् । वदवदेव स्मृत्याद्याऽपि धर्मे प्रमाणत्वेन स्वाक्रियन्ते शिष्टे । अतो धर्मप्रमाणविचारप्रसङ्गः । स्मृतीनां प्रामाण्यस्य विचाराऽनुना प्रसज्यते ।

(२) तत्र विषयसार्थानि-‘अष्टका कतव्याः’ इत्यप्रामादनि-अथ वदिको विधिर्नापलभ्यते अथ चैवमर्थानुसृत्य इति स्मृतिर्भवति ।

(३) तत्र सशय-अष्टकाद्यनुष्ठानविधिभूता स्मृतिः प्रमाणमुता प्रमाणमिति ।

(४) पूर्वपक्ष-अप्रमाणमेवेति । कुत ? धर्मस्य चोदनामात्रलक्षणत्वात् । चोदनैव धर्मे प्रमाणमिति सिद्धान्तितं द्वितीयसूत्रे । अतो वेदातिरिक्ता भवन्ती स्मृतिर्न प्रमाणं धर्मे भवितुमर्हतीति ।

(५) सिद्धान्तस्तु-प्रमाणमेव स्मृतिः वेदमूलत्वात्स्मृतानाम् । वदिकैः स्मृता एवार्था स्मृतिवृत्तानेवद्धा न तत्र नवान् किञ्चिदस्ति । येष्वर्थान्वेदेषु विप्रकीर्णा उक्तास्त एव पुरुषोपकाराय वद्विविचक्षणं स्मृतिकारं सङ्गृहीता स्मृतत्वेनैव स्मात् कारणात् स्मृतिरपि धर्मप्रमाणं भवितुमर्हतीति ।

अस्मिन् पादे स्मृत्यादिविचारोऽप्येव प्रेस्तुतस्तस्याध्यायार्थेन वदप्रामाण्येन नास्ति सम्बन्ध इत्यसम्बद्धप्रलापित्वात् सूत्रकारस्य केचिद्वर्णयन्ति । अत्र एव प्राभाकरवदप्रामाण्येनास्य पादस्य सम्यग्बुद्धिः कर्तुं कामेयव्यवहारस्य । काञ्चनैकपक्षान्तरमुक्तम् । तद्यथा । बहूनि कर्माणि स्मृतिषु स्पष्ट विहितानि वेदेषु साक्षाद्भावात्पि तु कथञ्चित्सूचितानि । यथाऽऽष्टकाश्च स्मृतिषु विहिते ‘शाखानाः प्रतिनन्दन्तीति’ वैदिकमन्त्रं सूचितमुपलभ्यते । एवं सति उक्तस्मार्तविधीनामप्रामाण्ये तत्सूचकवेदस्याप्यप्रामाण्यं प्रसज्यते । एवं च वेदप्रामाण्यदाढ्यायैव स्मृत्यैव प्रामाण्यसाधनप्रयत्न इति ॥

भाट्टमतेन तु चिरकालव्यतिथिः परिग्रहादेव स्मृतिषु प्रामाण्यसम्भावना वेदानुक्तस्य तत्रोपलम्भाच्चाप्रामाण्यसम्भावनेति तेषां प्रामाण्यविचारः स्वतन्त्रतयाऽऽवश्यकः ।

तदेतत्प्रथममधिकरणमभिप्रेत्याह-‘मन्वादिवाग्’ । ‘मन्वादिवाग्’

मन्वादिनिर्मिता स्मृतिः—‘विस्तृतवेदमूला’—‘विस्तीर्णः’ बहुशाखां वेद-  
एव ‘मूलम्’ प्रमाणं यस्याः सा तथाभूता अस्तीति शेषः । वेदमूलत्वादेव  
स्मृतीनां प्रामाण्यं धर्म इत्यर्थः ॥

स्मृतिनाम्नाऽत्राधिकरणे समस्तार्थावर्तपरिगृहीतानामेव-सङ्ग्रहस्त-  
था च पुराणेतिहासो मानवो स्मृतिरेत्येतावत्येव तात्पर्यमिति भट्टपादाः ।

१।३।३ श्रुत्या विरुद्धा स्मृतिप्रमाणम्

(१) स्मृतीनां वेदमूलत्वात् प्रामाण्यं साधितेऽपि स्मृतिः साक्षाद्वे-  
दाक्तस्य विरुद्धाथप्रातेपादयिष्यलभ्यते तस्याः का गतिरित्यधुना  
विचार्यते ।

(२) ज्योतिष्टोमे मण्डपस्य मध्ये उदुम्बरकाष्ठशाखा यूपरूपेण निख-  
न्यते—सेयं शाखा सर्वा वाससा वेष्टयितव्येति स्मृतौ विधीयते—अथ च  
तस्याः स्पर्शा वेदे विहितः—वाससा वेष्टितायाः स्पर्शा न सम्भवतीति  
भवत्येषा स्मृतिविचारणीया ।

(३) तत्र सशयः—किमेवं स्मृतिरष्टकास्मृतिवत्प्रमाणमुत नेति ।

(४) तत्र पूर्वपक्षः—यथाऽष्टकास्मृतिर्वेदमूलत्वात्प्रमाणं तथेयमपि  
तस्मादेव कारणात् प्रमाणमिति ।

(५) सिद्धान्तस्तु साक्षाद्वेदविरुद्धमर्थं या विधत्ते सा स्मृतिर्नैव  
प्रमाणमिति ।

इदमप्यधिकरणं वेदप्रामाण्यपरकत्वेनेव वर्णितं प्राभाकरैः । तद्यथा ।  
स्मृतिमूलभूताः श्रुत्याऽनुमातव्यास्तदनुमितिश्रुतिमूलकमेव स्मृतीनां  
धर्मं प्रामाण्यमिति पूर्वाधिकरणे सिद्धान्तितम् । एवं च श्रौतुमार्ग्या सा-  
कल्यवेष्टनविधायिन्याः स्मृतेरपि मूलभूता श्रुतिरनुमातव्या—अथ च  
तत्स्पर्शनविधायिनी साक्षाच्छ्रुतिरुपलभ्यते । तथा चानुमितप्रत्यक्षयोः-  
श्रुत्याः परस्परव्याघातात् प्रामाण्यविलोपस्तथा च वेदस्याप्रामाण्यमिति  
पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु वेदविरुद्धायाः स्मृतेः प्रामाण्यस्य बाधितत्वात्  
मूलभूतायाः श्रुतेरनुमानं न सम्भवति—तथा चानुमितश्रुतेरभावाच्चास्ति  
व्याहतिः प्रत्यक्षश्रुतेर्गतिः ।

तदेतद्वितीयमधिकरणमभिप्रेत्याह—श्रुत्या विरुद्धेति । ‘श्रुत्या’ प्रत्यक्ष-  
वेदवाक्येन ‘विरुद्धा’ विरुद्धस्यार्थस्याभिधायिनी ‘श्रुतिः’ ‘प्रमाणं’ धर्म-  
इति योजना ।

कुमारिलस्तु कस्याश्चिदपि स्मृतेरप्रामाण्यमसहमानोऽधिकरणस्यास्य  
स्वरूपान्तस्मृत्यान्तस्मृतेन भाष्योदाहृते स्मृतिवाक्ये नास्ति कश्चि-  
द्विरोधः श्रुत्या स्मृतेरपि भूत्येव प्रामाण्यम् । यदा वेदे एकं कार्यं वि-



हितस्मृतौ चापर तत्र श्रुत्युक्तमेव कर्तव्यमित्येताग्रन्मात्रमेव तृतीयसूत्रार्थो न तु स्मृत्युक्तस्याप्रामाणिकत्वमेव सर्वथा । उभयोस्तारतम्यविचारं श्रुतेरपि प्रामाणिकतरत्वमित्येवात्र सिद्धान्तः ॥

अनेन 'चापरितुष्यन्तोऽपरमपि स्वरूपं वर्णितवन्तोऽत्र भट्टपादा । तद्यथा । शाक्यादिबाह्यस्मृतय एवात्र विचारणीयास्तेषां च प्रामाण्ये स्मृतिवादेव हेतोः पूर्णपक्षिते वेदप्रिरुद्धायाभिधायित्वाद्प्रामाण्यमेवेति सिद्धान्तितम् ॥

॥३॥४ न लोभमूलं स्मरणं प्रमाणम्

(१) श्रुतिविरुद्धार्थाभिधायिनीनामप्रामाण्यमुक्तम् । इदानीमन्यासा मापे कासाञ्चित्स्मृतीनामप्रामाण्यं विप्रिच्यते ।

(२) ज्योतिष्टोमेऽग्नीषोमीयस्य पशोः सम्बन्धे वैसर्जनहोमो विहितः । तत्र सकुटुम्बस्य यजमानस्य वाससाऽऽच्छादनं होमात् प्राग् भवति । तद्वाससः प्रसङ्गेन स्मृतिर्भवति 'वैसर्जनहोमीयं वासोऽध्वर्युर्गृह्णातीति' । इदमेव स्मृतिवाक्यमत्र विचारविषयः ।

(३) इदं वाक्यं प्रमाणमप्रमाणं वेति सशयः ।

(४) तत्र पूर्वपक्षः । अस्य वाक्यस्य विरोधि किमपि श्रुतिवाक्यं नापि लभ्यते ततोऽप्रामाण्यहेतुभूतश्रुतिप्रतिषेधाभावात् प्रमाणमेवेदं वाक्यमिति ।

(५) सिद्धान्तस्तु—रुदाचित्स्थिरध्वर्युर्गर्भादेतदस्य जग्राह तन्मूलकमेवेदं स्मृतिवाक्यमिति कटपयितुं शक्यते दृष्टानुसारेण । ऋग्विजा हि लोभाकृष्टा एव याजने प्रवृत्तास्तथा च लोभस्य तेषु दृष्टत्वादप्यथोपपत्त्यभावाच्च लोभमूलिकैवेषां स्मृतिरिति श्रुत्या बाधाभावेऽपि नेयं प्रामाण्यमिति ।

अत्रेदं प्रामाण्यस्यापरवक्तव्यम् सर्वासां दृष्टार्थप्रतिपादकानां लोभादिदृष्टमूलिकानां स्मृतीनामप्रामाण्यमत्र नाभिप्रेतमपि तु तस्मादेव केषलं अदृष्टार्थप्रतिपादकतयाऽदृष्टमूलिका इवाभासमानास्तत्त्वतो लोभादिदृष्टमूलिका एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह न लोभमूलमिति । 'लोभमूल' 'स्मरण' स्मृति 'प्रमाण' इत्युच्यते ।

एतदधिपक्षेण भट्टकः सूत्रं हेतुदर्शनाच्चेति केचित्पूर्वाधिकरणान्णमेवेच्छन्ति । तन्मतेन च न केवलं वेदविरोध एव स्मृतेरप्रामाण्ये कारणमपि तु दृष्टस्य लोभादेर्दर्शनमपीति सवलितोऽर्थः ।

इदमप्यत्रिकरणं कुमारिलमतेन शास्त्रार्थादिबाह्यस्मृत्याप्रामाण्यकारणमेवेति ।

१३।५-७ शिष्टक्रमस्याचमनान्न कोपः ॥ २५ ॥

(१) श्रुतिविरुद्धस्मृत्यप्रमाणेऽपवादोऽधुना प्रदर्श्यते ॥

(२) 'क्षुते आचामेत्' इति विहितमाचमनम् । यदा यागानुष्ठानमध्ये क्षुताद्याचमननिमित्तमापतति तदा 'आचान्तेन कर्तव्यमिति' स्मृत्या विहितमाचमनं तत्रैव कर्तव्यं प्राप्नोति । एतदाचमनविधानं स्मृत्युक्तमत्र विचार्यते ।

(३) यद्यनुष्ठीयते यागानुष्ठानमध्ये आचमनं तदा श्रुत्युक्तकर्मणां बाधः-  
अथ नानुष्ठीयते स्मार्तविधेः परित्यागो भवति-एवं चैवजातीयका स्मृतिः  
प्रमाणमप्रमाणं वेति भवति संशयः ।

(४) तत्र पूर्वपक्षः-सेयं स्मृतिर्न प्रमाणं श्रुतिविरुद्धत्वादेव । वेदं  
कृत्वा वेदिं करोतीत्येवं कर्मणां क्रमोऽपि वेदे विहितस्तथा च यद् वेद-  
करणान्तरमाचमननिमित्तं क्षुताद्यापतेत्तदा आचमनकरणे श्रुत्युक्त-  
मस्य परित्यागो भवेदेव श्रुतिविहितस्य प्रकोप इति ।

(५) सिद्धान्तस्तु-यथा वेदवैद्यादिकरणमनुष्ठेयः-पदार्थस्तथैवाचम-  
नमपि-क्रमस्त्वनुष्ठेयकर्मणो धर्मविशेषः । धर्मश्च पदार्थस्योपजीवकः ।  
अत उपजीव्यपदार्थविरोधाद्युक्त एवोपजीवकस्य बाध इति स्मृत्युक्त-  
स्यानुष्ठाने यद्यपि भवति क्रमस्य बाधस्तथाऽपि नात्र श्रुतिविरोधो न  
चाप्रामाण्यकारणमिति प्रमाणमेवेयं स्मृतिरिति ।

तदेतच्चतुर्थमधिकरणमभिप्रेत्याह शिष्टक्रमस्येति । 'शिष्टस्य' वेदवि-  
हितस्य 'क्रमस्य' वेदं कृत्वा वेदिं करोतीत्येवरूपस्य 'आचमनात्' स्मृत्यु-  
क्तात्-'कोपः' विरोधो 'न' भवतीति ॥

एतच्चाधिकरणस्वरूपं वार्तिककारो नानुमन्यते । तन्मतेन चैतदधिक-  
रणघटकसूत्रत्रयमन्यथा व्याख्यातम् । पूर्वस्मिन्नधिकरणे तन्मतेन शा-  
क्यादिवाह्यस्मृतीनामप्रामाण्यं साधितम्-तत्रैव पुनः प्रश्नः-भवन्तु वेदवि-  
रुद्धा अर्था शाक्याद्युक्ता अप्रामाणिकाः-ये तु तत्रोक्ता वेदविहितानुकूला  
एवाहिंसादयः तावन्त्यं भवेदेव तासामपि प्रामाण्यमिति । तत्र सिद्धान्तः-

वेदेनैवाभ्यनुष्ठानात् येषामेव ( मन्वादीनां ) प्रवक्तृता ।

तेषां विपरिवर्तनेषु (मन्वन्तरादिविपरिवर्तनेषु) कुर्वन्तं धर्मसंहिताः

वचनानि प्रमाणानि नान्येषामिति निश्चयः ॥

तस्माद्यान्येव शास्त्राणि वेदभूतानतिक्रमात्

अवस्थितानि तैरेव ज्ञाता धर्मः फलप्रदः ॥

तत्राऽतिक्रान्तेषां कर्मणां दाव्यवहारिणाम् ।

संवादिष्वपि वाक्येषु ज्ञेयते धर्महेतुता ॥

तस्मात्प्राच्यपरिगणितवेदादिशास्त्रव्यतिरिक्त निबन्धनं तद् धर्मप्रमाणत्वेन नापेक्षितव्यमिति ॥

अयमर्थः पञ्चमपट्टसूत्रयोः । सप्तमे च सूत्रे स्वतन्त्रमेवाधिकरणवार्तिककारेण प्रदर्शितम् । सदाचारप्रामाण्यमेव तत्र विषयः । सोऽप्रमाणमेव तन्मूलभूतवेदाभावादिति पूर्वपक्षे-शिष्टैर्वैदिकैः परियुहीतत्वात् सदाचारस्यापि स्मृतिवदेव वेदमूलत्वं कर्तव्यम् तन्मूलत्वाच्च भवत्येव सदाचारस्यापि स्मृतिवदेव प्रामाण्यमिति सिद्धान्तः ।

१।३ ८-६ आर्यप्रयोगो बलवान् यवादौ ।

(१) वेदस्मृत्यदिप्रमाणे सति तदर्थबोधे यत्र सशयं भवति स इदानीं विचार्यते ।

(२) यव-चराह-वेतसशब्दाः प्रसिद्धाः अपि क्वचित् प्रियङ्गुं यायसजम्बूष्वपि प्रयुज्यमाना उपलभ्यन्ते । पतादृशा एव शब्दा अत्र विचारस्य विषयाः ।

(३) लोकव्यवहारेण निश्चेतव्येषु शब्दार्थेषु काऽर्थः पृथा शब्दानामाश्रयणीय इति भवति सशयः ।

(४) तत्र पूर्वपक्षः (लोकव्यवहारस्यैवात्र नियामकतास्य चोभयत्रापि तुल्यत्वात्) उभयमपि प्रामाणिकत्वेनाश्रयणीयमिति ।

(५) सिद्धान्तस्तु धर्माविबोधे हि शास्त्रप्रसिद्धिरेव बलीयसी । अतो यस्मिन्नर्थे यः शब्दः शास्त्रे शास्त्रक्षेत्रार्थं प्रयुक्तस्तस्मिन्नेवार्थे तस्य प्रयोगः प्रामाणिकः - स एव चाश्रयणीय इति ।

पूतदेव पञ्चमाभिप्रेक्षणमभिप्रेत्याह आर्यप्रयोग इति । 'यवादौ' नामार्थेषु प्रयुक्तेषु यवादिशब्देषु—'आर्याणाम्' वेदशास्त्रानुसंगिणामेव, न तु स्लेच्छानां—'प्रयोगो' 'प्रलवान् प्रामाणिक इति योजनाः ।

प्राभाकरमतेन तत्र पूर्वपक्षस्य सिद्धान्तस्य च 'किञ्चिदस्वरूपान्तरमुक्तं समस्तेऽध्याये धर्मस्य चोदनालक्षणत्वमेव साधनीयमित्याग्रहान् । तद्यथा वैदिकविधिपुण्यवादिशब्दा उपलभ्यन्ते—तेषां च भिन्नत्वार्थेषु प्रयोगदर्शनात् कोऽस्य विपर्यय इति सशये सति तद्वक्तव्यसन्दिग्धार्थत्वाद् प्रमाणं भवति ततश्च वेदस्य प्रामाण्यं पराहृतम्भवतीति पूर्वपक्षे—वैदिकशिष्टानामेव प्रयोगस्य प्रामाणिकतासदीयप्रयोगानुसारेणैव शब्दानामर्थनिर्णयो भवतीति न सम्भवति सन्दिग्धात्वं वेदवाक्यस्येति सिद्धान्तः ।

कुमारिलमतेन चात्राधिकरणे स्मृतिसदाचारयोः प्रामाण्यतारतम्यं प्रदर्शितम् । तत्रोभयोरपि वेदमूलत्वात्तुल्यत्वं प्रामाण्यं तत्र पूर्वपक्षे—

स्मृतेः साक्षाद्वेदमूलत्वात् सदाचारस्य च स्मृतिद्वारैव वेदमूलत्वकल्प-  
नसम्भवात् स्मृतेरेव बलवत्तरं प्रामाण्यमिति सिद्धान्तः ॥ ५ ॥

१।३।१० म्लेच्छप्रयोगात् पिकनेमशक्तिः

(१) म्लेच्छप्रयोगस्याप्रामाण्ये साधिते तत्रापवादस्य सम्भवो  
विचारणीयः ।

(२) सन्ति केचिच्छब्दा ये म्लेच्छैः प्रयुज्यमाना अप्यार्यैर्न क्वचि-  
दप्यर्थे प्रयुज्यन्ते । यथा 'पिक' 'नेमा'दिशब्दास्त एवात्र विषयाः ।

(३) एतेषामर्थाः किं म्लेच्छप्रसिद्धयनुसारेण ग्राह्या उत निगमनिह-  
तव्याकरणादिभिरन्य एवार्थः कश्चित्कल्पनीय इति संशयः ।

(४) तत्र पूर्वपक्षः—म्लेच्छप्रयोगस्याप्रामाणिकत्वात्तदनुसार्थग्रहण-  
मनुचितमिति निगमाद्याधारेणार्थान्तरमेव कल्पनीयमिति ।

(५) सिद्धान्तस्तु—आर्यप्रयोगविरुद्धत्वादेव म्लेच्छप्रयोगस्याप्रामा-  
ण्यम् यत्र तादृशो विरोधो न भवति तत्र म्लेच्छप्रसिद्धस्यापि प्रयोगस्य  
भवत्येव प्रामाण्यम् । एवमेवार्थप्रयोगस्याभावात् पिक-नेम तामरसशब्दा  
म्लेच्छप्रयोगानुसारेण कोकिलार्थकमलवाचकां एव ग्राह्या इति ।

एतदेव षष्ठमधिकरणमभिप्रेत्याह—म्लेच्छप्रयोगादिति । 'म्लेच्छानां'  
'प्रयोगात्' आर्यप्रयोगाभावादेव तदविरुद्धात् 'पिकनेम' शब्दयोः—  
'शक्तिः' वाचकत्वं स्वीकार्येति शेषः ॥

प्रामाकरन्तेनेत्यमधिकरणम्भवति । वेदे पिकालम्भनविधिः श्रूयते-  
पिकशब्दस्य चार्थेषु प्रयोगाभावादर्थो न ज्ञायते अतोऽज्ञातार्थत्वादेवो-  
क्तस्य विधेरप्रामाण्यमिति वेदप्रामाण्यं पराहतमिति पूर्वपक्षे—आर्य-  
प्रयोगाभावेऽपि म्लेच्छप्रयोगवलाज्जायत एव पिकशब्दस्यार्थः—तथा च  
प्रसिद्धार्थस्यैव प्रतिपादनान्नाप्रामाण्यमिहकालम्भनश्रुतेरिति सिद्धान्तः ॥६॥

१।३।११ १४ न कल्पसूत्रायनपेक्षमानम्

(१) स्मृतिप्रामाण्यप्रसङ्गेनैव स्मृतित्वेन प्रसिद्धानां कल्पसूत्राणां प्रा-  
माण्यं विचार्यते ।

(२) कल्पसूत्राण्येवत्र विषयाः ।

✓(३) स्मृतेस्तावद्वेदोक्तविधानात्पौरुषेयत्वाच्च कल्पितवेदमूलत्वात्त-  
न्मूलकल्पनासापेक्षं प्रामाण्यं कल्पसूत्राणां तु वेदोक्तानामेव नुष्ठानादिनि-  
रूपकत्वात्कल्पवेदमूलत्वात्कल्पनानिरपेक्षमेव प्रामाण्यमुत स्मृतेरेव सापे-  
क्षमेवेति संशयः ।

✓(४) तत्र पूर्वपक्षः—वेदस्यैव कल्पसूत्राणामपि निरपेक्षमेव प्रामा-  
ण्यम् तथा च यथा वैदिकविधानाश्रयेणामावास्यायामेव दर्शयाग- क्रियते

तथा कल्पसूत्रविध्यनुसारेण प्रत्यहमेव कर्तव्य इति ।

(५) सिद्धान्तस्तु-कटपसूत्राणामपि पौरुषेयत्वाद् वेदमूलत्वादथ प्रामाण्येन निरपेक्षमिति ।

एतदेव सप्तममधिकरणमभिप्रेत्याह न कल्पेति । 'कल्पसूत्राणि'—'अन-  
पेक्ष' वेदमूलकल्पनानपेक्ष स्वतः सिद्धम्—'मानम्' प्रमाण—'न' भवन्तीति  
योजना ।

प्राभाकरमतेन त्वत्र कटपसूत्रे 'सर्वासु तिथिषु दर्शस्यानुष्ठेयत्वोक्तेर  
मावास्यायामेव कर्तव्यत्वविधेः श्रौतस्याप्रामाण्ये वेदस्य प्रामाण्यम्परा-  
हतमिति पूर्वपक्षे-कटपसूत्राणां वेदमूलकत्वादेव प्रामाण्येन निरपेक्षमिति  
न तत्रोक्तेन विधिना श्रौतस्य बाधो युक्त इति सिद्धान्तः ॥

कुमारिलेन चैतदधिकरणमङ्गविद्यानां शिक्षाकटपव्याकरणनिरुक्त  
च्छन्दोज्योतिषा वेदमूलत्वादेव प्रामाण्यं न स्वतः इत्यतदपि निश्चिनोति ।  
व्याख्यानान्तरेण चतद् बौद्धादिस्मृतीनामशास्त्रत्वन्तश्च धर्मविषयेऽप्रा-  
माण्यं प्रतिपादयति ॥ ७ ॥

१।३।१५-२३ होलाककर्मानियमेन कार्यम् H २६ ॥

(१) स्मृतिशिष्टाचारप्रामाण्यविचारप्रसङ्गेन पुरुषदेशादिभेदेन व्यव-  
स्थितानामाचाराणां होलाकादीनां स्मृतीनां च विचारः प्रसूयते ॥

(२) हारीतादिस्मृतयः काश्चिद्देशभेदेन व्यवस्थितविषया उपलभ्यन्ते-  
होलाकाद्यनुष्ठानाचाराश्च देशविशेष एवोपलभ्यन्ते । एत एवात्र विषयाः ॥

✓(३) तत्र सशयः—किमेतेषां देशभेदेन पुरुषभेदेन च व्यवस्थितमेव  
प्रामाण्यमुत सकलदेशसकलपुरुषसाधारणमिति ॥

(४) तन्न पूर्वपक्ष-व्यवस्थितमेवैतेषां प्रामाण्यम्—देशविशेष एव तेषां  
दृष्टत्वात् । तथा हि होलाकादयः प्राच्यैरेव क्रियन्ते उद्वषभयज्ञादयश्चोदीच्यै-  
रेवेत्यादिप्रसिद्धमेव । हारीतादिस्मृतयोऽपि कश्चिद्देशविशेष उपल-  
भ्यन्त इति व्यवस्थितविषयमेवैतेषां प्रामाण्यमिति ॥

(५) सिद्धान्तस्तु उक्तानां स्मृतीनामाचाराणां च मूलत्वेन कल्पि-  
तस्य वेदस्य व्यवस्थितविषयत्वासम्भवात्सर्वसाधारणमेव प्रामाण्यमिति ॥

एतदेव अष्टममधिकरणमभिप्रेत्याह—होलाकेति । 'होलाककर्मा' होला-  
काद्याचारानुष्ठानम्—'अनियमेन' व्यवस्थितविषयत्वामावेन सर्वजनसा-  
धारण्येन—'कार्यम्' कर्तव्यमिति योजना ॥

प्राभाकरमतेन चात्र प्राच्यादिदेशविशेषाणां हारीतादिस्मृतावेवोक्त-  
त्वात् होलाकादीनां च देशविशेष एवानुष्ठानस्य दृष्टत्वात् तन्मूलत्वेन  
कल्पिते वेदेऽपि तत्तद्देशादिनियमावबोधकदेशनामाद्यवर्त्मनास्तीति तेषां

पदानां यदि सार्थकत्वं तदा वेदवाक्यस्यापि व्यवस्थितविषयतयाऽनव-  
द्यप्रामाण्यहानिरथ तेषां निरर्थकत्वं तर्ह्यवाचकपदसत्त्वादर्थबोधकत्वा-  
भावादेव वेदवाक्यस्याप्रामाण्यमिति पूर्वपक्षे-मूलत्वेन कल्पितस्य वेदस्य  
न व्यवस्थितविषयत्वमतश्च नानवद्यप्रामाण्यव्याहतिरिति सिद्धान्तः ॥८॥

१।३।२४-२६ अनादयो व्याकरणाद् गवाद्याः ८ - ४।

( १ ) शब्दस्य कोऽर्थः शुद्ध इति विचारानन्तरं तस्य किं शुद्धं स्वरूपं  
कथं च तन्निर्धारणीयमिति विचारः प्रसरति । गवादिशब्दानां नियता-  
र्थता नियतस्वरूपता चापेक्षिता—तत्र च नियमकापेक्षा—किञ्च तन्निया-  
मकमित्यादि विचारणीयम्भवति । अनियतनिमित्तके हि शब्दस्वरूपे  
वेदाथाऽनियतनिमित्तकः प्राप्नोति ततश्चानव्यवसायादप्रामाण्यम् ।

( २ ) शब्दानां साधुस्वरूपमेवात्र विषयः ।

( ३ ) तत्र संशयः । गवादिशब्दानां साधुत्वे प्रयोगे वा कश्चिन्नि-  
यमोऽस्ति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्षश्चेत्थं समुज्जृम्भते । यथा गोशब्दात्साधोगोरूपार्थस्य  
प्रतीतिस्तथैव गावीगोणीत्याद्यपभ्रशादुपीति नास्ति नियमस्तत्साधुत्वे  
प्रयोगे वेति ।

✓ ( ५ ) सिद्धान्तस्तु—शब्दस्य प्रयोगो लौकिकव्यवहारे समुपलभ्य-  
मानोऽपि स्वसाधुत्वनिश्चयायापेक्षत एव नियमम् । तन्नियमनिरूपणञ्च  
व्याकरणशास्त्राधीनम् । साधोरेव शब्दस्य वाचकत्वे व्याकरणेन प्रयोगेण  
च सिद्धिः । तदतिरिक्तानामपभ्रंशान् प्रयोगमात्रेण वाचकत्वकल्पने वृथा  
प्रयत्नगौरवम् । अर्थावबोधकत्वं चापभ्रंशानां साधुपदसादृश्याद्विद्वद्वैति ।

यदि व्याकरणशास्त्रं प्रमाणं न स्यात् तर्हि अश्वमालभेतेत्यादि  
विधौ दन्त्यतालव्यनियामकस्याभावात्सन्दिग्धार्थतैव स्यात् । ततश्च वेद-  
स्याप्रामाण्ये न तस्य धर्मं प्रामाण्यं निष्प्रत्यूहमिति प्राभाकरमतेनात्र  
पूर्वपक्षः । सिद्धान्तश्च व्याकरणस्मृतेः प्रामाण्यात् न सन्दिग्धं शब्दस्व-  
रूपमतश्च नास्ति सन्दिग्धार्थता वेद इति ॥

तदेतन्नवमाधिकरणमभिप्रेत्याह—अनादय इति । 'व्याकरणात्' व्याक-  
रणशास्त्रोक्तनियमात्—'गवाद्याः' साधुशब्दाः—'अनादयः' अनादिप्रयोग-  
सिद्धनियतस्वरूपा एवेति योजना ॥ ६-॥

१।३।३०-३५ लोके च वेदे च न शब्दभेदः

( १ ) पदस्य साधुत्वं व्याकरणेन निर्धारिते तस्य किमभिधेयमिति चि-  
न्तनीयम्भवति । अस्यां च जिन्तायां लोकानुभवस्यैव प्रायशः प्रमाणत्वे-

नोपन्यसनीयत्वाद्नुभवस्य च लौकिकशब्दपरत्वात्लौकिकशब्दार्था वेदिकशब्दार्थाभ्यां भिन्नावभिन्ना वेत्यादौ विचार्यते ।

(२) लौकिकवेदिकशब्दा अर्थाश्चात्र विषया ।

(३) तत्र सशय -वेदे ये गवादिशब्दा उपलभ्यन्ते य चार्थास्तेरभिधीयन्ते ते लोक उपलब्धेभ्यस्तेभ्यो भिन्ना उताभिन्ना इति ।

(४) तत्र च पूर्वपक्षे वैदिकशब्दा लौकिकशब्देभ्यो भिन्नरूपा । तथाहि वेदे 'ब्राह्मणास' इत्युपलभ्यते लोके तु 'ब्राह्मणा' इति । अर्थऽपि तयो स्फुटा भेद प्रतिभाति । तथाहि वेदिकगोशब्देनाभिहिता गाव उत्ताना वहन्ति— "उत्ताना वै देवगवा वहन्तीति" श्रुते लौकिकास्तु पादेश्वरन्तीति । पुन स्वरोच्चारणादिभेदोऽपि स्फुट । लौकिका शब्दा सर्वैर्मनुष्यैरुच्चारणीया भवन्ति वैदिकास्तु स्त्रीभि शूद्रैर्वा नैवोच्चारणीया इत्येव जातीयो महान् भेदो दृश्यते लौकिकवैदिकशब्दयो । तस्मात् लौकिकशब्दा वैदिकशब्देभ्यो भिन्ना एवेति ।

(५) सिद्धान्तस्तु—य एव लौकिका पदार्थास्त एव वेदिका अपि— यानि च लौकिकानि पदानि तान्येव वेदिकान्यपीत्यवाधितप्रत्यभिज्ञाबला देव सिध्यति । ये च भेदा प्रदर्शितास्ते सब काचित्का एव कारणविशेष मूलक इति ।

एतदेव दशममधिकरणमभिप्रेत्याह लोक इति । 'लोके' 'वेदे च' 'शब्दानां' तदर्थानां च 'भेदो' नास्तीति योजना ॥१०॥

१।३।३०-३५ गवादिशब्दोऽभिदग्नाति जातिम्

(१) लौकिकवैदिकशब्दार्थयोरस्य साधिते गवादिशब्दस्य किमभिधेयमिति विचार्यते ॥

(२) तत्र गवादिशब्दा एव विषय ॥

(३) तत्र सशय -गोशब्दो व्यक्तिमभिधान्याकृति वेति । तन्मूलं च भाष्यमतेन प्रभाकरानुमोदितेनेत्यम्—गौरित्युक्तं सामान्यस्यैव प्रत्ययो जायते आलम्भनादिक्रियामिश्च सम्बन्धो व्यक्त्यैव सम्भवति न सामान्येनेति । प्रत्यय क्रियासम्बन्धश्च जातिव्यक्त्योरुभयोरेव भवतीत्यतः सशय किं जातिरभिधीयते उत व्यक्तिरिति ॥

(४) तत्र पूर्वपक्षे - गामालभेत गामानयेति सर्वत्र आलम्भनात्मक्यनादिक्रियाणां व्यक्तावेव सम्भवात् जातौ चासम्भवाद् व्यक्तिरेव शब्दार्थ इति कुमारिलमतेन । प्रभाकरमतेन तु -गोशब्दस्य व्यक्तियों जातिर्वेति संशये

गामालभेतेत्यादिवैदिकं वाक्यं सन्दिग्धार्थमतश्चाप्रमाणमिति ॥

( ५ ) सिद्धान्तस्तु अन्वयव्यतिरेकाभ्यामाकृतेरेव शब्दार्थत्वम् न व्य-  
क्तेस्तत्रानन्तर्यादव्यभिचारोच्चेति । एवं च शब्दानां जातिवाचकत्वे  
निश्चिते नास्ति सन्दिग्धार्थत्वं वेदे तज्जनितमप्रामाण्यं वेति ॥

तदेतदेकादशमधिकरणमभिप्रेत्याह—गवादिशब्द इति । 'गवादिशब्दः'  
'जातिम्' आकृतिमेव—'अभिदधाति' इति योजना ॥११॥

न्यायास्तु पादे दश वै तथैकः,

तृतीयपादार्थमुपसंहरति—न्यायास्त्विति । 'पादे' तृतीये 'दश वै  
तथैकः' एकादश 'न्यायाः' । यद्यप्यधिकरणान्यत्र सूत्रानुसारेण दशैव  
तथाऽपि दशमाधिकरणस्य सर्वैर्व्याख्यातृभिर्वर्णकद्वयात्मकत्वेन व्या-  
ख्यातत्वादेकादश संख्या भवतीति ॥ २७ ॥

इति प्रथमाध्याये तृतीयः पादः ॥

## अथ चतुर्थः पादः ॥

( नामधेयप्रामाण्यनिरूपकः )

१) १।४।१-२ उद्भिन्नाम गुणो नैव

(१) विधीनामर्थवादानाम्मन्त्राणां चार्थवत्त्वं धर्मावबोध प्रति-प्रदर्शि-  
तम् । कानिचिदेतत्त्रयातिरिक्तानीव वेदवाक्यान्गुपलभ्यन्ते यत्र तद्वत्तश-  
ब्दविशेषार्थविषये संशयो भवति । तेषां विचार इदानीं प्रस्तूयते ॥

(२) 'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यत्र उद्भिच्छब्दोऽत्र विषयः ॥

(३) तत्र 'उद्भिच्छब्दः किं 'उद्भिद्यतेऽनेनेति' व्युत्पत्त्या खनित्रादि गुणं  
विधत्तेऽथवा तन्नामकं यागविशेषमिति संशयः ॥

(४) यथा दध्ना जुहोतीति वाक्ये दधिशब्देन दधिगुणो विधीयते तय-  
वात्रापि उद्भिच्छब्देन कश्चिद्गुणविशेष एव विधीयते खनित्रादिरूप इति  
पूर्वपक्षः । प्राभाकरमतेन च खनित्रादिरूपस्य गुणस्य निष्प्रयोजनस्य वि-  
धायकत्वात् प्रमत्तजल्पितमिवैतद्व्याक्यमप्रमाणमिति पूर्वपक्षस्वरूपम् ॥

(५) सिद्धान्तस्तु—दध्यादिपदवदुद्भिच्छब्दस्य प्रसिद्धार्थत्वाभावात् गु-  
विधित्वप्रयोजकमन्त्रवर्थलक्षणाया असम्भवाच्चैव-युज्यतेऽस्य वाक्यस्य  
गुणविधित्वम् । तस्मादस्य शब्दस्य यागविशेषनामधेयतैव युक्ता । तथा  
चोद्भिन्नामकेन यागेन यजेतेति वाक्यार्थः पर्यवस्यतीति ॥

एतदेव प्रथममधिकरणमभिप्रेत्याह—उद्भिदिति । 'उद्भिद' इति पदं  
'नाम' यागनामधेयमेव—'गुणः' खनित्रादिरूपः 'न' भवतीति ॥

कुमारिलेन त्वत्राधिकरणेद्वयमुपवर्णितम् । तत्रार्थं यथा—उद्भिद



दिपद धर्मे प्रमाणमुत नेति सशये पूर्वपक्ष-नैतत्प्रमाणम् विध्यर्थवाद्-  
मन्त्रेष्वन्तर्गतत्वादिति । उद्भिदा यजेतेति स्पष्टे विधिस्वरूपे विधाव-  
वास्यान्तर्भावाद्भवत्येव प्रमाणत्वमिति सिद्धान्तः ॥ एतदनन्तरं चाप-  
रमधिकरणमुद्भिदादिशब्दो गुणविधिरुत यागनामेति यथोपवर्णितम् ॥ १॥

(२) १।४।३ नाम चित्रापदं तथा ॥

(१) यत्किञ्चिदशेन पूर्वोदाहृतवाक्यसदृशमेवापर वाक्यं 'चित्रया यजेत  
पशुकाम' इति । उद्भिद्वाक्ये उद्भिच्छब्दो यौगिकत्वेन खनित्राद्यर्थे कथ-  
मपि नेतु योग्य इह तु चित्राशब्दो रूढ्यैव चित्रवर्णं स्त्रीपशुमभिधत्ते  
ऽतो यागकर्मणि चित्रत्वस्त्रीत्वगुणयुक्तपशोर्विधितया रूढ्यैव नेतु योग्य  
इति पृथग्विचार प्रवर्तते ॥

(२) 'चित्रया यजेत पशुकाम' इत्यत्र चित्रापद विषयः ॥

(३) तत्र सशय-चित्राशब्दोऽत्र किं यागनामधेयमेवोतोऽग्नीषोमीय  
पशौ स्त्रीत्वचित्रत्वगुणविधायक इति ।

(४) यतोऽनेन शब्देन रूढ्यैव स्त्रीत्वं चित्रत्वेऽभिधीयते-न चैतेऽन्यत्र  
केनचित्पदेनोक्तं-अग्नीषोमीय पशुमालभेतेत्यत्र च पशुमात्रविधानम् अतो  
गुणविधिरेवायमिति पूर्वपक्षः ॥

(५) सिद्धान्तस्तु एकेन पदेन गुणद्वयविधाने वाक्य भिद्यते वाक्यमे  
दपरिहाराय गुणद्वयविशिष्टपशुविधाने ऽनेकगुणविधानेन गौरवम्-  
वाधिकरणन्यायेन यजिसामानाधिकरण्येन यागनामधेयमेवायं शब्द इति ॥

तदेतद्द्वितीयमधिकरणमभिप्रेत्याह नामेति । 'तथा' उद्भित्पदवदेव  
'चित्रापदम्' अपि 'नाम' यागनामधेयमेवेति ॥

प्रभाकरमतेन त्वत्रापि सन्दिग्धार्थत्वादप्रामाण्यमिति पूर्वपक्षे-नाम-  
धेयत्वनिश्चये न सन्दिग्धार्थतेति सिद्धान्तः ॥ २॥

४।३।१४।४ अग्निहोत्रपदनाम्

(१) अग्निहोत्र जुहोतीत्यपरं नामधेयवाक्यम् ।

(२) अग्निहोत्रपदमेवात्र विषयः ।

(३) तत्र सशय-अग्निहोत्रशब्दोऽत्र देवतारूपं गुणं विधत्त उत  
यागस्य नाम भवतीति ।

(४) तत्र पूर्वपक्ष-अग्निहोत्रशब्दोऽत्र देवताविधायक एव-अन्यथा  
देवताविधायकशब्दान्तरस्याभावाज्जुहोतिपदेन विहितो होमोऽद्वैत एव  
स्यादिति ॥

(५) सिद्धान्तस्तु-अग्नि-र्योर्तिरित्यादिमन्त्रेष्वैवाग्निदेवताया प्राप्तत्वात्  
तस्या विधायकान्तरं नापेक्षितम् । तस्मादग्निसूर्यदेवतौकस्य सायुष्मात-

करणीयस्यानित्यस्य कर्मणो नामधेयमेवाग्निहोत्रशब्देऽग्नये होत्रमस्मिन्  
कर्मणीत्यग्निदेयतासम्बन्धनिमित्तकमिति ॥

प्राभाकरमते तु सन्दिग्धार्थत्वादप्रामाण्यमिति पूर्वपक्षे नामधेयत्वे  
निश्चिते नास्ति सन्दिग्धार्थतेति सिद्धान्तः ॥

तदेतत्तृतीयमधिकरणं तत्प्रख्यन्यायनाम्ना व्यवहृतमधिकृत्याह-अग्नि-  
होत्रेति । 'अग्निहोत्रपदं, 'नाम' एव भवति-न गुणविधिरिति योजना ।

इयमेव गतिः 'आधारमाधारवती'त्यत्राधारशब्दस्यापि ॥ ३ ॥

(४) १।४।५ नाम श्येनपदं पुनः ॥

(१) श्येनेनाभिचरन् यजेतेत्यपरं नामधेयवाक्यम्— ।

(२) श्येनपदमत्र विषयः ।

(३) अत्र श्येनपदं यागनामधेयमुत श्येनपक्षिरूपगुणविधायकमिति  
संशयः ।

(४) तत्र पूर्वपक्षः श्येनपदमत्राग्निष्टोमयागे सोमरूपद्रव्यस्य स्थानेऽ-  
भिचारकामस्य श्येनपक्षिरूपं द्रव्यान्तरं विधत्त-तथा च देवतायास्तत एव  
लाभाद् यागस्यास्य स्वरूपमभिसम्पद्यते । अस्य तु स्वतन्त्रस्य कस्यचि-  
त्यागस्य नामत्वे तस्य यागस्य द्रव्यदेवतयोरन्यतो लाभासम्भवात् स्वरू-  
पमेव लुप्येतेति ॥

(५) सिद्धान्तस्तु श्येनपदमत्राभिचारकर्मणो नामधेयमेव-यथा श्येनो  
निपत्येत्यादिवाक्यशेषवर्णितोपमानस्य तथैवोपपद्यमानत्वादिति ॥

प्राभाकरमतेन तु पूर्ववत् ॥

तदेतच्चतुर्थमधिकरणं तद्व्यापदेशन्यायनाम्ना प्रसिद्धमधिकृत्याह ना-  
मेति । 'श्येनपदं' 'पुनः' अपि 'नाम' एवाभिचारकर्मणो भवति, न पक्षि-  
द्रव्यविधिरिति ॥ ४ ॥

(५) १।४।६-८ वाजपेयपदं नाम

(१) वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेतेत्यपरनामधेयवाक्यम् ।

(२) वाजपेयपदमेवात्र विषयः ।

(३) तत्र संशयः-किमिदं पदं यागनामोत गुणविधिरिति ।

(४) तत्र पूर्वपक्षः- 'वाजम्' अन्नम् 'पेयं' सुरा चेति द्रव्यद्वयमनेन  
पदेन विधीयते अस्य यागनामधेयत्वे यजिना विहितस्य यागस्याद्रव्यत्व-  
प्रसङ्गादिति ॥

(५) सिद्धान्तस्तु नैवेदं गुणविधायकमपि तु तदभिहितद्रव्यद्वय-  
निमित्तकं नामैव यथाविशेषस्येति ॥

प्राभाकरमतेन पूर्ववत् ॥

तदेतत्पञ्चममधिकरणमभिप्रेत्याह—वाजेति । 'वाजपेयपद' 'नाम'  
एव भवति न द्रव्यविधिरिति ॥५॥

(६) १।४।६ विधिरष्टाकपालवाक् ।

(१) नामधेयद्रष्टान्तानाम्प्रतिद्रष्टान्तभूतास्यनामशब्दघटितवाक्यमेकं  
विचार्यते ॥

(२) यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायामित्यत्र वाक्ये यदाग्नेयपदं त-  
देवात्र विषयः ॥

(३) तत्र सशय —किमिदं नामोताग्निदेवतारूपगुणविधिरिति ॥

✓(४) तत्र पूर्वपक्षः यथाऽग्नेये होत्रमस्मिन् कर्मणीत्यग्निदेवतासम्बन्ध  
निमित्तीकृत्याग्निहोत्रपदं कर्मणो नाम तथेवाग्नेयशब्दोऽप्यग्निसम्बन्ध  
निमित्तीकृत्य नामव कर्मविशेषस्येति ॥

(५) सिद्धान्तस्तु—अत्र वाक्ये आग्नेयशब्दस्य कर्मनामधेयत्वे प्रकृतस्य  
कर्मणो देवताराहित्यमेव स्यात् । अग्निहोत्रे तु अग्निर्ज्योतिरिति मन्त्रलि-  
ङ्गादेवता प्राप्यतेऽन्नं तु नास्ति तादृशं किञ्चिद्देवताप्रापकम्प्रमाणान्तरम् ।  
आग्नेयपदे तु देवतावाचकतद्धितप्रत्ययस्य सत्त्वात् देवतारूपो गुण एवा-  
नेन पदेन विधीयत इति ।

तदेतत् षष्ठमधिकरणमभिप्रेत्याह—विधिरिति । 'अष्टाकपालवाक्'  
यदाग्नेयोऽष्टाकपाल इति वाक्ये 'आग्नेय'पदं 'विधि' अग्निरूपदेवताया  
न तु कर्मनामधेयमिति ॥६॥

(७) १।४।१० बर्हिःशब्दस्तृणं वक्ति

(१) अन्येषामपि सन्दिग्धार्थपदघटितानां वाक्यानां विचार इदानीं  
प्रस्तूयते ॥

(२) बर्हिर्लुनातीति वाक्ये बर्हिः शब्द एवात्र द्रष्टान्तभूतो विचारवि-  
षयः ॥

(३) तत्र सशय —बर्हिः शब्दोऽयं किं संस्कृत द्रव्यविशेष वक्तव्युत बर्हि-  
स्सामान्यमिति ॥

(४) तत्र पूर्वपक्षः—बर्हिः पुरोडाशाज्यादिशब्दा सर्वे सस्कारपरि-  
नामेव तत्तद्द्रव्याणां वाचका उपलभ्यन्ते अतोऽत्रापि वाक्ये बर्हिःशब्द  
शुद्धासंस्कृतमेव तृणमभिधातीति ॥

(५) सिद्धान्तस्तु—अन्वयव्यतिरेकाभ्यां जातिवाचित्वमेवैतादृशानां  
शब्दानामध्यवसेयम् । संस्कृतमात्रपरत्वे तु लौकिकव्यवहारेषु व्यभिचार  
स्यादिति ॥

प्रभाकरमतेन तु पूर्ववदेव ॥

तदेतत्सप्तममधिकरणमभिलष्याह—वर्हिरिति । ‘वर्हिःशब्दः’ वर्हि-  
लुनातीत्यादिवाक्येषु ‘तृण’ तृणसामान्यं ‘वक्ति’ अभिदधाति, न संस्कृत-  
मात्रमिति ॥ अयमेव न्यायः पुरोडाशाज्यपदयोरपीति ज्ञेयम् ॥ ७ ॥

(८) १।४।११ यौगिकं प्रोक्षणीपदम् ॥ २६ ॥

(१) प्रोक्षणीरासाद्येत्यपरं सन्दिग्धार्थं वाक्यम् ।

(२) तत्र प्रोक्षणीशब्दो विचारविषयः ।

(३) तत्र संशयः—प्रोक्षणीशब्दस्यार्थोऽत्र किमभिमन्त्रणासादनादिसं-  
स्कारपरिपूतमेव जलमुत जलसामान्यमात्रमुत प्रोक्षणकार्यसम्पादक-  
द्रव्यमात्रमिति ।

(४) तत्र पूर्वपक्षद्वयम्—संस्कृतमेव जलं वक्तव्यं शब्दः सर्वत्र वदि-  
कर्मणि संस्कृतस्यैव द्रव्यस्योपयोगदर्शनादित्येकः । पूर्वाधिकरणन्यायेन  
जलसामान्यमेवोच्यत इत्यपरः ।

(५) सिद्धान्तस्तु—संस्कृतमात्रपरत्वेऽन्योन्याश्रयो जातिमात्रपरत्वे  
वृद्धव्यवहारविरोधः—ततो व्याकरणव्युत्पत्त्या क्लृप्ते योगार्थ एव नेयः—  
तथा च प्रोक्षणकर्मोपयोगिनां जलघृणादीनां सर्वेषामेवायं शब्दो  
वाचक इति ।

प्राभाकरमतेन पूर्ववत् ॥

तदेतदष्टममधिकरणमभिलष्याह—यौगिकमिति । ‘प्रोक्षणीपदम्’  
प्रोक्षणीरासाद्येति वाक्यस्थं—“यौगिकम्” प्रोक्षणसम्पादकद्रव्यरूपयो-  
गार्थपरमिति ॥ ८ ॥

(९) १।४।१२ निर्मन्थ्ये योगनियमः

(१) इदमपरं सन्दिग्धार्थपदघटितं वाक्यम्—निर्मन्थ्येनेष्टकाः पञ्च-  
न्तीति ।

(२) अत्र निर्मन्थ्यशब्दो विषयः ।

(३) तत्र संशयः—किमयं शब्दो वर्हिःशब्दवदग्निसामान्यवाच्युत  
योगार्थेन निर्मन्थनजन्यमात्रासिवाचीत ।

(४) तत्र पूर्वापक्षः—वर्हिःशब्दन्यायेनाग्निसामान्यवाच्यमिति ।

(५) सिद्धान्तस्तु—सद्यो निर्मन्थनजन्य एवाग्निरत्रोच्यते तत्रैवैतादृश-  
शब्दप्रयोगदर्शनात् तादृशेनैवाग्निनेष्टकानाम्पाकस्योचित्यादिति ।

प्राभाकरमते पूर्ववत् ॥

तदेतन्नवममधिकरणमभिलष्याह—निर्मन्थ्य इति । ‘निर्मन्थ्ये’ निर्म-  
न्थ्येनेष्टकाः पञ्चन्तीत्येव निर्मन्थ्यशब्दे—“योगनियमः” यौगिकार्थ एव  
ग्राह्यो नान्य इति ॥ ९ ॥

(१०) १।४।१३-१६ वैश्वदेवे तु नामता ॥

(१) अपर सन्दिग्धार्थं वाक्यं वैश्वदेवेन यजेतेति ।

(२) वैश्वदेवशब्दोऽत्र विषयः ।

(३) तत्र सशय —वैश्वदेवशब्दो यागविशेषस्य नामधेयमुत कस्मिंश्चित् कर्मविशेषे देवतारूपगुणविधायक इति ।

(४) तत्र पूर्वपक्ष —यजेतेत्यनेनाग्नेयादीनष्टौ यागाननूद्य तत्र विशेषे-  
देवा एव देवतेत्यनेन शब्देन विधीयते-तेन गुणविधिरेवायन्तदभावे या-  
गस्वरूपानिष्पत्तिरेवेति ।

(५) सिद्धान्तस्तु- आग्नेयादीनां यागानां देवतानां तत्तत्पदेनैवोक्त-  
त्वाच्चास्ति देवताविधानापेक्षेत्युक्तस्य यागाष्टकसङ्गस्य सङ्गप्राहकग्रामै-  
वतद्वैश्वदेव इति ।

‘प्राभाकरमतेन पूर्ववत् ॥

तदेतद्दशममधिकरणमभिप्रेत्याह वैश्वदेव इति । ‘वैश्वदेवे’ वैश्वदेवेन  
यजेतेति वाक्यगतं वैश्वदेवशब्दे—‘नामता’ नामत्वमेव, न गुणविधित्व-  
मिति ॥१०॥

(११) १।४।१७।२२ अष्टसङ्ख्याञ्चयुत्योक्ता ।

(१) इदमपर सन्दिग्धार्थं वाक्यम् । ‘वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्  
पुत्रे जाते’ इत्यस्य विधेरनन्तरं वाक्यम् ‘यद्वाकपालो भवति गायत्र्यैरेन  
ब्रह्मवर्चसेन पुनातीति’ ।

(२) अत्राष्टकपालशब्दो विषयः ।

(३) तत्र सशय —किमयं शब्दो यागनामधेयमुत स्तुतिरेवेति ।

(४) तत्र पूर्वपक्ष —अग्निहोत्रशब्दत्कर्मनामधेयमेतदिति ।

(५) सिद्धान्तस्तु—कर्मन्तरस्यात्राभावाच्चास्ति नाम्नोऽवकाशः ।  
तेन पूर्वविधिवाक्यगतानां द्वादशकपालानाम्मध्याद् उत्कृष्याष्टानां स्तु-  
तिरेव द्वितीये वाक्ये उपन्यस्तेति ।

प्राभाकरमतेन नायं गुणविधिर्न वा नाम न वा मन्त्र इति निर-  
र्थकत्वादप्रमाणमिति पूर्वपक्षे—अर्थवोदत्वेनान्वयाच्च निरर्थकत्वमिति  
सिद्धान्तः ॥

एतदेतद्वैकादशमधिकरणमभिप्रेत्याह—अष्टसङ्ख्याञ्चेति । ‘अष्टसङ्ख्या’  
यद्वाकपालो भवतीत्येतद्वाक्यगता—‘अवयुत्य’ पूर्ववत्प्रत्ययतायां द्वाद-  
शसङ्ख्याया अपकृष्य—‘उक्ता’ स्तुत्यर्थमिति शेषः ॥११॥

(१२) १।४।२३ प्रस्तरे यष्ट्वागुणात् ॥ ३० ॥

(१) इदमपरं सन्दिग्धार्थं वाक्यम्—‘यजमानः प्रस्तर’ इति ।

(२) तत्र यजमानशब्दो विचारविषयः ।

(३) तत्र संशयः—यजमानस्य प्रस्तरशब्दो नामधेयसुत प्रस्तरशब्दस्य यजमानशब्दः, अथ यजमानशब्देनात्र गुणो विधीयते अथवा प्रस्तरस्य स्तुतिरेव यजमानशब्देन कियत इति ।

(४) तत्र पूर्वपक्षः—उद्भिन्न्यायेन सामानाधिकरण्यत्वेन यजमान-शब्दः प्रस्तरस्य नामधेयमिति । अथ वा गुण एव कश्चिद्विधीयते यजमानशब्देनेति ।

(५) सिद्धान्तस्तु—प्रस्तरयजमानयोगोमहिषयोरिवात्यन्तभिन्नत्वाच्च सम्भवतीतिरेतरनामता-यजमानस्य गुणत्वे होमादौ तस्यापक्षीयमाणत्वात्कर्मलोपप्रसङ्ग एव-तस्माद् यजमानगुणेन यागसाधकत्वेन युक्तो विधेयः प्रस्तरौ यजमानशब्देन स्तूयत इति ।

प्रभाकरमतेन पूर्ववत् ॥

एतदेव द्वादंशाधिकरणमभिप्रेत्याह प्रस्तरं इति । ‘प्रस्तरे’ प्रस्तर-प्रति—‘यष्ट्वाक्’ यष्टा यजमानः इति ‘वाक्’ उक्तिरुच्चारणं स्तुतिरिति यावत्—‘गुणात्’ यागसाधकत्वरूपाद्यजमानगुणसत्त्वमूलिकैवेति योजना ॥१३॥

(१४) १।४।२४ अग्निर्वै ब्राह्मणो जात्या †

(१) आग्नेयेष्वै ब्राह्मण इत्यपरं सन्दिग्धार्थं वाक्यम् ।

(२) तत्र आग्नेयशब्दो विचारविषयः ।

(३)(४)(५) तत्र पूर्वाधिकरणवदेव संशयपूर्वपक्षसिद्धान्ताः । स्तुति-मूलन्तु समानजन्मतैव—अग्नेर्ब्राह्मणस्य च मुखादेव प्रजापतिनोत्पादितत्वादिति ॥

प्रभाकरमतेन पूर्ववत् ।

तदेतत्त्रयोदशाधिकरणमभिप्रेत्याह अग्निरिति । ‘ब्राह्मणः’—‘जात्या’ जन्मना प्रजापतिमुखदुत्पन्नत्वरूपेण साधारणगुणद्वारा—‘अग्निः’ इति स्तूयते—‘आग्नेयो ब्राह्मण’ इत्युक्तिर्न वाक्य इति योजना ॥

एष एव न्याय ‘ऐन्द्रो राजन्यः’ ‘ऐश्यो वैश्वदेवः’ इत्यादिषु वाक्येषु ॥१४॥

(१५) १।४।२५ यूपे सूर्य इति स्तुतिः ।

(१) आदित्यो यूप इत्यपि सन्दिग्धार्थं वाक्यम् ।

(२) तत्रादित्यशब्दो विषयः ।

(३)(४)(५) तत्रापि सशयादयः पूर्ववदेवानुसन्धेयाः । स्तुतिमूलं तु तेजस्वित्वसाम्यमिति ।

प्रभाकरमतेन पूर्ववत् ।

एतच्चतुर्दशाधिकरणमभिप्रेत्याह यूप इति । 'यूपे' यूपविषये—'सूर्य इति' उक्तिः 'स्तुति' एवेति योजना ।

एष एव न्यायो यजमानो यूप इत्यस्मिन् वाक्ये ॥१५॥

(१६) १।४।२६ प्रशंसाऽश्वे पशूक्तिः स्यात्

(१) इदमपरं सन्दिग्धार्थं वाक्यम्—'अपशवो वा अन्ये गोश्वेभ्यः पशवो गोश्रवा इति ।

(२) तत्र पशुशब्दो विषयः ।

(३) पशुशब्देन किं गुणं कश्चिद्विधीयत उत स्तुतिरेवायमिति सशयः ।

(४) गुणविधिरेवायं—गवाश्वयोः पशुत्वरूपो गुणो विधीयत इति पूर्वपक्षः ।

(५) सिद्धान्तस्तु—अर्थवाद एवायं गवाश्वौ स्तौति ईदृशो हि गवाश्वयोर्महिमा यदनयोरपेक्षयाऽजादयः पशवोऽप्यश्व इव भवन्तीत्यर्थः ।

प्रभाकरमते पूर्ववत् ॥

तदेतत्पञ्चदशाधिकरणमभिप्रेत्याह—प्रशसेति । 'अश्वे' अश्वविषये—'पशूक्तिः' पशवो गोश्रवा इति—'प्रशसा' एव पशुगुणोत्कर्षं प्रदर्शयतीति भावः ॥१६॥

(१७) १।४।२७ भूमा स्युः सृष्टयो मताः ॥ ३१ ॥

(१) सृष्टीरुपपत्तिरित्यपरं सन्दिग्धार्थं वाक्यम् ।

(२) तत्र सृष्टिशब्देनात्र सृष्टिनामप्रसिद्धैर्मन्त्रैर्या इष्टका उपधीयन्ते ता उच्यन्ते । अयमेव सृष्टिशब्दोऽत्र विचारविषयः ।

(३) सशयश्च—सृष्टिशब्देनात्र किं 'ब्रह्माऽसृज्यत, भूतान्यसृज्यन्त' इत्यादिमन्त्ररूपो गुण इष्टकानामुपधाने विधीयत उत स्तुतिरेवायमन्त्राणामिति ।

(४) तत्र पूर्वपक्षः—सृष्टिनाम्ना प्रसिद्धा मन्त्रा अनेन शब्देनोपधानगुणत्वेन विधीयन्ते इति ।

(५) सिद्धान्तस्तु—उक्ता मन्त्रा अनेनानूद्यन्ते इष्टका स्तोतुम् । यद्यपि सर्वेषु मन्त्रेषु सृजतिर्धातुर्नोपलभ्यते तथाऽपि बहुषु तस्य सररात्ते सृष्टिनाम्ना प्रसिद्धाः । स्तुतेश्चार्थः—'यथा नानावाक्यात्मकेषु मन्त्रेषु सृष्टिशब्दबहुत्वं तथैवेष्टकास्वपि बहुत्वमिति' । तथा चात्र 'भूमा' बहुत्वमेव स्तुतेर्मूलमिति ।

प्राभाकरमतमूर्ध्ववत् ॥

तदेतत्पोडशाधिकरणमभिप्रेत्याह-भूमेति । 'भूम्ना' बहुवर्णयोगेनैव 'सृष्टयः' सृष्टिनाम्ना प्रसिद्धाः- 'मताः' अवबुद्धाः-इष्टका इति शेषः ॥ १७ ॥

(१८) १।४।२८ प्राणभृत् प्राणभृद्योगात्

प्राणभृत् उपदधातीत्यत्रापि प्राणभृच्छब्देन सृष्टिन्यायेन मन्त्रो विधीयत इति पूर्वपक्षे सिद्धान्तः-इष्टकोपाधानविधावस्मिन् 'एतस्यैव प्राणान् दधातीति' वक्ष्यमाणार्थवादोपपत्तये लिङ्गप्रकरणप्राप्तमन्त्रस्यानुवादः क्रियते प्राणभृच्छब्देन । यद्यपि प्रकृतमन्त्रेष्वेकस्मिन्नेव प्राणशब्द उपलभ्यते तत्तच्चैक एव प्राणशब्दं लिङ्गं विभ्रत् 'प्राणभृत्' भवति तथाऽपि तत्सहचरिता अन्येऽपि तन्नाम्ना गृह्यन्त इति ।

एतत्सिद्धशमधिकरणमभिप्रेत्याह प्राणभृदिति । 'प्राणभृत्' प्राणशब्दधारिणो मन्त्रस्य 'योगात्' सहचारात् तल्लिङ्गरहितोऽपि मन्त्रः- 'प्राणभृत्' भवति तन्नाम्नोच्यते स्तोतुमिति भावः ॥ १८ ॥

(१९) १।४।३६ सन्देहे निर्णयः स्तुतेः । *Link*

(१) सन्दिग्धार्थानि कतिचिद् वाक्यान् युदाहृत्य तदर्थवगमाय न्यायानुपवर्णयैदानीं वाक्यार्थसन्देहापनुत्तये एकः सामान्योपयोगी न्यायो वर्णनीयः प्राप्नोति ।

॥ १९ ॥ (२) अक्रुः शर्करा उपदधातीति वाक्यमत्र विषयः ।

(३) तत्र संशयः-पाषाणखण्डानां शर्कराणामभ्यञ्जनं यदत्र विहितं तदञ्जनं केन द्रवद्रव्येण कर्तव्यम्-जलेन तैलेन घृतेन वेति ।

(४) तत्र पूर्वपक्षः-येन केनापि द्रव्येणाञ्जनमञ्जनसामान्यस्य श्रुतावृत्तत्वात् कस्यचिदेकस्याञ्जकद्रव्यस्योपयोगनियमे मानाभावादिति ।

(५) सिद्धान्तस्तु-उक्तस्य वाक्यस्य शेषे तेजो वै घृतमिति घृतस्य स्तुतिरुपलभ्यते । तेन चात्र घृतस्यैवाञ्जनद्रव्यविशेषस्य विधिरुचीयते घृतेनैवाञ्जनीयाः शर्करा इति ।

एतदष्टादशाधिकरणमभिप्रेत्याह सन्देह इति । 'सन्देहे' किं कर्तव्यमिति संशये सति 'स्तुतेः' अर्थवादादेव 'निर्णयः' भवतीति शेषः ॥ १९ ॥

(२०) १।४।३० अनुष्ठानावसायोऽर्थात्

(१) सन्देहस्यापरमुदाहरणं प्रदर्शने ।

१९ (२) 'स्रुवेणावद्यति' 'स्वधितिनाऽवद्यति' 'हस्तेनावद्यति' इति वाक्यत्रयमत्र विषयः ।

(३) अत्र विहितानां त्रयमणाममदानसाधनानां स्रुवस्वधितिहस्ताना-



मध्ये कस्योपयोग कार्योऽवदेयविशेषेष्वान्यमांसपुरोडाशेऽपि सशय ।  
 (४) तत्र पूर्वपक्ष । सङ्कीर्ण एवैषाम्प्रयोग — यत्र कुत्रापि द्रव्येऽवदेय-  
 यस्य कस्याप्यवदानसाधनस्योपयोग कर्तव्य — व्यवस्थापकस्य प्रमाण-  
 स्याभावादिति ।

(५) सिद्धान्तस्तु — नात्र व्यवस्थापकप्रमाणाभाव । शक्तिरेवात्र व्यवस्थापिका ।  
 यस्य साधनस्य यद्द्रव्यावदाने शक्तिस्तस्यैव तदुद्रव्यावदाने प्रयोग  
 कर्तव्य । तथा च द्रवद्रव्याणामवदाने श्रुतेण कार्यम् मांसस्यास्त्रविशेषेण  
 स्वधितिना पुरोडाशस्य च हस्तेनैवेति श्रुवादीनां त्रयाणां योग्यतैव नि-  
 यामिका भवतीति ॥

एतदूनविंशाधिकरणमभिप्रेत्याह अनुष्ठानेति । 'अनुष्ठानस्य' कर्तव्यस्य  
 'अवसाय' निश्चय — 'अर्थात्' तत्तद्वस्तुयोग्यताद्वारा भवतीति शेषः ॥

न्यायास्त्वेकोनविंशतिः ॥

पादार्थमुपसहरति न्याया इति । अत्र चतुर्थे पादे 'एकोनविंशति  
 न्याया' अधिकरणानि इति ॥ आप्यानुसारेणैषा सङ्ख्या वार्तिकाऽनुसारेण  
 तु विंशतिरधिकरणानि प्रथमस्याधिकरणस्य तत्राधिकरणद्वयात्मकत्वा-  
 न्नीकारात् ॥ ३२ ॥

एव च—

विध्यर्थवादस्मृतयो नाम चेति चतुर्विधम् ।

प्रथमाध्यायगौ पादैर्धर्मे मानमुदीरितम् ॥

इति प्रथमाध्याये चतुर्थं पादः ॥

समाप्तश्च प्रथमोऽध्यायो धर्मप्रमाणनिरूपकः ॥

## अथ द्वितीयोऽध्यायः कर्मभेदनिरूपकः ॥

तत्र प्रथमः पादः ॥

(१) २।१।१-४ एकः पदार्थो जनयत्यपूर्वं

स नूनमाख्यातपदाभिधेयः ।

(१) प्रमाणमुपजीव्यत्वात्प्रथमेऽध्याय ईरितम् ।

मानाधीनस्य धर्मस्य द्वितीये भेद उच्यते ॥

इयमेवात्राध्यायसङ्गतिः। धर्मः कथंलक्षण इति प्रथमेऽध्यायेनिरूपितम्। इदानीं को धर्मः कानि कर्माणि धर्मव्यपदेशभाजीति विविच्यते । कुमारिलमतेनैव चात्र कर्मभेदो मुख्योऽध्यायार्थः । तदुपोद्धाततदपवादतत्प्रसक्तानुप्रसक्तत्वेनान्योऽर्थो गौणः । प्राभाकरमतेन तु शास्त्रभेद एव द्वितीयाध्यायार्थो मुख्यः । कर्मणां तद्विधायकानां शास्त्राणां वा भेदे निरूपणीये तद्भेदनिरूपकाणां मध्ये फलमेव मुख्यमिति कृत्वा तत्स्वरूपतत्प्रमाणादिविचार पवादाङ्गुपोद्धातरूपेण क्रियते ।

विधिवाक्यश्टकानां पदानां केन पदेनासम्बन्धइत्यत्र प्रथमेऽधिकरणे चिन्त्यते ।

(२) सामान्यतो विधिवाक्योक्तं कर्मफलभूतमपूर्वमेवात्र विषयः ।

(३) तत्र संशयः—विधिवाक्ये किं सर्वैरेव पदैरपूर्वं सम्बध्यत उतैकेनैवेति ।

(४) पूर्वपक्षश्च—सर्वैरेव पदैरपूर्वं सम्बध्यते—तस्य फलत्वात् सर्वेषां च पदानां फलान्वयिवादिति ।

(५) सिद्धान्तस्तु—एकेनैव पदेनैकस्यापूर्वस्य सम्बन्धः एकस्यानेकसम्बन्धकल्पने गौरवात् । तस्मादेकमपूर्वमेकेनैव पदेन प्रतिपाद्यते पदान्तरं च तच्छेषतयाऽन्वेतीति ।

तदेतत्प्रथमाधिकरणस्य प्रथमवर्णकमभिप्रेत्याह एक इति । 'एकः पदस्यार्थः' एकेन पदेन योऽत्र उक्तः स एव 'अपूर्वं जनयति' अपूर्वजन्यत्वेनावधार्यत इति योजना ।

(१) एकेनैव पदेनापूर्वं प्रतिपाद्यत इति साधिते किन्तत्पदं येन तत्प्रतिपाद्यत इतीदानीं चिन्त्यते द्वितीयवर्णके ।

(२) विधिवाक्यमेवात्र विषयः ।

(३) तत्र संशयः अपूर्वं विधिवाक्यगतनामपदेनाभिधीयत उताख्यातपदेनेति ।

(४) पूर्वपक्षस्तत्र-नामपदेनैवोच्यतेऽपूर्वम् द्रव्यादीनां सिद्धरूपाणामेव फलम्प्रति साधनत्वसम्भवादिति ॥

(५) सिद्धान्तस्तु-क्रिया विना द्रव्याणि फल साधयितुं न क्षमन्ते । ततश्च भवनावाचिनोऽऽख्यातेनैवापूर्वम्प्रतीयत इति ।

एतदेव प्रथमाधिकरणद्वितीयवर्णकमभिप्रेत्याह-स नूनमिति । 'स' एकपदार्थो योऽपूर्वं जनयति स-'नून' निश्चयेन-'आख्यातपदाभिधेय' धाक्यगतो य आख्यातशब्दस्तेनैव योऽभिधायतेऽर्थ स एवापूर्वस्य जनः इति योजना ।

इयं च भावनाऽऽख्यातपदगतप्रत्ययेनैवोच्यते । सा च फलोत्पत्त्यनुकूलपुरुषप्रयत्नरूपा सर्वधात्वर्थसाधारणी । तथाहि पचतीत्युक्ते 'पाकं करोतीत्यर्थ' प्रतीयते । तत्र पाके लिङ्गसख्याद्युपेतो धात्वर्थः सिद्धस्वभावः । करोतीत्यशस्तु लिङ्गसख्यादिरहित साध्यस्वभावः । अस्य च साध्यस्वभाव आख्यातप्रत्ययेन द्योत्यते । एव च पाकं करोतीत्यस्य ओदनमुत्पादयति-भवितुरोदनस्य भवनानुकूल व्यापारं करोतीत्यर्थः । अयं च व्यापार ओदनरूप फलं भावयतीत्यस्य भावनेति नाम्ना प्रसिद्धः । ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यत्र यजेतपदगताख्यातप्रत्ययस्य भावयेत् ( फलविशेषम् ) इति भावनैवार्थः सम्पद्यते । तत्र किम्भावयेदित्यपेक्षायाः स्वर्गस्य भाव्यत्वसमर्पकत्वेन 'स्वर्गकाम' इत्यस्यान्वयः । केन भावयेदित्यपेक्षाया यजिधात्वर्थो याग एव कारणेनान्वेति । कथमभावयेदित्यपेक्षाया च ज्योतिष्टोमनाम्ना प्रसिद्धं कर्मकलाप इति कर्तव्यतया समर्प्यते ज्योतिष्टोमेनेत्यनेन पदेन ।

अथैवमशत्रयवत्यर्थी भावनेत्युच्यते । इयं चार्थी भावना पुरुषप्रयत्नरूपा स्वयं शाब्दा भावनया भाव्या । तस्या च शाब्दभावनायां पुरुषप्रयत्न एव भाव्य-विधायकलिङ्गादिरेव कारणम्-अर्थवादादिसम्पादितास्तुतिरेवेतिकर्तव्यतेति ॥१॥

(२) २।१।५ विधेर्बलाच्चावदपूर्वसिद्धिः ।

(१) अपूर्वमाख्यातप्रत्ययबोधितेनार्थेन प्रत्याख्युत इत्युक्तम् । अपूर्वस्यास्तितमेव त्वद्यत्वेऽपि न सिद्धमित्यपूर्वास्तित्वमिदानीं साधनीयम्भवति ।

(२) अपूर्वमेवात्र विचारविषयः ।

(३) अपूर्वमस्ति न वेति सशयः ।

(४) तत्र पूर्वपक्षे नास्त्यपूर्वम्-तत्सद्भावे मानाभावात्-स्वर्गादिरेव फलत्वेनाभिधानात्प्रतीयमानत्वाच्चेति ।

(५) सिद्धान्तः—ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यत्र यागस्य स्वर्गसाधनत्वमुक्तम् । यथा चैतत्स्वर्गसाधनत्वं यागस्योपपद्येत तथाऽवश्यं कल्पनीयम् । यागानुष्ठानसमाप्त्यनन्तरमेव स्वर्गो न सिध्यतीति तत्समाप्तिस्वर्गप्राप्त्यनन्तराल उभयानुस्यूतमुभयसम्बन्धकं किमपि कल्पनीयम्—अन्यथा यागस्य स्वर्गम्प्रति करणत्व न स्यात् । एवं च विधिवाक्योक्तयागस्वर्गसाध्यसाधकभावसामञ्जस्याय यत् किमपि कल्प्यते नस्यैव विधिव्यतिरिक्तप्रमाणान्तरागम्यत्वादपूर्वमिति नाम कृतमिति ॥

प्राभाकरमतेन च यागस्यैव सूक्ष्मरूपेणात्मनि चिरकालं वर्तमानत्वादुपपद्यत एव साक्षात् सम्बन्धो यागस्वर्गयोरिति नास्त्यन्तर्गुभूतस्यापूर्वस्य कल्पनावसर इति पूर्वपक्षे—यागस्य सूक्ष्मरूपेणावस्थानस्य कल्पनायां नास्ति किमपि प्रमाणम्—नियोगस्तु विधिवाक्यगतप्रत्येकपदेनानभिहितोऽपि समस्तेन वाक्येनाभिधीयते । अयमेव नियोगोऽपूर्वमिति नाम्ना व्यवह्रियते । विधिवाक्येन चाभिहितत्वात्तस्यापलापोऽयुक्त इति सिद्धान्तः ॥

इदमेव द्वितीयमधिकरणमभिप्रेत्याह विधेरिति । 'विधेः' विधिवाक्यस्य 'बलात्' प्रामाण्यात्—'अपूर्वस्य' 'सिद्धिः'—'अपूर्वास्तित्वसिद्धिरिति योजना ।

किंरूपेण चास्यापूर्वस्यावस्थानमित्यस्मिन् विषये गुरुभाट्टयोर्मतभेदः । भाट्टमतेन यागेनात्मनि याग एव वा चिरस्थायी कश्चित्फलजननसमर्थः संस्कारविशेषो जन्यते स एवोऽपूर्वमिति कथ्यते । गृहमतानुयायिनस्तु संस्काररूपतामस्य नेच्छन्ति । तन्मतेन नियोगरूपतैवास्य । नियोगस्यापि यागजन्यत्वात्कथं फलोत्पत्तिपर्यन्तमवस्थानमिति शङ्कायां सहकार्यन्तरापेक्षेवैषां शरणम् । किन्त्वेवं सति यागस्यैवेयमपेक्षा कुतो न कल्प्यते—तथा सत्यनन्तरोत्पत्त्यभावः फलस्य समाहितः स्यात् इत्यादि प्राभाकरप्रदीपादनुसन्धेयम् ॥ २ ॥

(३) २।१।६-८ संस्कारकर्मत्र किलावघातः ॥ १ ॥

(१) अनुष्ठितेन कर्मणाऽपूर्वाण्यं फलं चरमफलनिष्पत्त्यनुकूलं जन्यत इत्युत्सर्गतः सिद्धे तत्र केचिदपवादा अपि भवन्ति । त एवेदानीं विचार्यन्ते ॥

(२) व्रीहीनवहन्तीत्यत्र विषयवाक्यम् ॥

(३) अत्र विहितेनावघातेनापूर्वं जन्यते न वेति संशयः ॥

(४) तत्र पूर्वपक्षः—यजेतेत्यादिविधिविहितेन यागेन यथाऽपूर्वं जन्यते तथैवावहन्तीति विधिविहितेनावघातेनापि—अन्यथा तत्कर्मविधानस्य वैयर्थ्यापत्तेरिति ॥

(५) सिद्धान्तस्तु—दृष्टे फल सम्भवत्यद्रष्टस्यापूर्वस्य कल्पन नास्ति प्रमाणम् । अवघातस्य चास्त्येव तुषविमोकरूप द्रष्टमेव फलम् । अतानां स्ति प्रयोजनमस्याद्रष्टापूर्वरूपफलकल्पनाया इति ॥

प्राभाकरमतेन तु यथा सक्तू जुहातीत्यत्र सक्तुभिजुहातीति विभक्ति विपरिणाभ कृत्वा सक्तुभिर्हातव्यमित्यर्थं प्राप्यते—स च सक्तुहाम सा क्षात् फलसाधनतयावकल्पने—एवमेव ब्रीहिनवहन्तोत्यत्रापि ब्रीहाभिग्न हन्तव्यमिति विभक्ति विपरिणामव्यावघातस्य साक्षात्फलसाधनत्वं भाष्यं ताति पूर्वपक्षे—दृष्टान्तवैषम्यामिह वर्तते सक्तूजुहातीत्यत्र सक्तुहामे सक्तुनां भस्मीभूतत्वाद् दृष्टफलजनकत्वात्सम्भवात्तस्यापूरुषाधिक्य कल्प्यते अवघातस्य तु तुषविमोकरूप द्रष्टमेव फल प्रधानभूतयागाङ्गपुराडाश सम्पादनानुल्लमुपलभ्यते—तद्द्वारेण च प्रधानफलनापि सम्बन्धस्य लाभात्सास्त्यवकाशस्तस्य साक्षाद्वर्तमानत्वात्कल्पनाया इति सिद्धान्तः ॥

‘इदमेव तृतीयमधिकरणमभिप्रेत्याह सस्कारकमेति । ‘अवघात’ ब्रीहिनवहन्तोत्यनेन विहित—‘केल’ निश्चयेन ‘सस्कारकर्म’ एव । ब्रीहीणां तुषविमोकरूपसस्कारस्यैव जनक कर्म न तु साक्षाद्वृक्षजनकमिति योजना ॥

एतदधिकरणमूलक एव कर्मणा गुणप्रधानभावन विभागः । तथाहि यानि विहितानि कर्माणि द्रव्येषु दृष्टातिशयजनकानि न भग्नान्यत एव च विधुपपत्तयेऽद्रष्टृफलोत्पादकतया कल्प्यन्ते तान्येव प्रधानानि—यानि तु द्रव्येष्वेव दृष्टातिशयमुत्पादयन्ति—येषां चात एवादृष्टफलकल्पने प्रमाण नास्ति—तानि गुणकर्माणीति । अथ च गुणप्रधानभावस्तृतीये विस्तरेण चिन्तयिष्यते ॥ ३ ॥

(४) २।१।६—१२सम्मार्जन सस्करण सुगादेः

(१) अयमपरोऽपवादः, दर्शपूर्णमासयोजुहादीनां सम्मार्जनं विहितं ‘सुचं सम्मार्जति’ ।

(२) इदमेव सूक्तसम्मार्जनमत्र विषयः ॥

(३) तत्र रुशयः—किमिदं सम्मार्जनं स्वतन्त्रमेवापूर्वं जनयत् प्रधानकर्म भवत्युत्पादपूर्वाजनक गुणकमेवेति ॥

(४) तत्र पूर्वपक्षः—प्रधानकमेवेतत् । यैस्तु द्रव्यं न चिकीर्ष्यते तानि प्रधानभूतानि द्रव्यस्य गुणभूतत्वादिति न्यायेन सम्मार्जनेन द्रव्यस्याचिकीर्षितत्वात्सुगुणस्य द्रव्यस्य गुणभूतत्वात्प्रधानमेतदिति । ब्रीहादौ चावघातादिभिर्गुणकमभिरिव द्रव्ये सम्मार्जनेन सूचि कश्चिद्वृक्षोऽनिशयो न क्रियत इत्याप तस्याद्रष्टृफलजनकत्वप्रधानता च सूचयतीति ॥

(५) सिद्धान्तस्तु—क्रतुसाधनत्वेनैव सुचामीप्सिततमत्वेन कर्मत्वं सुच इत्यत्र द्वितीयविभक्तयोच्यते—अतश्च तासामेवात्र प्रधानत्वं सम्मार्जनस्य च गुणकर्मत्वमेव । यदि सम्मार्जनोत्पन्नः कश्चिद्दृष्टोऽतिशयो न दृश्येत तर्ह्यदृष्टं कल्प्येत—दृश्यते त्वतिशयः परिमार्जितत्वरूपः इति ॥

एतदेव चतुर्थाधिकरणमभिप्रेत्याह—सम्मार्जनमिति । ‘सम्मार्जनं’ सुचः सम्मार्पित्यनेन वाक्येन विहितम्—‘स्रुगादेः’ संस्करणं संस्कारकं गुण-कर्मैति योजना ॥ ४ ॥

(५) २।१।१३-२६ न देवतार्थः स्तुतशस्त्रपाठः ।

(१) पूर्वाधिकरणस्यार्यमपवादः—‘प्रउगं शंसति’ ‘निष्कैवल्यं शसती-ति’ अग्रगीतमन्त्रसाध्यत्वेन शस्त्रनाम्ना प्रसिद्ध स्तुतिद्वयं विहितम्—एव- ३ मेव ‘आज्यैः स्तुवते’ ‘पृष्ठैः स्तुवते’ इति प्रगीतमन्त्रसाध्यत्वेन स्तोत्रनाम्ना प्रसिद्ध स्तुतिद्वयं विहितम् ।

(२) एते एव स्तोत्रशस्त्रे अत्र विषयत्वेन गृहीते ॥

(३) ते अधिकृत्य सशयः—। एते गुणकर्मणी उत प्रधाने एवेति ॥ संस्कार

(४) तत्र पूर्वपक्षः पश्यमानेषु मन्त्रेषु देवतानां संस्कृतत्वात्पूर्वाधिकरणन्यायेन गुणकर्मैव स्तोत्रशस्त्रमन्त्रपाठ इति ॥ गौड

(५) सिद्धान्तस्तु—मन्त्रवाक्यानि यदा देवतानां गुणसम्बन्धमभिदध-ति तदैव तेषु स्तुतिशस्त्रनाम्नोरन्वर्थः प्रयोगः—यदा तु तानि गुणद्वारेण ३ केवलं देवतानां स्मरणकाणि तदा तन्नाम्नोर्मुख्यार्थस्तेषु न स्यात् । एव श्रौतयोरनयोर्नाम्नोर्वाधितामन्वर्थतां रक्षितुं स्तोत्रशस्त्रयोः प्रधानकर्मत्व-मभ्युपेतव्यमिति ॥

एतदेव पञ्चममधिकरणमभिलष्याह—न देवतार्थ इति । ‘स्तुतशस्त्र-योः’ गीतमन्त्रसाध्यागीतमन्त्रसाध्ययोः स्तुत्योः ‘पाठः’—‘देवतार्थः’ देवता-स्मरणवत्त्वेन तत्संस्काररूप गुणकर्म ‘न’ भवतीति योजना ॥ ५ ॥

(६) २।१।३० ३१ मन्त्रे स्थितं भावपदं विधिर्नो

(१) वैदिकवाक्यविहितेषु कर्मसु गुणप्रधानभावो विचारितः । विहि-तानां च कर्मणाम्भेदस्य विचारः करिष्यतेऽग्रिमे पादे । अत्र च वैदिकवा-क्यस्थाख्यातपदानि सर्वाण्येव गुणप्रधानकर्माविधायकान्येव भवन्तीति मतिः सम्भवति । तन्निर्वाकरणायेदं विचारान्तरं प्रस्तयते ॥

(२) वेदवाक्यस्थाख्यातपदमेवात्र विषयः ॥

(३) तत्र यत्र क्वचन वेदवाक्ये मन्त्रे ब्राह्मणे वाऽऽख्यातपदमुपलभ्य-ते तत्सर्वत्र कर्मविधायकमुत त्नेति संशयः ॥

(४) तत्र पूर्वपक्ष — यथा ब्राह्मणगतमाख्यातपद कर्मविधायक तथा मन्त्रगतमपि, वैदिकवाक्यत्वेनोभयोस्तुल्यत्वादिभिः ॥

(५) सिद्धान्तस्तु—येषु वाक्येषु यच्छब्दो दृश्यते ('देवाश्च याभिर्यजते' इत्यत्र मन्त्रे) तत्रानुवादकत्वस्य स्पष्टत्वात् विधायकत्वम्—एवमेव यत्रोक्त-मपुरुष ('देवसदन दामीत्यत्र मन्त्रे')—आमन्त्रण वा ('अग्नीदग्नीन् विह रेत्यत्र मन्त्रे')—तत्र सर्वत्र न कर्मविधायकत्वम् । अतश्च वेदवाक्य-स्थाख्यातानां न सर्वत्रगुणप्रधानकर्मविधायकत्वमेवापि तु क्वचिदभि-धायकत्वमात्रमेव । एवञ्च मन्त्रगताख्याताख्यातपदानामभिधायकत्वमेव न विधायकत्वमिति ॥

एतदेव षष्ठाधिकरणमभिप्रेत्याह मन्त्रे स्थितमिति । 'मन्त्रे स्थित' मन्त्रगतम्—'भावपदम्' आख्यातपद 'न विधि' न कर्मविधायकमित्युज्जना ॥ ६ ॥

(७) २।१।३२ मन्त्रस्तु वेदः क्रियमाणवाची ॥ २ ॥

(१) मन्त्रगत आख्यातशब्दो न विधायक इति स्थितम् । मन्त्र-लक्षणत्वमपि न कृतमिति तदेवेदानीं परीक्ष्यते ॥

(२) अहेतुधन्यमन्त्र मे गोपायेति वैदिकवाक्योक्तो मन्त्रोऽत्र विषयः ॥

(३) मन्त्रस्य लक्षणम्भवति न वेति सशयः ॥

(४) नैव भवति किमप्यनुगतलक्षणमिति पूर्वपक्षः ॥

(५) सिद्धान्तस्तु—अनुगतलक्षणासम्भवेऽपि यमृषयश्चर्योचिदो विदुरित्यनेनैवोक्तवाक्यशेषेण 'यत्राभियुक्ता मन्त्रा इति नाम प्रयुज्यते तदेव मन्त्रशब्दवाच्यमित्येव' लक्षणं स्वीक्रियते ॥

एतदेव सप्तममधिकरणमभिप्रेत्याह मन्त्रस्त्विति । 'क्रियमाणस्य' आ-मन्त्रणप्रलपनाख्यानपरिदेवनान्वेषणस्तत्प्रेषादिरूपस्य कर्मण 'वाची' वाचक—'वेद' वेदवाक्यम्—'मन्त्र' इति कथ्यत इति योजना ॥

तत्रामन्त्रणवाची मन्त्र—'अग्न आयाहि वीतय' इति ।

प्रलपनवाची—'अक्षी ते इन्द्र पिङ्गले दुलेरिव' इति ।

आख्यानवाची—'इय वेदिरिति' ।

परिदेवर्तवाची—'अम्बे अम्बिके अम्बालिके' इति ।

अन्वेषणवाची—'इह वा सह वा' इति ।

स्तवनवाची—'अग्निर्मूर्ध्ना' इति ।

प्रेषवत्वाची—'अग्नीदग्नीन् विहृ' इति ॥ ७ ॥

(८) २।१।३३ मन्त्रे तरो ब्राह्मणशब्दवाच्यः ।

(१) मन्त्रस्य लक्षणमुक्त्वा मन्त्रेतराणां वेदवाक्यानां ब्राह्मणनाम्ना प्रसिद्धानां लक्षणमिदानीं विचारणीयं भवति ॥

(२) 'एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि' इत्येतद्वैदिकवाक्यगतो ब्राह्मण-  
शब्द एव विचारविषयः ॥

(३) ब्राह्मणस्यास्यानुगतं लक्षणं सम्भवति न वेति सशयः ॥

(४) पूर्वपक्षः—न सम्भवत्यनुगत लक्षणमिति ॥

(५) सिद्धान्तस्तु—वेदस्य मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वेन द्विधा विभक्तत्वात्  
पूर्वाधिकरणोक्तलक्षणलक्षितान्मन्त्रभागादवशिष्टो वेदभागो ब्राह्मण इत्येवा-  
दुष्टं लक्षणमिति ॥

तदेतदष्टमधिकरणमभिप्रेत्याह—मन्त्रेतर इति । 'मन्त्रात्' 'इतरः' भि-  
न्नः—'वेदभाग' इति शेषः—'ब्राह्मणशब्दवाच्यः' भवतीति योजना ॥ ८ ॥

(६) २।१।३४ नोहादयो मन्त्रगतास्तु मन्त्राः । ३

(१) याज्ञिकप्रयोगेषु केचिद्वेदानाम्नाता अपि शब्दा मन्त्रवत्प्रयुज्यन्ते ।  
तेषां स्वरूपं विचार्यते ॥

(२) 'अग्नये जुष्टं निर्वपामी'त्यस्य मन्त्रस्य स्थाने सौर्ये चरौ 'सूर्याय  
जुष्टं निर्वपामीति' शब्दाः प्रयुज्यन्ते । इदं च शब्दान्तरकरणमूहनाम्ना  
प्रसिद्धम् । अयमेवात्र विचारविषयः ।

(३) अयमूहितशब्दो मन्त्रो भवति न वेति सशयः ।

(४) तत्र पूर्वपक्षः—भवत्येवायममन्त्रो मन्त्रेण सहैकवाक्यत्वादिति ।

(५) सिद्धान्तस्तु—याज्ञिकप्रसिद्धत्वरूपमन्त्रलक्षणस्यात्राभावाच्चैतस्य  
मन्त्रत्वमिति ॥

तदेतन्नवमधिकरणमभिप्रेत्याह नोहादय इति । 'मन्त्रगताः' मन्त्र-  
मध्ये निवेशिताः—'ऊहादयः' ऊहप्रवरनामधेयाक्षराणि—'मन्त्राः' मन्त्र-  
नामधेया 'न' भवन्तीति योजना ॥ ९ ॥

(१०) २।१।३५ ऋक् पादब्रह्मो भवतीह मन्त्रः

(१) मन्त्रसामान्यलक्षणमुक्त्वा मन्त्रविशेषाणां लक्षणान्युच्यन्ते ॥

(२) ऋक्मन्त्रोऽत्र विषयः ॥

(३) तत्र संशयः ऋक् लक्षणं सम्भवति न वेति ॥

(४) तत्र पूर्वपक्षः—न सम्भवति—अनुगतस्य कस्यापि लक्षणस्यास-  
म्भवादिति ॥

(५) सिद्धान्तस्तु—सम्भवत्येवानुगतं लक्षणम्—यस्मिन्मन्त्रे अर्थानुसा-  
रेण पादव्यवस्था भवति स एव ऋक्शब्दवाच्य इति ॥

तदेतदशमधिकरणमिलक्ष्याह ऋगिति । 'पादब्रह्मः' पादैर्विभक्तः  
'मन्त्रः' 'इह' वेदे 'ऋक्' तन्नाप्तधारी 'भवतीति' योजना ॥ १० ॥



(११) २।१।३६ मन्त्रस्य गीतिम्प्रवदन्ति साम ॥ ३ ॥

पूर्वाधिकरणवदेवात्रापि सङ्ख्यादयः । यथा तत्र ऋटमन्त्रलक्षणं तथाऽत्र साममन्त्रलक्षणम् ।

तदेतदेकादशाधिकरणमभिप्रेत्याह मन्त्रस्येति । 'मन्त्रस्य' 'गीतिम्' गानमेव-न त्वक्षगणि 'साम' इति 'प्रवदन्ति' इति योजना ॥ ११ ॥

(१२) २।१।३७ ऋक्सामभिन्नो यजुरेव मन्त्रः

यजुर्मन्त्रलक्षणपरमधिकरणमिदम् । अत्रापि पूर्ववदेव सङ्ख्यादयः ॥ तदेतद्द्वादशाधिकरणमभिप्रेत्याह-ऋगिति । 'ऋक्सामभ्याम्' 'भिन्न' मन्त्र — 'यजुरेव' यजुरिति नाम्ना प्रसिद्ध इति योजना ।

एव च 'पादेनार्थेन चोपेता वृत्तवद्धा मन्त्रा ऋच' 'गीतिरूपा मन्त्रा सामानि'—'वृत्तगोतिवर्जितत्वेन प्रक्षिष्टपठिता मन्त्रा यजूषि' इति पर्ययसिद्धमसङ्कीर्णं लक्षणं त्रिविधस्य मन्त्रस्य ॥ १२ ॥

✓(१३) २।१।३८-४५ यजुर्विशेषो निगदो न भिन्नः ।

(१) प्रोक्षणीरासादयेत्येवरूपां केचन मन्त्रा निगदा इति कथ्यन्ते । तल्लक्षणविचार इदानीं प्रस्तूयते ॥

(२) उक्ता मन्त्रा एवात्र विषयः ॥

(२) त एते निगदा ऋगादिग्वेवान्तर्भग्न्युत तेभ्यः पृथगेव चतुर्थ-प्रकार एवेति सशयः ॥

(४) तत्र पूर्वपक्ष-पादगीत्योर्ऋक्सामलक्षणयोगभावान् यजुर्लक्षणस्य प्रक्षिष्टपठस्य सत्त्वेऽपि उच्चैस्त्वरूपधर्मभेदेन उपाशुपठनीययजुष्यन्तर्भावानुपपत्तेरुक्तेभ्यस्त्रिभ्यो मन्त्रप्रकारेभ्यो भिन्नश्चतुर्थ एव प्रकारो निगदानामिति ॥

(५) सिद्धान्तस्तु-प्रक्षिष्टपठत्वाद् यजुष्ट्वमेव निगदानाम् । यच्चोच्चैस्त्वरूपधर्मभेदस्स परप्रत्यायननिमित्त एवेति न स प्रकारभेदे मूल-म्भवतीति ॥

तदेतत्त्रयोदशाधिकरणमभिप्रेत्याह यजुर्विशेष इति । 'निगद' तस्मात्ख्यातो मन्त्र — 'यजुर्विशेष एव उच्चैस्त्वविशिष्ट यजुरेवायमिति' 'न भिन्न' यजुषो भिन्नप्रकारको न भवतीति योजना ॥ १३ ॥

(१४) २।१।४६ साकाङ्क्षमेकार्थमिहैकवाक्यम्

(१) मन्त्रविचारप्रसङ्गेन कियत्पर्यन्तं वाक्यमेकमेकमन्त्रत्वेन ग्रथोक्तव्यं कियदवसानं चानियतपरिमाणस्य यजुष इति निर्णेत विचारान्तरं प्रस्तूयते ॥

(२) 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां श्रीश्रये जुष्ट निर्वपामीति' एतादृशा मन्त्रा अत्र विचारविषयः ॥

(३) अत्र किमेकं वाक्यमुतानेकानि वाक्यानीति संशयः ॥

(४) तत्र पूर्वपक्षः—अत्र नानावाक्यानि परस्परं भिन्नान्येव—एकत्वनियामकस्य कस्यापि दुर्वोधत्वादिति ॥ अत्रात्रा करे पर ५-२ पदे की अत्रि।

(५) सिद्धान्तस्तु—'यद् विभागे साकाङ्क्षम् अविभागे चैकार्थं तदेकवाक्यमिति' वाक्यैक्यप्रयोजकस्य सवत्र सुबोधत्वम् । 'एतन्नियामकानुसारेण च प्रकृतं देवस्य त्वेत्याद्येकमेव वाक्यम् । (अश्रये जुष्टमित्यादिपदसमूहे पृथक्कृते देवस्य त्वेति पूर्वः समूहः साकाङ्क्षः भवति—एकीकृते तु कृत्स्नस्यैक एव निर्वापोऽर्थो लभ्यते इति ॥) ५५११

तदेतच्चतुर्दशाधिकरणमभिप्रेत्याह साकाङ्क्षमिति । यत् 'एकार्थं' सत् विभागे सति 'साकाङ्क्षम्' भवति तदेव—'इह' यजुर्निर्णयविषये—'एकवाक्यम्' एकवाक्यत्वेन प्रयोक्तव्यमिति योजना ॥ १४ ॥

(१५) २।१।४७ भिन्नं यजुः स्याद्विनियोगभेदात् ॥ ४ ॥

(१) एकवाक्यतानियामकमुक्त्वा तदपवादरूपेण भिन्नवाक्यत्वनियामकविचारः प्रसूयते ॥

(२) 'इमे त्वर्ज्येत्येत्यादिपदसमूहोऽत्र विचारविषयः ॥

(३) कृत्वाऽयं पदसमूह एकमेव वाक्यमुत भिन्नानि वाक्यानीति संशयः ।

(४) तत्र पूर्वपक्षः—एक एवायमन्त्रः—मन्त्रस्यादृष्टत्वं एकस्यैवादृष्टस्य कल्पने लाघवन्नानादृष्टरूपने च प्रमाणाभावादिति ॥

(५) सिद्धान्तस्तु—प्रकृतपदसमूह खण्डशः कृत्वा विनियोग उपलभ्यते—'इमेत्येति शाखां छिनत्ति—ऊर्जे त्येत्यनुमार्ष्टि' इत्येवमादिः । एतद्विनियोगानुसारेण चानुष्ठेयार्थस्मारकत्वाद्भेदेन प्रत्येकस्य खण्डस्य भिन्नत्वमेवाभ्युपेयमिति ॥

एतदेव पञ्चदशाधिकरणमभिप्रेत्याह भिन्नमिति । 'विनियोगस्य' शास्त्रोक्तस्य 'भेदात्' यत्र भिन्न एव विनियोगो लभ्यते तत्र तद्विनियोगबलात् 'यजुः' भिन्नं 'स्यात्' न च तत्रैकवाक्यत्वमिति योजनो ॥ १५ ॥

(१६) २।१।४८ रजाशयादिष्वनुपज्य पूर्तिः

(१) यजुःपरिमाणविचारप्रसङ्गं यत्र यजुरपेक्षितपदरहितं ससाङ्ख्यमेवोपलभ्यते तत्र का गतिरितीदानीं विचार्यते ॥

(२) विपर्याभूतं यजुश्चात्र 'याते अग्नेऽयाशया तनूर्वापिष्टा गह्वरेष्ठा उग्र वेत्ता अपावर्थात्स्वप वचो अपावर्थात्स्वाहा याते अग्ने रजाशया—याते अग्ने हराशया' इति ॥

(३) अत्र 'याते अग्ने रजाशया' इत्येतावन्पदसमूह साकाङ्क्ष इवाप लक्ष्यते-तन्निराकाङ्क्षाय किं लौकिकान्येव पदान्यध्याहर्तव्यान्युत वैदिकान्येव कुतश्चिन्मन्त्रान्तरादनुषङ्गनीयानीति सशयः ॥

✓(४) तत्र पूर्वपक्ष — लौकिक एव वाक्यशेषोऽत्राध्याहर्तव्य मन्त्रान्तरभागानां तत्रैवोपज्ञीयत्वान्नोपपद्यते तेषामनुषङ्गमिति ।

✓(५) सिद्धान्तस्तु-वैदिकस्य मन्त्रस्याकाङ्क्षा वैदिकनैव वाक्यशेषेण पूरणीया । तथा च तन्मन्त्रेतिप्रेत्यादिभाग पूरमन्त्रस्योत्तरमन्त्रेऽनुपपद्यत इति ॥

तदेतत् षोडशाधिकरणमभिप्रेत्याह रजाशयादिष्विति । 'रजाशयादिषु' साकाङ्क्षमन्त्रभागेषु- 'अनुषङ्ग्य' वदिकादेव वास्यान्तरात्पदान्याङ्ग्य 'पू र्ति' निराकाङ्क्षता अपेक्षितवाक्यशेषस्य प्रपूरणम् कर्तव्येति योजना ॥ १६ ॥

✓(१७) २।१।४८ अच्छिद्रवाचोऽप्यनुषङ्ग एव ।

इदमपरमुदाहरणमनुषङ्गस्य । 'चित्पतिस्त्वा पुनातु वाक्पतिस्त्वा पु नातु-देवस्त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसो सूर्यस्य रश्मिभि रिति' मन्त्रोऽत्र पूर्ववदेव ॥ अत्र साकाङ्क्षाणि पदानि निराकाङ्क्षस्य मन्त्रस्य पूर्वमेवोपलभ्यन्ते पूर्वोदाहृतवाक्ये तु तत्पश्चादिति भेदादेव विचारान्तरप्रवर्तनम् ॥

तदेतत्सप्तदशाधिकरणमभिप्रेत्याह अच्छिद्रवाच इति । 'अच्छिद्रवा च' - 'अच्छिद्रेण पवित्रेण वसो सूर्यस्य रश्मिभि रिति वाक्यशेषस्य 'अ नुषङ्ग एव' चित्पतिस्त्वा पुनातु-वाक्पतिस्त्वा पुनात्वत्यनयो साकाङ्क्षयोर्मन्त्रभागयोरिति शेषः ॥ १७ ॥

✓(१८) २।१।४९ न स्याद्व्यवाये कैयितोऽनुषङ्गः

✓(१) उक्तस्यानुषङ्गन्यायस्यापरादो विविच्यते ॥

(२) 'स ते प्राणो वातेन गच्छता-समङ्गानि यजत्रै-स यज्ञपति राशिषेति' यजुषस्तृतीये खण्डे सयज्ञपतिरित्येव विषयः ॥

✓(३) समित्युपसर्गोऽत्र साकाङ्क्ष केन क्रियापदेन सयुज्यताम् किम्प्रथमत्राक्यगतगच्छतामित्यनेनोताध्याहृतेन केनचिदन्येनेति सशयः ॥

(४) तत्र पूर्वपक्ष-पूर्वाधिकरणन्यायेनास्यैव यजुषः प्रथमखण्डे यत्क्रियापदं लभ्यते तस्यैवानुषङ्गे वाक्य पूरणीयमिति ॥

(५) सिद्धान्तस्तु प्रथमतृतीयखण्डयोर्मध्ये अङ्गानीति बहुवचनान्तपदस्य व्यवधानात् गच्छतामित्यस्य क्रियापदस्य सम्बन्धस्रोतसो विच्छिन्नत्वाच्च सम्भवत्यन्यस्तृतीयवाक्यस्थस्यापसर्गस्य प्रथमवाक्यस्थक्रियापदेनेति । अतोऽत्र यथाचित् वाक्यशेषोऽन्यत एवाध्याहर्तव्य इति ॥

तदेतदष्टादशाधिकरणमभिप्रेत्याह न त्यादिति । 'व्यवाये' अन्वययो

ग्यपदस्य व्यवधाने-‘कथितः’ पूर्वाधिकरणन्यायानुसारी-‘अनुषङ्गः’ वा-  
क्यपरिसमाप्तिः ‘न स्यात्’ इति योजना ॥ १८ ॥

न्यायास्तु पादे नव वै दशापि ॥ ५ ॥

‘पादे’ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमे-‘नव वै दश’ ऊनविंश ‘न्यायाः’ अधि-  
करणानि ॥ प्रथमाधिकरणस्य द्वितीयं वर्णकं पृथग् गणयित्वाऽत्रोत्तरे-  
सङ्ख्यापूर्तिर्भवति ॥ ५ ॥

इति द्वितीयेऽध्याये प्रथमः पादः ।

## अथ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

(१) २।२।१ शब्दान्तरे विधियुते खलु कर्मभेदः

(१) प्रासङ्गिकमपूर्वादिकं विविच्य अध्यायविषयः कर्मभेदोऽधुना  
विविच्यते ॥

(२) आख्यातप्रत्ययेनैवापूर्वमुच्यत इति प्रसाधितम्-तथा चैकप्रकर-  
णगतानि पर्यायधातुनिष्पन्नान्याख्यातानि यजति-ददाति-जुहोतीत्यादी-  
न्युदाहरणम् ॥

(३) किमेतैराख्यातैः प्रत्येकं भिन्नमेव कर्मोच्यत उतैकमेवेति संशयः ।

(४) तत्र पूर्वपक्षः-यस्मात् सर्वेष्वेक एवाख्यातप्रत्ययो भावनावाची  
तस्मादेकैव भावनैकर्मवापूर्वमेकमेव कर्म सर्वैरुच्यते । न च धातुभेदा-  
द्भेदः । धातोर्भावनावाचित्वाभावेन तत्राप्रयोजकत्वादिति ।

(५) सिद्धान्तस्तु-यद्यप्याख्यातमेव भावनायाः प्रयोजकम्-तथाऽप्या-  
ख्यातस्य प्रतिधातु भिन्नत्वमेव-ततश्च बहूनामाख्यातानामेकैकधातुविशे-  
षानुरक्तत्वेनैव भावनावाचित्वेन यागदानहोमभावनाः परस्परं भिन्ना ए-  
वेति । अत्र च शब्दान्तरमेव कर्मभेदे हेतुः ॥

तदेतत्प्रथममधिकरणमभिप्रेत्याह शब्दान्तर इति-‘विधियुते’ विधिप्र-  
त्यययुते-‘शब्दान्तरे’ शब्दभेदे सति-‘कर्मभेदः’ प्रतिशब्दं भिन्नमेव कर्म  
भवतीति योजना ।

प्रश्नकरमतेन तु शास्त्रभेद एवाध्यायार्थो न कर्मभेदस्तथा च यजेते-  
त्यादिनानांपदयुतं शास्त्रमेकमेवेति पूर्वपक्षे-प्रतिशब्दं नियोगस्य भिन्न-  
त्वाद् भिन्नान्येव शास्त्राणीति सिद्धान्तः ॥ १ ॥

(२) २।२।२ भूयःश्रुतिश्च समिदादियजीन् भिनत्ति ।

(१) पूर्वाधिकरणे आख्यातपदभेदेन भिन्नत्वमवधारितम् । इदानीं च यत्रैकमेवाख्यातपदमभ्यस्यते तद्विचार्यते ।

(२) समिधो यजति-तनूनपातं यजति-इडो यजति-बर्हिर्यजति-इति वाक्य विषय ।

(३) अत्र यजतिचतुष्टयेन किमेकमेव कर्माच्यते उत चत्वारि कर्माणीति संशयः ॥

(४) तत्र पूर्वपक्ष — पूर्वाधिकरणवद् धातुभेदस्याभावाद् भावना भेदस्य नास्ति सम्भावना । ततश्चाख्यातपदस्यैक्याद् भावनाया अप्येक्यमेवेति ॥

(५) सिद्धान्तस्तु-यजतिपदाभ्यासेनैव कर्मणा भेद स्पष्टतया सूचितो भवति । कर्मैक्येऽभ्यासो निरर्थक एव स्यात् । तथा चात्राभ्यास एव कर्मभेदे हेतुरिति ॥

तदेतद् द्वितीयाधिकरणमभिप्रेत्याह भूय श्रुतिरिति । 'भूय श्रुति' यजतिपदस्याभ्यास — 'समिदादियजीन्' समिधो यजतीत्यादिवाक्यचतुष्टयोक्त्यागान् — 'भिनत्ति' भिन्नकर्मत्वेनावस्थापयतीति योजना ॥ २ ॥

(३) २।२।३-८ वाक्यत्र कर्म विदधाति य एवमादि

(१) शब्दान्तरेणाभ्यासेन च भिन्न कर्म विधीयत इत्युक्तम्-कुत्र पुन कर्मान्तरं न विधीयत इतीदानीं चिन्त्यते ।

(२) 'य एव विद्वान् पौर्णमासी यजते' 'य एव विद्वानमावास्या यजते'-इत्येवमादिवाक्यमत्र विषय ।

(३) अत्र यजतिना कर्मान्तरं विधीयतेऽथवा वाक्यान्तरेण विहितस्यैव कर्मणोऽयमनुवाद इति संशयः ।

(४) तत्र पूर्वपक्ष — कर्मान्तरमेवात्र विधीयते-पूर्वाधिकरणभ्यायेनेति ।

(५) सिद्धान्तस्तु-द्रव्यदेवताफलानामनुक्तत्वात्त्राय कर्मान्तरविधिरपि तु विहितानुवाद एव । एषैव गतिः सर्वेषां विद्वद्वाक्यानामिति ।

तदेतत् तृतीयमधिकरणमभिप्रेत्याह वाक्येनेति । 'य एवमादि' 'य एव विद्वान्' इत्याद्यक्षराणि आदौ यस्य तद्-'वाक्य' 'कर्म' भिन्नं कर्म-'न विदधाति'-अपि त्वनुवदत्येवान्यत्र विहितं कर्मेति योजना ॥ ३ ॥

(४) २।१।६-१२ स्यादन्तरालवचने यजतेर्विधानम् ॥ ६ ॥

(१) पुनर्यत्र कर्मान्तरमेव विधीयते तस्य वाक्यस्य विचारः ।

(२) 'जामि वा एतस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशावुपाशुयाजमन्तरा-यजतीति' वाक्यमत्र विषयः ।

(३) अत्र यजतिना कर्मान्तरं विधीयते, उत विहितमेवानूद्यत इति संशयः ।

(४) तत्र पूर्वपक्षः—पूर्वाधिकरणन्यायेन प्रकरणस्थेन वाक्यान्तरेण विहितस्य यागस्यानुवाद एवानेन यजतिना क्रियते इति ।

(५) सिद्धान्तस्तु—अन्तरालरूपकालस्योपांशुत्वरूपगुणस्य चात्रोक्तत्वादुपांशुनामकं यागान्तरमेवात्र विधीयते इति ॥

तदेतच्चतुर्थमधिकरणमभिप्रेत्याह 'स्यादन्तरालेति । 'अन्तरालवचने' उपांशुयाजमन्तरा यजतीत्यस्मिन् वाक्ये—'यजतेः' यजतीत्यस्मात् पदात्—'विधानं' विधिरेव—'स्यात्'—न त्वनुवादमात्रमिति योजनम् ॥ ४ ॥

(५) २।२।१३—१६ आधारसन्ततविधिर्गुणमात्रनिष्ठः

(१) कर्मान्तरविधेरन्यदुदाहरणम् ।

(२) आधारमाधारयति—ऊर्ध्वमाधारयति—ऋजुमाधारयतीति वाक्यत्रयमत्र विषयः ।

(३) अत्रान्त्याभ्यां वाक्याभ्यां द्वे कर्मणी विधीयते ययोरनुवाद आद्येन वाक्येन क्रियतेऽथवाऽऽद्येनैव विहिते कर्मण्यन्त्याभ्यां गुणविशेषौ विधीयते इति संशयः ।

(४) तत्र पूर्वपक्षः—कर्मविधायके एवान्त्ये द्वे वाक्ये—अन्यथाकल्पने मानाभावात् । तथा आद्येन वाक्येन तयोः कर्मणोरनुवाद एव क्रियते इति ।

(५) सिद्धान्तस्तु—आद्येनैव वाक्येनाधाररूपं कर्म विधीयते—तत्रैव च कर्मणि ऊर्ध्वत्व—ऋजुत्वरूपगुणद्वयं विधीयतेऽन्त्येन वाक्यद्वयेन—न कर्मान्तरमिति ॥

तदेतत्पञ्चममधिकरणमभिप्रेत्याह आधारेति । 'आधारसन्ततविधिः' 'ऊर्ध्वमाधारयति—ऋजुमाधारयति' इत्यधारेत्याभ्यासेन विधानम्—'गुणमात्रनिष्ठः'—ऊर्ध्वत्व—ऋजुत्वरूपगुणद्वयमेव विधत्ते—कर्म त्वाद्येनैव विधीयत इति योजना ।

एष एव न्यायः 'अग्निहोत्र जुहोति—दध्ना जुहोति—एयसा जुहोतीति' वाक्यत्रयेऽपि ॥ ५ ॥

(६) २।२।१७—२० सोमेन यागविधिरस्य गुणो ग्रहोक्तिः ।

(१) उक्तस्यैव न्यायस्योदाहरणान्तरम् ।

(२) सोमेन यजेत—येन्द्रवायवं गृह्णाति—मैत्रावरुणं गृह्णातीति वाक्यत्रयमत्र विषयः ।

(३) अत्र आद्येन वाक्येन कर्म विधीयते यद्विषये चेताराभ्यां गुणौ विधीयतेऽथवाऽन्त्याभ्यां विहितयोरेव कर्मणोराद्येनानुवाद इति संशयः ।

(४) तत्रैकमेव-कर्म ज्योतिष्टोममनूय तत्र सहस्रदक्षिणत्वरूपो गुणो विधीयत इति पूर्वपक्षः ॥

(५) सिद्धान्तस्तु-अथेत्यनेन ज्योतिष्टोमप्रकरणस्य विच्छिन्नत्वान्नास्त्यत्र तेन सम्बन्धः-ज्योतिःशब्दश्चापूर्वमेव नामान्यत्राविहितमेव कर्मान्तरं समर्पयति-अतोऽत्र ज्योतिष्टोमाद् भिन्नान्येव 'ज्योतिः'-विश्व-ज्योतिः-सर्वज्योतिः इति त्रिभिः संज्ञाभिस्त्रीणि भिन्नान्येव कर्माणि विधीयन्त इति ॥

तदिदमष्टमाधिकरणमभिप्रेत्याह ज्योतिःप्रभृतीति । 'ज्योतिःप्रभृति' ज्योतिरित्यादिकम् 'नाम' संज्ञा-अपि संख्यावत्-यजिभेत्-यागभेदकं कर्मभेदसूचकं-भवेत् इति योजना ॥ ८ ॥

(६) २।२।२३ भिन्ना विरुद्धगुणभागिति वाजिनेज्या

✓(१) देवताभेदकृतकर्मभेद इदानी निरूप्यते ॥

✓(२) तप्ते पयसि दधानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनमित्यत्र विषयवाक्यम् ॥

✓(३) तप्ते दुग्धे दधिनि प्रक्षिप्ते यो घनीभूतः पिण्डो जायते तस्यैव नाम 'आमिक्षेति' अवशिष्टजलभागस्य च 'वाजिन'मिति । तदेतदत्र वाजिभ्यो वाजिनमित्यनेन द्वितीयेन वाक्येन किं कर्मान्तरं विधीयत उत पूर्ववाक्यविहितं कर्म प्रत्येव किञ्चिद् गुणान्तरं विधीयत इति संशयः ॥

✓(४) तत्र पूर्वपक्षः-पूर्ववाक्येन विश्वेभ्यो देवेभ्य आमिक्षाद्रव्यस्यापणं विहितम्-द्वितीयेन वाक्येन च तदेव वैश्वदेवदेवताकं यागमनूय वाजिनरूपद्रव्यान्तुरं विधीयत आमिक्षया सह समुच्चयार्थं विकल्पार्थं वेति ॥

✓(५) सिद्धान्तस्तु-वैश्वदेवयागस्य सहशिष्टेनामिक्षाद्रव्येणावरुद्धत्वाद् द्रव्यान्तरस्य तत्र प्रवेशसम्भवात् वाजिनरूपद्रव्यसम्प्रदानकदेवतान्तरमेव वाजिभ्य इति पदेन समर्प्यते-ततश्च वाजिरूपदेवताभ्यो यस्मिन् कर्मणि वाजिनरूपद्रव्यं प्रदीयते तत् कर्म भिन्नमेवे द्वितीयेन वाक्येनोच्यत इति ॥

तदिदं नवमाधिकरणमभिप्रेत्याह भिन्नेति । 'वाजिनेज्या' वाजिनयागः 'वाजिभ्यो वाजिनमित्यनेन वाक्येनोक्तः-विरुद्धगुणभाक् पूर्ववाक्यविहितामिक्षायागस्य गुणो वैश्वदेवदेवतारूपस्तस्माद् 'विरुद्धम्' भिन्नम्, 'गुणम्' वाजिभ्य इत्यनेन पदेनोक्तं-भजते या सा तथाभूता भवति-इति अस्मात्कारणात्-भिन्ना आमिक्षायागात् भिन्नमेव कर्म-ति योजना ॥ ६ ॥

(१०) २।२।२४ दध्ना जुहोति पयसेति न होमभेदः ।

✓(१) पूर्वन्यायापवादः ॥

✓(२) 'अग्निहोत्र जुहोति-दध्ना जुहोती'त्यत्र विषयवाक्यम् ॥

✓(३) दध्ना जुहोतीत्यनेनाग्निहोत्राद् भिन्न कर्मान्तर विधीयत उत तस्मिन्नेव दधिरूपगुणो विधीयत इत्यत्र संशयः ॥

✓(४) तत्र पूर्वपक्ष-यथा पूर्वाधिकरणे आमिक्षाद्रव्यकाद् वैश्वदेवया गाह्निकमेव वाजिनद्रव्यक यागान्तरं द्वितीयवाक्येन विधीयते-तथैवात्राप्यग्निहोत्राह्निकमेव कर्म दधिद्रव्यक विधीयत इति ॥

✓(५) सिद्धान्तस्तु-पूर्वत्र वैश्वदेवयागस्यामिक्षाद्रव्येण विरुद्धत्वात् गाह्निकं वाजिनरूपद्रव्यान्तरप्रवेशसम्भव-अत्र त्वग्निहोत्रं न केनापि द्रव्यान्तरेणावरुद्धम्-प्रत्युतास्येव तस्य द्रव्याकाङ्क्षेति तदर्थं द्वितीयवाक्येन दधिद्रव्यं विधीयत इति ॥

अयमेव न्याय- 'अग्निहोत्र जुहोति पयसा जुहोती'त्यत्रापि द्रष्टव्यः ॥

तदिदं दशमाधिकरणमभिप्रेत्याह दध्नेति । 'दध्ना जुहोति' 'पयसेति' इत्येताभ्यां वाक्याभ्यां 'न होमभेदः' अग्निहोत्राद् भिन्नं कर्म न विधीयते अपि तु तत्रैव दधिरूपगुणो विधीयत इति योजना ॥ १० ॥

✓(११) २।२।२५-२६ कर्मान्तरे न समवैति दधीन्द्रियार्थम्

✓(१) अन्योऽयं कर्मभेदापवादः ॥

✓(२) दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्यत्र विषयवाक्यम् ॥

✓(३) अत्र किम्प्रकृतादग्निहोत्राद् भिन्नमेव कर्म विधीयत उत तत्रैव फलविशेषसिद्ध्यर्थं गुणो विधीयत इति संशयः ॥ -

✓(४) तत्र पूर्वपक्ष-प्रकृतादग्निहोत्रादन्यदेव कर्मात्रोच्यत इति ।

✓(५) सिद्धान्तस्तु-कर्मान्तरविधाने प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गाद् गुणविशिष्टकर्मान्तरविधाने च गौरवात् इदं वाक्यं प्रकृतमेवाग्निहोत्रमुद्दिश्येन्द्रियरूपफललाभाय दधिरूपं गुणं विदधातीति ।

तदिदमेकादशाधिकरणमभिप्रेत्याह कर्मान्तर इति । 'इन्द्रियार्थं' इन्द्रियरूपफलसम्पादक- 'दधि' द्रव्य- 'कर्मान्तरे' प्रकृताग्निहोत्राद् भिन्नं कर्मणि- 'न समवैति' न प्रविशति-अपि तु तस्मिन्नेवाग्निहोत्रे प्रयुज्यत-इत्यन्वयः ॥ ११ ॥

(१२) २।२।२७ भिन्ने यजौ फलविधिः सह रैवतीभिः ॥ ८ ॥

(१) इदमपरं कर्मभेदोदाहरणम् ॥

(२) 'त्रिव्रदग्निष्टुदग्निष्टोम' इति वाक्यस्य सन्निधाविदमपरं वा-



क्यम्—‘एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयमग्निष्टोमसाम कृत्वा पशुकामो हितेन यजेतेति’ । इदमेवात्र विषयः ।

✓(३) अत्र द्वितीयेन वाक्येन किम्प्रकृतेऽग्निष्टुद्यागएव पशुफलाप्तये रेवतीनामृचां वारवन्तीयसाम्ना सम्बन्धकरणं विधीयत उत तत्सामगुणकं पशुफलकमन्यदेव कर्म विधीयत इति संशयः ॥

✓(४) तत्र पूर्वपक्षः—यथाऽग्निष्टुति ब्रह्मवर्चसकामस्य वायव्यास्वृद्ध-  
‘अग्निष्टोमसामगानं विहितं वाक्यान्तरेण तथैवानेनापि वाक्येन तस्मिन्नेवा-  
ग्निष्टुद्यागे रेवतीष्वृक्षु वारवन्तीयसामगानत्वं विधीयते पशुकामस्य पूर्वा-  
धिकरणन्यायेनेति ॥

(५) सिद्धान्तस्तु—पूर्वाधिकरणसाम्यमत्र नास्ति । तत्र हि दध्नो होम-  
साधनत्वं प्रत्यक्षेण श्रेयं न शास्त्रैकबोध्यमतस्तत्र फलसम्बन्धमात्रं तस्य  
शास्त्रगम्यम्—इह तु रेवत्युगाधारकवारवन्तीयसामगानस्याग्निष्टुत्क-  
र्मसाधनत्वं पशुफलसाधनत्वं चेत्युभयमपि शास्त्रैकबोध्यमेव । तथा च  
पूर्वपक्षाश्रयणे दुर्वारो वाक्यभेदप्रसङ्गः । तेनोक्तसामगुणकं पशुफलकं  
कर्मान्तरमेवात्र विधीयत इति ।

तदिदं द्वादशाधिकरणमभिप्रेत्याह भिन्ने यज्ञाविति । एतस्यैव रेवती-  
ष्विति वाक्ये—‘भिन्ने’ प्रकृताग्निष्टुत्कर्मणोऽन्यस्मिन्—‘यज्ञैः’ यागे कर्मणि—  
‘रेवतीभिः सह फलविधिः’ वारवन्तीयसामविशिष्टरेवतीनामृचां गुणभू-  
तानां विधिना पशुरूपस्य फलस्य च विधिना सहैव कर्मान्तरविधिरिति  
योजना । तथा च ‘रेवतीष्वृक्षु वारवन्तीयसामकरणवता कर्मणा पशुरूपं  
फलं भावये’दिति विध्यर्थः पर्यवसितः ॥ १२ ॥

(१३) २।२।२८=२६ हीषादि सौभरफलं नियमाय शिष्टम्

✓(१) भेदापवादेऽत्र विचार्यते ।

(२) ‘यो वृष्टिकामो योऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः स सौभरेण  
स्तुवीते’त्यस्यानन्तरं पुनः श्रूयते ‘हीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्यात्  
ऊर्गित्यन्नाद्यकामायेत्यादि’—इदमेवात्र विषयवाक्यम् ।

✓(३) सौभरं नाम सामविशेषः निधनं नाम साम्नोऽन्तिमो भागः ।  
एवं चानेन वाक्येन सौभरसम्पाद्यमानवृष्ट्यादिफलेभ्योऽन्यान्येव वृष्ट्याः  
दिफलानि साधयितुमुक्त एव सौभरे हीषादिनिधनविशेषो विधीयते,  
अथवा सौभरसम्बन्धेनोक्तान्येव फलानि तत्रैव हीषादिनिधनसाध्यत्वेना-  
नूद्यन्त इति संशयः ।

✓(४) तत्र पूर्वपक्षः—पूर्ववाक्योक्तेभ्योऽन्यान्येव फलानि जनयितुं  
हीषादिविशेषो विधीयते—हीषादिवाक्ये वृष्टिकामायेति चतुर्थीभवणात्—

एव च सौभरस्य तद्विशेषस्य हीषस्य निधनस्य च फलभूते द्वे वृष्टौ भवतस्तदुभयमेलनान्महती वृष्टिरिति ।

(५) सिद्धान्तस्तु-सौभरविधौ यो वृष्टिकाम स एव हीषादिविधौ प्रत्यभिज्ञायते । अतः पूर्वोक्तान्येव फलानि हीषादिवाक्येष्वनूद्यन्ते हीषादिनिधननियमनार्थम् । तस्मादयं सौभर एव हीषादिनिधनविशेषनियमविधिर्न फलान्तरविधिरिति ॥

तदिदं त्रयोदशाधिकरणमभिप्रेत्याह हीषादीति 'सौभरफलम्' सौभरस्य फलमेव फल यस्य तत्-'हीषादि' निधनविशेष-'नियमाय' फलविशेषापेक्षया निधनान्तरव्यावृत्त्या हीषाद्येकमात्रनिधनप्रयोग निग्रमयितुं 'शिष्ट' विहितम्-'हीषिति वृष्टिकामाये'त्यनेन वाक्येनेति योजना ॥ १३ ॥

पादे त्रयोदश नयानुपवर्णयन्ति ॥ ६ ॥

पादार्थमुपसङ्गच्छति पाद इति । 'पादे' द्वितीयाध्यायस्य द्वितीये 'त्रयोदश न्यायान् उपवर्णयन्ति' सम्प्रदायविद इति शेषः ॥ ६ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीय पादः ॥

## द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

(१) २।३।१-२ ज्योतिष्टोमे ग्रहाग्रत्वम्

✓(१) कर्मविशेषाणां भेदो विचार्यते ॥

✓(२) 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इति ज्योतिष्टोमविधिः । तमेव ज्योतिष्टोमं प्रकृत्य श्रूयते 'यदि रथन्तरसामा सोम स्यात् ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात् यदि बृहत्सामा शुक्राग्रान् यदि जगत्सामा आग्रयणाग्रान्' इति । एतदेवात्र विषयवाक्यम् । अत्र सोमशब्देन सोमलतासाधनको यागो विधीयते । तस्मिन् यागे माध्यन्दिने सवने पृष्ठस्तोत्रे रथन्तरबृहज्जगन्नामकानि सामानि विकल्पेन विहितानि । ऐन्द्रवायव मैत्रवृवरुण आश्विन शुक्र मन्थ्याग्रयण उक्थ्य ध्रुव इत्यादिनामका सोमरसधारका पात्रविशेषा ग्रहनामधेया भवन्ति । सोमयागस्य रथन्तरसामोपेतत्वपक्षे एतेषु ग्रहेषु ऐन्द्रवायव एव प्रथमं गृहीतव्यं । बृहत्सामोपेतत्वपक्षे शुक्र, जगत्सामोपेतत्वपक्षे आग्रयण । इत्येवोक्तस्य विषयवाक्यस्यार्थः ॥

(३) अत्र सन्देहः-अत्र यो ग्रहाग्रताविशेषो विधीयते स किं ज्योतिष्टोमस्यैव (रथन्तरसामादिगुणयुक्तस्य) उत रथन्तरसामादिनाम्नः कर्मान्तरस्येति ॥

(४) तत्र पूर्वपक्षः-प्रकृतो ज्योतिष्टोमो गायत्रादिसामोपेतः । तस्यैव व्यावृत्त्यर्थमिह वाक्ये रथन्तरादयो गुणाः कीर्त्यन्ते । अत एवेन्द्रवायवादिग्रहाग्रत्वविशिष्टानि कर्मान्तराण्येवात्र विधीयन्त इति ॥

(५) सिद्धान्तस्तु-प्रकरणादत्र ज्योतिष्टोमस्यैव ग्रहणम् । गृहीते च तस्मिन् तद्विषये ग्रहाग्रत्वविशेषो गुणो विधीयते । न च रथन्तराद्यभिधानेन ज्योतिष्टोमस्य व्यावृत्तिः-आतस्सवने तस्य गायत्रादिसामोपेतत्वेऽपि पृष्ठस्तोत्रे रथन्तरादियोगस्यापि सम्भवात् ॥

तदेतत्प्रथममुपकरणमभिप्रेत्याह ज्योतिष्टोम इति । 'ज्योतिष्टोम' तन्नामके प्रकृत एव कर्मणि 'ग्रहाग्रत्वम्' ऐन्द्रवायवादिग्रहाग्रत्वरूपो गुणो विधीयत इति शेषः ॥ १ ॥

(२) २।३।३ राजा क्षत्रिय उच्यन्ते ।

✓(१) पूर्वाधिकरणपवाद इदानीं प्रस्तूयते ॥

✓(२) अस्ति राजसूयो नाम यागः-‘राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेतेति’ । तस्यैव राजसूयस्य प्रकरणे एका अवेष्टिनामिका इष्टिः श्रूयते ‘आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत् हिरण्यं दक्षिणा-ऐन्द्रमेकादशकपालम् ऋषभो दक्षिणा-वैश्वदेवं चरुम् पिशङ्गी प्रष्टौही दक्षिणा-मैत्रावरुणीमामिक्षाम् वशा दक्षिणा-बार्हस्पत्यं चरुम् शितिपृष्ठो दक्षिणा’ इति । तस्यामेवावेष्टौ यजमानजातिभेदेन हविषां क्रमव्यत्ययोऽपि श्रूयते-‘यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधायानुतिं हुत्वा तमभिघारयेत् यदि राजन्य ऐन्द्रम्-यदि वैश्यो वैश्वदेवम्’ इति । एतदेवात्र विषयवाक्यम् ॥

✓(३) अत्र सन्देहः-अस्मिन् उत्तरे वाक्ये किं विधीयते-किं राजसूयान्तर्गतावेष्टेः पृथगेव कर्मान्तरम्-उत तदेव कर्म प्रकृत्य यजमानजातिभेदमूलकं हविष्क्रमभेदमात्रम् । एष च सन्देहः सन्देहान्तरमूलकः-‘राजा राजसूयेन यजेतेत्यत्र राजसूयविधायके विधौ राजशब्दः किं क्षत्रियमात्रवचन उत यः कश्चिद् राज्यं कर्म करोति तद्वचनः ? ॥

(४) तत्र पूर्वपक्षः-राजशब्दो राज्यकर्मकर्तृपरक एव नेयः । यौगिकोऽयं राजशब्दः । राजकर्म जनपदपुररक्षणादिरूपं यः करोति स एव राजशब्दवाच्यः । अत एवाक्षत्रियेपि जनपदरक्षणादिकर्मकर्तरि राजशब्दो लोके प्रयुज्यते । एवं च सर्व एव राजकर्मकर्तारोऽधिकृता राज-

सूयेऽवेष्टौ च । तथा चावेष्टिर्गपि पूर्वाप्रिकरणन्यायन राजसूयाङ्गमेव ।  
उत्तरवाम्य च जातिभेदेनावेष्टौ कञ्चित् क्रमव्यत्यय विदधाति न पुन  
कर्मान्तरमिति ॥

(५) सिद्धान्तस्तु-राजशब्दो रूढ्या क्षत्रियजातिवचन । रुद्धिश्च  
‘योगाद्वलीयसी । यत्र कचिद् ब्राह्मणादौ राजशब्द प्रयुज्यते तत् रक्ष  
णादिकार्यसादृश्यमूलिकया गौण्येव वृत्त्या । एव च ब्राह्मणवेश्यया राज  
सूयेऽनविकृतत्वाद् उत्तरे वाम्ये यद्वेष्ट्याख्यं कर्म प्रकृत्य ब्राह्मणादङ्ग  
उक्ता तत्र राजसूयाङ्गमवितुमर्हति-सर्वथा कर्मान्तरमेव तत् ब्राह्मणा  
दिकर्तृकम् । एव च राजसूयान्तर्गतायामवेष्टा ब्राह्मणवेश्ययोरनधिका  
रेऽपि तद्वहिरवेष्टौ कर्मान्तर सर्वथाऽधिकार एव इति ॥

एतदभिप्रेत्याह-राजेति । ‘क्षत्रिय’ एव राजा उच्यते’ राजा राजसूयन  
यजेतेति राजसूयस्य विधिवाक्ये इति शेष तथा च राजसूयेऽनविकृतत्वाद्  
ब्राह्मणक्षत्रिययोरवेष्टि कर्मान्तरमेवेति स्वतः सिद्धाऽधिकरणसिद्धान्तो  
न साक्षादभिहितः ॥ २ ॥

(३) २।३।४। आधानं कर्तृभिन्नम्

(१) अग्न्याधानमेक कर्म सर्वकर्मशेषभूत न प्रतिकर्म भिन्नमिति  
विचार्यते ॥

(२) ‘वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वश्य’  
इति विषयवाक्यम् ॥

(३) तत्र सन्देह-यदाग्नान्कर्माग्निम् वाक्ये निर्दिश्यते तत् किम्  
न्यत प्राप्तमत्र वाक्ये केवलतत्कर्मादिश्य ब्राह्मणादिसम्बन्धेन वसन्ता  
दिकालो विधीयते-उतात्रैव वाक्ये अग्न्याधानकर्माणो विधानमिति ॥

(४) तत्र पूर्वपक्ष-अग्न्याधानं विना यागमात्रस्यासम्भवात् ‘ज्योति  
ष्टोमेन यजेत’ ‘अग्निहोत्र जुहुयात् सर्गकाम’ इत्यादि यागविधि  
भिरेवाधानस्य विधि कल्प्यते । तत एव चाधानस्य प्राप्तत्वात् तदर्थं  
विध्यन्तरस्याप्रयोजकत्वात् उक्तवाम्ये यो विधिस्तस्य स्वरूपमिथमेव  
यत् ‘अन्यत प्राप्त यदाधानकर्म तद् यदि ब्राह्मणं कुर्यात् वसन्त एव  
कुर्यात्, यदि राजन्यं कुर्यात् ग्रीष्मे कुर्यात्, यदि वैश्यं कुर्यात् शरदि  
कुर्यात्’ इति ॥

(५) सिद्धान्तस्तु-अग्नीनादधीत इति साक्षादाधानस्य विधि विहाय  
यागसामान्यविधिबलेन विध्यन्तरकल्पनस्यान्याप्यत्वात् प्रकृतवाक्ये  
आधानस्य विधिरिति स्वीकर्तव्यम् । अतोऽनेन वाक्येन वसन्तादिकाल  
विशि ब्राह्मणादिकर्तृकमाधानं विधीयते इति ॥

एतदभिप्रेत्याह—आधानमिति । ‘आधानम्’ वसन्त इत्यादिवाक्येन विहितमन्याधानम्—‘कर्तुमिः’ ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यैः विधिवाक्यनिर्दिष्ट-ब्राह्मणादिसम्बन्धेन—‘भिन्नम्’—वसन्ते ब्राह्मणेन कृतमाधानं ग्रीष्मे राज-न्येन कृतात् शरदि च वैश्येन कृतात् आधानात् भिन्नमेवेत्याशयः ॥ ३ ॥

(४) २।३।५-११ भेदो दाक्षायणे न हि ॥

(१) कर्मविशेषभेदाभेदो विचार्यते ॥

(२) दर्शपूर्णमासौ प्रकृत्य श्रूयते—‘दाक्षायणयज्ञेन यजेत प्रजाकामः’ इति । एतदेवात्र विषयवाक्यम् ॥

(३) तत्र सन्देहः—दाक्षायणशब्देन किं कर्मान्तरं विधीयते उत दर्शपूर्ण-मासयोरेव दाक्षायणनामको गुणविशेषो फलविशेषमुद्दिश्य विधीयत इति ॥

(४) तत्र पूर्वपक्षः—दाक्षायणनामकं कर्मान्तरमेव विधीयते । दाक्षायणनामा नास्ति कश्चिद् गुणो यो दर्शपूर्णमासाबुद्दिश्य विधीयते । दाक्षायणनामकेन यागेन प्रजां भावयेदिति स्पष्टोऽर्थो वाक्यस्यावगम्यत इति ॥

(५) सिद्धान्तस्तु—दर्शपूर्णमासावेवोद्दिश्य दाक्षायणनामको गुणविशेषो फलविशेषाय विधीयते । कोऽसौ गुणो दाक्षायणनामक इति चेत्—दाक्षायणशब्द आवृत्तिवाचकः । आवृत्त्या युक्तो दर्शपूर्णमासयज्ञ एव प्रजारूपफललाभाय क्रियते । आवृत्तिप्रकारस्तु ‘द्वे अमावास्ये द्वे पूर्णमास्यौ यजेत’ इति वाक्याल्लभ्यते । एवं च प्रकृतयोरेव दर्शपूर्णमासयोः प्रजाफलसिद्धयर्थमावृत्त्याख्यगुणविधिः न कर्मान्तरविधिरिति ॥

एतदेवाभिप्रेत्याह—भेद इति । ‘दाक्षायणे’ दाक्षायणपदवाच्ये ‘न’ भेदः दर्शपूर्णमासयागादिति शेषः । दाक्षायणपदवाच्यं दर्शपूर्णमासयागाद् भिन्न कर्मान्तरं भवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

(५) २।३।१२-१५ वायव्यं यजिमतु कर्म

(१) पूर्वाधिकरणापवादः ॥

(२) अनारभ्य श्रूयते ‘वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकाम इति’ । दर्शपूर्णमासप्रकरणे च श्रूयते ‘ईषामालभेत’ इति [ईषा च शकटगर्तो दीर्घः काष्ठविशेषः] । अनारभ्याधीतं पूर्ववाक्यमेवात्र विषयवाक्यम् ॥

(३) तत्र सन्देहः—दर्शपूर्णमासप्रकरणोपलब्धवाक्ये य ईषालम्भ उक्तः तमुद्दिश्यैव किं श्वेतरूपो गुण उक्तवाक्येन विधीयते—उत कर्मान्तरमेवानेन विधीयते—यदि च कर्मान्तरं तत्रापि किंस्वरूपमिदं कर्मान्तरम्—किं वाक्योक्तालम्भनभात्ररूपमुतालम्भनसहितयागरूपमिति ॥

(४) तत्र प्रथमः पूर्वपक्षः—दर्शपूर्णमासगतेषास्पर्शमुद्दिश्यैव श्वेतरूपो

गुणोऽत्र विधीयते-तस्य च श्वेतकाष्ठस्य वायुना स्पृश्यमानत्वाद् वायु व्यता भवति-इति । द्वितीयश्च-यदापि कर्मान्तर विधीयते तदाऽपि यथा श्रुतमालम्बनमात्र विधीयते न याग इति ॥

(५) सिद्धान्तस्तु-कर्मान्तरमेव विधीयते-तच्च यागरूपमत्र । तथाहि वायुर्देवता श्वेत पशुविशेष-अस्य च पशोर्वायुर्देवतव स्पष्ट मुच्यते वाक्ये । अयं च द्रव्यदेवतासम्बन्धो यागद्वारैव सम्भवतीत्यतो यागरूप कर्म कल्पयति-साक्षादुक्तस्य चालम्बनकर्मणो यागोऽप्याश्रय-कत्वमस्त्येवेति सर्वमवदातम् ॥

एतदेवाभिप्रेत्याह वायव्यमिति । 'वाय-य'-वायव्य श्वेतमालम्बेनेति वाक्ये यदुक्तं आलम्बन कर्म तत् 'यजिमत्' द्रव्यदेवतासम्बन्ध-रूपित यागसम्बद्धमेवेत्याशयः ॥ ५ ॥

✓ (६) २।३।१६-१७ वत्सालम्भो यजिर्न हि ।

(१) पूर्वाधिकरणपवादः ॥

(२) अग्निहोत्रप्रकरणे गोदोहाधिकारे श्रूयते-'वत्सालम्भेनेति इदमेव विषयवाक्यम् ॥

(३) तत्र सन्देह-किमत्र यागान्तर विधीयते उत प्रकृताग्निहोत्रप्रकरणोक्तवत्सालम्बन्धेनालम्बनरूपो गुणो विधीयते इति ॥

(४) तत्र पूर्वपक्ष-पूर्वाधिकरणन्यायन यागान्तरमेवात्र विधीयत इति ॥

(५) सिद्धान्तस्तु-अत्र वत्सालम्भरूपोऽग्निहोत्रसंस्कार एव विधीयते । पूर्वाधिकरणवाक्यवन्नात्र वाक्ये देवतासम्बन्ध उक्तो यन तद्वद् द्रव्यदेवतासम्बन्धद्वारा यागकर्म कल्प्येतेति ॥

एतदभिप्रेत्याह-वत्सालम्भ इति । वत्सालम्भ 'न' 'यजिमत्' न यागरूप कर्मापि तु अग्निहोत्राख्ययागस्य संस्कारगुण एवेति शयः ॥ ६ ॥

✓ (७) २।३।१८ चरुपधाने न यजिः

(१) पञ्चमाधिकरणस्यापवादान्तरम् ।

(२) "नैवारश्चरुर्भवति-चरुमुपदधाति"-इति विषयवाक्यम् ।

(३) तत्र सन्देह-अत्र वाक्ये किं यागो विधीयते उतोपधानमात्रमिति ।

(४) पूर्वपक्ष-अत्र याग एव विधीयते-तत्र च यागे वाक्यशेषोक्तो बृहस्पतिरेव देवता । एवं च नैवारश्चरुद्रव्यको बृहस्पतिदेवताको याग एव विधीयते । यागे उपयुक्तस्य च चरो शेषस्य प्रतिपत्तिमात्रमुपधानमिति ।

(५) सिद्धान्तस्तु-उपधानमात्रमत्र विधीयते । वाक्योक्ताख्यातेन

उपधानस्य सम्बन्धः प्रत्यक्षः यागस्य तु वाक्यशेषबलेनानुमेय एवेति न यागविधिरयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह-चरूपधान इति । चरोः उपधाने 'यजिः' यागो न विहित इति शेषः ॥ ७ ॥

(८) २।३।१६ त्वाष्ट्रोत्सर्गो विधीयते ।

(१) पञ्चमाधिकरणस्यापवादान्तरम् ।

(२) विषयवाक्यम्-‘त्वाष्ट्रं पालीवतमालभेत’ इति प्रकृत्य श्रुतम्-‘पर्यग्निकृत पालीवतमुत्सृजन्ति’ इति ।

(३) संशयः-इदं वाक्यं किं कर्मान्तरं विधत्ते उत प्रकृतत्वाष्ट्रपालीवतयागमुद्दिश्य पर्यग्निकरणरूपं गुणमात्रमिति ।

(४) पूर्वपक्षः-पर्यग्निसंस्कृतपशुद्रव्यक पालीवदेवताकमुत्सृजनरूपं कर्मान्तरविधानमेव वाक्यस्य साक्षादन्वयेनार्थो लभ्यते । अतः पञ्चमाधिकरणसिद्धान्तवद्वापि कर्मान्तरमेव विधीयते ॥

(५) सिद्धान्तः-पञ्चमाधिकरणवाक्यमनारभ्याधीतम्-इह तु वाक्यं त्वाष्ट्रपालीवत्प्रकरणे पठ्यते । एतद्वाक्योक्तश्च पालीवतः पशुः पूर्ववाक्योक्त एव पालीवत इत्यपि स्पष्ट प्रत्यभिज्ञायते । तमेव च पालीवतं पशुमनूय द्वितीये वाक्ये पर्यग्निकरणरूपः संस्कार उच्यते । स एव च संस्कारः उक्तपशुगुणत्वेन उत्सृजन्तीत्याख्यातेन विधीयते । एवं त्वाष्ट्रपालीवतमेवोद्दिश्य पर्यग्निसंस्काररूपो गुणोऽत्र विधीयते न कर्मान्तरमिति ॥

एतदभिप्रेत्याह-त्वाष्ट्रोत्सर्ग इति । त्वाष्ट्रस्य त्वष्ट्रदेवताकस्य पूर्ववाक्योक्तस्य पालीवतस्यैव पशोः पर्यग्निसंस्कृतस्य उत्सर्गो विधीयते वाक्येनेति शेषः ॥ = ॥

(९) २।३।२० अदाभ्यः प्रकृतौ ग्राह्यः

(१) अपवादान्तरम् ।

(२) अनारभ्य श्रूयते-‘एष वै हविषा हविर्यजते योऽदाभ्यं गृहीत्वा सोमाय यजते’ इति । एतदेव विषयवाक्यम् ।

(३) सन्देहः-अदाभ्यनामकयागान्तरविधानमेतदुत ज्योतिष्टोमाङ्गसोमपात्रविशेषस्यैव विधानमिति ।

(४) पूर्वपक्षः-अदाभ्यशब्दस्य अपूर्वशब्दत्वात् तन्नामको याग एव स्वतन्त्रो ‘यजते’ इत्यनेनाख्यातेन विधीयत इति ।

(५) सिद्धान्तः-अदाभ्य इति नाम-किन्तु ग्रहस्यैव न यागस्य-‘गृहीत्वा’ इति शब्दस्यानन्तरमेव पाठात् यजतेस्तु व्यवहितत्वात् इति ॥

एतदभिप्रेत्याह-अदाभ्य इति । ‘प्रकृतौ’ यागे ज्योतिष्टोमे एव ‘अदा-

भ्य' तन्नामको ग्रह ग्राह्य -न त्वेतन्नामको याग कर्तव्य इति ॥ ६ ॥

✓(१०) २।३।२१-२३ नाग्निवाचा यजिं वदेत् ॥

(१) अपवादान्तरम् ।

(२) अस्ति विधि 'अग्निं चिनुते' इति । एतदेवात्र विषयवाक्यम् ।

(३) तत्र सन्देह -किमत्राग्निशब्देन यागनामधेयेन यागान्तरं विधीयते उत द्रव्यवाचकेन ज्योतिष्टोमादिष्वेव चयनरूपो गुणो विधीयते इति ।

(४) पूर्वपक्ष -यागान्तरमेव विधीयते । उक्तवाक्यादनन्तरमेव पठ्यते -'अग्निमग्निष्टोमेनानुयजति तमुक्त्येन' इत्यादि । अनेन स्पष्टं सूच्यते यत् अग्निशब्दो यागवाची यागस्यैषोक्त्यस्तोत्रादिसम्प्रत्यसम्भवात् इति ।

(५) सिद्धान्त -रूढ्या अग्निशब्दो वह्निद्रव्यमेव वक्ति । इयं च रूढिः स्मृता उक्त्यस्तोत्रादिलिङ्गकट्याद् यागवाचि-त्वाद् चलीयसी । न चात्र यागस्वरूपं प्रतिभाति द्रव्यदेवतावाचकपदाभावात् । अतो न यागनामदमापे तु ज्योतिष्टोमादिगतवह्निद्रव्यवाचकमेव । 'चयन' च तस्यैव द्रव्यस्य सस्कारविशेषः । एव सस्कृतस्य च वह्निद्रव्यस्य ज्योतिष्टोमादाविव विनियोग -इति ।

एतदभिप्रेत्याह -नाग्निवाचेति । 'अग्निवाचा' अग्निशब्देन 'यजि' याग 'न वदेत्' -न विधीयेत इति ॥ १० ॥

(११) २।३।२४ सत्रेऽग्निहोत्रमन्यन् स्यात्

(१) विवाचता गुणभेदमूलकं कर्मभेदः । प्रकरणभेदमूलकं इदानीं विविच्यते ।

(२) विषयगोचरम् -कुण्डपायिनामयने श्रूयते -'उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुहोति' -इति ।

(३) सन्देह -अन्यतः प्राप्तमग्निहोत्रकर्म अन्य मासरूपो गुणोऽत्र विधीयते उत ततो भिन्नमेव मासाग्निहोत्ररूपं कर्मणि ।

(४) पूर्वपक्ष -प्राप्तमेव नित्याग्निहोत्रमन्यन् मासरूपो गुणोऽत्र विधीयते इति ।

(५) सिद्धान्त -नेदं वाक्यमिति नित्याग्निहोत्रप्रकरणे श्रूयते श्रूयते त्वेतत् श्रूयनप्रकरणे -उपसद्भिश्चरित्वा तदनन्तरमेव कर्तव्यतया विहितमत्र कर्म । न च उपसदोऽग्निहोत्रे सन्ति । अतो न नित्याग्निहोत्रानुवादोऽयमपि तु कर्मान्तरविधिरेव । कर्मान्तरत्वे चात्र प्रकरणान्तरमेव प्रमाणम् ॥

एतदेवाभिप्रेत्याह -सत्र इति । 'सत्रे' कुण्डपायिनामयनप्रकरणे यत् 'अग्निहोत्र' विहितं तद् नित्याग्निहोत्रात् 'अन्यन्' कर्मान्तरमेवेत्यर्थः ॥

भाष्यकारमतेनेत्यमेव सिद्धान्तप्रदर्शनम् । न चैतद् वार्तिककारानु-



मतम् । उक्तप्रदर्शनप्रकारेण यद्यपि मासाग्निहोत्रविषयकः सिद्धान्तः सिद्धो भवति तथाऽपि मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेतेत्यत्र तेन प्रकारेण न सिद्धिः—अत्र उपसद्भिश्चरित्वेत्यस्याभावात् । एतदेव वार्तिककारस्य अरुचिवीजम् । सिद्धान्ते तु न मतभेदः ॥ वार्तिककारमतेन सिद्धान्त-प्रतिपादनं यथा—अत्र कर्मभेदे प्रकरणविच्छेद एव प्रमाणम् । तथाहि मासाग्निहोत्रवाक्यकाले नित्याग्निहोत्रवाक्यन्नैव विपरिवर्तते । अविपरिवर्तमाने च पूर्वकर्मणि उत्तरस्य भेदः स्पष्टमेवावभासते । कालाद्युद्देशेन च कर्तव्य कर्म विधीयमानं यद्यन्येन वाक्येन तद्रूपमेवोपस्थाप्यते ततस्तदेवेत्यकर्मन्तरबुद्धिर्भवति । अथ त्वीषदपि तिरोधानान्नोपतिष्ठते पूर्वकर्म ततः परम्प्रति विधीयमानत्वेनैव विहितादन्यत्वबुद्धिर्जाता न शक्याऽपनेतुमिति कर्मन्तरत्वमेव भवतीति ॥ ११ ॥

✓ (१२) २।३।२५ आग्नेयोऽन्यो रुगर्थिनः ।

- (१) फलरूपानुपादेयद्वारा प्रकरणकृतकर्मभेदस्य प्रकारान्तरप्रदर्शयते ।  
 (२) अनारभ्य श्रूयते—‘आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेद् रुक्कामः’ इति विषयवाक्यम् ।  
 (३) सन्देहः—किं प्रकृतिभूतदर्शपूर्णमासगतमेवाग्नेययागमनूयात्र रूपं फलं विधीयते—उत कर्मन्तरमेवेति ।

(४) पूर्वपक्षः—दर्शपूर्णमासान्तर्गतमेवाग्नेययागमनूयात्र फलं विधीयते । न पूर्वाधिकरणन्यायावतारोऽत्र । तत्र हि अयनप्रकरणे श्रुतत्वाद्विधेस्तद्विहितकर्मणो भेदः सिद्धः । अत्र तु वाक्यं न कस्यचिदपि प्रकरणे श्रुतम् । अतो न प्रकरणान्तरेण कर्मभेदसिद्धिः इति ।

(५) सिद्धान्तः—प्रकरणान्तरत्वाभावेऽपि कस्यापि कर्मणः प्रकरणेन सम्बन्धाभावात् प्रकृतिदर्शपूर्णमासप्रकरणपेक्षयाऽसन्निधिरस्त्येव । अयमेव चासन्निधिः कर्मभेदं साधयति । एव च सर्वथा रुक्कामेष्टिः कर्मन्तरमेवेति ।

एतदभिप्रेत्याह आग्नेय इति । ‘रुगर्थिनः’ रुक्कामस्ये ‘आग्नेयः’ ‘अन्यः’ दर्शपूर्णमासगतादाग्नेयादिति शेषः ॥ १२ ॥

✓ (१३) २।३।२६ सैवान्नकामस्यावेष्टिः

(१) पूर्वाधिकरणापवादः ।

(२) ‘आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति’ इत्यादिवाक्येषु विहिता अवेष्टिः । तस्या एव प्रकरणे फलमाप्नातम्—‘एतयाऽन्नाद्यकामं याजयेत्’ इति । एतदेवात्र विषयवाक्यम् ।

(३) तत्र सन्देह — पूर्ववाक्यकलापविहिताया अवेष्टे कर्मान्तरमियम  
न्नाद्यकामस्यावेष्टिविधीयते उत तामेवावेष्टिमनूय फलमात्र विधीयते इति ।

(४) पूर्वपक्ष — पूर्वाट्टिकरणन्यायेन कर्मान्तरमेव विधीयते इति ।

(५) सिद्धान्त — न कर्मान्तरमत्र विधीयते- किन्तिर्हि पूर्वोक्तामेवावेष्टि  
मनूय फलविशेषो विधीयते । एतयेत्येव शब्दो न शक्नोति अवेष्ट्या भिन्न  
कर्म वक्तुम्-सन्निहितस्यैव हि प्रतिनिर्देशक एव शब्द । तस्मादवेष्टिरे-  
वान्नाद्यकामकर्तव्यतयाऽनूद्यते ।

एतदेवामिद्रेत्याह—सैवेति । 'सैव' पूर्वगतवाक्यकलापोक्तैव 'अ  
वेष्टि' 'अन्नकामस्य' अन्नाग्ररूपफलविशेषकामस्य अत्र वाक्ये अनुद्यत  
इति शेष ॥ १३ ॥

✓(१४) २।३।२७-२६ आग्नेयः पर्वणोर्भवेत् ॥

(१) पूर्वाधिकरणपवाद ।

(२) 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्याया पौर्णमास्या चाच्युतो भ-  
वति' इति श्रूयते । तदनन्तरम्पुन 'यदाऽग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्याया भ-  
वति' इति ।

(३) तत्र सन्देह — एकमेवाग्नेयकर्मोभयोरपि वाक्ययोक्तमुत भिन्ने  
एव कर्मणी इति ।

(४) पूर्वपक्ष — अविशेषपुन श्रुतिलक्षणेनाभ्यासेन भिन्ने एव क  
र्मणी । एव च अमावास्याकाले द्वि प्रयोग आग्नेयस्य एक प्रयोग पूर्ववा  
क्योक्तोऽपरश्च द्वितीयवाक्योक्त । तथा दर्शपूर्णमासयागे चि प्रयोग आग्नेय  
स्य—(१) पूर्ववाक्येनोक्तोऽमावास्यायाम्, (२) पूर्ववाक्योक्त पौर्णमास्याम्  
(३) उत्तरवाक्योक्तोऽमावास्यायामिति ॥

(५) सिद्धान्त — प्रत्यभिज्ञानादेवाग्नेयस्यैवत्वे सिद्धे द्वितीयस्य अमा-  
वास्यामात्रवाचकस्य वाक्यस्य पूर्ववाक्योक्तकर्मणोऽनुवादकत्वमेव । अनु-  
वादश्च ऐन्द्राग्रस्तुत्यर्थ । यद्यप्याग्नेयोष्टाकपालोऽमावास्याया भवति तथा-  
ऽपि केवलेनाग्निना न तथा साधुर्भवति यथेन्द्रसहितेनाग्निनेत्यत 'ऐन्द्राग्र  
कर्तव्य' इति विधेयस्यैव प्रशंसा सम्पाद्यतेऽनुवादेनेति ।

एतदमिद्रेत्याह आग्नेय इति । 'आग्नेय' आग्नेयाख्य कर्म 'पर्वणो'  
अमावास्यायाम् पौर्णमास्या चेति द्विरेव- 'भवेत्' न त्रिरिति भावः ॥ १४ ॥

पादे चतुर्दश न्याया भाष्यकारेण वर्णिताः ।

उक्तार्थमेतत् ॥

इति द्वितीयस्य तृतीय ।

## द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

( प्रयोगभेदविचारात्मकः )

(१) २।४।१-७ न विहित इति यावज्जीवकालोऽग्निहोत्रे

(१) पर्यवसिते कर्मभेदनिरूपणे तत्सम्बद्ध एव प्रयोगभेदो विचार्यते ।

(२) 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इति विषयवाक्यम् ।

(३) सन्देहः—किमत्र यावज्जीविकता कर्मधर्मः—उत कर्तृधर्मः इति ।

(४) पूर्वपक्षः—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम' इत्यनेन यत् काम्यमग्निहोत्रं विहितं लदेव जुहोतीत्यनेनानूय 'यावज्जीव'पदेन तस्य मरणावधिका-लोविधीयते । तथा चेद् वाक्यं काम्याग्निहोत्रमुद्दिश्य यावज्जीवकालं विदधाति । एवं चास्य काम्यानुष्ठानस्य मरणपर्यन्तता सिध्यति । अन्यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम' इत्यनेन सकृदेवानुष्ठानं स्यात् । तस्मात् काम्याग्निहोत्रकर्मणो यावज्जीवमभ्याससिद्ध्यर्थमेव यावज्जीवकालरूप-स्य कर्मधर्मस्यैवायं विधिस्तथा च नित्यकाम्यप्रयोगौ सम्मिलितावेक-मेव कर्म यावज्जीवन्याप्यं सम्पादयतः इति ॥

(५) सिद्धान्तः—यावज्जीवपदस्य सत्यपि काललक्षकत्वे न कालवा-चकत्वम् । कृत्स्नजीवनपर्याय एवेदं पदम् । न च जीवनं कस्यचित् कर्मणो धर्मो भवितुमर्हति—तस्य पुरुषधर्मत्वात् । तमेव पुरुषधर्मं निमित्ती-कृत्याग्निहोत्रप्रयोगोऽत्र वाक्ये विधीयते । न चात्र कर्मभेदः । प्रयोगभेद एवात्र लभ्यते । न च अयोगनैरन्तर्यापत्तिः—सायम्प्रातःकालयोरेव स्पष्टं विहितत्वात् । तस्मात् जीवनस्य पुरुषधर्मत्वात् नित्यकाम्यप्रयोगौ भिन्नापेव ।

एतदभिप्रेत्याह—न विहित इति । 'यावज्जीवकालः' 'अग्निहोत्रे' अग्नि-होत्रकर्मधर्मत्वेन 'न विहित'—अपि तु पुरुषधर्मत्वेनैवेति शेषः ॥ १ ॥

(२) २।४।८-३२ मुनिरपि बहुशाखं कर्म चैकं जेगाद ॥

(१) उक्तान् षट्कर्मभेदकान् विहायान्यः कर्मभेदकः शाखाभेदा-दिरूपोऽस्ति न वेति विचार्यते ।

(२) समुपलभ्यन्ते दर्शपूर्णमासविधायकानि वाक्यानि नान्दशाखासु काठकाण्वमाध्यन्दिनतैत्तिरीयाद्यासु ।

(३) तत्र सन्देहः—प्रतिशाखं किम्भिन्नमेव कर्म दर्शपूर्णमासाख्यं विधीयते—उत एकमेवेति ।

(४) पूर्वपक्ष —काठकादयो नामभेदा । नामभेदश्च कर्मभेदक इति स्थितम् प्राक् । अतः शाखाभेदेन कर्म भिन्नमिति ।

(५) सिद्धान्त —सर्वत्रोक्तस्य दर्शपूर्णमासस्यैकमेव रूप । दर्शपूर्णमासेति नामाप्येकमेव सर्वत्रोपलभ्यते । तस्मादनन्यथासिद्धरूपप्रत्यभिज्ञानात् शाखाभेदेऽपि कर्म न भिद्यते-इति ।

एतदभिप्रेत्याह—मुनिरित । 'मुनि' जमिनि 'बहुशाख' बह्वीषु शाखासु उक्त 'कर्म' 'एकम्'—अभिन्नम्-इति 'जगाद्' ॥ २ ॥

विदितसकलतरुवैः शिष्यसम्बोधनार्थ—

नययुगलमिहोक्तं नीतिविद्भिः समीक्ष्य ॥

'नययुगलम्' द्वे अधिकरणे । 'नीतिविद्भिः' मीमांसान्यायवेत्तृभिः । स्पष्टमन्यत् ॥

इति द्वितीयस्य चतुर्थ ॥



इति द्वितीयोऽध्यायः ॥



## अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

प्रथमः पादः

( अङ्गत्वविचारपरः )

३।१।१ प्रथमं प्रतिज्ञाधिकरणमनुक्रमणिकायां नैवोक्तम् ग्रन्थकृता । तत्र कारणं स्पष्टम् । अत्राधिकरणस्वरूपं नास्ति । द्वितीयतृतीयाध्याययोः पौर्वापर्यसम्बन्धनिरूपकमेवेदमाद्यं सूत्रमिति सर्वसम्मतम् । तथा चोक्तम्—‘द्वितीये कर्मणां भेदे सिद्धे, भिन्नक्रियास्वयम् वुभुत्सितः शेषशेषिभावोऽतोऽत्राभिधीयत’ इत्यधिकरणमालायाम् । अतो नेदमधिकरणमपि तु शेषलक्षणाधिकरणस्योपोद्धानरूपः प्रस्ताव एवेति नात्राधिकरणत्वेन सन्निवेशितम् । अतोऽत्राधिकरणसङ्ख्या चतुर्दशैव न पञ्चदशेत्यवधातव्यम् ॥

(१) ३।१।२ यो यदर्थः स तच्छेषः

✓(१) निरूपिते कर्मणां भेदे किं कर्म प्रधानं ‘शेषि’ किञ्च गौणं ‘शेष’ इतीदानीं विचारपथमवतरति ।

(२) कर्मणामङ्गप्रधानबोधकानि सर्वाणि वाक्यान्यत्र विषयवाक्यत्वेन परिगृह्यन्ते ।

(३) शेषस्य लक्षणं सम्यक् सम्भवति न वेति सन्देहः ।

(४) पूर्वपक्षः—न सम्भवति शेषस्य लक्षणम् । शेषस्य स्वरूपमेव निरूपयितुं न शक्यते । तथाहि शेषत्वं नाम किम् ? अविनाभूतत्वम्—प्रयोज्यत्वम्—विध्यन्तविहितत्वं वा ? न तावदाद्यः—तथासति स्वाभ्यपि दासस्य शेषः स्यात्—दर्शपूर्णमासान्तर्गतप्रधानकर्मणामपि परस्परं शेषत्वं स्यात् ॥ नापि द्वितीयः—पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपतीत्यत्र तुषोपवाप प्रति शेषस्यापि कपालस्य तत्प्रयोज्यत्वाभावात् शेषत्व न स्यात् । नापि तृतीयः—विध्यादिनिहितस्य पलाशशाखाच्छेदस्य सत्यपि शेषत्वे विध्यन्तविहितत्वाभावात् । तस्मान्नास्ति शेषतायां किञ्चित् स्वरूपमिति ॥ न च शेषत्वसाधकः कश्चिद् हेतुरस्ति—‘विमतः शेषः परंरूपत्वात्’ इति कस्यचिद् हेतोर्निरूपयितुमशक्यत्वादिति ॥

✓(५) सिद्धान्तः—‘विमतः प्रयाजादिः शेषः परार्थत्वात् भृत्यादिवत्’ इति हेतुः सुनिरूपः । तथा च ‘परार्थः शेष’ इति लक्षणमदुष्टमेव । एवं च शेषत्वस्य हेतुः स्वरूपं च निरूपितं भवति इति ।

एतदभिप्रेत्याह—यो यदर्थ इति । 'य' पदार्थ 'यदर्थ' स 'तस्य शेष' इति योजना ॥ १ ॥

(२) ३।१।३-६ कर्माद्यपि फलादिनः ।

(१) शेषस्य लक्षणे निरूपिते तस्य लक्ष्यमिदानां निरूप्यते ।

(२) स्फ्यकपालादिकं द्रव्यम्—अरुणिमादिभ्यो गुण-अवघातप्रोक्षणादिकं संस्कार-दशपूर्णमासादिकं कर्म स्वर्गादि फलम् पुरुषश्च कर्ता । यत्र यत्र वाक्ये एतान्युक्तानि तानि सर्वाण्यत्र त्रिषय वाक्यत्वेन परिगृह्यान्ते ।

(३) अत्र सन्देह—किं द्रव्यादयः पुरुषान्ता सर्व एव शेषस्य लक्ष्या उत कानिचिदेवेति ।

(४) पूर्वपक्ष (वादरिमतम्) द्रव्यगुणसंस्कारा एव शेषा न कर्म-फलपुरुषा । द्रव्यादिषु त्रिष्वेव नियतं शेषभावः । एते सर्वत्र शेषभूता परोपकारित्वस्यैष्वेव वर्तमानत्वादिति ।

(५) सिद्धान्त—यथा द्रव्यादयस्त्रयः पर्याप्तैव कर्मफलपुरुषा अपीत्येतेषामपि सुस्पष्टं शेषत्वम् । तथाहि दर्शपूर्णमासादि फलार्थमेव क्रियते—फलं च पुरुषार्थमेव सम्पद्यते—पुरुषश्चौदुम्बरीसम्मानादिषु गुणभूतः श्रूयते ॥ तस्मादु द्रव्यादिष्वेव शेषत्वं न कर्मादिविवेच्यते न समो चीनाऽऽधारः । इयास्तु विवेकः । द्रव्यगुणसंस्काराणां यागम्प्रति शेषत्वं नियतं कर्मादीनां त्वापेक्षिकम् । तथाहि कर्मणः फलम्प्रति शेषत्वेऽपि द्रव्यम्प्रति प्रधानत्वमेव फलस्य पुरुषम्प्रति शेषत्वेऽपि यागम्प्रति प्राधान्यम्—पुरुषस्यौदुम्बरीसम्मानादि प्रति शेषत्वेऽपि फलम्प्रति प्राधान्यमिति ॥

एतदभिप्रेत्याह—कर्मादीति । 'कर्मादि' कर्मफलपुरुषा अपि 'फलादिन' फलपुरुषकर्मणा यथाक्रमं शेष—न केवलं द्रव्यगुणसंस्कारा एवेति शेषः । फलादिन इति न पुंसकलिङ्गकफलादिशब्दस्य षष्ठ्यकषच्चेन रूपम् । एवमेव पाठ उपलभ्यते ॥ २ ॥

(३) ३।१।७-१० ब्रीह्यादेरवघातादि ।

(१) शेषशेषिभावविचारे दृष्टान्तविशेषा प्रदर्श्यन्ते । तत्रादौ संस्कारस्य शेषत्वं प्रदर्श्यते ।

(२) दर्शपूर्णमासौ प्रकृत्य अवघातप्रोक्षणादयो ब्रीहिधर्मा, उच्यवना विक्षणादय आज्यधर्मा, तथा च गोप्रसुत्त्वणादयः साध्यायधर्मा विहिताः ।

(३) तत्र सन्देह—अवघातादयो धर्मा सर्वेषु द्रव्येषु कर्तव्या उत तेष्वेव द्रव्येषु यत्र तैः कश्चिदुपकारः स्यात् । तथाहि अवघातः किं ब्रीहिष्वेव कार्यं उताज्येष्वपीति ।

(४) पूर्वपक्षः । सर्व एव धर्मा एकस्यैव दर्शपूर्णमासकर्मणः प्रकरणे विहितास्तस्यैव फलहेतुतया तस्यैवापूर्वेण सङ्गच्छन्ते-अवान्तरस्य कस्य-चिदपूर्वान्तरस्याभावात् । फलापूर्वप्रयुक्त्या चानुष्ठीयमाना धर्माः यस्मिन् कस्मिन्नपि दर्शपूर्णमासयागसम्बद्धे द्रव्येऽनुष्ठिताः फलापूर्वं साधयन्त्येवेति सर्वे सर्वत्रानियमेन कर्तव्या इति ।

(५) सिद्धान्तः—दर्शपूर्णमासान्तर्गता आग्नेयादयो भिन्नक्षणवर्तिनो यागाः स्वस्वावान्तरापूर्वैरेव फलापूर्वं साधयन्ति । एवं च पुरोडाश-द्रव्यकयागजन्यमेवापूर्वं पुरोडाशद्रव्यव्रीहिधर्माणाम्प्रयोजकम्-आज्य-धर्माणां च आज्यद्रव्यकयागजन्यमेवापूर्वं प्रयोजकम् । एवं च तत्तदपूर्वविशेषप्रयुक्ता धर्मास्तत्तदपूर्वसाधनप्रकृतिद्रव्येष्वेव व्यवतिष्ठन्ते । तथा चावघाताद्भिः पुरोडाशप्रकृतिभूतेषु व्रीहिष्वेव व्यवतिष्ठते इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—व्रीह्यादेरिति । ‘अवघातादि’ अवघातः प्रोक्षणं च ‘व्रीह्यादेः’ यागविशेषसाधनपुरोडाशादिप्रकृतिभूतस्यैव—‘शेषः’ अङ्गमिति शेषः ॥ ३ ॥

(४) १।१।११ स्फयादिरुद्धननादिनः ।

(१) अङ्गत्वविशेषविचारः प्रवर्तते ।

(२) दशपूर्णमासयोः श्रूयते—‘स्फयश्च कपालानि च अग्निहोत्रहवणी च शूर्पं च कृष्णाजिनं च शम्या च उलूखलं च मुसलं च दूषञ्च उपलां च एतानि वै दश यज्ञायुधानि’ इति ।

(३) तत्र सन्देहः—यत् यत् कर्म स्फयादिभिः कर्तुं शक्यं तेषु सर्वेष्वेतेषामुपयोगः साङ्ख्येण-उत यद् येन कर्मणा सह विधिषूक्तं तत्रैव तस्योपयोगो व्यवस्थितः इति ।

(४) पूर्वपक्षः—स्फयादीनां यज्ञायुधीयत्वमेवात्र वाक्ये संमानात् । साङ्ख्येणापि प्रयोगे सिध्यत्येव सर्वेषां यज्ञायुधत्वम् । अतो यथोपयोगं सर्वत्र सर्वेषामुपयोगः कर्तव्यः इति ।

(५) सिद्धान्तः—‘स्फयेनोद्धन्ति’ ‘कपालेषु श्रपयन्ति’ ‘अग्निहोत्रहवण्या हवींषि निर्वपति’ ‘शूर्पेण विचिनक्ति’ ‘कृष्णाजिनमधस्तादुलूखलस्यावस्तृणाति’ ‘शम्यया दूषदुपदधाति’ ‘उलूखलमुसलाभ्यामवहन्ति’ ‘दूषदुपलाभ्यां पिनष्टि’ इति वाक्येषु स्फयादिभिः प्रत्येकं यत् कर्तव्यं तस्य विधिः स्पष्टमुपलभ्यते । एवं च स्फयादिद्रव्यणांप्रतिकर्म व्यवस्थैकं भवति न साङ्ख्येण उपयोगः । विषयवाक्ये यत्तेषां परिगणनं तत्तेषां यज्ञायुधत्वसूचना-र्थम्-तस्य-च ‘यज्ञायुधानि सम्भरन्ति’ इत्यासादनविधाने उपयोगः इति ।

एतदभिप्रेत्याह स्फयादिरिति । ‘स्फयादिः’-स्फयश्च कपालानि चेत्या-

दि - 'उद्धननादिन' शेष इति शेषः । एव च स्फुपेन उद्धननमेव कपालेषु  
अपणमेव-अग्निहोत्रहवण्याहविनिर्वपणमेव-शूर्पेण विविनेजनमेव कृष्णां  
जिने उलूखलस्यावस्तरणमेव-शम्याया द्रवदुपधानमेव-उलूखलमुसला  
भ्यामवहननमेव-द्रवदुपन्नाभ्या पेवणमेव कर्तव्यमिति निर्णयः ॥ ४ ॥

(५) ३।१।१२ आरुण्य क्रयणस्याङ्गम्

(१) अङ्गत्वाविचारोऽनुवर्तते ।

(२) ज्योतिष्टोमप्रकरणे श्रूयते- 'अरुण्या पिङ्गाद्या एकहायन्या सोमं  
क्रीणाति' इति ।

(३) तत्र सन्देहः — 'अरुण्या' पदेनोक्त आरुण्यरूपो गुण किं क्रय-  
साधनीभूतया गवैव सम्बध्यते-उत यानि ज्योतिष्टोमसम्बद्धानि द्रव्याणि  
तै सर्वैरेवेति ।

(४) पूर्वपक्षः — 'अरुण्या' पदेनारुण्यगुण उच्यते । स च गुणोऽमूर्तः ।  
न चामूर्तस्य क्रयसाधनत्वमुपपद्यते । एव च 'अरुण्या' पदगततृतीया-  
श्रुत्याऽभिहित आरुण्यगुणस्य विनियोगो नोपपद्यते । तत्र प्रकरणमेव  
तद्विनियोजकत्वेन स्वीकर्तव्यम् । प्रकरणे च नानाद्रव्याणि ज्योतिष्टोम  
साधनान्युक्तानि ग्रहचमसादीनि । तस्मात् सर्वैरेव ज्योतिष्टोमसाधनम्  
तद्रव्यैर्ग्रहचमसादिभिरारुण्यगुणस्य सम्बन्ध इति ।

(५) सिद्धान्तः — यद्यप्यारुण्यगुणोऽमूर्तस्तथापि वाक्योक्ता गां व्यष्टि-  
च्छिनत्त्येव । इयं च गौ सोमक्रयसाधनम् । तस्मात् तद्वोद्वारा तद्व्यष्टि-  
च्छेदकस्यारुण्यगुणस्यापि तत्साधनत्वमिति सिध्यत्येव । एवं च आरुण्यगुणस्य  
क्रयणान्वयः । तथा च सति- 'आरुण्यगुणविशिष्टया एकहायन्या गवा  
सोमं क्रीणातीति' वाक्यार्थः पर्यवस्यति । इति ॥

एतदभिप्रेत्याह- 'आरुण्यमिति । 'आरुण्य' अरुण्येतिपदेनोक्त आ-  
रुण्यगुण 'क्रयणस्य अङ्गम्' सोमक्रये अन्वितम् न ज्योतिष्टोमप्रकरणा-  
म्नातै सर्वैर्द्रव्यैरिति शेषः ॥ ५ ॥

(६) ३।१।१३-१५ न ग्रहैक्यं विवक्षितम् ।

(१) अङ्गत्वविचारः प्रवर्तते । अत्र

(२) सोमयागे श्रूयते- 'दशापविष्टेण ग्रहः सम्मार्ष्टि' इति । 'दशाप-  
विष्टः' वस्त्रखण्डः 'ग्रहः' सोमरसधारणार्थं पात्रविशेषः ।

(३) अत्र सन्देहः-ग्रहमिर्यत्र ग्रहेकत्वमुच्यते तत्सम्मार्जनान्गत्वेन विव-  
क्षितं वा-अर्थात् किमेकस्यैव ग्रहस्य सम्मार्जनं कर्तव्यमुत सर्वेषामिति ।

(४) पूर्वपक्षः — एक एव ग्रहः सम्मार्जनीयः श्रुत्युक्तस्यैकत्वस्य परि-  
त्यागानौचित्यात् इति ।



(५) सिद्धान्तः—अत्र वाक्ये ग्रहस्य प्राधान्यं स्पष्टप्रतीयते—सम्मार्जनं च ग्रहप्रति गुणः । ए च 'प्रतिप्रधानं गुण आवर्तनीय' इति न्यायेन यावन्तो ग्रहा यागे उपयुज्यन्ते ते सर्व एव सम्मार्जनीयाः इति ।

एतदभिप्रत्याह—न ग्रहैक्यमिति । 'ग्रहैक्यम्' ग्रहं सम्मार्ष्टीत्यत्र यत् ग्रहस्यैकत्वं उक्तम् तत् 'न विवक्षितम्' उद्देश्यगतसंख्याया अविवक्षितत्वात् । अतो नैक एव ग्रहः सम्मार्जनीयः अपि तु सर्व एवेत्याशयः ॥६॥

(७) ३।१।१६-१७ चमसानान्न सम्मार्गः

(१) उक्ताधिकरणस्यापवादः ।

(२) 'ग्रहं सम्मार्ष्टीति' वाक्यं सोमभागप्रकरणे श्रुतम् ।

(३) सन्देहः—ग्रहमात्रस्य सम्मार्जनमत्र विवक्षितमुत सोमसम्बन्धुप्रकरणान्तराणां चमसानामपीति ।

(४) पूर्वपक्षः—ग्रहमित्यत्रैकवचनञ्च विवक्षितमिति स्थितम्—तथैव ग्रहमित्यत्र प्रातिपदिकार्थभूतं ग्रहत्वमप्यविवक्षितम् । एव च ग्रहशब्दस्य सोमोपयुक्तपात्रमात्रस्योपलक्षकत्वात् सोमावसेकनिर्हरणादिसाधकानां चमसानामपि सम्मार्गो भवतीति ।

(५) सिद्धान्तः—पूर्वाधिकरणन्यायो नात्रावतरति । तत्र हि वाक्यभेदापत्त्या एकत्वस्याविवक्षा स्वीकृता । ग्रहत्वे तु नास्ति तदापत्तिः । ततश्च सत्यपि प्रयोजने प्रमाणाभावात् चमसानां सम्मार्गो नास्ति इति ।

एतदभिप्रेत्याह—चमसानामिति ॥

(८) ३।१।१८ यूपेऽरतिर्गुणः पशोः

(१) अङ्गविशेषविचारो वर्तते ।

(२) 'सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्य यूप' इति वाजपेयप्रकरणे श्रूयते ।

(३) तत्र सन्देहः—सप्तदशारत्निशब्दोक्तं यत् ऊर्ध्वमानं तद् वाजपेयस्याङ्गमुत वाजपेययागगतपशोरिति ।

(४) पूर्वपक्षः—वाजपेयस्य यागस्यैवाङ्गं तन्मानम्—सप्तदशारत्नि-वाजपेयशब्दयोरानन्तर्यात् । प्रकरणं चैवमेवानुगृह्यते । यदि मानविशेषस्य यागेन साक्षात्सम्बन्धो न सम्भवेत् तर्हि यागगतषोडश्यादिपात्रद्वारैव तन्मानस्य यागेन सम्बन्धोऽकार्य इति ।

(५) सिद्धान्तः—यूपेऽरतिर्यूप' इति सामानाधिकरण्याद् यूपे नैव सप्तदशारत्नितायाः साक्षात्सम्बन्धः । यूपस्य च पश्वङ्गत्वात् तन्मानं यूपद्वारा पशोरङ्गमभवति । पशोश्च वाजपेययागाङ्गत्वात् पशुद्वारा वाजपेयस्याप्यङ्गमभवत्त्वमिति । सर्वमवदातम् ।

एतदभिप्रत्याह यूप इति । 'यूपे' यूपसम्बद्धो यो 'ऽरति' सप्तदशा  
रतिरूप ऊर्ध्वमानविशेष स पशो 'वाजपेयगतपशोरेव 'गुण' अङ्ग-  
मित्यर्थ ॥ ८ ॥

(६) ३।१।१६-२० अभिक्रमः प्रयाजाङ्गम्

(१) अङ्गत्वविचारो वर्तते ।

(२) दर्शपूर्णमासयोः प्रयाजसमीपे श्रूयते—'अभिक्रामन् जुहोति' इति ।

(३) तत्र सन्देह —यदत्र वाक्यं आहवनायममित सञ्चरणम् 'अभि-  
क्रामन्' इति पदेन विहितं तत् अभिक्रमणं किं प्रयाजमात्रस्य कर्तुं कृतम्  
कृत्स्नस्य यागस्य कर्तुरिति ।

(४) पूर्वपक्ष —उक्तमभिक्रमणं कृत्स्नदर्शपूर्णमासयागस्य कर्त्ता स-  
म्बध्यते न पुनः प्रयाजमात्रस्य कर्त्ता । क्रियारूपं हि तत् कर्त्तव्यं सम्बध्येत  
न मयाजरूपाक्रियान्तरेणति ॥ चार्तिककारमतेन पूर्वपक्षरूपं यथा-प्रक-  
रणस्य सान्निध्यापेक्षया बलीयस्त्वात् प्रयाजसन्निधौ विहितमप्यभिक्रमणं  
प्रकरणबलाद् दर्शपूर्णमासस्य सकलस्यैवाङ्गं प्रयाजमात्रस्यति ।

(५) सिद्धान्त —दर्शपूर्णमासयोगोऽपि क्रियारूप एव । एव च अ-  
भिक्रमणस्य यथा क्रियारूपेण प्रयाजेन सम्बन्धासम्भारमन्तर्गतं दर्शपूर्ण-  
मासरूपक्रिययाऽपीति । एव सति प्रयाजस्य सन्निधाने विहितत्वात् सन्नि-  
धिवलात् प्रयाजमात्रस्य कर्त्तव्यमिति ॥ चार्तिककारमतेन सिद्धान्तं यद्य-  
प्यभिक्रमणवाक्यं दर्शपूर्णमासमहाप्रकरणे श्रुतं तथाऽप्यन्यथ तद्  
न्तर्गतं प्रयाजस्यावान्तर्गतं न । प्रकृतं वाक्यं चास्मिन्नेवावान्तरप्रक-  
रणे श्रूयते—प्रत्युताभिक्रमणविधायकं वाक्यमुभयतोऽपि प्रयाजवाक्यैरथ  
सश्लिष्टम् । तथा चाभिक्रमणं प्रयाजमात्रे सन्निविशते । एव प्रयाजद्वारा  
च दर्शपूर्णमाससम्बन्धस्याप्युपलभ्यतात् महोप्रकरणमप्यनुगृहीतं भवति ।  
कृत्स्नयागसन्निवेशे त्ववान्तरप्रकरणं विरुध्येतेति ॥

एतदभिप्रेत्याह—अभिक्रम इति । 'अभिक्रम' अभिक्रमणं 'प्रयाजस्य'  
प्रयाजमात्रस्य—'अङ्गम्' न कृत्स्नस्य दर्शपूर्णमासयागस्यति शेषः ॥ ६ ॥

(१०) ३।१।२१ इष्ट्याङ्गमुपवीतित्व

(१) पूर्वाधिकरणापवादः ।

(२) दर्शपूर्णमासप्रकरणे सप्तमाष्टकं सामिधेन्य उक्ता  
नवमे निविदं दशमे काम्या सामिधेनीकल्पा । एकादशे च यज्ञोपवीत  
माग्नातम्—'निवीतम्मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितॄणाम् उपवीतं देवानाम्,  
उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत् कुरुते' इति ।

(३) तत्र सन्देहः—किं सामिधेनीरेवानुब्रूवाण उपवीतं धारयेदुत सर्वमेव दर्शपूर्णमासप्रकरणोक्तमनुतिष्ठता उपवीतं धार्यम् इति । अर्थात् उपवीतं सामिधेनीमात्रस्याङ्गमुत प्राकरणिकसकलपदार्थानामिति ।

(४) पूर्वपक्षः—पूर्वाधिकरणन्यायेन सामिधेनीप्रकरणस्यात्रावान्तर-प्रकरणत्वात् तद्वबलात् सामिधेनीमात्रस्याङ्गमुपवीतमिति ।

(५) सिद्धान्तः—नैवात्र पूर्वाधिकरणन्यायावतारः । अत्र हि अग्न्य-ङ्गभूतनिवृत्तिप्रकरणेन सामिधेनीप्रकरणस्य विच्छेदात् । न चोपवीतसन्नि-हितदशमानुवाकोक्तकाम्यसामिधेन्यङ्गता उपवीतस्य सन्निध्यपेक्षया प्रक-रणस्य बलीयस्त्वात् प्राकरणिकसकलपदार्थाङ्गतैवोपवीतस्य न्याय्येति ।

एतदभिप्रेत्याह इष्ट्यङ्गमिति । ‘उपवीतिता’ उपवीतधारणम् ‘इष्टेः’ समस्तस्य दर्शपूर्णमासयागस्य ‘अङ्गम्’ न सामिधेनीमात्रस्येत्याशयः ॥१०॥

### (११) ३।१।२ वारणं यज्ञमात्राङ्गम्

(१) अष्टमाधिकरणापवादः ।

(२) आधानप्रकरणे दारुपात्रं यज्ञार्थं श्रूयते—‘तस्माद्धारणो यज्ञा-वचर’ इति ।

(३) तत्र सन्देहः—अत्रोक्तस्य वारणस्य पात्रस्य किं सर्वेषु यज्ञेषु दर्शपूर्णमासादिषु विनियोग उत प्राकरणिकाधानाङ्गभूतेषु पवमानहविः-ष्वेव तस्य निवेश इति ।

(४) पूर्वपक्षः—वारणपात्रं प्रकरणबलाद् आधाने अन्वेति—साक्षात् आधाने तु तस्य प्रयोजनाभावात् तदङ्गेषु पवमानहविःष्वेव तन्निविशते । एवमेव हि प्रकरणमनुगृहीतं भवति इति ।

(५) सिद्धान्तः—यथाऽग्निसंस्कारत्वेनाधानं विहितं तथैव पवमान-हवीष्यपि । अत आधानस्य पवमानहविषां च तुल्यमेवाग्निस्प्रति गुण-त्वम् । तथा च सति पवमानहविषामाधानस्य च परस्परमङ्गाङ्गिभावो न सम्भवति । एवं च प्रकरणस्य पात्रं प्रति विनियोजकत्वाभावात् ‘वारणो यज्ञावचर’ इति वाक्येन यज्ञसामान्यं प्रत्यङ्गत्वम्पात्रस्य । तथा च दर्शपूर्णमासादिसर्वयज्ञेषु वारणपात्रस्य विनियोग इति ।

एतदभिप्रेत्याह—वारणमिति । ‘वारणं’ वारणपात्रम् ‘यज्ञमात्रस्य’ यज्ञसामान्यस्य सर्वेषां यज्ञानामिति यावत् ‘अङ्गम्’ इति ॥ ११ ॥

### (१२) ३।१।२३ वार्त्रघ्न्यावाज्यभागयोः ।

(१) पूर्वाधिकरणापवादः ।

(२) दर्शपूर्णमासप्रकरणे श्रूयते—‘वार्त्रघ्नी पूर्णमासेऽनूच्येते’ । वार्त्र-

ध्नीयुगल च होत्रकारण्डे आज्यभागयो क्रमे-‘अग्निर्वृत्राणि जङ्घनत्’ इति  
‘त्व सोमासि सत्यति’ इत्येवरूपमनुवाकनाम्नातम् ॥

(३) तत्र सन्देह — वार्त्रध्नीयुगलस्य कि पूर्णमासे विनियोग उता  
ज्यभागयोरिति ।

(४) पूर्वपक्ष — ‘वार्त्रध्नी पूर्णमासेऽनूच्येते’ इति विधिवाक्येन स्पष्ट-  
मुक्त वार्त्रध्नीयो पूर्णमासाङ्गत्वम् । तच्च प्रमाणान्तराभावेऽवश्य स्वी-  
कार्यमिति ।

(५) सिद्धान्त — प्रयाजमन्त्रानुवाकस्यानन्तरमेवायमनुवाक पठित ।  
स च अङ्गयो — आज्यभागयो क्रम ; न तु मुख्यवार्त्रध्नीपूर्णमासयो । तस्माच्च  
मन्त्रयो मुख्ययागाङ्गत्व किन्तु आज्यभागाङ्गत्वम् । अपर च यद्यपि ‘अ-  
ग्निर्वृत्राणि जङ्घनत्’ इति वार्त्रध्नीगतायस्य अग्निलिङ्गकस्य मन्त्रस्य पूर्ण-  
मासे निवेश कथञ्चित् आग्नेयपुरोडाशद्वारा सम्भवति — तथापि द्विती-  
यस्य सोमलिङ्गकस्य मन्त्रस्य तत्र निवेशो नैव सम्भवति — पूर्णमासयागे  
सोमदेवताया अभ्यवादिति ॥

एतदभिप्रेत्याह — वार्त्रध्नीयविति । ‘वार्त्रध्नीयो’ वार्त्रध्नीमन्त्रयुगलम्  
‘आज्यभागयो’ अङ्गम् — न तु पूर्णमासस्येति शेष ॥ १२ ॥

(१३) ३।१।२४-२५ न मुष्टिर्वाग्यमार्थाऽथ

(१) क्रमेण विनियोगोऽङ्गानाम्प्रदर्शित । तदपवादोऽधुना प्रदर्श्यते ।

(२) ज्योतिष्टोमप्रकरणे श्रूयते-‘मुष्टी करोति-वाच यच्छ्रुति दीक्षित  
मावेदयि’ इति ।

(३) तत्र सन्देह — मुष्टीकरण कि वाग्यमस्याङ्गमुत सर्वस्य प्राक-  
रणिकस्य कर्मकलापस्येति ।

(४) पूर्वपक्ष — मुष्टीकरणवाडनियमनवाक्ययोर्नैरन्तर्येण पठितवात्  
क्रमप्रामाण्येन मुष्टीकरण वाडनियमनस्यैवाङ्गमिति ।

(५) सिद्धान्त — नैरन्तर्येऽपि वाक्ययो परस्परनैरपेक्ष्यात् न तदुक्त-  
योरङ्गाङ्गिभाव । स्वतन्त्रे एव एते वाक्ये स्वतन्त्रे एव कर्मणी मुष्टीकर-  
णवाडनियमनरूपे विदधत । अत एव मुष्टीकरणञ्च वाडनियमस्याङ्गमपि  
तु कृत्स्नस्य ज्योतिष्टोमीयकर्मकलापस्य । कृत्स्ने हि कर्मणि हस्तचापल  
निवारणेन, उपकरोति मुष्टीकरणमिति ।

एतदभिप्रेत्याह — न मुष्टिरिति । ‘मुष्टि’ मुष्टीकरण ‘वाग्यमार्था’  
वाडनियमनस्य अङ्गञ्च भवत्यपि तु समस्तस्य प्राकराण्यस्य कर्मकला-  
पस्येत्यर्थ ॥

भाष्ये तु ‘मुष्टीकरण वाग्यमश्च किं दीक्षितावेदनस्य ( तृतीयवाक्यो

कस्य ) अङ्गमुत कृत्स्नप्रकरणे तयोर्निवेश इत्येवम्प्रकारः सन्देहः प्रदर्शितः । विचारप्रकारश्चात्रापि पूर्वोक्त एव ॥ १३ ॥

(१४) ३।१।२६-२७ चतुर्धाऽऽग्नेय एव हि

(१) अङ्गानां क्रमद्वारा विनियोगो विचारितः । इदानीं किं तादृशो विनियोगः समस्तस्यैव भवत्युतांशतोऽपीति विचार्यते ।

(२) दर्शपूर्णमासप्रकरणे श्रूयते—‘आग्नेयं चतुर्धा करोति’ इति ।

(३) तत्र सन्देहः—अत्रोक्तं चतुर्धाकरणं किमाग्नेये एव निविशते—उत आग्नेये आग्नीषोमीये पेन्द्राग्ने च सर्वत्रेति ।

(४) पूर्वपक्षः—यथाऽऽग्नेयः पुरोडाशोऽग्निना सम्बद्धस्तथैवाग्नीषोमीयैन्द्राग्नयोरपीति आग्नेयपदेन त्रयाणामपि लक्षितत्वात् त्रिष्वपि चतुर्धाकरणस्य निवेश इति ।

(५) सिद्धान्तः—‘आग्नेय’ इति तद्धितो न सम्बन्धमात्रार्थं विहितः किन्तु देवतासम्बन्धे, न च केवलोऽग्निः आग्नीषोमीयस्य पेन्द्राग्नस्य वा देवता । ततश्च आग्नेयनाम्ना साक्षात् सम्बन्धः केवलाग्निदेवतस्यैव पुरोडाशस्य नेतरयोरिति न तेन नाम्ना सर्वेषामुपलक्षणम् । एवं च आग्नेये एव चतुर्धा करणन्नेतरयोरिति ।

एतदभिप्रेत्याह—चतुर्थेति । ‘चतुर्धा’ चतुर्धाकरणम् ‘आग्नेये एव’ पुरोडाशे नाग्नीषोमीयैन्द्राग्नयोरित्याशयः ॥ १४ ॥

पादे चतुर्दश न्याया भाष्यकारेण वर्णिताः ।

अस्याः कारिकायाः प्रामाण्येन भाष्ये प्रथमस्योपोद्धतिसूत्रस्याधिकरणत्वं न प्रामाणिकमित्यस्मिन् पादेऽधिकरणानां सङ्ख्या चतुर्दशैव न पञ्चदशेति ज्ञेयम् ॥

इति तृतीयस्य प्रथमः ॥

## अथ तृतीयस्य द्वितीयः ।

(१) ३।२।१-२ मन्त्रो न गौणे विनियोजनीयः

(१) लिङ्गप्रमाणेन मन्त्राणामङ्गत्वमिदानीं विचार्यते ।

(२) 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इति बर्हिर्लवनप्रकाशको मन्त्रो तत्प्रकाशनलिङ्गेन लवनक्रियायां विनियुज्यते । लवितव्यं च बर्हिर्द्विविधं भवति मुख्यं गौणं च । मुख्यं कुशकाशादिदशविधदर्भरूपम् गौणन्तु तत्सदृशं तृणान्तरम् ।

(३) तत्र सन्देहः —किमुख्यस्यैव बर्हिषः कुशादेर्लवने मन्त्रस्य विनियोग उत गौणस्यापि तृणान्तरस्य इति ।

(४) पूर्वपक्षः —मुख्यवद् गौणस्यापि शब्देनोच्यमानत्वं तुल्यम् । तथा च सति मुख्यवद् गौणेऽपि बर्हिषि लवनं प्राप्तं तत्र च लवनप्रकाशकमन्त्रस्यापि विनियोगो भवत्येवेति ।

(५) मुख्यस्य शीघ्रतरप्रतीतत्वेन तस्मिन् मन्त्रं विनियुज्य चरितार्थं लवनप्रकाशनसामर्थ्यरूपं लिङ्गं विलम्बितप्रतीततया गौणस्य प्रतीक्षां न करोति । तस्मात् मुख्यस्यैव बर्हिषो लवने मन्त्रो विनियोजनीयः ।

एतदभिप्रेत्याह—मन्त्र इति । 'मन्त्रो' 'गौणे' मन्त्रलिङ्गपरामृष्टेऽपि 'न विनियोजनीयः'—अपि तु मुख्ये एवेत्याशयः ॥ १ ॥

(२) ३।२।३-४ श्रुत्यैन्द्रमन्त्रोऽग्निगुणो यथार्थः ।

(१) पूर्वाधिकरणापवादः ।

(२) अग्निचयने 'निवेशनं सङ्गमनः' इत्यादि मन्त्रं श्रूयते—तस्य च 'ऐन्द्रो' इति समाख्यानम्—तस्योत्तरार्धे 'इन्द्रो नस्यौ' इति इन्द्रपदस्योपलम्भात् । एतद्वग्विषयं च ब्राह्मणवाक्यम्—'निवेशनं सङ्गमनो वसूनामित्यैन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इति । अत्र च मन्त्रप्रकाशनसामर्थ्यरूपेण लिङ्गेनास्य मन्त्रस्य इन्द्रदेवताकर्मणि विनियोगः सूच्यते—ब्राह्मणवाक्यस्यविधिना तु गार्हपत्योपस्थाने ।

(३) तत्र सन्देहः —किमैन्द्रया ऋच इन्द्रोपस्थाने विनियोग उत गार्हपत्योपस्थाने—इति ।

(४) पूर्वपक्षः—ब्राह्मणवाक्येन गार्हपत्योपस्थाने विनियुज्यमानो मन्त्रोऽर्थप्रकाशयन् इन्द्रपदस्य मुख्यतया वृत्त्या प्रसिद्धमेव स्वर्गाधिपतिं सहस्राक्षमिन्द्रं प्रकाशयति । गार्हपत्यं त्वग्निं 'इन्द्र'शब्दः स्वप्रकृतिम्-

तेन्दिदीप्तावितिधातोर्दीप्यर्थद्वारिकया गौण्यैव वृत्त्या प्रकाशयेत् । तथाच पूर्वोपधकरणन्यायेन मुख्यार्थस्यैव शीघ्रतरप्रतीत्या उपस्थितत्वात् तस्य च परित्यागे मानाभावात् इन्द्रोपस्थाने एव मन्त्रस्य विनियोग उचितः । ब्राह्मणवाक्येन च विसवाद् वारयितुं तत्रत्येन गार्हपत्यशब्देन गौण्या वृत्त्या इन्द्रः स्वर्णरूपस्य गृहस्य पतिरिति व्युत्पत्तिद्वारिकया-इन्द्रो लक्ष्यते-एवं चोभयत्रापि इन्द्रस्यैवोच्यमानत्वात् संवादो लभ्यते-इति ।

• (५) सिद्धान्तः-पूर्वपक्षप्रदर्शितरीत्या इन्द्रगार्हपत्यशब्दयोरन्यतरस्य गौणत्वेऽवश्यम्भाविनि सति ब्राह्मणवाक्यस्य विधायकत्वाद् विधौ च लक्षणायाः सत्यां गतौ अन्याय्यत्वात् प्राप्तानुवादरूपे मन्त्र एव इन्द्रशब्देन गार्हपत्योऽग्निलक्षणीयः । एवं च लक्षणाया गार्हपत्याग्निप्रकाशनसमर्थस्य ऐन्द्रीमन्त्रस्य ब्राह्मणवाक्यस्थसाक्षाच्छ्रुत्या गार्हपत्यस्याग्नेरेवोपस्थाने विनियोग इति ॥

एतदभिप्रेत्याह-श्रुत्येति । 'ऐन्द्रमन्त्रः'-निवेशनः सङ्गमनः इत्यादिः 'इन्द्रो न स्था'वित्यन्तः 'ऐन्द्र'नाम्ना समाख्यातो मन्त्रः-श्रुत्या-ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठत इति ब्राह्मणवाक्यरूपया-अग्निगुणः-अग्नेः गार्हपत्यस्यैव गुणः तदुपस्थाने विनियुज्यते । अयं च विनियोगो 'यथार्थ' एव मन्त्रगतस्येन्द्रपदस्य गौण्या वृत्त्याऽग्निरूपस्थार्थस्य लक्षितत्वात् इत्यर्थः । एवं च न कोपि विसंवादो मन्त्रब्राह्मणयोरित्याशयः ॥ २ ॥

(३) ३।२।५-९ हविष्कृदेहीति न हन्तिमन्त्रः ।

(१) मन्त्राणां मुख्यार्थानुसारेण विनियोग इति सामान्यतो न्यायोऽवधारितः । तस्यापवादश्चोक्तः । अत इदानीं कस्य मन्त्रस्य सामान्येन न्यायेन बहिर्न्यायेन विनियोगः कस्य चापवादन्यायेन ऐन्द्रीन्यायेनेति विचारः प्रस्तूयते ।

(२) दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते-हविष्कृदेहीति त्रिरवघ्नन्नाह्वयति इति । देवानामर्थे या हविः सम्पादयति सा 'हविष्कृत्' तामेनो सम्बोध्य-अध्वर्युः 'एहि' इति ब्रूते । तमिमं मन्त्रमुच्चार्याध्वर्युस्त्रिवोरमवघातं कुर्वन् आह्वयतीत्यर्थः ।

(३) तत्र सन्देहः-हविष्कृदेहीति मन्त्रस्य किमवघाते विनियोग उताह्वाने इति ।

(४) पूर्वपक्षः-उक्तवाक्येन मन्त्रस्यावघाते एव विनियोगः । अन्यथा आह्वानपत्त्वात् श्रूयमाणं 'अवघ्नन्' इति पदमनर्थकं स्यात् । एवं च मन्त्रगतम् 'एहि' इति पदं वाक्यगतं 'आह्वयति' इतिपदं चावघातपरतयैव गौणमिति स्वीकार्यम्-ऐन्द्रीन्यायेनेति ।

(५) सिद्धान्त — एहीति पद आह्वानमन्तरणं नोपपद्यते । लिङ्गेन चायम्मन्त्र आह्वाने विनियुज्यते नावघाते । न चावघ्नमिति पदस्य वैयर्थ्यम् तस्य काललक्षणत्वात् । तथा चैव वाक्यार्थं सम्पन्न — 'अवघा-  
तकाले यत् हविष्कृत आह्वानं तद् 'हविष्कृदेहीति' मन्त्रेण त्रि कर्तव्यम्'  
इति । अतः प्रथमाधिकरणन्यायन ( वर्हिर्न्यायेन ) मुख्ये एवाह्वाने मन्त्रस्य विनियोगः न तु गौणे अवघातरूपे आह्वाने । तस्मादाह्वानस्यैव शेषोऽयम्मन्त्र इति ।

तदेतदभिप्रेत्याह हविष्कृदिति । 'हविष्कृदेहि' इति मन्त्रो 'हन्तिमन्त्रो'  
अवघातशेषभूतो मन्त्रो 'न' शेषः ॥ ३ ॥

(४) ३।२।१० नोत्थातुमग्नीन् विहरेति मन्त्रः ।

(१) तृतीयाधिकरणन्यायस्यैव दृष्टान्तान्तरम् ।

(२) ज्योतिष्टोमे श्रूयते — 'उत्तिष्ठन्नवाह अग्नीदग्नीन् विहर' इति ।  
आग्नीध्रं सम्बोध्य अग्निविहरणप्रैषरूपो मन्त्रोऽनेन वाक्येन विनियुज्यते ।

(३) तत्र सन्देहः — अयम्मन्त्रः किमुत्थानशेषतया विनियुज्यते उता  
अग्निविहरणशेषतयेति ।

(४) पूर्वपक्षः — उत्थानशेषतयैवानेन वाक्येन मन्त्रोऽयं विनियुज्यते ।  
पूर्वाधिकरणेन 'अवघ्नन्' पदवदत्र 'उत्तिष्ठन्' पदस्य काललक्षणं याभावे  
ऽस्य वैयर्थ्यमेवान्यथा स्यादिति ।

(५) सिद्धान्तः — अग्निविहरणप्रैषे एवान्वितोऽयम्मन्त्रो नोत्थाने ।  
अतोऽन्वयात्तमर्थस्य विनियोगासम्भवात् अगत्या 'उत्तिष्ठन्' पदस्य  
लक्षणया कालत्रोचकत्वमेवाङ्गीकार्यमिति ।

एतदभिप्रेत्याह — नोत्थानमिति । 'अग्नीन् विहरेति मन्त्रः' 'न' 'उत्था-  
तु' — उत्थानाद्गतया विधीयते इति शेषः ॥ ४ ॥

(५) ३।२।११-१४ स्यात्सूक्तवाकेन यजिः प्रहारः

(१) पूर्वाधिकरणपवादः ।

(२) दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते — 'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' इति । 'इदं  
द्यावापृथिवी भद्रमभूत्' इत्यादिको मन्त्रः 'सूक्तवाकः' — 'प्रस्तरं' दर्भमुष्टि  
तस्य 'प्रहरणम्' प्रक्षेपः अग्नी — 'त्वं सूक्तवागसि' इत्यग्निं सम्बोध्य  
तन्मन्त्रे आम्नात्वात् ।

(३) तत्र सन्देहः — किं सूक्तवाकं प्रस्तरप्रहरणाङ्गम् प्रत्यङ्गस्तथोप  
दिश्यते उतकाललक्षणैवेयमिति ।

(४) पूर्वपक्षः — अत्र 'सूक्तवाकेन' इतिपदं कालं लक्षयति — होत्रा  
मन्त्रेऽस्मिन् पठ्यमाने तत्पाठकालेऽध्वर्युः प्रस्तरम्प्रहरेदित्यर्थः । न च



प्रस्तरप्रहरणं प्रत्यस्य मन्त्रस्याङ्गता सम्भवति—पूर्वाधिकरणन्यायेन तादृ-  
शान्वयासम्भवात् इति ।

(५) सिद्धान्तः—‘सूक्तवाकेन’ इति तृतीयोश्रुत्या प्रस्तरप्रहरण एव  
मन्त्रोऽयं विनियुज्यते । न चान्वयासम्भवः । मन्त्रो ह्ययं पूर्वमिष्टान्  
अग्न्यादीन् देवान् स्मारयति तद्देवताद्वारा चास्य मन्त्रस्य प्रस्तरप्रहरणे-  
नान्वयः । देवताकल्पनेन च तदुद्देशपूर्वकस्य प्रस्तरप्रहरणस्य ( दर्भमुष्टि-  
प्रक्षेपस्य ) यागत्वं सिध्यति । एव चान्वये सिद्धेऽग्न्यादिदेवताप्रकाश-  
कस्य मन्त्रस्य सूक्तवाकस्य तृतीयाश्रुत्या प्रस्तरप्रहरणाङ्गतैव सिध्यतीति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—स्यादिति । “सूक्तवाकेन” सूक्तवाकमन्त्रद्वारा  
‘प्रहारः’ प्रस्तरप्रहरणरूपो ‘यजिः’ यागः ‘स्यात्’ । प्रस्तरप्रहरणरूपस्य  
यागस्यैवाङ्गं सूक्तवाकमन्त्र इत्यर्थः ॥ ५ ॥

(६) ३।२।१५-१८ सूक्ताभिधानाद् बहवोऽत्र मन्त्राः ।

(१) सूक्तवाकस्याङ्गत्वविषये विचारविशेषः ।

(२) ‘इदं द्यावापृथिवी भद्रममृतं’ इत्यादिको मन्त्रः ‘सूक्तवाक’नो-  
म्ना प्रसिद्धः । समाप्तायंते च दर्शपूर्णमासप्रकरणे ‘सूक्तवाकेन प्रस्तर-  
प्रहरति’ इति । अनेन च सूक्तवाकस्य प्रस्तरप्रहरणाङ्गता विधीयत इति  
निर्धारितम्पूर्वाधिकरणे ।

(३) तत्र सन्देहः—किं कृत्स्नस्य सूक्तवाकमन्त्रस्य प्रस्तरप्रहरणे विनि-  
योग उत विभज्यं खण्डश इति ।

(४) पूर्वपक्षः—कृत्स्नमन्त्रविषये हि याज्ञिकाः ‘सूक्तवाक’ इत्यभिधा-  
नम्प्रयुज्यते । तस्मात् समाख्याप्रामाण्येन कृत्स्नस्यैव सूक्तवाकस्य प्रस्त-  
रप्रहरणे विनियोग इति ।

(५) सिद्धान्तः—सूक्तवाकमन्त्रे अनेके भागा उपलभ्यन्ते । कस्मिंश्चिद्  
भागे पूर्णमासदेवतायाः प्रकाशनम्—यथा ‘अग्नीषोमाविदं हविरजुषेताम्’  
इति । भागान्तरे तु दर्शदेवताप्रकाशनम्—यथा ‘इन्द्राग्नी इदं हविरजुषे-  
ताम्’ इति, ‘इन्द्र इदं हविरजुषत’ इति ‘महेन्द्र इदं हविरजुषत’ इति च ।  
एवं च देवताप्रकाशनरूपेण लिङ्गेन तत्तद्भागमात्रेण सूक्तवाकमन्त्रस्त-  
त्तत्कर्मकाले व्यवस्थाप्यते । लिङ्गेन च पूर्वोक्तायाः समाख्याया वाधः ।  
तथा च सति भागश एव सूक्तवाकस्य विनियोगः कर्मविशेषगतप्रस्तर-  
प्रहरणविशेषे ॥ अपरं च—सूक्तवाकशब्दस्य व्युत्पत्तिरेवं वार्यते—सूक्त  
वक्ति—यागकाले तत्तन्मन्त्रेण सम्यगुक्तं देवं प्रकाशयतीत्यर्थः । एवमप्यस्य  
विभज्यैव विनियोगः सिध्यतीति । इदमेव च ब्राह्मणवाक्येनापि स्पष्ट-  
मभिहितम्—‘अग्निरिदं हविरजुषतेत्याह’ इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह सूक्ताभिधानादिति । 'सूक्ताभिधानान्' सूक्तवाक्यानां स्तोत्रोत्पत्तिवलात्—'अत्र' सूक्तवाक्ये 'वहव' अनेके 'मन्त्रा' । भागशी विभज्य विनियोग इत्योशय । न तु कृत्स्नस्य प्रयोग इत्यर्थ ॥ ६ ॥

(७) ३।२।१९ काम्ये समाख्यानबलेन याज्या

(१) अङ्गत्वविचारो वर्तते ।

(२) 'ऐन्द्राग्नेमेकादशकपाल निर्वपेत् यस्य सजाता गीयु' इत्यादिना काश्चित् काम्या इष्टय समाम्नाता काम्येष्टिकाण्डे । मन्त्रकाण्डे च 'इन्द्राग्नी रोचनादिव' इत्यादिका ऋच याज्यानुवाक्यानाम्ना समाम्नाता ।

(३) तत्र सन्देह —यावन्ति इन्द्राग्निदेवतामानि कर्माणि तेषु सर्वेषु याज्यानुवाक्यामन्त्रयोर्विनियोग —उत केवल काम्यायामेवेष्टाप्रिति ।

(४) पूर्वपक्ष —मन्त्रलिङ्ग इन्द्राग्निरूप देवतायुगल प्रकाशयति । तद्बलेन च यत्र यत्र इन्द्राग्नी देवतात्वेन विहिते तत्र सर्वत्र याज्यामन्त्रस्य विनियोग । समाख्याबलाद् यद्यपि काम्यायामेवेष्टौ विनियोग प्राप्नोति तथाऽपि बलवत्तरेण लिङ्गेन समाख्याया बाध इति ।

(५) सिद्धान्त —नात्र लिङ्गेन क्रमसमाख्ये बाधितुं शक्यते उपजीव्यत्वात् । इन्द्राग्निदेवतास्यरूपमात्रप्रकाशनं लिङ्गम् । न च तावन्मात्रेण मन्त्रकर्मणोरङ्गाङ्गिभाव । भवति तु मन्त्रस्य 'काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्डम्' इति समाख्या याज्ञिकेषु प्रसिद्धा । एतया च समाख्यया काम्येष्टिकाण्डस्य याज्याकाण्डस्य च सम्बन्धावगतौ सिद्धाया काम्येष्टीनां याज्यामन्त्राणां च सामान्यतः सम्बन्धः सिद्धो भवति । विशेषतस्तु सम्बन्धः 'प्रथमायामिष्टौ प्रथमो मन्त्रो विनियुज्यते' इति क्रमबलाङ्गभ्यते । एवञ्च क्रमसमाख्याबलेन काम्येष्टिष्वेव याज्या नियम्यन्ते इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—काम्य' इति । 'समाख्याबलेन' काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्डमित्येवरूपाया समाख्याया बलेन—'याज्या' मन्त्रविशेषा—'काम्ये कर्मणि' काम्येष्टावेव—'विनियुज्यन्ते' इति शेषः ॥ ७ ॥

(८) ३।२।२०-२३ आग्नेयमन्त्र प्रकृतेः प्रयाज्यः ।

(१) प्रकरणप्रमाणकाङ्गत्वविचारविशेषो वर्तते ।

(२) ज्योतिष्टोमे श्रयते—'आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते' इति । अग्नेन आग्नेय्या ऋच आग्नीध्रनामकस्य मण्डपस्य विधानं विधीयते ।

(३) तत्र सन्देह —आग्नीध्रस्य उपस्थाने या काचिद् यत्र कुत्रचिद्दुपलब्धा अग्निस्मन्निधनी ऋक् प्रयोक्तव्या उत प्रकरणगता एवाग्निस्मन्निधनी ऋक् इति ।

(४) पूर्वपक्षः —अग्निदेवता यस्या ऋचः सा आग्नेयी—इति आग्नेयी-

समाख्याबलेन या काचिदग्निदेवताका ऋक् सा सर्वा विनियुज्यते इति ।

(५) सिद्धान्तः—ऋतुविशेषप्रकरणपठितानामेव ऋचां तत्कृतुप्रयुक्त-  
व्यापारसाधनत्वं प्रकरणादवगम्यते । स च व्यापारविशेषः ‘आग्नेय्या-  
ऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठत’ इति विधिवाक्येन समर्प्यते । एवं चैतद्विधिगता आग्ने-  
यीति समाख्या प्रकरणगतेष्वेव ऋग्विशेषेषु विनिविशते । तस्मात् प्रकृ-  
ताभिरेव ऋग्भिराग्नीध्रोपस्थानमिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह आग्नेयमन्त्र इति । ‘आग्नेयमन्त्रः’ अग्निदेवताप्रका-  
शिका ऋक्—‘प्रकृते’ यस्मिन् प्रकरणे कर्मविशेषः पठितस्तत्प्रकरणगत  
एव कर्मणि—‘प्रयोज्यः’ विनियोक्तव्यः न त्वप्राकृतस्तद्देवताप्रकाशको-  
ऽपीति भावः ॥ ८ ॥

(९) ३।२।२४-२५ सध्यासमन्त्रो ग्रहणस्य मन्त्रः

(१) अङ्गत्वव्यवस्थायां लिङ्गेन समाख्याया बाधः प्रदर्श्यते ।

(२) ज्योतिष्टोमे हुतस्य सोमस्य शेषभक्षण विहितम्—‘अभिषुत्याहवनीये  
हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि सोमं भक्षयन्तीति’ । भक्षणे मन्त्रश्च ‘भक्षेहि’  
इत्याद्यनुवाके विहितः । ‘स चानुवाको भक्षानुवाकसमाख्यया प्रसिद्धः ।

(३) तत्र सन्देहः—अयस्मन्त्रानुवाकः किं कृत्स्नो भक्षणमात्रे विनियु-  
ज्यते—उत यथालिङ्गं विभज्य ग्रहणादिषु चतुर्षु व्यापारेष्विति ।

(४) पूर्वपक्षः—भक्षणं यथा साक्षाच्चोदितं न तथा ग्रहणादीनि । न चा-  
चोदिनेषु कर्मसु मन्त्रो विनियोगमर्हति । भक्षानुवाक इति समाख्या चानु-  
वाकं भक्षणमात्रे व्यवस्थापयति । तस्मात् कृत्स्नस्यानुवाकस्य भक्षण एव  
विनियोग इति ।

(५) सिद्धान्तः—अविहितान्यपि ग्रहणादीनि अर्थाक्षिप्तानि—तानि  
विना भक्षणस्यासम्भवात् । अतो ग्रहणादिषु चतुर्ष्वेव यथालिङ्गं खण्डशो  
विभज्य विनियोक्तव्यो मन्त्रः । एवं च—‘भक्षेहि मा विश दीर्घायुत्वाय रायस्पो-  
षाय वचसे सुप्रजास्त्वाय एहि वसो पुरोवसो प्रियो मे हृदोऽस्याश्विनो-  
स्त्वा बाहुभ्यां सध्यासम्’ इत्यंशो ग्रहणप्रकाशकत्वाद् ग्रहणे विनियुज्यते—  
‘नृचक्षसं त्वा देव सोम सुचक्षा अवख्येषम्’ इत्ययं भागोऽवेक्षणप्रकाश-  
कत्वादवेक्षणे विनियुज्यते—‘हिन्वमे गात्रा हरिवो गणान्मे मा वितीतृषः  
शिवो मे सप्तर्षीनुपतिष्ठस्व मा मेऽवाङ्नाभिमतिगाः’ इत्यन्तो भागः सम्य-  
ग्जरणप्रकाशकत्वात् सम्यग्जरणे विनियुज्यते—‘मन्द्राभिभूतिः केतुर्यज्ञानां  
वाग्नुषाणाम् सोमस्य तृप्यतु वसुमद्वरणस्य सोमदेवते मतिविदः प्रातः सव-  
नस्य गायत्रच्छन्दसोऽग्निहुत इन्द्रपीतस्य मधुमत उपहृतस्योपहृतो भक्ष-  
यामि’ इत्ययं भागो भक्षणप्रकाशकत्वाद् भक्षणे विनियुज्यते ॥ इति ॥

एतदेवाभिप्रेत्याह—सध्यासमन्त्र इति । 'सध्यासमन्त्र' सध्यासमित्यन्तो मन्त्रभाग —'ग्रहणस्य' सोमस्य ग्रहणे एव—'मन्त्र' विनियोक्तव्य इति शेष । न तु समस्तस्यानुवाकस्य भक्षणमात्रे विनियोग इत्याशय ॥६॥

(१०) ३।२।२६ मन्द्रादिरेकः खलु भक्षमन्त्रः ।

(१) पूर्वाधिकरणपवाद ।

(२) भक्षानुवाकस्यान्त्यो मन्त्र 'मन्त्राभिभूति' केतुर्यज्ञाना वाग्जुषाणा सोमस्य तृप्यतु वसुमद्रणस्य सोमदेवते मतिप्रिद् प्रात सपनस्य गायत्रच्छन्दसोऽग्निहुत इन्द्रपीतस्य मधुमत उपहृतस्योपहृतो भक्षयामीति' पूर्वाधिकरणन्यायेन भक्षणे विनियुज्यते ।

(३) तत्र सन्देह —किं समस्त एवायममन्त्रो भक्षण एव विनियुज्यते उत यथालिङ्ग खण्डशो विभज्येति ।

(४) पूर्वपक्ष —पूर्वाधिकरणन्यायेन यथालिङ्ग विभज्य खण्डश एवास्य विनियोग । तथाहि 'मन्त्राभिभूति'रित्यागम्य 'तृप्यत्व'ित्यन्तो भागस्तृप्ति प्रकाशकत्वात् तृप्ती विनियुज्यते 'वसुमद्रणस्येत्यारम्य 'भक्षयामी'त्यन्तश्च भक्षणप्रकाशकत्वाद् भक्षण इति ।

(५) सिद्धान्त — न खलु तृप्तिर्भक्षणादन्येन व्यापारेण जन्यते —भक्षणादनुनिष्पादन्यैव हि सा । एव च नास्ति कोऽपि कर्तृव्यापारो यस्मिन् तृप्तिप्रकाशको मन्त्रभागो विनियुज्येत । तथा च लिङ्गेन विनियोगासम्भवात् तृप्तिप्रकाशको मन्त्रभागो भक्षणप्रकाशकभागस्येव शेष । एवं च तृप्तिसहितभक्षणप्रकाशिनद्वारा पुरुषोत्साहजनने भ्रष्टत्येवोपयोगस्तादृशस्य शेषभूतस्य भागस्य । तस्मात् समस्तो मन्त्रो भक्षण एव विनियुज्यते—इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह मन्द्रादिरिति । 'मन्द्रादि' मन्द्राभिभूतिरित्यारम्य भक्षयामीत्यन्तो मन्त्र —'एक' समस्त —'भक्षमन्त्र' भक्षणमात्रविनियोज्यो मन्त्र —'खलु' निश्चयेन—नैवास्य खण्डशो विभज्य विनियोग इति ॥१०॥

(११) ३।२।२७।२८ ऐन्द्रेषु सोमेषु तु भक्षमन्त्रो

(१) उक्तस्यैव मन्त्रस्य विनियोगविशेषश्चिन्त्यते ।

(२) उक्तस्यैव भक्षमन्त्रस्य कश्चिदश 'इन्द्रपीतस्येति' उपलभ्यते । ज्योतिष्टोमे च बह्व्य आहुतयो भवन्ति—इन्द्रदेवतोका अनैन्द्रदेवताकाश्च । तासां आहुतीनां शेषभक्षणान्यपि भवन्ति ।

(३) तत्र सन्देहः—किमयममन्त्राश इन्द्राहुतिमात्रस्य शेषभक्षणे विनियुज्यते—इतरासां आहुतीनां शेषभक्षणममन्त्रकमुत ऐन्द्राणामनैन्द्राणां सर्वासामाहुतीनां शेषभक्षणेऽस्य यथावद् विनियोगः—अथवा ऐन्द्राणां

तिशेषभक्षणे इन्द्रपीतस्येति मन्त्रः इतराहुतिशेषभक्षणेषु तत्तद्देवतानामोह-  
पूर्वको मित्रावरुणपीतस्येत्येवंरूपो विनियुज्यते । एव त्रयोऽत्र पक्षः ।

(४) तत्र पूर्वपक्षः—अनैन्द्रयाहुतिविशेषभक्षणममन्त्रकमेव कार्यम् ।  
इन्द्रेण पीतस्य सोमस्य शेषं भक्षयामि इति स्पष्टो मन्त्रार्थः प्रतीयते ।  
एवं च इन्द्रप्रदानशेषभक्षणे एवास्य मन्त्रस्य विनियोगः न मैत्रावरुणा-  
दिशेषभक्षणे इति—एकः पूर्वपक्षः ॥

(५) सिद्धान्तः—सर्वेषां समन्त्रकमेव भक्षणम् । इन्द्रप्रदानशेषस्य  
भक्षणे 'इन्द्रपीतस्येति' यथाश्रुतस्य मन्त्रस्य विनियोगः । इतरदेवताप्रदान-  
शेषभक्षणेषु तु सोमस्य मन्त्रस्य—तद्यथा 'मित्रावरुणाहुतिशेषभक्षणे मित्रा-  
वरुणपीतस्येति'—एवं सर्वत्रेति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—एन्द्रेष्विति । 'एन्द्रेषु' इन्द्रदेवताकाहुतिशेषभूतेषु-  
'सोमेषु' सोमभक्षणेषु—'भक्षमन्त्रः' इन्द्रपीतस्येत्वरूपो यथाश्रुतो विनि-  
युज्यते—इति शेषः । इतरदेवताकाहुतिशेषसोमभक्षणेषु तु देवतानामोहस-  
हित एवेत्याशयः ।

[ एवं सिद्धान्तस्वरूपम् 'अपर्यवसितम्'—अवशिष्यते चात्र चिन्तान्त-  
रम् यद् भाष्यकारेण पादावसाने सूत्रषट्केन कृतम् । तदनुसारेण च  
सिद्धान्तस्य पर्यवसितं स्वरूपमत्रापि पादान्त एवोपनिर्वाधिकरणरूपेण  
वर्णितम्मण्डनाचार्येणेति तत्रैव मृग्यम् ।

एतत्सम्बन्धेन च न्यायमालायां अष्टत्रिंशसूत्रात्मकसप्तदशाधिकरणं  
यदुपन्यस्तन्तत्र धृतम्मण्डनाचार्येण । अतोऽत्राप्युपेक्षितम् । न्यायमा-  
लायां च एकादशाधिकरणसिद्धान्तं सप्तदशाधिकरणपूर्वपक्षत्वेनोपन्यस्य  
अनैन्द्राणां विकृतिवासम्भवान्नास्ति तेषूहस्तस्माच्चामन्त्रकमेव तद्भक्षण-  
मिति सिद्धान्तितम् ] ॥ ११ ॥

(१२) ३।२।२९-३१ ऽन्यत्रापि चोहेत् पुनरुन्नतेषु ।

(१) पूर्वाधिकरणे योऽयमूहरूपोऽवान्तरोऽपर्यवसितः सिद्धान्त उक्तः  
तत्प्रसङ्गादधिकरणपञ्चकेनोहविषयश्चिन्त्यते—कीदृशीस्ववस्थास्वीदृश ऊहः  
समुचितो भवेदिति ।

मैत्रावरुणब्राह्मणच्छंसि—पोत्रादय ऋत्विजो 'होत्रका' इति नाम्ना  
प्रसिद्धाः । तेषां होत्रकाणां सन्ति चमसाः (सोमरसपूर्णाः पात्रविशेषाः)  
तैर्वषट्कारानुवषट्कारयोर्होतव्यम् । चमसानामैन्द्रत्वात् होतुर्वषट्कारे  
प्रथममिन्द्रो हुतः । अनन्तरं हुतशेषसहिते एव चमसे सोमान्तरमभ्युन्नीय  
होत्रका अनुवषट्कारे देवतान्त्रेभ्यो जुह्वति । एतदाहुत्यनन्तरं च हुतशेषः

सोमो भक्ष्यते भक्षमन्त्रेण 'भक्षेहि' इत्यादिना 'इन्द्रपीतस्य मधुमत उप-  
हृतस्योपहृतो भक्षयामि' इत्यन्तेन ।

(३) तत्र सन्देह —मैत्रावरुणाहुतिशेषभक्षणकाले किं 'इन्द्रपीतस्ये'-  
त्यस्य स्थाने 'मित्रावरुणपीतस्येत्यूहनीयम्-उत' इन्द्रमित्रावरुणपीतस्येति ।

(४) पूर्वपक्ष —मैत्रावरुणाहुतिशेषे इन्द्रसम्बन्धस्याभावादिन्द्रो नोप-  
लक्षणीयो न च मन्त्रे इन्द्रपदोह कर्तव्य ।

(५) सिद्धान्त —यस्मिन् काले चमसे मैत्रावरुणाद्याहुत्यर्थं सोमः-  
रसोऽभ्युन्नीयते तस्मिन् काले तत्रैन्द्राहुतिशेषस्य सत्त्वात् य शेषः मित्रा-  
वरुणादिसम्बद्धः, स इन्द्रेणापि सम्बद्ध एव भवति । तथा च सति मित्रा-  
वरुणादिभि सह इन्द्राऽप्युपलक्षणीय । एव च 'इन्द्रमित्रावरुणपीतस्य'  
इत्येवरूप एवोह स्यादिति ।

एतदेवामिप्रेत्याह—अन्यत्रेति । 'अन्यत्र' स्वतन्त्रमैत्रावरुणादिरूपाद्  
भिन्ने ऐन्द्राहुतिशेषसहिते—'अपि' —'पुनरुन्नतेषु' पुनरभ्युन्नीतसामरसा-  
हुतिशेषभक्षणेषु—'च'—'ऊहेत्'—इन्द्रादसहितमेव मित्रावरुणशब्द  
मिति शेष ॥ १२ ॥

(१३) ३।१।३२-३३ पात्नीवते तु प्रवदेन्न पूर्वाम्

(१) पूर्वाधिकरणपाद ।

(२) ऐन्द्रवायवादयो द्विदेवत्या ग्रहा । तेषां शेष आदित्यस्थालीमा-  
गच्छति-पुनरपि तस्या स्थाल्या आग्रयणस्थालीमागच्छति तस्या आग्र-  
यणस्थाल्याः पात्नीवताहुत्यर्थं सोमो गृह्यते तस्य पात्नीवतस्य शेषभक्षणे  
भक्षमन्त्र प्रयुज्यते ।

(३) तत्र सन्देह —पात्नीवतशेषभक्षणे मन्त्रे इन्द्राद्या अपि देवता उप-  
लक्षणीया उत इन्द्राद्या विहाय केवल पात्नीवदेवतैवेति ।

(४) पूर्वपक्ष —इन्द्राद्या अप्युपलक्षणीया पूर्वाधिकरणन्यायेनेति ।

(५) सिद्धान्त —नात्र पूर्वाधिकरणन्यायावतार । 'पात्नीवतमाग्रय-  
णाद् गृह्णाति' इति वाक्ये आग्रयणपात्रस्यापादानस्य श्रवणात्, तस्मा-  
न्निस्सारितस्य सोमरसस्य तत्सम्बन्धेऽपेते तदनेन्तर तस्माद् ग्रहात्  
पात्नीवदेवताहुत्यर्थं सोमरसग्रहण भवति । तथा सति पात्नीवतशेषे  
इन्द्राद्यानां पूर्वदेवतानां सम्बन्धो नास्ति । पुनरभ्युन्नीतस्तु सोमः पूर्वेण  
ऐन्द्रशेषेण ससृष्ट एव वर्तते—एवं ससृष्टस्य च तस्य मित्रावरुणादीना-  
मिव इन्द्रस्यापि सम्बन्धो नापैति इति पूर्वाधिकरणतो वैप्रम्यम् । तस्मात्  
पात्नीवतशेषभक्षणे इन्द्रवायवादयो नोपलक्षणीया इति ।

एतदेवामिप्रेत्याह—पात्नीवत इति । 'पात्नीवते' पात्नीवतशेषभक्षणे—

‘पूर्वाम्’ देवताम् इन्द्रादिरूपाम्—‘न प्रवदेत्’ मन्त्रे नोपलक्षयेत् । केवलं ‘पालीवतपीतस्येत्येतावन्मात्रमूहेदित्याशयः ॥ १३ ॥

(१४) ३।२।३४-३५ त्वष्टा न पालीवतदेवता स्यात् ।

(१) पूर्वाधिकरणापवादः ।

(२) पालीवतहोममन्त्रे श्रूयते—‘अग्ना ३ इ पत्नीवन्त्सजूर्देवेन त्वष्टा सोमं पिव स्वाहा’ इति ।

(३) तत्र सन्देहः—पालीवतशेषभक्षणो भक्षमन्त्रे मन्त्रोक्तस्त्वष्टाऽप्युपलक्षणीयो न वेति ।

(४) पूर्वपक्षः—उक्ते होममन्त्रे पत्नीवत इव त्वष्टुरपि सोमपातृत्वमभिहितम् । तदनु च शेषभक्षणमन्त्रे ‘पत्नीवत्त्वष्टृपीतस्येत्येवंरूप ऊहः कर्तव्यः’ इति ।

(५) सिद्धान्तः—उक्तेन मन्त्रेण पानकाले इन्द्रेण सहावस्थानमात्रं त्वष्टुरुच्यते न तु पातृत्वमपि । नत्र त्वष्टा सम्बोध्यते । असम्बोधितस्य च पातृत्वं न सम्भवति । न च पातृसहावस्थानमात्रेण त्वष्टुः पातृत्वम् । न च पालीवतग्रेहस्य त्वष्टा देवता—‘पालीवतमाग्रयणाद् गृह्णाती’त्यनेन पत्नीवत एव केवेलस्य देवतात्वस्योक्तत्वात् । तस्माददेवतात्वान्न भवति त्वष्टा उपलक्षणीयो भक्षमन्त्र इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—त्वष्टेति । ‘त्वष्टा’—‘पालीवतदेवता’—पालीवतहोमस्य देवता—‘न स्यात्’ । तथाच न तन्नामोहो भक्षमन्त्रे—इति तात्पर्यम् ॥ १४ ॥

(१५) ३।२।३६ नैव त्रयस्त्रिंशदिहोपलक्ष्याः

(१) अपवादान्तरम् ।

(२) उक्तस्यैव ‘पालीवतस्य’ याज्यायामग्निं सम्बोध्याभिधीयते—‘पत्नीवन्नामधारिणस्त्रयस्त्रिंशदेवान्मादय’ इति ।

(३) तत्र सन्देहः—पालीवतशेषभक्षणमन्त्रे त्रयस्त्रिंशतामपि भवत्युपलक्षणं वेति ।

(४) पूर्वपक्षः—उक्तयाज्यायां हूयमानेन सोमरसेन मादनीयत्वेनोक्तत्वात् त्रयस्त्रिंशतामपि तद्धोमदेवतात्वमस्येव । अतस्तेऽपि भक्षमन्त्रे लक्षणीया भवन्ति इति ।

(५) सिद्धान्तः—यजमानेन मादनीयोऽग्निरेव केवलम् । त्रयस्त्रिंशदेवास्तु अग्निना मादनीयत्वेनोक्ता न यजमानेन । अतो नात्र त्रयस्त्रिंशतां देवतात्वम् । तस्माच्च नोपलक्षणमपीति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—नैवेति । 'इह' पालीवतशेषभक्षणं—'त्रयस्त्रिंशत्'  
देवा 'नैव उपलब्धा' । भक्षमन्त्रे तन्नामोहो न कार्य इत्यर्थः ॥ १५ ॥

(१६) ३।२।३७ सा नोपलक्ष्या तु वषट्कृतेज्या ।

(१) पूर्वाधिकरणपवादः ।

(२) 'सोमस्याग्ने वीहीत्यनुवषट्करोती'ति श्रूयते ।

(३) तत्र सन्देह—एतदनुवषट्कारसम्प्रतिनि भक्षेऽग्निरपि लक्षणीयो भवति न वेति ।

(४) पूर्वपक्ष—अत्राग्नेर्भवति स्पष्टमेव मान्त्रवर्गिक देवतात्वम्—मन्त्रे हि अग्नि सम्बोध्य सोमपातृत्वंस्याभिहितत्वादिति ।

(५) सिद्धान्त—प्रकृतिभूतस्य इन्द्रचमसस्य ग्रहणेऽग्नेरनुहिष्टं वात् तद्ग्रहणेऽग्निरनुवषट्कारदेवो नोपलक्षितः । इन्द्र एवोहिष्टत्वादुपलक्षितः । तस्मात् विकृतिभूतेष्वितरेष्वपि चमसेषु उद्देश्यदेवानामेवोपलक्षणम्, नानुहिष्टस्याग्नेरिति न भवत्यग्निरुपलक्षणीयोऽनुवषट्कारविषये इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—सा नेति । 'सा' प्रसिद्धा—'उपट्कृतेज्या' अनुवषट्कारदेवता अग्निरूपा—'न उपलब्धा' भक्षमन्त्रे—इति शेषः ॥ १६ ॥

[ ३८ सूत्रमेकादशाधिकरण एव विचारितम् ]

(१७) ३।२।३९-४० नेन्द्राग्निपीतो भवतीन्द्रपीतः ।

(१) भक्षमन्त्रोहविचारो वर्तते ।

(२) 'ऐन्द्राग्निं गृह्णातीति' सोमभक्षणं विहितम् ।

(३) तत्र सन्देह—इदमैन्द्राग्निभक्षणं समन्त्रकमुतामन्त्रकमिति ।

(४) पूर्वपक्ष—इन्द्राग्निभ्याम्पीतः सोमो भवत्येव इन्द्रेणापि पीतः—अतोऽत्रापि भवत्येव 'इन्द्रपीतस्येति' मन्त्रस्य विनियोग इति ।

(५) सिद्धान्त—देवतानामविग्रहत्वात् पानासम्भवेन इन्द्रपीतस्येत्यस्यार्थः 'इन्द्राय दत्ता' इत्येव स्वीकार्यः । ऐन्द्राग्नाहुतिस्तु न भवतीन्द्राय दत्ता, दत्ता भवति तस्मात् इन्द्राग्निभ्याम् । अतो मन्त्रो मिश्रदेवताविषयो न भवति, तथा चैन्द्राग्नस्यामन्त्रकमेव भक्षणमिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—नेन्द्राग्नीति । 'इन्द्राग्निपीतः' इन्द्राग्निभ्याम् पीतः—'न भवति' 'इन्द्रपीतः' । तस्माच्च न विनियोग इन्द्रपीतस्येति मन्त्रस्यैन्द्राग्निभक्षणे इत्याशयः ॥ १७ ॥

(१८) ३।२।४१-४३ छन्दोन्तरेऽप्यस्ति च भक्षमन्त्रः

(१) भक्षमन्त्रविचारो वर्तते ।

(२) उक्त एव भक्षमन्त्रे श्रूयते—'गायत्र्युन्दस इन्द्रपीतस्येति' ।



(३) तत्र सन्देहः—किं गायत्रच्छन्दोमात्रयुक्ते ऐन्द्रे सोमे भक्षमन्त्रः उत छन्दोन्तरयुक्तेऽपीति ।

(४) पूर्वपक्षः—मन्त्रे यत् 'गायत्रच्छन्दस' इति पदं श्रूयते तत्र 'गायत्रमेव छन्दो यस्य' इत्येवंरूपस्यैव समासस्याभिधानात् 'गायत्रच्छन्दोमात्रयुक्ते ऐन्द्रे सोमे भक्षमन्त्रो नान्यत्रेति ।

(५) सिद्धान्तः—गायत्रादिनानाच्छन्दोयुक्तेऽपि घटत एव गायत्र-च्छन्दस इति बहुव्रीहिसमासस्य प्रयोगः । गायत्रं छन्दो यस्येत्येवं विग्रहात् । गायत्रैकच्छन्दकस्तु सोमः कोऽपि नास्ति । तस्माद् गायत्रादिनानाच्छन्दस्केऽपि ऐन्द्रभक्षणेऽस्त्येवोक्तमन्त्रप्रयोग इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—छन्दोन्तरेऽपीति । 'छन्दोऽन्तरेपि' गायत्रातिरिक्तच्छन्दस्केऽपि भक्षणे—'भक्षमन्त्रः' गायत्रच्छन्दस इन्द्रपीतस्येत्येवंरूपः—'अस्ति' विनियुज्यते ॥ १८ ॥

(१९) ३।२।२७-४३ स्यादिन्द्रपीतं सवनन्न सोमः ।

एकादशाधिकरणमारभ्य पादान्तपर्यन्तं यो भक्षमन्त्रोहविचारः कृतस्तस्य सर्वस्य पर्यवसितः सिद्धान्तोऽत्र निरूप्यते ।

सर्वेषां भक्षणं समन्त्रकेमेव—यथाश्रुतस्यैव च इन्द्रपीतस्येत्येवंरूपस्यैव मन्त्रस्य सर्वत्र विनियोगो न सोहस्य । इन्द्रपीतशब्दस्य नायमर्थः 'इन्द्रेण पीत' इति—किन्तु हि 'इन्द्रेण पीतः' ( सोमो ) यस्मिन्नित्येव । तथा इन्द्रपीतशब्देन समस्तः प्रातःसवनोऽभिधीयते । एवं च यथाश्रुतस्य मन्त्रस्य सकलप्रातःसवनसम्बद्धत्वे ऐन्द्रमात्रभक्षणे नियमनासम्भवात् तत्सवनगतसर्वाहुतिशेषभक्षणे यथाश्रुतस्यैवास्य विनियोगः । एतदेवाभिप्रेत्याह—स्यादिति । 'इन्द्रपीतम्' इति 'सवनं' 'स्यात्'—इन्द्रेण पीतः सोमो यस्मिन्निति व्युत्पत्त्या—'न सोमः' इन्द्रेण पीत इति व्युत्पत्त्येति सम्बन्धः ॥ १९ ॥

न्यायास्तु पादे दश वै नवापि ।

ऊनविंशाधिकरणान्यत्र पादे । परिगणनप्रकारस्तु न्यायमालातोऽत्र भिन्न एव । अत्र यत् ऊनविंशाधिकरणान्तत्तत्रैकादशाधिकरण एव चरमसिद्धान्तत्वेन प्रदर्शितम् । यच्च तत्र संप्तदशाधिकरणान्तदत्र नैव धृतमिति ॥

इति तृतीयस्य द्वितीयः ।

## अथ तृतीयस्य तृतीयः ।

(१) ३।३।१-८ ऋग्वेदचोदितान्युच्चैः ।

(१) लिङ्गबलेन मन्त्राणामङ्गत्व विचार्य वाक्यमूलक तद् विचार्यते ।

(२) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—‘उच्चैः ऋचा क्रियते-उपाशु यजुषां उच्चैः सामना’ इति ।

तत्र सन्देह उच्चैस्त्वादयो धर्मा मन्त्राणामुत वेदानामिति । अर्थात् ऋक्शुक्लेनात्र किं यत्रार्थवशेन पादव्यवस्थेति पादबद्धाक्षरा मन्त्रा एव विवक्षिता उत मन्त्रब्राह्मणात्मक सकलऋग्वेद इति ।

(४) पूर्वपक्ष —विधिवाक्ये मन्त्रवाचिनामृगादिशब्दानां स्पष्टप्रयोगात् मन्त्रधर्मा एवोच्चैस्त्वादयः । तथा च यजुर्वेदोत्पन्ना अभ्यर्चुणा प्रयुज्यमाना अपि ऋच उच्चैरेव पठितव्या इति ।

(५) सिद्धान्त —उक्तानां विधिवाक्यानामुपक्रमे श्रूयते—‘त्रयो वेदा अस्त्यज्यन्त अग्नेः ऋग्वेद वायोर्यजुर्वेद आदित्यान्सामवेद’ इति । एतदुपक्रमोपसहारैकवाक्यताबलेनोपसहारभूतेषु विधिवाक्येष्वपि ऋग्यजुस्सामशब्दा वेदपरा एव नेया । तथा च सति ऋग्यजुः सामा अपि यदा यजुर्वेदचोदितास्तदोपाश्वेव पठनीया नोच्चैरिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—ऋग्वेदेति । ‘ऋग्वेदेन’ यानि ‘चोदितानि’ तान्येव ‘उच्चैः’ पठनीयानि—न तु सर्वा एव ऋच यत्र कचवन वेदे चोदिता इति । एवमेव यजुर्वेदे ये मन्त्रा चोदितास्ते सर्वे उपाशु पठनीया । सामवेदे ये चोदितास्तेऽप्युच्चैरिति ॥ १ ॥

(२) ३।३।९ स्वरोऽङ्गे मुरुषहेतुकः ।

(१) उच्चैस्त्वादयो वेदधर्मा इति स्थितम् । तत्र विचारविशेष प्रवर्तते ।

(२) यजुर्वेदविहिते प्रधानकर्मण्याधाने सामवेदोक्तमङ्गत्वेन वामदेव्यगान विहितम् ।

(३) तत्र सन्देह —यस्मिन् वेदे प्रधानकर्म विहिततदनुसारिणैवोच्चैस्तरत्वादिना वेदान्तरोत्पन्नमप्यङ्गभूत कर्म योजनीयमुत यस्मिन् वेदे तदुत्पन्न तदनुसारिणेति । तथा चाधानाङ्गभूत वामदेव्यगान किं यजुर्वेदधर्मेणोपाशु कर्तव्यमुत सामवेदधर्मेणोच्चैरिति ।

(५) पूर्वपक्ष —यद्यपि वामदेव्यगान यजुर्वेदविहितस्याधानस्याङ्गं तथाऽपि सामवेदे तस्योत्पन्नत्वात् उत्पत्तेश्च शीघ्रबुद्धिहेतुत्वात् सामवेदधर्मेणोच्चैस्त्वेनैव तत्कर्तव्यमिति ।

(५) सिद्धान्तः—विनियोगो ह्युत्पत्तेर्बलवत्तरः । स च यजुर्वेदे श्रुतः 'थ एवं विद्वान् वामदेव्यं गायति' इति । गुणेन च मुख्यस्यानुसरणं न्याय्यम् । अत्र चाङ्गित्वादाधानं मुख्यं सामगानं त्वङ्गत्वाद्गुणः । तथा च यथा आधानाङ्गभूता मन्त्रा आधानस्य यजुर्वेदोत्पन्नत्वादुपांशु मध्यन्ते तथैव सामवेदोत्पन्नान्यपि सामान्युपांश्वेव गेयानि इति ।

एतदेवामिप्रेत्याह—स्वर इति । 'अङ्गे' अङ्गभूते कर्मणि सामगानादौ—'स्वरः' उच्चैस्त्वोपांशुत्वरूपः—'मुख्यहेतुकः' मुख्यकर्मानुसार्येव भवति । एवं च यत्र विनियोगोत्पत्त्योर्विरोधस्तत्र विनियोग एव बलवत्तर इत्याशयः ॥ २ ॥

(३) ३।३।१० ज्योतिष्टोमो यजुर्वेदे

(१) अङ्गप्रधानयोर्वेदभेदेन धर्मनिरूपणं विचारितम् । यत्र च प्रधानमेव वेदद्वये उक्तम् तत्र का गतिरिति विचार्यते ।

(२) 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इति वाक्यं यजुर्वेदे सामवेदे चोपलभ्यते ।

(३) तत्र सन्देहः—वेदद्वयगतवाक्ययोः को विधिः कश्च गुणविधानायानुवादमात्रमिति, तेषां चास्मिन् कर्मणि कस्य वेदस्य धर्मोऽनुसरणीय इति ।

(४) पूर्वपक्षः—नियामकहेतोरभावात् अनिश्चय एव । तथा चात्र विकल्प एव । क्वचिद् यजुर्वेदस्य क्वचिच्च सामवेदस्येति ।

(५) सिद्धान्तः—यद्यप्युत्पत्तिवाक्यं ज्योतिष्टोमस्य वेदद्वयेऽप्युपलभ्यते तथाऽपि सोमद्रव्यस्य वाय्वादिदेवतायाश्चावगतिर्यथा यजुर्वेदाद्भवति न तथा सामवेदान् । सामवेदे तु केवलं सामविशेषस्याभिधानमुपलभ्यते न द्रव्यस्य देवताया वा । अतः सामवेदस्थं ज्योतिष्टोमवाक्यं सामविशेषविधानार्थोऽनुवाद एव यजुर्वेदविहितस्य द्रव्यदेवतासहितस्य ज्योतिष्टोमकर्मण इति सिद्ध्यति । अतो यजुर्वेदस्थवाक्यस्यैव विधित्वे स्थिते मन्त्रपाठ उपांश्वेव कार्य इति ।

एतदेवामिप्रेत्याह—ज्योतिष्टोम इति । 'ज्योतिष्टोमः' 'यजुर्वेदे' एव विहित इति शेषः—सामवेदे तु सोऽनूदित एवेत्याशयः ॥ ३ ॥

(४) ३।३।११ प्रमा प्रकरणम्भवेत्

(१)—श्रुतिलिङ्गवाक्यैर्विनियोगे निरूपिते प्रकरणस्य विनिर्याजकत्वमिदानीं निरूप्यते ।

(२) दर्शपूर्णमासप्रकरणे 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यन्यथान्तरं 'समिधो यजति—तनूनपातं यजति—इडो यजति—बर्हिर्य-

एतदेवाभिप्रेत्याह—क्रमेणेति । ‘क्रमेण’ क्रमरूपेण प्रमाणेन—‘विनि-  
योगः’ मन्त्राणाम् ‘अस्ति’ भवति । न च श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणानामभा-  
वेऽङ्गत्वाभाव इति हृदयम् ॥ ५ ॥

(६) ३।३।१३ समाख्या विनियोजिका

(१) समाख्याया विनियोजकत्व विचार्यते ।

(२) याज्यापुरोनुवाक्यापाठादयो धर्मा ऋग्वेदे प्रोक्ताः—दोहननि-  
र्वापादयो यजुर्वेदे—आज्यस्तोत्रपृष्ठादयः सामवेदे ।

(३) तत्र सन्देहः—किमेते धर्मा येन केनचिद् ऋत्विजाऽनियमेनानु-  
ष्ठेया उतास्ति किञ्चिद् व्यवस्थाकारणमिति ।

(४) पूर्वपक्षः—अस्यैवैते धर्मा इति नियामकस्य कस्यचिद् दुर्निरू-  
पत्वात् येनकेनापि ऋत्विजा यः कोऽपि धर्म इच्छयाऽनुष्ठेय इति ।

(५) सिद्धान्तः—‘होत्रम्’ ‘आध्वर्यवम्’ ‘औद्गात्रम्’ इति  
धर्माणां समाख्या भवन्ति । एता एव समाख्या नियामिका भवन्ति । तथा  
च होत्रसमाख्याता धर्मा होत्र—आध्वर्यवसमाख्याता अध्वर्युणा—  
औद्गात्रसमाख्याता औद्गात्रेति भवत्येव व्यवस्था समाख्यारूपेण  
प्रमाणेनेति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—समाख्येति । ‘समाख्या’ अपि, ‘विनियोजिका’  
विनियोगनियामिका भवति—श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणक्रमाणां पञ्चानाम-  
भावे—इति तार्पणम् ॥ ६ ॥

३।३।१४ बलीयसी श्रुतिलिङ्गात्

(१)—श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां विनियोजकत्वं पृथक्  
पृथक् निरूपितम् । तस्मात् परस्परविरोधे का गतिरिति दानीं विचार्यते ।

(२) ‘ऐन्द्रा गार्हपत्यमुपतिष्ठते’ इति श्रूयते । ऐन्द्रा ऋक् च—‘कदा-  
चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्वसि दाशुषे’ इति । अस्याश्चार्थः—‘भो इन्द्र-  
कदाचिदपि घातको न भवसि—किन्वाहुतिं दत्तवते यजमानाय प्री-  
यसे’ इति ।

(३) तत्र सन्देहः—किमियं ऋक् केवलमिन्द्रविषयकक्रियायामेव वि-  
नियुज्यते—उत इन्द्रविषयकक्रियायां गार्हपत्याग्निविषयकक्रियायां चेत्युभ-  
यत्र—उत इन्द्रविषयकक्रियायां गार्हपत्याग्निविषयकक्रियायां वेति विक-  
ल्पः—उत केवलगार्हपत्याग्निविषयकक्रियायामेवेति—अत्राख्येऽत्र पक्षाः ।

(४) पूर्वपक्षः—मन्त्रस्येन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यरूपाङ्गिणात् तस्येन्द्रविषय-  
कक्रियाङ्गत्वं स्पष्टम् । ‘ऐन्द्रा गार्हपत्यमुपतिष्ठते’ इति विधिश्च गृहप-  
त्युपस्थाने मन्त्रं विनियुङ्क्त—इन्द्रश्च स्वर्गाधिपत्वाद् ‘गृहपतिः’ । एवं

च 'ऐन्द्रया ऋचा गृहपतिभूतमिन्द्रमुपतिष्ठेदिति' श्रुतिलिङ्गोभयबलेनार्थः पर्थः सित । तथा च इन्द्रोपस्थानमात्रे मन्त्रस्य विनियोग इति प्रथम । अथर्था मन्त्रस्येन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यरूपालिङ्गात्तस्येन्द्रोपस्थाने विनियोग । अथ च ऐन्द्रया गार्हपत्यमिति साक्षाच्छ्रुत्या तस्य गार्हपत्याग्न्युपस्थान विनियोग । श्रुतेर्लिङ्गस्य च प्रामाण्याविशेषात् उभयत्रापि विनियोग इति समुच्चय ॥ अथवा श्रुतिलिङ्गयो प्रामाण्याविशेषात् तयोर्विरोध विकल्प एव न्याय्य । तथाच इन्द्रोपस्थाने गार्हपत्याग्न्युपस्थाने वा मन्त्रो विनियोज्य इति विकल्प एवति ।

(५) सिद्धान्त — श्रुतिलिङ्गयोर्विरोध श्रुतिरेव बलीयसी । श्रुतिर्हि साक्षाद् विनियोज्ज्वली, लिङ्गेन तु विलम्बेन विनियोग । तथा हि मन्त्रपदान्याद्वा स्वाभिधेयमर्थं प्रतिपादयन्ति—तत्पश्चात् मन्त्रस्मार्थप्रकाशरूपसामर्थ्यं निरूप्यते—ततस्तत्सामर्थ्यबलेन साधनत्ववाचिनी प्रधानवाचिनी च श्रुति कल्प्यते (श्रुति विना प्रधानस्यासम्भवात्) । सा च श्रुति प्रकृते 'मन्त्रेणानेनेद्रमुपतिष्ठेत्' इत्येवरूपा । प्रत्यक्षश्रुता तु नास्त्यावश्यकता सामर्थ्यनिरूपणस्य श्रुतिकल्पनस्य—चेत्यविबलनेन प्रवृत्ति । एव च श्रीप्रगामिन्या श्रुत्या विलम्बेनामि लिङ्ग वाच्यते । प्रत्यक्षश्रुत्या—'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठेत्' इत्येवरूपया—मन्त्रस्य विनियोगे सिद्धे न भेद्यत्वाकाङ्क्षा तस्य विनियोग प्रति, येनाऽऽकाङ्क्षाबलेन लिङ्गस्य विनियोजकत्वं कल्प्येत । तस्मात् प्रत्यक्षश्रुतिबलेन गार्हपत्योपस्थान एव मन्त्रस्य विनियोग इति ।

एतदेवामिप्रेत्याह—बलीयसीति । 'श्रुति' प्रत्यक्षश्रुति — 'लिङ्गात्' अर्थप्रकाशनरूपसामर्थ्यात् — 'बलीयसी' कर्तव्यत्तरप्रामाण्यवती—लिङ्गस्य अपिकेति युवत् ॥ ७ ॥

(८) ३।३।१४ लिङ्ग वाक्यस्य बाधकम्

(१) श्रुतिलिङ्गयोर्विरोधे विचारितं लिङ्गवाक्यविरोधोऽधुना विचायते ।

(२) दर्शपूर्णमासयो श्रूयते—स्थोन ते सुवन्नं कृणोमि वृत्तस्य धारया सुषेव कल्पयामि—तस्मिन् सीद अमृते प्रतितिष्ठ—व्रीहोणाम्मेध सुमनस्यमान इति । अस्यार्थ — 'ओ पुरोडाश तव समीचीन स्थानं वृत्तस्य धारया सुष्ठु सेधितु योग्य कल्पयामि—ओ व्रीहिसारभूत त्व समाहितमनस्कस्तस्मिन् समीचीने स्थाने उपविश तत्र स्थिरो भव' इति ।

(३) तत्र अन्वह — किं कृत्स्नो मन्त्र उपस्तरणे पुरोडाशासादने च प्रयोक्तव्यः—उत कल्पयाम्यन्त उपस्तरणे तस्मिन् सीदेत्येवमादिः पुरो-

डाशासादने । यदि वाक्यं विनियोजकं तर्हि कृत्स्न उभयत्र । अथ लिङ्गं विनियोजकं ततः कल्पयाम्यन्तः सदनकरणे (उपस्तरणे), तस्मिन् सीदेत्येवमादिरासादने । इति ।

(४) पूर्वपक्षः—तस्मिन्त्रित्यनेन तच्छब्देन प्रकृतवाचिना पूर्वोत्तरार्धयोरेकवाक्यत्वे सति मन्त्रद्वयाभावात् कृत्स्नोऽपि मन्त्रः सदनकरणे सादने च विनियोजनीयः, तत्र सद्ने एव वा सादन एव वा उभयत्र वेति यथेच्छं विकल्प इति ।

(५) सिद्धान्तः—पूर्वोत्तरार्धयोरेकवाक्यत्वेऽपि उत्तरार्धस्य सदनकरणप्रकाशनसामर्थ्यमकल्पयित्वा कृत्स्नस्य मन्त्रस्य सदनकरणविनियोजकश्रुतिवाक्यकल्पनस्यासम्भवात्—एवमेव पूर्वार्धस्य सादनप्रकाशनसामर्थ्यमकल्पयित्वा कृत्स्नस्य सादनविनियोजकश्रुतिवाक्यकल्पनस्यासम्भवात्—लिङ्गद्वयकल्पनव्यवधानेन वाक्यं श्रुतिं प्रति विप्रकृष्यते । पूर्वार्धस्य सदनकरणप्रकाशनलिङ्गम् उत्तरार्धस्य च सादनप्रकाशनलिङ्गमप्रत्यक्षमेवेति लिङ्गद्वयमेतत् श्रुतिं प्रति सन्निकृष्यते । एवं च लिङ्गेन वाक्यस्य बाधात् पूर्वार्धसदनप्रकरणे उत्तरार्धं तु सादने विनियोजनीयमिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—लिङ्गमिति । ‘लिङ्गम्’ मन्त्रस्यार्थप्रकाशनरूपसामर्थ्यम्—‘वाक्यस्य’ अङ्गत्वबोधकस्य—‘बाधकम्’ । लिङ्गवाक्ययोर्विरोधे लिङ्गेनैव विनियोगः स्वीकार्य इत्याशयः ॥ ८ ॥

(६) ३।३।१४ वाक्येन प्रक्रिया बाध्या ।

(१) श्रुतिलिङ्गविरोधो लिङ्गवाक्यविरोधश्च विचारितः । वाक्यप्रकरणविरोध इदानीं विचार्यते ।

(२) दर्शपूर्णमासश्लोः सूक्तवाके श्रूयते—‘अग्नीषोमाविदं हविरजुषेताम्, अवीवृधेताम्, महो ज्यायोऽकाताम्—इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेताम्, अवीवृधेताम् महोज्यायोऽकाताम्’ इति । अत्र लिङ्गसामर्थ्यात् अग्नीषोमाविति पदं पौर्णमास्यां प्रयोक्तव्यम्—‘इन्द्राग्नी’ इति पदं चामावास्यायाम्प्रयोक्तव्यमिति निर्णीतम्प्राक् ।

(३) तत्र सन्देहः—अग्नीषोमावित्यस्यानन्तरं यत् पदजातं इदं हविरित्यादि पूर्वमन्त्रगतं तदपि स्वतन्त्रं ( द्वितीयमन्त्रनिरपेक्षमेव ) अमावास्यायामपि प्रयोक्तव्यम्—एवं चामावास्याप्रयोगे पठनीयो मन्त्रः ‘इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेताम् अवीवृधेताम् महोज्यायोऽकाताम्’ इदं हविरजुषेताम् महोज्यायोऽकाताम्’ इति ( एवम्पौर्णमासीप्रयोगे पठनीयो मन्त्र इत्यम्—‘अग्नीषोमाविदं हविरजुषेताम् महोज्यायोऽकाताम्, इदं हविर-

जुषेताम् अवीवृधेताम् महो ज्यायोऽक्रातामिति ) एव च प्रकरणमनुगृहीतम्भवति—अथवा वाक्यसामर्थ्यात् पूर्वमन्त्रस्यावशिष्टोऽपि भागो पौर्णमास्यायामेव प्रयोक्तव्यो नामावास्याया तथा उत्तरमन्त्रस्याप्यवशिष्टो भागोऽन्तर्वास्यायामेव प्रयोक्तव्यो न पौर्णमास्याम्—तथाच पौर्णमास्याम्पठनीयो मन्त्र ‘अग्नीषोमोऽग्निं हविरजुषेताम् अवीवृधेताम् महो ज्यायोऽक्राताम्’ इत्येतावन्मात्रमेव—अमावास्याया च ‘इन्द्राग्नी इह हविरजुषेताम् अवीवृधेताम्, महोज्यायोऽक्राताम्’ इत्येतावन्मात्रमेवेति ।

(४) पूर्वपक्ष - देवतानामोत्कर्षानन्तरम् योऽवशिष्ट पूर्वमन्त्रस्य भागो सोऽपि अमावास्यायाम्पठनीयः । एतमेव हि पण्यमन्त्रभागानां स्वशेषत्वबोधको दर्शपूर्णमासप्रकरणपाठोऽनुगृह्यते— इति ।

(५) सिद्धान्त - अग्नीषोममन्त्रशेषस्य इन्द्राग्निपदान्ययश्चैत्रणात् प्रकरणेन प्रथमं तदन्वयरूपं वाक्यं कर्तव्यम्—तेन च कर्तव्येन वाक्येन इन्द्रादिप्रकाशनसामर्थ्यरूपं लिङ्गं कर्तव्यम्—तत्र कर्तव्यं लिङ्गं ‘अनेन मन्त्रभागेन इन्द्राग्निदेवताऋत्रियाऽबुधेया’ इति विनियोजिका श्रुति कर्तव्यति । एव च प्रकरणविनियोगयोर्मध्ये प्रधानव्यवहारीति । अग्नीषोममन्त्रस्य तु पौर्णमासीसम्बन्ध साक्षाद् वाक्यात् एव तद्वचनाप्रकाशनसामर्थ्यरूपं लिङ्गं तद्वचनेन च विनियोजिका श्रुतिमेव कर्तव्यतीत्यत्र वाक्यविनियोगयोर्मध्ये लिङ्गश्रुतिरूपं प्रधानमवश्यमेव । तस्मात् प्रकरणस्य वाक्येन बाधितत्वात् मन्त्रशेषोऽपि तत्रैव निष्ठति—तथा च अग्नीषोमाचित्यादेर्मन्त्रभागस्य अक्रातामित्यन्तस्य समस्तस्य पौर्णमास्यामेव प्रयोग इन्द्राग्नी इत्यादेश्च भागस्य अक्रातामित्यन्तस्य समस्तस्यामावास्यायामेवेति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—वाक्येनेति । ‘वाक्येन’ ‘प्रक्रिया’ प्रकरणम् ‘वाक्या’—विनियोगरूपादर्थान् अधिकरणव्यवधानादित्याशयः ॥ ६ ॥

(१०) ३।३।१४ प्रक्रिया बाधते क्रमम्

(१) प्रकरणक्रमविरोधो विचार्यते ।

(२) राजसूये पश्विष्टिसोमयागा बहव प्रधानभूताः । तत्राभिषेचनीयास्त्य कश्चित् सोमयागस्तस्य सन्निधौ देवतादयः श्रयन्ते—‘अक्षैर्दाव्यर्ति’—राजन्यं जिनाति (जयतीत्यर्थः)—शौन शेषमाख्यापयति ( बह्वृचब्राह्मणे सम्यग्ज्ञातं पुन शेषविषयमुपाख्यानम् ) ।

(३) तर्ष सन्देह—देवतादयः किं सम्भिषेचनीयाः किं सम्भिषेचनीयाः किमुत प्रकरणबलान् राजसूयगतसर्वयागाङ्गमिति ।

(४) पूर्वपक्षः—अभिषेचनीययागस्य सन्निधौ देवनादीनां पठितत्वात् क्रमप्रमाणेन तस्यैवाङ्गमेते इति ।

(५) सिद्धान्तः—राजसूयस्य कथंभावाकाङ्क्षायामनुवृत्तायामेव विहिता देवनादयः प्रकरणेन राजसूयाङ्गानि । राजसूयश्च बहुयागात्मक इति तत्रत्यसकलयागशेषत्वं देवनादीनाम् । प्रकरणेन च क्रमो बाध्यते—अर्थविप्रकर्षात् । तथा हि अभिषेचनीयस्य देवनादिष्वाकाङ्क्षाभावात् क्रमबलात्सावान्तराकाङ्क्षा कल्पनीया—तद्द्वारा च वाक्यलिङ्गश्रुतयः कल्पनीयाः—इतरत्र तु राजसूयाकाङ्क्षारूपमहाप्रकरणस्य सत्त्वात् तत्कल्पनाया आवश्यकत्वात् तावता सन्निकृष्यते विनियोगस्येति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—प्रक्रियेति । 'प्रक्रिया' प्रकरणम्—'क्रमम्' बाधते अर्थविप्रकर्षादिति भावः ॥ १० ॥

(११) ३।३।१४ क्रमः समाख्यां बाधेत

(१) क्रमसमाख्याविरोधो विचार्यते ।

(२)—'शुन्धध्व दैव्याय कर्मणे' इति मन्त्रः 'पौरोडाशिकम्' इति याज्ञिकैः समाख्यायते । पठ्यते त्वयम्मन्त्रः इध्मावर्हिर्निर्वापविषययोर्मन्त्रानुवाकयोर्मध्यमेऽनुवाके । इध्मावर्हिःसम्पादनस्य मुष्टिनिर्वापस्य चान्तरालं सान्नाय्यपात्राणां देश उक्तः ।

(३) तत्र सन्देहः—मन्त्रोऽयं किं पुरोडाशकाण्डोक्तानामुल्लखलजुह्वादीनां शोधनेऽङ्गम्—उत सान्नाय्यपात्रशोधने इति ।

(४) पूर्वपक्षः—समाख्याबलेन पुरोडाशकाण्डोक्तानां सर्वेषाम्पात्राणां शोधनेऽङ्गमयम्मन्त्र इति ।

(५) सिद्धान्तः—पौरोडाशिकमिति समाख्यायां प्रकृतिः पुरोडाशमात्रमभिधत्ते तद्धितप्रत्ययश्च काण्डम्—न तावता सकलपुरोडाशपात्राणां मन्त्रसन्निधिः प्रत्यक्षो भवति । तस्मात् काण्डसमाख्याबलेन सन्निधिं कल्पयित्वा तत्सन्निध्यन्यथानुपपत्त्या परस्पराकाङ्क्षारूपं कृत्स्नं पात्रप्रकरणं कल्पयित्वा तद्द्वारा वाक्यलिङ्गश्रुतीः कल्पयित्वा तथा श्रुत्या विनियोगो भवितुमर्हति । सान्नाय्यपात्राणां तु मन्त्रसन्निधिः प्रत्यक्ष एव, न तु कल्पनीयः । तथा हि इध्मावर्हिःसम्पादनस्य मुष्टिनिर्वापस्य चान्तरालं सान्नाय्यपात्राणां देश उक्तः—मन्त्रश्चेध्मावर्हिर्निर्वापविषययोर्मन्त्रानुवाकयोर्मध्यमेऽनुवाके पठ्यते । तेन च प्रत्यक्षेण सन्निधिना प्रकरणादीनां चतुर्णामेव कल्पनाऽऽवश्यंकी । एवं च समाख्यापेक्षया क्रमस्य भवति सन्निकर्षः—ततश्च क्रमेण समाख्यायाः स्वाधात् मन्त्रोऽयं सान्नाय्यपात्रशोधनाङ्गमेव भवतीति ।



एतदेवाभिप्रेत्याह—क्रम इति । स्पष्टार्थम् ॥ ११ ॥

(१२) ३।३।१४ बाधः प्राप्ते क्वचिद् भवेत्

(१) लिङ्गादीनामर्थविप्रकर्षाद् बाध उक्त । अस्य च बाधस्यौचित्यं चिन्तयते ।

(२)—लिङ्गादिभिः समाख्यान्तैः प्रमाणैरुक्तस्याङ्गत्वस्य बाध उक्त ।

(३) तत्र सन्देह —प्रमाणोक्तस्य बाधो युक्तो न वेति ।

(४) पूर्वपक्ष —प्राप्तस्य प्रवृत्तिरस्त्येति न तन्निवारणं युक्तम् तस्मात् प्रमाणप्राप्तस्याङ्गत्वस्य नैव युक्तो बाध इति ।

(५) सिद्धान्त —बुद्ध्या विषयीकृतस्य सम्भवति बाधः । यद् बुद्धिमात्रविषयीकृतं तत्र भवति प्रवृत्तम्—अनुष्ठानरूपफलपर्यवसानाभावात् । अतः प्राप्तस्यापि अङ्गत्वस्य अनुष्ठानात् प्राक् भवत्येव बाधे पटुतरप्रमाणप्राप्तनाङ्गत्वान्तरेणेति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—बाध इति । 'प्राप्ते'—दुर्बलप्रमाणेन बोधिते सत्यप्यङ्गत्वे—'क्वचित्'—पटुतरप्रमाणान्तरप्राप्तिसत्त्वे—'बाध' 'भवेत्' । नात्र किञ्चिदनौचित्यमित्याशयः ॥ १२ ॥

(१३) ३।३।१५।१६ अहीनोपसदां सङ्ख्या

(१) अङ्गत्वविशेषविचारोऽनुवर्तते । तत्र श्रुतिप्रकरणविग्राधे विचारः ।

(२) ज्योतिष्टोमप्रकरणे श्रूयते—'तिस्र एव साहस्योपसदो द्वादशाहीनस्य' इति । एकेन अह्ना निष्पाद्यतात् 'साहस्यो ज्योतिष्टोमः' । दीक्षादिवसादूर्ध्वं सोमाभिषेददिवसात् पूर्वं कर्तव्या होमा 'उपसदः' ॥

(३) तत्र सन्देह —यदत्र वाक्ये उपसदां द्वादशत्वमुक्तं तत् किं ज्योतिष्टोमे एव निविशते—उत अहीननामके कर्मान्तरे—इति ।

(४) पूर्वपक्ष —प्रकरणचलादुपसद्द्वादशत्व ज्योतिष्टोमस्यैवाङ्गम् । 'अहीन'शब्दश्च 'न हीन' इति व्युत्पत्त्या ज्योतिष्टोमस्यैव विशेषणम्—तत्रैव सोमयागप्रकृतिरूपेण सर्वाणामङ्गानामुपदेशात् । एव च ज्योतिष्टोमे उपसदां त्रित्वद्वादशत्वयोर्विकल्प इति ।

(५) सिद्धान्त —आवृत्तसोमयागरूपो द्विरात्रत्रिरात्रादिरहर्गण —तस्मिन्नेव 'अहीन'शब्दो कूटः । कूटश्च विग्रहनिरपेक्षत्वात् शीघ्रबुद्धिहेतुः । अतो ज्योतिष्टोमोऽप्यत्र 'साह'शब्दाद् भिन्नैवेयमहीनसङ्ख्या ज्योतिष्टोमस्य भिन्नमहर्गणमेवाभिधत्ते । तस्मिन्महर्गणे षष्ठीश्रुत्योक्तमुपसद्द्वादशत्व निविशते । तथा च द्वादशसङ्ख्यायाः प्रकरणादपकर्ष इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—अहीनेति । 'सङ्ख्या'—द्वादशसङ्ख्या—'अहीनोप-  
सदाम्' अहीननाम्नि अहर्गणे या उपसदः तासामेव—न तु ज्योतिष्टोमो-  
पसदामिति भावः ॥ १३ ॥

(१४) ३।३।१७-१९ द्वियज्ञे प्रतिपद्विधिः

(१) अङ्गत्वविचारो वर्तते । श्रुतिप्रकरणविरोध एव विचारान्तरम् ।

(२) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—'युवं हि स्थः स्वर्पती इति द्वयोर्यजमानयोः  
प्रतिपदं कुर्यात्—एते असुप्रमिन्दव इति बहुभ्यो यजमानेभ्यः' इति । स्तो-  
त्रस्योपक्रमे पठनीया ऋक् अत्र प्रतिपच्छब्देनाभिधीयते ।

(३) अत्र सन्देहः—उदाहृता प्रथमा प्रतिपत् ज्योतिष्टोमे निविशते—  
उत यजमानद्वययुक्ते कस्मिंश्चिद् यागान्तरे इति ।

(४) पूर्वपक्षः—प्रकरणबलात् ज्योतिष्टोमस्यैवाङ्गमप्रतिपत् । तस्यैव  
यागस्य अवस्थाविशेषेषु यजमानद्वयं सम्भाव्यते । तादृश्यामेवावस्थायां  
ज्योतिष्टोमे उदाहृताया प्रतिपदः सन्निवेश इति ।

(५) सिद्धान्तः—यज्ञमानद्वित्वं कुलायनामके यज्ञे साक्षादाभ्यातम्—  
'एतेन राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम्' इति । एवमेव यजमान-  
बहुत्वं सत्रपवाभ्यातम् । तथा च 'द्वयोर्यजमानयोः' इति ब्राह्मणवाक्ये  
द्विशब्दरूपया श्रुत्या प्रकरणं बाधित्वा कुलायेषु आद्यायाः प्रतिपद  
उत्कर्षः कार्यः । तथैव द्वितीयाया उपसदः सत्रेषु सन्निवेशः । ज्योतिष्टोमे  
तु साक्षाच्छ्रूयमाणस्य यजमानैकत्वस्य त्यक्तुमशक्यत्वान्न त्रस्य द्वित्वं  
बहुत्वं वा सम्भवति इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—द्वियज्ञ इति । 'प्रतिपद्विधिः' प्रतिपदः—युवं हि स्थ-  
इत्याद्यायाः—'विधिः'—'द्वियज्ञे' द्वयोर्यजमानद्वयोः यज्ञे—अन्वेतीति शेषः ॥ १४ ॥

(१५) ३।३।२०-२३ विधेया जाघनी यागे

(१) प्रकरणादुत्कर्षस्यापवादः ।

(२) दर्शपूर्णमासप्रकरणे श्रूयते—'जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति' इति ।  
'जाघनी' पशोः पुच्छम्—पत्नीशब्दश्च आहुतिचतुष्टयात्मकस्य पत्नीसंया-  
जकर्मणो नामधेयस्यैकदेशः—आहुतिचतुष्टयानां तृतीयाहुतौ देवपत्नीनां  
देवतात्वात् तद्वद्वारैव 'पत्नीसंयाज' इति नाम्नः प्रवृत्तिः ।

(३) तत्र सन्देहः—किमत्र जाघनीमुद्दिश्य पत्नीसंयाजरूपस्तत्संस्कारो  
विधीयते उत ज्योतिष्टोमाङ्गभूतपत्नीसंयाजमुद्दिश्य जाघनी विधीयते इति ।

(४) पूर्वपक्षः—जाघनीमुद्दिश्य पत्नीसंयाजाख्यः संस्कारोऽत्र साक्षा-  
च्छ्रुत्या विधीयते । जाघनी न्व पशौ समवैति—न दर्शपूर्णमासयोः ।

अतः पूर्वाप्रिकरणन्यायेन दर्शपूर्णमासप्रकरणादुक्त्यास्य जाघनीस स्कारद्वयाग्नीषोमीय एव पशोः सन्निवेश इति ।

(५) सिद्धान्त — जाघनीशब्देन पशोर्भागोऽभिधीयते । यद्यपि दर्शपूर्णमासयोः पशोरभावात् पशोर्भागविशेष पुच्छो नास्ति—तथाऽपि कर्मान्तरे व्यापादितात् पशोः सोऽत्रानेतुं शक्यते—कयादिना वा । न चैव वर्तमानाया जाघन्या पत्नीसयाजे सस्कार्यत्वम् । तृतीयया हि जाघन्या साधनत्वमभिधीयते । तस्मात् जाघनी दर्शपूर्णमासाद्भूत-पत्नीसयाजारयस्य कर्मणोऽङ्गम् । पत्नीसयाजे चाऽन्यत्र घृत विहितम् । अतस्तेन वाक्येन प्रकृतेन च वाक्येन पत्नीसयाजे घृतजाघन्याधिकृत्य । तथाच नात्रोत्कर्षो जाघन्या दर्शपूर्णमासप्रकरणादिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—विधेयेति । 'जाघनी'—'यागे' दर्शपूर्णमासप्रकरण-गतपत्नीसयाजारये कर्मणि तत्साधनतया—'विधीयते'—नास्या प्रकरणादुत्कर्ष इत्याशयः ॥ १५ ॥

(१६) ३।३।२४-३१ दीर्घसंस्थानु तर्दनम्

(१) वाक्यप्रकरणयोर्विरोधे विनियोगविचारः प्रवर्तते ।

(२) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—'दीर्घसोमे सन्तर्दयेद् ध्रुवे' इति । तस्यार्थः सोमयागविशेषो दीर्घसोम —तस्मिन् सोमाभिपन्नाधारयोरधिपन्नफलकयोः सन्तर्दनम् [ अन्योन्यविद्योगेन शैथिल्य मा भूदिति दृढसंश्लेषणम् कार्यमिति ।

(३) तत्र सन्देहः —इदं सन्तर्दनं किं प्रकरणबलात् ज्योतिष्टोमस्यैवाद्भुत वाक्यबलात् दीर्घसोमनामकस्य यागान्तरस्येति ।

(४) पूर्वपक्षः —प्रकरणबलात् प्रकृतावेव ज्योतिष्टोमे सन्तर्दनस्य सन्निवेशः । तस्मिन्नेव च 'दीर्घसोम' इति नाम्नः—'दीर्घस्य यजमानस्य सोम' इति व्युत्पत्त्या—अन्वयः । इति ।

(५) सिद्धान्तः —पट्टीसमासात् कर्मधारयो बलीयानिति निपादस्य पत्यधिकरणे स्थापयिष्यते । तथा सति 'दीर्घसोम' इत्यत्र दीर्घत्व सोमस्य धर्मो न यजमानस्य । न चास्य नाम्नो ज्योतिष्टोमेऽन्वयः दीर्घशब्दवैयर्थ्यापत्तेः । तस्मात् प्रकृतिरूप सोमयाग ज्योतिष्टोम व्याघर्तयितुमेवायं दीर्घशब्दः प्रयुक्त इति निश्चीयते । विकृतिषु हि उक्त्यादिषु ग्रहाधिक्याद्भवत्येव प्रकृत्यपेक्षायाः दीर्घत्वम्—द्विरात्रादिषु चावृत्त्या दीर्घत्वम् । तस्माद् वाक्येन प्रकरणं बाधित्वा विकृतिष्वेव सन्तर्दनस्य सन्निवेशः —न तु प्रकृतौ ज्योतिष्टोमे—तत्सम्बन्धेन सन्तर्दनस्य साक्षाद् बाधितत्वात् 'अधिषवणेन सन्तृणत्तीति' साक्षाच्छ्रुत्या ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—दीर्घेति । ‘दीर्घसंस्थासु’ ज्योतिष्टोमापेक्षया दीर्घासु संस्थासु उक्थ्याद्यासु—‘सन्तर्दनम्’—सन्निविशत इति शेषः ॥ १६ ॥

(१७) ३।३।३२-३३ नाद्यप्रयोगे प्रावर्ग्यम्

(१) वाक्यप्रकरणविरोधे विचारान्तरम् ।

(२) ज्योतिष्टोमे प्रवर्ग्याख्यं कर्म प्रकृत्य श्रूयते—‘न प्रथमयज्ञे प्रवृ-  
ज्यात्’ इति ।

(३) तत्र सन्देहः—अयं प्रवर्ग्यप्रतिषेधः किं ज्योतिष्टोमे सर्वत्र सम-  
वैति—उत तस्य प्रथमे एव प्रयोगे इति ।

(४) पूर्वपक्षः—ज्योतिष्टोमे सर्वत्र प्रतिषेधः—प्रकरणबलात्—अथ च  
‘एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोम’ इत्यत्र ज्योतिष्टोमस्यैव  
प्रथमयज्ञत्वेनाभिधानादिति ।

(५) सिद्धान्तः—‘पुरस्तादुपसदां प्रवर्ग्यं प्रवृणक्ति’ इति वाक्येन  
कृतौ प्रवर्ग्यं विहितम् । तन्निषेधस्य च तत्र सम्बन्धः प्रकरणबलादेव  
लभ्यते । तथाच वाक्येन प्रकरणस्य बाधितत्वात् न सम्भवात् सर्वत्र  
ज्योतिष्टोमप्रयोगे प्रवर्ग्यनिषेधः । सम्भवति च साक्षाच्छ्रुतस्य निषेधस्य  
सम्बन्धो ज्योतिष्टोमस्य प्रथमे प्रयोगे—तथैव तस्य श्रुतत्वात्—निषेधवाक्ये  
च प्रथमशब्देन निषेधस्य प्रयोगपरत्वनिर्यात्—इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—नाद्येति । ‘आद्यप्रयोगे’—ज्योतिष्टोमस्य प्रथमे  
प्रयोगे—‘प्रावर्ग्यं न भवति—भवति तत्र प्रवर्ग्यनिषेध इत्याशयः ॥ १७ ॥

(१८) ३।३।३४ विकृतौ पौष्णपेषणम्

(१) वाक्यप्रकरणविरोधे विचारान्तरम् । [यद्यपि प्रागुक्तसन्तर्दनन्या-  
येनैव गतस्तथापि आगाम्यधिकरणद्वयविचारप्रस्तावनारूपेणात्र प्रवर्तते ]

(२) दर्शपूर्णमासप्रकरणे श्रूयते—‘तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागः अदन्तक्रो-  
हि स’ इति ।

(३) तत्र सन्देहः—पेषणस्य प्रकृतौ सन्निवेश उत विकृताविति ।

(४) पूर्वपक्षः—प्रकरणबलात् प्रकृतावेव दर्शपूर्णमासकर्मण्यस्य नि-  
वेश इति ।

(५) सिद्धान्तः—वाक्येन प्रकरणस्य बाधात् विकृतावेव पेषणस्य  
निवेशः—विकृतावेव दन्तरहितस्य पूष्णो देवतात्वम् पिष्टभागत्वं  
चोक्तमिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—विकृताविति । ‘विकृतौ’ विकृतियागे—नतु प्रकृ-  
तिभूतदर्शपूर्णमासयागे—‘पौष्णपेषणम्’ पौष्णस्य पूष्णो भागस्य पेषणम्-  
निविशत इति शेषः ॥ १८ ॥

(१९) ३।३।५-३८ चरावेव पिपिः पौष्णे

(१)-(२) पौष्णपेपणविषये विचार ।

(३) सन्देह — पौष्णस्य भागस्य यत् पेपण विहित तत् किं चरावेव भूवति—उत चरो पुरोडाशे पशो चेति सर्वद्रव्येषु—इति ।

(४) पूर्वपक्ष — वास्येन निर्विशेषेण विहितत्वात् सर्वेषु द्रव्येषु पेपणमिति ।

(५) सिद्धान्त — पुरोडाश हि स्वभावत एव प्राप्तवान्नास्या वश्यकता पेपणस्य प्रधानस्य । पशो च पपण कृते हृदयाग्राकारनाश सति हृदयस्याग्रेऽप्यतीति विहितीवदानानामेसम्भय स्यात् । एव च नान्यत्र पेपणविषये पुरोडाश पशो वा । तस्मात् चरावत्र पपणमिति । एतदेवाभिप्रेत्याह—चराविति । 'पाण्डे'—पूष्णा भागभूते—'चरो एव'—न तु पुरोडाशे पशो वा—'पिपि' पेपणम्—अन्वेतीति शेष ॥१६॥

(२०) ३।३।३९-४६ नैन्द्रापौष्णेऽस्ति पेपणम्

(१) पौष्णविषये विचारान्तरम् ।

(२)—पौष्णो भाग स्वचिदेकदैवत्य पूषमात्रदेवताकं स्वचिद् द्विदैवत्य । तथाहि राजसूये श्रूयते 'सामापौष्णं चरुं निर्वपति—पन्डा पौष्णं चरुम्' इति ।

(३) तत्र सन्देह — पौष्णभागस्य पेपणं यद् विहितं तत् किमेकदैवत्ये पूषमात्रदेवताके भागे निविशते—उत द्विदैवत्ये इन्द्रापूपदेवताकेऽपीति ।

(४) पूर्वपक्ष — द्विदैवत्येऽपि चरावदन्तस्य पूष्णं सत्त्वात् तत्रापि वेष्टनं कर्तव्यमेवेति ।

(५) सिद्धान्त — याग एव पेपणस्य प्रयोजको न देवता—यागमन्तरेण केवलदेवताया फलजनकत्वाभावात् । एवं च पौष्णस्य यागस्य पेपणप्रयोजकत्वे सिद्धे तत् पेपणं द्विदैवत्ये यागे न गन्तुमर्हति । तथा च ऐन्द्रापौष्णे चरो न भवति पेपणमिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—नैन्द्रापौष्ण इति । 'ऐन्द्रापौष्णे' इन्द्रपूपदेवताके द्विदैवत्ये चरो—'पेपणं नास्ति' ॥ २० ॥

पादेऽस्मिन् विंशतिर्न्याया भाष्यकारेण वर्णिताः ।

स्पष्टार्थम् ॥

इति तृतीयस्य तृतीय ।

## अथ तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः

(१) ३।४।१-९ स्तुतिर्निवीतं विहितोपवीतेः

(१) श्रुतिप्रकरणयोर्विरोधे लिङ्गवाक्यविरोधे च विनियोगविचारोऽनुवर्तते ।

(२) दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—‘निवीतम्मनुष्यधर्मः—प्राचीनावीतं पितॄणाम्—उपवीतं देवानाम्—उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत् कुरुते’ इति ।

(३) निवीतम्मनुष्यधर्म इत्यत्र सन्देहः प्रथमः—किमर्थं विधिरुतार्थ-वादः । द्वितीयः—यदि विधिः किञ्चिद्वीतं मनुष्यधर्मत्वेन विधीयते उक्त कर्मधर्मत्वेनेति ।

(४) पूर्वपक्षः—निवीतस्य विधिरेवायम् । मनुष्याणामिति च षष्ठ्या पुरुषधर्मत्वेनैव तद् विधीयते । तथाच सर्वपुरुषसाधारणोऽयं धर्मो यन्निवीतधारणम् । अथवा आचार्यातिथ्यादिमनुष्यार्चनादिकर्माङ्गमिदमिति ॥ द्वितीयः पूर्वपक्षस्तु—प्रकरणबलाद्दर्शपूर्णमासान्तर्गतप्रयाजादिकर्मधर्मत्वेनैव निवीतं विधीयते । तथाच प्रयाजादिकर्मसम्बन्धिपुरुषधर्मो निवीतमिति षष्ठ्यनुगृहीतप्रकरणबलादवसेयमिति ।

(५) सिद्धान्तः—अत्रोक्तं निवीतादिकं वासोविषयं न यज्ञसूत्रविषयम् । वाससो निवीतत्वं च सौकर्यरूपदृष्टार्थत्वेन प्राप्तमेवेति न तस्य विधानं युक्तम् । न च प्रकरणात् प्रयाजादिकर्माङ्गत्वेन विधानम्—वाक्यभेदप्रसङ्गात् । तथाहि ‘उपव्ययते’ इत्यनेन वाक्यांशेनोपवीतं विधीयते—इत्यवश्यमेव स्वीकार्यम् । [ अन्यथा ‘देवलक्ष्ममेव तत् कुरुते’ इति स्तुतिर्वृथैव स्यात् । ] तथासति यद्यपरेण वाक्यांशेन निवीतं विधीयेत भिद्येतैव तर्हि वाक्यम् । सम्भवति च निवीतप्राचीनावीतयोरुपवीतस्तुत्यर्थत्वेनैकवाक्यत्वम् । सम्भवति चैकवाक्यत्वे वाक्यभेदेन पृथग्विधानमयुक्तम् । एवं च ‘निवीतप्राचीनावीते मनुष्यपितृविषयत्वाद् दैविके कर्मण्ययोग्ये उपवीतमेव तु योग्यम्’ इति पर्यवसितः समस्तवाक्यार्थः । तथा च निवीतमित्यर्थवाद एव । ततश्च किन्धर्मत्वेन विधिरयमिति संशय एव नोदेतीति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—स्तुतिरिति । ‘विहितायाः’ उपव्ययत इत्यनेन विहितायाः—‘उपवीतेः’—‘स्तुतिः’ अर्थवाद एव—‘निवीतम्’—न त्वयं विधिः पुरुषधर्मस्य कतुधर्मस्य वेत्याशयः ।

इतोऽनन्तरं वार्तिकादौ चतुर्थार्थधिकरणानि दशमादिष्वष्टदशसूत्रा-

न्तात्मकानि । नैतानि भाष्ये धृतानि । अत एव मण्डनाचार्याणां परि-  
त्यक्तमिदं वेदितव्यमिति । तानि च—(१) उपवीतस्य दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम्—  
उपवीतस्य विधित्वम्—(२) उपवीतोद्ग्रतयोगनुवादत्वम्—(३) समिद्धा-  
रणस्य विधित्वमिति ।

(२) ३।४।१६ प्राचीनवशस्तुतये प्रतीची ।

(१) प्रथमाधिकरणसदृश एवायं विचारः ।

(२) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—‘प्राचीनवशं कराति—देवमनुष्या दिशो व्य-  
भजन्त—प्राचीं देवा दक्षिणां पितरं प्रतीचीं मनुष्या उदीर्चा रुद्रा  
यत् प्राचीनवशं करोति देवलोकमेतत् तत्र जमानं उपायते’ इति ।

(३) तत्र सन्देहः—‘प्रतीचीमनुष्या’ इति किं निधिरित्वाद्वादः ।

(४) पूर्वपक्षः—विजिरेवायम्—‘मनुष्या प्रतीचीं विभजयुः’ इति च  
तस्यार्थः । तस्यैव च विधेः स्तुतिः पुराकल्परूपा—‘प्रतीचीं मनुष्या  
व्यभजन्त’ इति ।

(५) सिद्धान्तः—यस्य मण्डपविशेषस्योपरिवशां प्रागग्रा भवन्ति स  
‘प्राचीनवशः’ । तस्यैवायं विधिः—तद्विजिरेनैव सहैकवाक्यत्वं प्रतीचीं  
मनुष्या व्यभजन्त इत्यस्य । तथा चाथवाद् एवायं च निधिरिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—प्राचीनेति । ‘प्राचीनवशस्य’ मण्डपविशेषस्य  
‘स्तुतये’ अर्थवाद एव—‘प्रतीची’ मण्डपसम्बन्धेन प्रतीच्युक्तिरिति—न  
तत्र विधिरिति यावत् ॥ २ ॥

(३) ३।१।१७ पूर्णादितन्त्रं विहितं स्तवाय

(१) निवीतविचारस्यैवायं प्रपञ्चः ।

(२)—ज्योतिष्टोमे श्रूयते ‘यत् पूर्णं तन्मनुष्याणामुपरि, अर्धा देवा  
नाम्, अर्धं पितॄणाम्’ इति । तथा दर्शपूर्णमासयोः पण्डितृत्यङ्गं श्रूयते  
‘यत् पशुषि दितं तद् देवानाम्, यदन्तरा तन्मनुष्याणाम्, यत् समूलं तत्  
पितॄणाम्; समूलं बर्हिर्भवति व्यावृत्त्यै’ । [ ‘पशुषि’ पश्वणि ‘दितं’ खण्डि-  
तम् । तथा ज्योतिष्टोमे दीक्षार्थाभ्यङ्गे श्रूयते—घृतं देवानाम् मस्तु पित-  
ॄणाम्, निष्पक्वमनुष्याणाम्, तद्वा एतत् सर्वदेवतय यन्नवनीतं, यन्नवनी-  
तेनाभ्यङ्गं सर्वा एव देवताः प्रीणाति । ‘मस्तु’ दधिभवमण्डम्, ‘निष्प-  
क्व’ शिरसि पक्षेणुसौषड्विलीनं नवनोतं तक्रं वा । तथाच दर्शपूर्णमास-  
योः पुरोडाशप्रकरणे श्रूयते—‘यो विदग्धः स नैऋतः, योऽश्वतः स रौ-  
द्रः, योऽश्वतः स दैवः, तस्माद्विदग्धाः श्रपयितव्यः स दैवत्वाय’ । [ ‘वि-  
दग्धः’ अतिपक्वः ‘अश्वतः’ अपक्वः । ]

(३) तत्र सन्देहः—पूर्णत्वादुक्तयो विधयोऽर्थवादा वा—अथ विधयः किं पूर्णत्वादयो मनुष्यधर्मत्वेन विहिता उत कर्मधर्मत्वेनेति ।

(४) पूर्वपक्षः—अर्थवत्त्वात् मनुष्यसम्बन्धाच्च पूर्णत्वादयो मनुष्यधर्मा एव—तेषामेव चात्र विधय इति ।

(५) सिद्धान्तः—मन्थनपात्रस्याधोभागमात्रेण पूरणस्य—बर्हिषि समूलच्छेदस्य—अभ्यङ्गे नवनीतस्य—पुरोडाशे यथोचितपाकस्य—विधेयतयाऽवशिष्टं सर्वं तस्य विधेयस्य स्तोवकमेव । अतोऽर्थवादा एवैते न विधय इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—पूर्णेति । ‘पूर्णादितन्त्रम्’—‘पूर्णा’—‘पुरुषि दितम्’ इत्यादिवाक्यजातम्—‘स्तवाय’ तत्तद्विधेयस्य स्तुत्यर्थमेव—‘विहितम्’ उपात्तम्—न विध्यर्थमिति शेषः ॥ ७ ॥

(६) ३।४।१८-१९ क्रत्वङ्गभावोऽनृतवारणस्य

(१) श्रुतिलिङ्गादिवलावलविचारप्रकरणे विधिवाक्यानां विचारानन्त निषेधवाक्यानि विचार्यन्ते ।

(२) दर्शपूर्णमासयोरास्नायते—‘नानृत वदेत्’ इति ।

(३) तत्र सन्देहः—किमत्रानृतवदनप्रतिषेधः केवलपुरुषधर्मत्वेन विधीयते—उत क्रतुयुक्तपुरुषधर्मत्वेनानूद्यते—उत केवलक्रतुधर्मत्वेनानूद्यते—उत क्रत्वर्थत्वेन विधीयत इति ।

(४) पूर्वपक्षः—(१)प्रतियोगिनोऽनृतवदनस्य पुरुषधर्मत्वात् तन्निषेधस्यापि पुरुषधर्मत्वमेव—तच्चात्र विधीयते । (२) अथवा प्राख्यातश्रुतेः प्रकरणस्य चाविरोधाय क्रतुयुक्तपुरुषधर्मत्वमेवानृतवदननिषेधस्य—स्मार्तनिषेधेन च तस्य प्राप्तत्वात् अस्मिन् वाक्ये तद् अनुद्यते । (२) अथवा प्रकरणवलात् प्रयाजादिवत् क्रतावेवारीदुपकारकत्वमेवानृतवदननिषेधस्य । अस्य च निषेधस्य सार्वत्रिकस्य क्रतावपि प्राप्तत्वादस्मिन् वाक्ये अनुवाद एवेति त्रयोऽत्र पूर्वपक्षाः ।

(५) सिद्धान्तः—‘सत्यमेव वदेन्नानृतम्’ इत्यनेन स्मार्तेन नियमेनानृतवदननिषेधस्य पुरुषधर्मत्वेन प्राप्तत्वात् प्रकृतवाक्ये यो निषेधः स क्रत्वर्थ एव । क्रतौ चान्यतोऽप्राप्तत्वात् अत्र विधिरेव तस्य, नानुवादः । एतद्व्यतिक्रमे च क्रतोरेव वैगुण्यम्—अतश्चक्रतुगाम्येव तत्प्रायश्चित्तमपि । पुरुषार्थनियमातिक्रमे तु पुरुषस्य प्रत्यवायः स्मार्तं च प्रायश्चित्तमिति विशेष इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—क्रत्वङ्गभाव इति । ‘अनृतवारणस्य’ अनृतवदननिषेधस्य—‘क्रत्वङ्गभावः’ क्रतुधर्मत्वम्—‘विधीयते’ इति शेषः ॥ ८ ॥



३।४।२०—२२ जज्ञभ्यमानः प्रकृतोऽधिकारी ।

(१) श्रुतिलिङ्गादिविरोधचिन्ता ऽनुवर्तते ।

(२) दर्शपूर्णमासप्रकरणे श्रूयते—‘प्राणो वै दक्ष अपान क्रतु तस्मान् जज्ञभ्यमानो ब्रूयात्—मयि दक्षक्रतु इति प्राणापानाग्नेयात्मन्युत्त’ इति । [ गात्रविनामेन विदारितमुखपुरुषो ‘जज्ञभ्यमान’ ]

(३) तत्र सन्देह — किमयन्धर्म यज्ञ निविशते उत पुरुषगतत्वेन नीयत इति ।

(४) पूर्वपक्ष — वास्यवलात् पुरुषगत एवाय धर्म । ‘ब्रूयात्’ इति पुरुषश्रुते पुरुषप्रयत्नस्य प्रवृत्तित्वात् वास्यवलन प्रकरणादुत्कर्ष ।

(५) सिद्धान्त — कृतावपि जज्ञभ्यमानपुरुषसम्भवात् क्षयप्रकरणयोर्विरोधाभावे सति उभाभ्या क्रतुयुक्तपुरुषसंस्कारकत्वमेव मन्त्रपठनस्य प्रतीयते इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—जज्ञभ्यमान इति । ‘प्रकृत’ प्राकरणिकक्रतुसम्बद्ध — जज्ञभ्यमान ’ पुरुष — ‘अधिकारी’ मन्त्रप्राप्ते इति शेष । प्राकरणिकदर्शपूर्णमाससयुक्तपुरुषधर्म एव मन्त्रपाठ इति भाव ॥ ५ ॥

(६) ३।४।१७ पुसा निषेधः शतयातनोक्त्या

(१) प्रतिषेधान्तरस्याङ्गत्वविचारो वर्तते ।

(२) दर्शपूर्णमासप्रकरणे श्रूयते—‘यो ब्राह्मणायावगुरेत्तं शतेन यातयेत्—तस्माद् ब्राह्मणाय नावगुरेत्’ इति ।

(३) तत्र सन्देह — अयं ब्राह्मणावगुरणनिषेध किं क्रत्वर्थ उत पुरुषार्थ इति ।

(४) पूर्वपक्ष — पूर्वाधिकरणन्यायेन क्रत्वर्थ पचायन्निषेध । तथाच यज्ञकाले ब्राह्मणावगुरणत्र कर्तव्यमित्यस्यार्थः ।

(५) सिद्धान्त — पूर्वाधिकरणन्यायोऽत्र नावतरति । तत्र हि प्राणापानधारणस्य आत्मनि पुरुषे प्रागेव सिद्धत्वात्तस्य मन्त्रोच्चारणफलत्वसम्भवति—अत एव क्रत्वङ्गत्वम् । इह तु शतसवसंख्यातनारूपस्य ब्राह्मणावगुरणफलस्यात्मनि प्रागसिद्धत्वात् यातनापरिहारस्य निषेधकलस्यात्मनि पुरुष एव सम्भव । अतोऽत्र निषेधस्य केवलपुरुषार्थत्वमततश्च प्रकरणादस्योत्कर्षो न्याय्य इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—पुस इति । ‘शतयातनोक्त्या’ शत यातयेदिति श्रुतिमलेन—‘निषेध’ ब्राह्मणाय नावगुरेदित्येवरूप — ‘पुस’ पुरुषार्थ एवेत्यर्थः ॥ ७ ॥

(७) ३।४।२४-२५ सर्वार्थताऽसंवदेतेर्मलिन्या

(१) निषेधान्तरविचारः ।

(२) दर्शपूर्णमासप्रकरणे श्रूयते—‘मलवद्वाससा न संवदेते’ इति ।  
[ ‘मलवद्वाससाः’ रजस्वला स्त्री ] ।

(३) तत्र सन्देहः—किं मलवद्वाससा स्त्रिया सह संवादस्य दर्श-  
पूर्णमासाङ्गस्य प्रतिषेधात् अस्य प्रतिषेधस्य कत्वङ्गता—उत पुरुषस्य  
सर्वत्र संवादस्य प्रतिषेधात् अस्य पुरुषाङ्गत्वमिति ।

(४) पूर्वपक्षः—प्रकरणबलात् संवादिनिषेधस्य कत्वङ्गत्वैव । तथाच  
दर्शपूर्णमासानुष्ठाने प्रसक्तः पुरुषः रजस्वलया न संवदेतेत्यस्यार्थ इति ।

(५) सिद्धान्तः—‘यस्य ब्रात्येऽहनि पत्न्यनालम्भुका भवति तामपरु-  
ध्य यजेतेति’ रजस्वलायाः पत्न्या यज्ञावसरेऽसत्त्वात्तया सह संवादस्य-  
प्रसक्तत्वात्तस्य प्रतिषेधोऽन्याय्यः । ततश्च सार्वत्रिककेवलपुरुषार्थता-  
ऽस्य निषेधस्य । क्वचिदपि रजस्वलया संवादो न कार्य इति तस्यार्थः ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—सर्वार्थतेति । ‘मलिन्या’ रजस्वलया—‘असंव-  
दतेः’—संवादप्रतिषेधस्य—‘सर्वार्थता’ सकलसाधारणपुरुषार्थत्वम्—न  
केवलयज्ञप्रसक्तपुरुषार्थत्वमित्याशयः ॥ ७ ॥

(८) ३।४।२६-३० पुंसो हिरण्यस्य धृतिः क्रतोर्न ।

(१) प्रकरणविशेषासम्बद्धानामङ्गत्वविचारः प्रसूयने ।

(२) अनारभ्य श्रूयते—‘तस्मात् सुवर्णं हिरण्यं धार्यम्—सुवर्ण एव  
भवति दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति’ इति ।

(३) तत्र सन्देहः—अत्रोक्तं हिरण्यधारणं कत्वङ्गमुत पुरुषार्थमिति ।

(४) पूर्वपक्षः—यदेतद् हिरण्यधारणं तस्य वेदविहितत्वेन वैदिक-  
क्रियारूपत्वात् क्रतुस्मारकत्वं ततश्चास्य कत्वङ्गत्वैव—तथाच क्रतूपयुक्तं  
हिरण्यं धारणेन संस्क्रियत इति भावः इति ।

(५) सिद्धान्तः—वाक्यमिदं यदि क्रतुप्रकरणे श्रुतं स्यात् सम्भवेत्तर्हि  
तस्य क्रतुस्मारकत्वम् । इदं त्वनारभ्याधीतम् । न च हिरण्यं कताव-  
व्यभिचरितम्—येन क्रतुं स्मारयेत् । एवं च क्रतौ नियमने प्रमाणभा-  
वात् केवलपुरुषार्थत्वैव धारणस्योचितेति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह पुंस इति । ‘हिरण्यस्य धृतिः’ धारणं—‘पुंसः’ पुरु-  
षाङ्गमेव—‘न क्रतोः’ न कत्वङ्गमित्यर्थः ॥ ८ ॥

(९) ३।४।३१-३३ जयादग्नौ वैदिकहोमशेषाः ।

(१) अनारभ्यान्नातानां वाक्येन सिद्धकृत्वङ्गभावानां पदार्थानां  
म्बन्धविशेषा इदानीं विचार्यन्ते ।

(२) अनारभ्य श्रूयते—‘येन कर्मणा ईत्सेत तत्र जया जुहुयात्—रा  
प्रभृतो जुहोति अभ्यातानाञ्जुहोति’ इति ‘ईत्सेत्’ ऋद्धिमिच्छेत्—‘जया’  
चित्तं च स्वाहेत्याद्याहुतिरूपा—ऋतापाडित्याद्याहुतिरूपा ‘राप्रभृत’—  
अग्निभूतानामित्याद्याहुतिरूपा ‘अभ्याताना.’ ।

(३) तत्र सन्देह—एता आहुतयः किं लौकिकेषु कृष्यादिषु घौर्दिर्षु  
अग्निहोत्रादिषु सर्वेषु निविशन्ते उत वैदिकेष्वेवेति ।

(४) पूर्वपक्ष—वैदिककर्मणोऽपि लौकिककर्मणापि ऋद्धेरप्यमाणत्वात्  
सङ्कोचे प्रमाणाभावात् जयादिहोम सर्वकर्मोद्गमिति ।

(५) सिद्धान्त—‘यदाहवनीये जुहति तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीत’ इति  
वाक्येन होममुद्दिश्याहवनीयाग्निविधानम्—न च कृष्यादौ आहवनीया  
ग्निसम्भव । तस्मात् आहवनीयवत्सु वैदिककर्मस्वेव जयादिहोमानां  
निवेश इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—जयादय इति । ‘जयादय’ होमा—‘वैदिका  
नामेव’ ‘होमाना’ ‘शेषा’ अङ्गभूता—न लौकिकानामियाजय ॥ ० ॥

(१०) ३।४।३४—३५ अश्वग्रहे वैदिकजेऽङ्गमिष्टिः

(१) अनारभ्याधीतानि मानिचित्कर्माणि वैदिककर्मप्रयुक्तान्युत लौ-  
किकान्यवहारप्रयुक्तानांति विचार्यन्ते ।

(२) ऋस्त्यश्वप्रतिग्रहेष्टि—‘वरुणो वा एत गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति—  
यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्गपेत्’ इति ।  
[ प्रतिग्रहपदेनात्र दानं विवक्षितमित्यग्निमेऽधिकरणे निर्णय्यते ॥

(३) तत्र सन्देह—किमियमिष्टिलौकिकेऽश्वप्रतिग्रहे कार्या उत वै-  
दिके इति । ‘लोके भित्तमाशो वाऽभित्तमाणो यत्राश्वं लभते तत्राश्वप्रतिग्रहो  
लौकिकः पौण्डरीकयज्ञेऽश्वसहस्रं दक्षिणा ज्योतिष्टोमे गोश्वाश्वश्चेत्य-  
श्वप्रतिग्रहो वैदिकः ।’

(४) पूर्वपक्ष—विशेषाश्ववणात् लौकिकवैदिकोभयप्रतिग्रहप्रयुक्तोयमि-  
ष्टि [ अथवा ‘न केसरिणो ददाति’ इति लौकिकाश्वदानस्य निषिद्ध-  
त्वात् तस्यैव दानस्य प्रायश्चित्तरूपेयमिष्टिलौकिकदानमात्रं प्रयुक्तेति अ-  
पर पक्षः ] ।

(५) सिद्धान्त—‘वरुणो वा एत गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति’  
इत्यश्वप्रतिग्रहे जलोदरव्याधिरूपो दृष्ट एव दोष श्रूयते । न च लौकि-  
कस्याश्वप्रतिग्रहस्य तद्व्याधिजनकत्वं कुत्रापि दृश्यते । वैदिकस्य तु

सम्भवत्येव जन्मान्तरविषयं दोषश्रवणम् । अतो वैदिके एवाश्वप्रतिग्रहे इयमिष्टिरिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—अश्वग्रह इति । 'वैदिकजे' वैदिककर्माङ्गभूते एव 'अश्वग्रहे' अश्वप्रतिग्रहे—'इष्टिः' अश्वप्रतिग्रहेष्टिः—'अङ्गम्' इति सम्बन्धः ॥ १० ॥

(११) ३।४।३६-३७ उपक्रमात् सा तुरगस्य दातुः ।

(१) पूर्वाधिकरणविषयस्याश्वप्रतिग्रहेष्टेः कर्तृविषयो विचारः प्रस्तूयते ।

(२) [ पूर्वाधिकरणोदाहृतमेवात्रापि विषयवाक्यम् ] ।

(३) तत्र सन्देहः—इयमश्वप्रतिग्रहेष्टिः किं यस्मै अश्वो दीयते तेन प्रतिग्रहकर्त्रा कर्तव्या—उत यो ददाति तेन प्रतिग्रहकारयित्रेति ।

(६) पूर्वपक्षः—'प्रतिगृह्णीयात्' इति स्पष्टश्रवणात् प्रतिग्रहीतुरेवेष्टिरिति ।

(५) सिद्धान्तः—उदाहृतवाक्यस्योपक्रम एवरूप उपलभ्यते—'प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत् [ दत्तवानित्यर्थः ] स स्वा देवतामार्जुत् [ वरुणदेवतां जलोदररोगपूदां प्राप्तवानित्यर्थः ] स पर्यदीर्यत [ रोगेण विदीर्णो बभूवेत्यर्थः ] स एतं वारुणं चतुष्कपालमपश्यत्—तं निरवपत्—ततो वै स वरुणपाशादमुच्यत' इति । अनेन चोपक्रमेण स्पष्टं सूच्यते यदश्वदातुरेवेयमिष्टिरिति । असञ्जातविरोध्युपक्रमबलेन च विधिवाक्येऽपि प्रतिगृह्णीयात् इतिपदं 'प्रतिग्राहयेत्' इत्येवमन्तर्भावितण्डित्यर्थपरतयैव नेयमिति । प्रतिग्रहस्य प्रयोजककर्त्रा दात्रैवेयमिष्टिः कर्तव्येति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—उपक्रमादिति । 'उपक्रमात्' उदाहृतवाक्यस्योपक्रमवाक्यबलात्—'सा' अश्वप्रतिग्रहेष्टिः—'तुरगस्य दातुः' दात्रैव कर्तव्या, न प्रतिग्रहीत्रेत्यर्थः ॥ ११ ॥

(१२) ३।४।३८-३९ त्रैदोक्तपाने वमने चरुः स्यात्

(१) पूर्वाधिकरणद्वयसदृशमेव विचारान्तरम् ।

(२) अनारभ्य श्रूयते—'सोमेन्द्रं चरुं निर्वपेत् श्यामाकं सोमवाग्मिनः' इति ।

(३) तत्र सन्देहः—लौकिकस्य सोमपानस्य वमने सोमेन्द्रचरुनिर्वापः—उत वैदिकस्येति । [ 'वैदिक' सोमपानं ज्योतिष्टोमे तद्विकृतिषु च, 'लौकिकं' सोमपानं यत् शरीरधातुसाम्यार्थं सप्तरात्रेषु दशरात्रेषु च क्रियते ] ।

(४) पूर्वपक्ष — 'इन्द्रियण वा एष वीर्यण व्यृध्यते य सोम वमति' इति सोमवमने दृष्टदोष श्रयते । स च शरीरधातुसाम्यार्थपानव्यापयेव सम्भवति । ततोपशान्तय एव च चरुनिर्वापविधानम् । तस्मात् लौकिके एव पाने वमने चरुनिर्वाप इति ।

(५) सिद्धान्त — लाङ्किः सोमपानं तु वमनार्थमेव क्रियते । अतस्तद्वमने दोषो न सम्भवति । तस्मात् यदु दोषश्रयणमुदाहृतं तद् वैदिक एव सोमपाने सम्बध्यते । वैदिकं तु पानं जग्यितुमेव भवति, न वमि तुम् । अताऽत्रैव वमननिमित्तकं प्रायश्चित्तं स्यात् । तस्मात् वैदिक एव पाने वमने वदात्तदोषममाधानार्थं प्रायश्चित्तं सोमैन्द्रचरुनिर्वापरूपं भवतीति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—उदात्तः । 'वेदोक्तः' वैदिककर्माङ्गत्वेन विहितं यत् 'पानं' सोमस्य तस्मिन् एव—'वमने' सति—'चरु' सोमैन्द्रचरुनिर्वाप—'स्यात्' कर्णीय इति शेषः—न तु लौकिकपानवमने इत्याशयः ॥ १२ ॥

(१३) ३।४।४०-४२ स्यात् स्वामिनो वै वमने स यागः

(१) पूर्वाधिकरणप्रसक्त एवायं विचारः ।

(२) पूर्वाधिकरणादाहृतमेवात्र विषयप्राप्तयम् ।

(३) तत्र सन्देहः—यदेतत् वैदिकसोमपानवमने प्रायश्चित्तं सोमैन्द्रचरुनिर्वापस्य कर्म तत् किं यज्ञसम्बन्धिना सवपा ऋत्विजा यजमानस्य च वमने स्यात्—उत यजमानस्येवेति ।

(४) पूर्वपक्ष — विरुपाभिधानाभावात् ऋत्विजा यजमानस्य च वमने स्यात् प्रायश्चित्तमिति ।

(५) सिद्धान्त — 'यो वमति स निर्वपातः' इति वचनेन निर्वपतुरेव वमने चरुनिमित्तम् । निर्वपा च यजमानः । तस्मात् यजमानस्यैव वमने चरुविधि इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—स्यादिति । 'स्वामिनः', 'व' यजमानस्य एव—'वमने' 'स' सोमैन्द्रचरुरूपः—'यागः' 'स्यात्' कर्तव्य इति ॥ १३ ॥

(१४) ३।४।४२-४७ न सर्वदानं हविषोऽवखण्ड्य

(१) अङ्गविषये विचारविशेषः ।

(२) दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—'आग्नेयोऽष्टाकपालः' इति । [ अष्टसु कपालेषु सम्पादितं पुरोडाशोऽष्टाकपालः ]

(३) तत्र सन्देहः—किं कृत्स्नोऽपि पुरोडाशोऽग्नये त्यक्तव्यः—उत किञ्चिद् दातव्यं किञ्चिच्छेषयितव्यमिति ।

(४) पूर्वपक्ष — कृत्स्नोऽपि पुरोडाशोऽग्नये त्यक्तव्य — आग्नेय इत्यत्र हि तद्धितेन कृत्स्नस्य पुरोडाशस्य अग्निदेवतासम्बन्धोऽवगम्यते । समस्तस्य त्यागमन्तरेण चैष न सम्भवतीति ।

(५) सिद्धान्त — 'द्विहविषोऽवद्यति' इत्यवदानद्वयं श्रूयते । अवदेशचाङ्गुष्ठपर्वमात्रम् । ततो हविषः पुरोडाशस्य सकाशादङ्गुष्ठपर्वद्वयमात्रं खण्डयित्वा त्यक्तव्यम् — इतरत्तु शेषणीयम् । देवतासम्बन्धश्चाशद्वयमात्रेणापि सम्पद्यते इति ॥

एतदेवाभिप्रेत्याह — न सर्वेति । 'हविषः' पुरोडाशस्य — 'सर्वदान' कृत्स्नस्य त्यागो — 'न' किन्तर्हि — 'अवखण्डय' पुरोडाशात् पर्वद्वयमात्रं मवच्छिद्यैव त्यक्तव्यमिति शेषः ॥ १४ ॥

(१५) ४।८।४३-५१ शेषक्रिया सर्वहविर्भ्य एव

(१) अङ्गुष्ठविषये विचारविशेषान्तरम् ।

(२) दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते — 'शेषात् स्विष्टकृतेऽवद्यति' इति ।

(३) तत्र सन्देहः — यदिदं शेषावदानम् तत् किं सर्वेषां हविषामाग्नेयादीनां त्रयाणामेव शेषैः कार्यमुत यस्य कस्यचिदेकस्येति ।

(४) पूर्वपक्ष — त्रयाणां हविषा यस्यकस्यचिदेकस्य हविषः शेषेण शेषावदानम् । तावतैव हि शास्त्रानुष्ठानं सिध्यति इति ।

(५) सिद्धान्त — यद् हविर्यज्ञे उपयुक्तमभूत् तत्सस्कारार्थमेव शेषावदानं विहितम् । अयं च सस्कारः सर्वेषां हविषा समानमपेक्ष्यते । तस्मात् सर्वेषां हविषा शेषैः स्विष्टकृते शेषावदानम् इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह 'शेषक्रियेति । 'सर्वेभ्यो हविर्भ्यः' — त्रिभ्योऽपि आग्नेयादिभ्यः — 'शेषक्रिया' शेषावदानं स्विष्टकृते कर्तव्यमिति शेषः ॥ १५ ॥

(१६) ३।४।५२-५३ यद्येकतः सा हविषस्तु मुख्यात्

(१) पूर्वाधिकरणसम्बद्ध एव विचारः कृत्वाचिन्तरूपः ।

(२) पूर्वाधिकरणपूर्वपक्षः स्मृत्यापि एकस्यैव हविषः शेषावदानम् —

(३) सन्देहः — किं यत् कुतश्चिद् एकस्मात् शेषावदानमुत प्रथमा देव हविष इति ।

(४) पूर्वपक्ष — नियामकस्याश्रुतत्वात् यस्मात्कस्माच्चिद् हविः शेषाच्छेषावदानं कर्तव्यमिति ।

(५) सिद्धान्तः — प्रथमस्यातिक्रमे मानाभावात् प्रथमहविःशेषेणैव सस्कारसिद्धौ इतरत्र प्राप्त्यभावादस्ति नियामकम् । तस्मात् प्रथम हविषः एव शेषावदानमिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—यद्येकत इति । 'यदि' पूर्वाधिकरणं वपमानु  
सारेण—'एकत' एकस्मादेव हविष शेषावदान स्यात् तदा 'सा' शेष  
क्रिया 'मुर्यात्' प्रथमहविष एव स्यादिति ॥ १६ ॥

(१७) ३।४।५४-५७ परिक्रयार्थो न भवेद् विभागः

(१) पुरोडाशविषये विचारान्तरम् ।

(२) दर्शपूर्णमासप्रकरणे चतुर्धाकृतपुरोडाशविषये यजमानस्योक्ति-  
'इदं ब्रह्मण इदं होतु इदमध्वर्यो इदमग्नीध' इति ।

(३) तत्र सन्देह —योऽय ऋत्विङ्नाम्ना निर्देश पुरोडाशभागस्य स  
किं तेषां परिक्रयाय उत भक्षणायेति ।

(४) पूर्वपक्ष —अयं निर्देशो न भक्षणार्थं, भक्षणस्याश्रुतत्वात् । ततो  
भृत्विदानं तान् तानृत्विजं परिकेतुमेवायम् । दक्षिणावत् पुरोडाशभा  
गोऽपि ऋत्विजा वेतनमेवेति ।

(५) सिद्धान्त —'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' इति कृत्स्नस्य पुरोडाशस्य  
देवतार्थं सङ्कल्पितत्वेन—तत्र यजमानस्य स्वामित्वमेव नास्ति—ततश्च  
न सम्भवति तद्भागस्य ऋत्विक्परिक्रयार्थं विनियोगः । भक्षणं तु उपयुक्तं—  
हवि शेषस्य प्रतिपत्तिर्ममरूपं युक्तमेव । एव च पुरोडाशस्य भक्षणार्थं  
त्वाद् तद्भक्षणेन कर्मकराणामृत्विजामुत्साहजननार्थाऽयं निर्देश इति ।

एतदभिप्रेत्याह—परिक्रयार्थं इति । 'विभाग' इदं ब्रह्मण इत्यादि  
पुरोडाशभागनिर्देश 'परिक्रयार्थं' दक्षिणावत् ऋत्विजा वेतनदानार्थं. 'न  
भवेत्'—अपि तु भक्षणार्थं एवेत्याशयः ॥ १७ ॥

न्यायास्तु पादे दश सप्त चात्र ॥

अस्मिन् पादे सप्तदशैवाधिकरणानि भाष्यकारमतेनेति ॥

इति चतुर्थं पादः ॥

## अथ पञ्चमः पादः ।

(१) ३।५।१-१२ आज्यान् शेषकार्याणि

(१) सवेभ्यो हविर्भ्यं शेषावदानमिति न्यायस्यापवादो विचार्यते ।

(२) दर्शपूर्णमासयो शेषकार्याणि श्रूयन्ते—‘उत्तरार्धात् स्विष्टकृते समवद्यति’ ‘इडामुपह्वयति’ इत्यादीनि ।

(३) तत्र सन्देह —किमुपाशुयार्जद्रव्यात् आज्यात् स्विष्टकृदादिशेषावदानं कर्तव्यमुत नेति ।

(४) पूर्वपक्ष —आज्यादपि शेषकार्यं कर्तव्यम्—‘सवेभ्यो हविर्भ्यं समवद्यति’ इति वाक्येन सर्वेभ्यो हविर्भ्यं शेषकार्यस्य प्रापितत्वादिति ।

(५) सिद्धान्त —सम्पन्नप्रयोजनस्यैव हविर्द्रव्यस्य शेष शेषावदानरूपा प्रतिपत्तिमपेक्षते । औव त्वाज्यं न सम्पन्नप्रयोजनम् तेन कर्तव्यानामुपस्तरणादीनामसम्पन्नत्वात् । तस्मादाज्येन न भवति शेषकार्यमिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—आज्यादिति । ‘आज्यात्’ औवाज्यात्—‘शेषकार्याणि’ शेषावदादानि—‘न’ कर्तव्यानीति शेष ॥ १ ॥

(२) ३।५।१३ साकम्प्रस्थाप्यके च न ।

(१) शेषकार्यप्रसङ्गेन विचारान्तरम् ।

(२) दर्शपूर्णमासयो श्रूयते—‘साकम्प्रस्थाप्येन यजेत्’ इति ।

(३) तत्र सन्देह —अस्मिन् कर्मणि साकम्प्रस्थाप्यात् स्विष्टकृते शेषावदानम्भवति न वेति ।

(४) पूर्वपक्ष —दर्शपूर्णमासविकारो हि साकम्प्रस्थाप्यम् । अतः प्रकृतिवद् विकृतावपि भवत्येव शेषावदानमिति ।

(५) सिद्धान्त —न भवत्यत्र शेषावदानम्—शेषस्यासत्त्वात् । ‘आज्यभागान्भ्यां प्रचर्य आग्नेयेन पुरोडाशेन अग्नीध्रे स्तुचौ प्रदाय सह कुम्भीभिरभिक्रामन्नाह’ इति वाक्येन सकलस्य हविषो हुतत्वान्नं भवत्यत्र शेषो येन शेषावदानं स्यादिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—साकम्प्रस्थाप्यके—इति । ‘साकम्प्रस्थाप्यके’ कर्म—‘च’ ‘न’ भवति शेषकार्यमिति शेष ॥ २ ॥

(३) ३।५।१४-१५ सौत्रामणीग्रहे न स्युः

(१) शेषकार्यविषये विचारान्तरम् ।

(२) सौत्रामणीनामके यज्ञे श्रूयते—‘पयोग्रहा सुराग्रहाश्च गृह्यन्ते’ इति ।



(३) तत्र सन्देह — एतेभ्यो ग्रहेभ्य शेषकार्यं भवति न वेति ।

(४) पूर्वपक्ष — प्रकृतिगतसोमग्रहेभ्य इव एभ्योऽपि शेषकार्यमस्ति । न चात्र साकम्पस्थाय्यवच्छेपाभाव — 'उच्छिन्नपृष्ठे न सर्वं जुहोति' इति शेषयितव्यश्रवणात् । इति ।

(५) सिद्धान्त — उक्तस्यावशेषस्यान्यत्रोपयोग श्रूयते — 'ब्राह्मण परि-  
क्रिणीयादुच्छेषणस्य पातारम्' इति, 'यदि ब्राह्मण न विन्देत वल्मीकघषा  
यामवनयेत्' इति, 'गतोतृणायामवनयेत्' इति च । तद्यं च शयस्यान्यत्रो  
पयोगात् नास्ति शेष । ततश्च न शेषकार्यमिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह — सौत्रामणीति । 'सौत्रामणीग्रहे' सात्रामणीद्याग  
सम्बन्धिनि ग्रहे — 'न स्यु' शेषकार्याणीति शेष ॥ ३ ॥

(४) ३।५।१६-१७ सर्वपृष्ठेष्टितः सकृत् ॥

(१) शेषकार्यं विचारान्तरम् ।

(२) — 'य इन्द्रिसकामो वीर्यकाम स्यात् तमेतया सर्वपृष्ठया याजयेत्'  
इति विहितायां सर्वपृष्ठेष्टौ षट् देवता श्रयन्ते — 'इन्द्राय राधन्तराय  
इन्द्राय बार्हताय इन्द्राय वेराजाय इन्द्राय साक्वराय इन्द्राय रैषताय'  
इन्द्राय वैरूप्याय इति । तत्र स्वरूपगौरव इन्द्र, पृष्ठस्तोत्रेषु विहितानां षण्णां  
रथन्तरादिसाम्ना सम्प्रन्धेन विशिष्यमाण षोढा भिद्यते । सर्वासामसैता  
सामिन्द्रदेवतानामेक एव सा प्रारण पुरोडाशो विधीयते 'द्वादशकपाल  
पुरोडाशो भवन्ति वैश्वदेवत्वाय' इति ।

(३) तत्र सन्देह — एषा षण्णां कर्मणा शेषकार्यं प्रतिकर्म भिद्यते — तथा  
च सर्वपृष्ठेष्टौ षट् शेषकार्याणि उत सकृदव शेषकार्यं सर्वसाधारणमिति ।

(४) पूर्वपक्ष — अत्र देवताभेदेन प्रधानभेदेन च कर्मणा भेदे सति  
प्रतिकर्म शेषकार्यं कर्तव्यत् पट्कृत् इति ।

(५) सिद्धान्त — कर्मणा भेदेऽपि हवि शेषस्य अविभागात् शेषस्यै-  
कत्वमेव । ततश्च शेषकार्यं सकृदेव भवतीति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह — सर्वपृष्ठेष्टित इति । 'सर्वपृष्ठेष्टित' सर्वपृष्ठेष्टि  
कर्मणि प्रदत्तात् पुरोडाशात् — 'सकृत्' एकमेव भवति शेषकार्यमिति  
शेषः ॥ ४ ॥

(५) ३।५।१८ द्विरैन्द्रवायवे भक्षः

(१) शेषकार्यविचारोऽनुवर्तते । पूर्वाधिकरणापवादोऽयम् । \*

(२) ज्योतिष्टोमे भवत्यैन्द्रवायवो नाम द्विदेवत्यो ग्रह ।

(३) तत्र सन्देह — अत्र किं शेषकार्यभूत भक्षणं सकृदुत द्विरिति ।

(४) पूर्वपक्ष — भक्षस्य सोमसस्कारार्थत्वात् सोमस्य चैकत्वात् सकृदेव भक्षणमिति ।

(५) सिद्धान्त — ऐन्द्रवायवे द्विर्भक्षणम् — 'द्विरैन्द्रवायवस्य भक्षयति' इति वचनात् । इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह — द्विरिति । 'ऐन्द्रवायवे' ग्रहे — 'भक्ष' शेषभक्षणम् 'द्विः' द्विवार भवतीति ॥ ५ ॥

(६) ३।५।१६-२१ ज्योतिष्टोमेऽस्ति भक्षणम् ।

(१) शेषकार्यविचारोऽनुवर्तते ।

(२) ज्योतिष्टोमे सोमयागे सोमरसो द्रव्यमाप्नातम् ।

(३) तत्र सन्देह — सोमे भक्षरूप शेषकार्यमस्ति न वेति ।

(४) पूर्वपक्ष — नास्ति भक्ष सोमेषु । सोमभक्षणस्यानाम्नानात् शेषस्य चाभावात् । 'यद् ग्रहान् जुहोति' इति वाक्येन कृत्स्नस्य सोमस्य हुतत्वान्नास्ति शेषो यस्य भक्षण स्यादिति ।

(५) सिद्धान्त — 'अल्प जुहोति' इति विशेषवचनात् सिध्यत्येव शेष । तद् भक्षण चापूर्वार्थेऽतिपादकवचनेभ्योऽवगम्यते । तथाहि — 'आश्विन भक्षयन्ति' 'द्विरैन्द्रवायवस्य भक्षयन्ति' 'सदसि भक्षयन्ति' इत्यादीनि वचनानि भक्षणमपूर्वार्थं प्रतिपादयन्ति । ततः सोमविधानादस्त्येव भक्ष सोमेष्विति ॥

एतदेवाभिप्रेत्याह — ज्योतिष्टोम इति । 'ज्योतिष्टोमे' सोमयाने — 'भक्षण' सोमशेषस्य 'अस्ति' एव इति ॥ ६ ॥

(७) ३।५।२२ समाख्या कल्पयेद् भक्षम्

(१) भक्षरूपशेषकार्ये विचारोऽनुवर्तते ।

(२) ज्योतिष्टोमे श्रूयते — 'प्रैतु होतुश्चमस प्र ब्रह्मण प्रोद्गातृणाम् प्र यजमानस्य प्रयन्तु सदस्यानाम्' इति ।

(३) तत्र सन्देह — अत्र चमसिना भक्षोऽस्ति सोमस्य न वेति ।

(४) पूर्वपक्ष — वचनाभावान्नास्त्येव भक्षश्चमसिनामिति ।

(५) सिद्धान्त — 'होतुश्चमस' इति सोमपात्रस्य समाख्या । चमस शब्दश्च भक्षणमभिधाति — 'चम्यते भक्ष्यतेऽस्मिन् पात्रविशेषे' इति व्युत्पत्त्या । एव च चमसगतस्य सोमस्य शेषभक्षण समाख्ययैव प्राप्तम् । होतुश्च चमसेन सम्बन्धो भक्ष्यभक्षकभावेनैव सम्भवति । तथाच सति होतुर्भक्षणं विना 'होतुश्चमस' इति नामैव न सिध्येत् । यद्यत्र पात्रे होता न चमेत् न भवेदयं होतुश्चमस । एव च 'होतुश्चमस' इति समाख्ययैव

होतृकर्तृक त पात्रत्रिशेषस्थितस्य सोमस्य शेषभक्षणम्प्राप्तम् । एवमेवान्येषां चमसिना ब्रह्मादीनाम् । तस्मादस्ति चमसिनामपि भक्षण इति ॥

एतदभिप्रेत्याह—समाग्यति । 'समाग्या' होतृश्चमस इत्यथरूपा 'भक्षणम्' भक्षण पात्रत्रिशेषस्थितसोमशेषस्य—'कृत्पयेत्' प्रमापयदिति सिद्ध्यन्ति ॥ ७ ॥

(८) ३।५।२३-२६ सुब्रह्मण्यो न भक्षयेत् ॥

(१) शेषभक्षणविचारोऽनुवर्तते ।

(२) पूर्वोदाहृतवाक्य 'प्रादानृणामिति' श्रूयते ।

(३) तत्र सन्देह—एव चमसे किमेक एव ऋत्विक् उद्गातृनाम्ना प्रसिद्धो भक्षयेत् अथवा उद्गातृपत्नितः सर्व एव ऋत्विजो भक्षयेयुः—अथवा त्रय छन्दोगा एव ऋत्विज सुब्रह्मण्यादया भक्षयेयुः—अथवा सुब्रह्मण्यरहिता एव छन्दोगा भक्षयेयुरिति ।

(४) पूर्वपक्ष—(१) 'उद्गातृणां चमस' इति सामान्यया पुर्याधिकरणन्यायेनैक एव ऋत्विक् यस्य नाम 'उद्गातेति' तच्चमसगण भक्षयेत् । (२) अथवा उद्गातृणामिति बहुवचनस्येकस्मिन्नसम्यग्प्राप्तं सर्व एव ऋत्विजस्तच्चमसगण भक्षयेयुः । (३) अथवा ये ऋत्विजश्छन्दोगा सा सामगानकर्तृण्युक्तास्ते एव सर्व भक्षयेयुः सामगानकर्तृत्वात्तेषामप्युद्गातृसमाग्यासम्बन्धादिति ।

(५) सिद्धान्त—सामगानकर्तृणां सर्वेषां शेषभक्षणं प्राप्तेऽपि तेषां मेकस्य सुब्रह्मण्यस्य न भवति भक्षणम् । सद् एव भक्षणस्थानम् न च तत्र सुब्रह्मण्यस्य प्रवेशः । तस्मात् सुब्रह्मण्यस्य सामगान्येऽपि तद्वर्जिता नामेव सामगाना भक्षणमिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—सुब्रह्मण्य इति । 'सुब्रह्मण्य' सुब्रह्मण्यनामक सामगानकर्ता 'न भक्षयेत्' उद्गातृचमसशेषमिति शेषः ॥

। यं पक्षोऽत्र तृतीयपूर्वपक्षरूपेण प्रदर्शितः स एव भाष्यकारमतेन सिद्धान्तः । तन्मतेन यत् किञ्चित् सर्वेषां सामगानां प्राप्तं तस्मात् कस्यापि सामगानकर्तृरपक्षेऽत्र न न्याय्यः साक्षाद्वचनमन्तरेणेति । यश्च पक्षोऽत्र मूले सिद्धान्तत्वेन प्रदर्शितः स वार्तिककारसम्मतः सिद्धान्त इति विवेचनीयम् ॥ ८ ॥

(९) ३।५।२७-३० ग्रावस्तुतो विधेर्भक्षः

(१) समाख्यामूलकानि भक्षणानि निरूपितानि । श्रुतिमूलकानि दानीं विचार्यन्ते ।

(२) ज्योतिष्टोमे चतुर्णां होतृणाम्मध्ये चतुर्थो ग्रावस्तुत्तामकः ।

(३) तद्विषये सन्देह —अथ ग्रावस्तुतो सोम भक्षयेदुत नेति ।

(४) पूर्वपक्ष —ग्रावस्तुतो नास्ति भक्ष, अनाम्नानात् । चमसिनामेव भक्षो विहित, न च ग्रावस्तुत् चमसी-चमसिना होत्रादीनां परिगणने तन्नाम्नोऽनभिधानादिति ।

(५) सिद्धान्त —सत्य चमसिना परिगणने ग्रावस्तुतो नाभिधानम् । किन्तु सोमभक्षणे चमसित्वन्न कारणम् । श्रुत्या सर्वेषामेव ऋत्विजा तत्राधिकारात् । तथाहि श्रुति —‘यथा चमसमन्याश्चमसिनो भक्षयन्ति अथैतस्य हारियोजनस्य सर्व एव लिप्सन्ते’ इति—[ ‘हरिरसि हारियोजन’ इति मन्त्रेण गृह्यमाणश्च ग्रहो हारियोजन ] । एव च सर्वेषां भक्षणेऽधिकारात् भवत्येव ग्रावस्तुतोऽपि भक्ष इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—ग्रावस्तुत इति । ‘ग्रावस्तुत’ तन्नामकस्य ऋत्विज —‘भक्ष’ सोमशेषभक्षणम्—‘अस्येवेति शेष । कुत ? ‘विधे’—‘सर्व एव हारियोजनस्य लिप्सन्ते’ इति श्रुत्या सर्वेषामभक्षणेऽधिकारस्याम्नानादित्यर्थ ॥ २ ॥

(१०) ३।५।३१ वषट्कर्ता च भक्षयेत् ।

(१) श्रुतिमूलकशेषभक्षणविचारोऽनुवर्तते ।

(२) ‘वषट्कर्तुं प्रथमभक्ष’ इति श्रूयते । [ वषट्करण होत्रा क्रियते ]

(३) तत्र सन्देह—अनेन वाक्येन किं वषट्करण भक्षनिमित्ततया आम्नायते—उत भक्षस्य प्राथम्यमात्रं विधीयते—इति ।

(४) पूर्वपक्ष —भक्षस्य समाख्ययैव प्राप्तत्वात् तस्य प्राथम्यमात्रं विधीयते—इति ।

(५) सिद्धान्त —‘प्रथमभक्ष’ इत्यस्य समस्तपदत्वेन ‘यो भक्ष स प्रथम’ इत्येव विच्छिद्यान्वेतुमयोग्यत्वात् प्राथम्यविशिष्टभक्षणमत्र विधीयते । तस्मिन् भक्षणे वषट्करण निमित्तमिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह वषट्कर्तेति । ‘वषट्कर्ता’ वषट्करणकर्त्तृकर्ता होता ‘च’ ‘भक्षयेत्’ सोमशेष, तस्मिन् भक्षणे वषट्करणमेव निमित्तमित्यशय ॥ १० ॥

(११) ३।५।३१ होमाभिषवकर्ता च

(१) भक्षणस्य निमित्तान्तराणि विचार्यन्ते ।

(२) ‘प्रेतु होमश्चमस’ ‘वषट्कर्तुं प्रथम भक्ष’ ‘हारियोजनस्य सर्वं लिप्सन्ते’ इति ज्योतिष्टोमप्रकरणे वाक्यानि ।

(३) तत्र सन्देह—किमत्रोक्तान्येव भक्षनिमित्तान्युतान्यदपि—इति ।

(४) पूर्वपक्ष —समाख्यया वाक्य श्रुतिप्रामाण्येन त्रिभिरुदाहृतैर्वाक्यै-  
स्त्रीण्येव भक्षयन्तिमिच्छन्तीति ।

(५) सिद्धान्त —‘हविर्धाने ग्रावभिरभिषुय आहवनीये हुता प्रत्यञ्च  
परेत्य सदसि भक्षान् भक्षयन्ति’ इति श्रूयते । उत्तरवेद्या प्रतीचीने  
सदस प्राचीने मण्डले ‘अभिषव’ उत्तरवेद्या ‘होम’ सदसि ‘भक्षणम्’ ।  
अत्र ‘अभिषवहोमो’ अन्यतः प्रामां निमित्तं उक्तं नृप ‘भक्षण’ विधीयते ।  
तस्माद् होमाभिषवयोरपि भक्षयन्तिमिच्छन्तीति ।

एतदभिप्र याह—होमेति । ‘होमश्च’ ‘अभिषवश्च’ तयो ‘कर्ता’ ‘च’-  
भक्षयेत्—सामशपमिति शप ॥ ११ ॥

(१२) ३।५।३३ ३५ परस्य चमसेऽपि तौ ॥

(१) शेषभक्षणविषये पात्रविशेषविचारं प्रवर्तते ।

(२) ‘प्रतु होतुश्चमस प्र ब्रह्मण प्राद्रातृणामिति’ चमसानामृत्विक्स-  
म्बन्धिना समारया ।

(३) तत्र सन्देह —होमाभिषवकर्तुर्यद् भक्षणं तत् किं चमसपूतनेति ।

(४) पूर्वपक्ष —समाख्यया चमसानां होतृब्रह्माद्रातृमात्रसम्बन्धं सि-  
द्धेऽन्येषां भक्षणं चमसपु नेव प्राप्तमिति ।

(५) सिद्धान्त —‘सदसि हुता भक्षयन्ति’ इति वाक्यस्य समाख्यया  
बाधो न युक्तः । अतो भवत्येव चमसपु भक्षणं होमाभिषवकर्मनिमि-  
त्तकमपीति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—परस्येति । ‘तौ’ होमाभिषवकर्तारौ—‘अपि’—‘प-  
रस्य’ होत्रादेः ऋत्विजो-नाम्ना समान्याते ‘चमसे’ भक्षयन्तीति शप ॥ १२ ॥

(१३) ३।५।३६-३८ भक्षक्रमो यथाप्राप्ति

(१) भक्षसम्बन्धं विचारान्तरम् ।

(२) एकस्मिन् पात्रे सर्वं ऋत्विजो भक्षयन्ति ।

(३) तत्र क्रमविषये सन्देह—भक्षणकाले क. प्रथमं भक्षयेत्—अर्ध्वर्यु-  
रुतान्य कोऽपीति ।

(४) पूर्वपक्ष —अर्ध्वर्युरेव प्रथमं भक्षयेत् । तस्यैव हस्ते सोमपात्रं  
प्रियते । अतः पात्रसन्निधानात् तस्यैव प्रथमं भक्षणम्—इति ।

(५) सिद्धान्त —लिङ्गवाक्याभ्यां होतुरेव प्रथमं भक्षणं सिध्यति ।  
तथाहि ‘होतेव न प्रथमं पाहि’ इति ऋत्विजोऽर्ध्वर्युं सम्बोध्य प्रार्थयन्ते ।  
तस्यार्थः—‘यथा होताऽस्मत्तः पूर्वं भक्षयित्वा शेषप्रदानेनास्मान् पाहि-  
तवान् तथा त्वमपि पाहि’ इति । तदेतद् होतुः प्रथमं भक्षणं लिङ्गम् ।

वाक्य चोपलभ्यते—‘वषट्कर्तुं प्रथमभक्ष’ इति । वषट्कर्ता च होतैव । तस्माद् होतैव प्रथम भक्षयेदिति ।

एतदभिप्रेत्याह—भक्षक्रम इति । ‘भक्षक्रम’ ऋत्विजा भक्षणक्रम—‘यथाप्राप्ति’ प्राप्त्यनुसारमेव—भवेदिति शेष । ‘प्राप्तिश्च’ होतुरेव । तथा हि कार्यक्रमे प्रथम वषट्करणं होत्रा तदनन्तरं होमोऽध्वर्युणा क्रियते—एव भक्षनिमित्तयोर्वषट्करणं होमयो वषट्करणस्यैव प्रथम प्राप्तत्वात् तन्निमित्तस्यैव भक्षणस्य प्रथम ‘प्राप्ति’—तदेव प्राप्त्यनुसारमेव भक्षणमृत्विजामिति सिद्धे होतुरेव प्रथम भक्षणमिति भावः ॥ १३ ॥

(१४) ३।५।४० पानं चोपहवेन हि ।

(१) भक्षविषये विचारान्तरम् ।

(२) एकस्मिन् पात्रे सोमोऽनेकैर्ऋत्विग्भिर्भक्ष्यते ।

(३) तत्र सन्देहः—किमनुज्ञातेनैव भक्षयितव्यमुतानुज्ञातेनेति ।

(४) पूर्वपक्षः—अनुज्ञाभक्षयोरुभयोरवश्यकत्वे गौरवात् अननुज्ञातेन भक्षणम् । अनुज्ञाभा नास्त्यावश्यकतेति ।

(५) सिद्धान्तः—‘तस्मात् सोमो नानुपहृतेन पेय’ इति स्पष्टश्रवणात् उपह्वानरूपाया अनुज्ञाया आवश्यकत्वम् इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—पानं चेति । ‘पान’ सोमपानं ‘च’—‘उपहवेन’ उपह्वानेन सह अनुज्ञापूर्वकमेव—कर्तव्यमिति शेषः ॥ १४ ॥

(१५) ३।५।४१—मन्त्रेणोपहवः कार्यः

(१) पूर्वाधिकरणसम्बद्ध एव विचारः ।

(२) अनुज्ञातेन भक्षयितव्यमिति स्थितम् ।

(३) तत्र सन्देहः—इदमनुज्ञानं किं वैदिकेन वाक्येनोक्तं लौकिकेनेति ।

(४) पूर्वपक्षः—नियमे प्रमाणाभावात् लौकिकेनैव वाक्येनानुज्ञानमिति ।

(५) सिद्धान्तः—‘उपहृत उपह्वयस्व’ इति मन्त्रो लिङ्गात् अनुज्ञापने सामानात् सामर्थ्येन तत्र विनियुज्यते । इदमेव नियमे प्रमाणम् । तस्माद् वैदिकेनैव वाक्येनानुज्ञानमिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह मन्त्रेणेति । ‘मन्त्रेण’—उपहृत् । उपह्वयस्वेति मन्त्ररूपेण वैदिकवाक्येनैव—‘उपहव’ सोमपानाय निमन्त्रणमनुज्ञानं—‘कार्य’—न लौकिकेनेति तात्पर्यम् ॥ १५ ॥

(१६) ३।५।४२—प्रत्युक्तिः पूर्वमन्त्रभाक् ।

(१) पूर्वं एव विचारोऽनुवर्तते ।

(२) अनुज्ञापनवचनमवगतम् । अथ प्रतिवचनमावश्यकम्—

(३) तत्र प्रतिवचने सन्देहः—किं लौकिकेन तदुक्तं वैदिकेनेति ।

(४) पूर्वपक्ष - उपहृत इत्यादिमन्त्रोऽनुज्ञापने विनियुक्त । अत्र प्रतिवचने अन्यदेव वास्यं लौकिक प्रयोक्तव्यमिति ।

(५) सिद्धान्त - उपहृत उपहृत्यम्येति मन्त्रे उपहृत्यस्यति मध्यमपुरुषत्ववचनान्तो भागः प्रश्नसमत्वात् अनुज्ञापने समर्थ, 'उपहृत' इति प्रथमपुरुषैकवचनान्तस्तु उत्तरसमत्वात् प्रतिवचने समर्थ । तस्मात् लिङ्गतमन्त्रो विभज्य विनियोजनीय - एको भागोऽनुज्ञापनेऽन्य प्रतिवचने एव च प्रतिवचनमपि वैदिकेनैव वास्यनति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह प्रत्युक्तिरिति । 'प्रत्युक्ति' प्रतिवचनमपि - 'पूर्वमन्त्रभाक्' उपहृत इत्यादिपूर्वादाहृतमन्त्रभागेन भवतीति भावः ॥ १६ ॥

(१७) ३।५।४३ - समपात्रस्त्वनुज्ञाप्यः

(१) पूर्वविचारशेष एवायम् ।

(२) अस्ति भक्षेऽनुज्ञापनमिति स्थितम् । भक्षणं च केषाञ्चिदेकस्मिन्नैव पात्रे केषाञ्चिद् भिन्नपात्रेषु ।

(३) तत्र सन्देहः - यः कश्चिद् भक्षकोऽनुज्ञाप्य उत समानपात्रं पयति ।

(४) पूर्वपक्ष - अनुज्ञापनस्यादृष्टार्थत्वात् त्रिणपस्यानभिधानाच्च यः कश्चिदनुज्ञापनीयः भिन्नपात्रं समानपात्रश्चेति ।

(५) सिद्धान्तः अस्त्यनुज्ञाने दृष्टम्प्रयोजनम् । साधारणे हि घञ्नुमि कथञ्चिद् भागाधिस्येऽपराधा भवति । अतो भक्षणे न्युनाधिक उपरिहारार्थमेवानुज्ञापनम् । तच्च समानपात्रिणामेव सम्भवति । तस्मात् समानपात्राणामेवानुज्ञापनमिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह - समपात्र इति । 'समपात्र' एकपात्रमक्षक एव 'अनुज्ञाप्य' - भक्षणे, न भिन्नपात्र इति शेषः ॥ १७ ॥

(१८) ३।५।४४ ४६ - याज्यापाठी वषट् मठेत् ।

(१) भक्षविशेषविषये विचारः ।

(२) अस्ति ज्योतिष्टोमः । तत्र ऋतुयागेषु श्रूयते 'यजमानस्य याज्या - सोऽभिप्रेष्यति होतरेतद्यजेति स्वयं वा निषद्य यजति' इति ।

[ हौत्रे काण्डे समाप्ताता सर्वा याज्या समाख्यया हानुरेष प्राप्ताः । तासु काञ्चिद् याज्या उदाहृतया श्रुत्या होतुरपनीय यजमानस्य विधीयते - तदनुसारेण च यजमानः स्वेच्छया होतारं वा प्रेष्यति स्वयं वा याज्यां पठतीति उदाहृतयैव श्रुत्या विकल्पोऽप्युपास्तः । ]

(३) तत्र यजमानेन स्वपाठपक्षे सन्देहः किमत्र यजमानस्य वषट्करणनिमित्तको भक्षोऽस्ति न चेति ।

(४) पूर्वपक्ष —उक्तश्रुत्या यजमानस्य याज्यापाठमात्रं विहितं न वषट्करणम् । अतो याज्याया होतुरपनीय यजमानगतत्वेऽपि वषट्करणं तन्निमित्तको भक्षश्च यथापूर्वं होतुरेव न यजमानस्येति ।

(५) सिद्धान्त —‘स्वयं वा निषद्य यजति’ इति पक्षस्य स्वीकारे यजमानेन स्वयमेव यागं कर्तव्यं । स च यागो वषट्कारमन्तरेण न सम्भवति । याज्यावषट्कारयोश्च समानकर्तृकत्वम् ‘याज्याया अधिवषट्करोति’ ‘अनवानयजति’ इति वाक्याभ्यामवगतम् । [ ‘अनवानयजतीति’ वाक्येन याज्यावषट्कारयोर्मध्ये श्वासो निषिध्यते । ] तस्मात् याज्यया सह वषट्कारोऽपि होतुरपैति—तदपाये च वषट्कारनिमित्तकं भक्षणं मपि तस्मादपेक्ष्य यजमाने एव निविशते । अतोऽस्मिन् पक्षे वषट्कारनिमित्तकभक्षणं यजमानस्यैवेति ।

एतदेवामिप्रेत्याह याज्येति । ‘याज्यापाठो’ यो याज्यापाठः करोति—यजमानो वा होता वा—स एव ‘वषट् पठेत्’ वषट्कारवषट्करणनिमित्तकं भक्षणं च कुर्यात् । अतो यदा वषट्कारो होत्रा न क्रियते तदा तन्निमित्तकं भक्षणमपि तेन न क्रियते—अपि तु याज्यापाठकेन वषट्कर्त्रा यजमानेनैवेत्याशयः ॥ १८ ॥

(१६) ३।५।४७-५१—फलस्य भक्षणादि स्यात्

(१) भक्षविषय एव विचारोऽनुवर्तते ।

(२) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—‘यदि राजन्यं वैश्यं वा याज्येत्, स यदि सोमं विभक्षयिषेत न्यग्रोधस्तिभिनीराहृत्य तां सम्पिष्य दधन्गुन्मृज्य तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत् न सोमम्’ इति ।

(३) तत्र सन्देहः—अनेन वाक्येन सोमप्रतिनिधित्वेन यं फलचमसो विहितं स किं भक्षमात्रमुद्दिश्य—उत यागद्रव्यमपि । किं राजन्यं वैश्यकर्तृके ज्योतिष्टोमे यज्ञाहुतिष्वपि सोमस्थाने फलचमसं प्रतिनिधायते—उत भक्षणमात्रे—इति ।

(४) पूर्वपक्ष —वाक्यस्योपक्रमोपसहारयोर्भक्षविषयत्वाद् भक्षणमात्रे फलचमसो निविशते—नाहुतिष्विति ।

(५) सिद्धान्त —‘यदाऽन्याश्चमसाञ्जुह्वति अथैतस्य दर्भतरुणकेनो पहत्य जुहोति’ इति श्रुतम् । अत्र च फलचमसेनैव यागमङ्गीकृत्य दर्भतरुणकरूपो गुणो विधीयते । अत आहुतिरपि फलचमसेनैव गृह्यते । किञ्च यागप्रदेशद्रव्यस्यैव सस्कारो भक्षः । स च यागमन्तरेण नोपपद्यते । तस्मादाहुतिष्वपि सोमस्य स्थाने फलचमस एव निविशते—इति ।



एतदेवाभिप्रेत्याह—फलस्येति । 'फलस्य' फलचमसस्य न्यग्रोधस्ति-  
भिनीदप्रिसम्मिश्रितद्रव्यस्य—'भक्षणादि' यागाहुतिभक्षणं च स्यात्—  
न केवलं भक्षणमिति शेषः ॥ १९ ॥

(२०) ३।५।५२-५३ सोमपा ब्राह्मणा शतम् ॥

( १ ) राजन्यकर्तृकयागविशेषविषय भक्षविचारः ।

( २ ) राजसूयाङ्गे दशपेयनामके यागे द्रव्ये—'शतं ब्राह्मणा सोमं  
पिबन्ति—दशदशैश्च कमनुप्रसर्पन्ति' इति । अत्र यजमानस्य राजन्यस्य  
चमसहस्तस्यानुप्रसर्पणं विहितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—इदं राजन्ययजमानचमसानुप्रसर्पणं किं राज-  
न्यैरेव कार्यमुत ब्राह्मणैरिति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—दशपेयो हि ज्योतिष्टोमस्य विकृतिः । अतो ज्योति-  
ष्टोमधर्माणामत्र सन्निवेशः । ज्योतिष्टोमे च भिन्नजातिभिर्भक्षणं नास्ति ।  
अतोऽत्रापि यजमानसजातीयैरेव भक्षणं प्राप्तम् । अतो राजन्ययजमा-  
नेन सह नवमी राजन्यैरेव भक्षणं कार्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—प्रकृते ज्योतिष्टोमान् प्राप्तेषु दशसु चमसेषु  
भक्षणाय अनुप्रसर्पता पुरुषाणां 'दश दश' इति वीप्सया प्रतिचमस दशस-  
ङ्ख्या विधायार्थसिद्धा शतसङ्ख्यामनुद्यत् सङ्ख्यातानां सर्वया ब्राह्मण्य  
विधीयते 'शतं ब्राह्मणा पिबन्ति' इत्यनेन । अथ च सोमभक्षणं यजमान  
स्यापि राजन्यस्य सर्पथाऽप्राप्तमेव, तदर्थं फलचमसस्य विहितत्वात्—एवं  
च सति कुत सम्भवत्यन्येषां राजन्यानां सोमभक्षणम् । तस्मात् ब्राह्मणा  
एव सोमभक्षका दशपेयेऽपीति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—सोमपा इति । 'शतम् ब्राह्मणा' एव न राज-  
न्या—'सोमपा' सोमशेषं भक्षयन्तीत्यर्थः ॥ २० ॥

पादेऽस्मिन् विंशतिन्याया भाष्यकारेण वर्णिताः ।

स्पष्टम् ॥

इति तृतीयस्य पञ्चमः ।

## अथ तृतीयस्य षष्ठः ।

(१) ३।६।१-८ न पर्णता स्याद् विकृतौ द्विरुक्तेः

(१) अङ्गत्वविचारे यत्र श्रुतिलिङ्गादीनि षट् प्रमाणानि न प्रसरन्ति तत्र का गतिरितीदानीं विचार्यते ।

(२) अनारभ्य श्रूयते—‘यस्य पर्णमयी जुह्वर्भवति न स पापं श्लोक शृणोति’ इति ।

(३) तत्र सन्देह —जुह्वा. या पर्णमयताऽत्र विहिता सा किं प्रकृतौ विकृतौभयत्र निविशते—उत विकृतावेवेति ।

(४) पूर्वपक्ष —इदं विधिवाक्य प्रकृतिविकृत्योरुभयोस्तुल्यमेव प्रवर्तते—उभयत्र जुह्वा सत्त्वात् । तस्मात् जुह्वा पर्णमयता प्रकृतौ विकृतौ च निविशते—इति ।

(६) सिद्धान्त —यत् प्रकृतौ वर्तते तत् ‘प्रकृतिवद्विकृति कर्तव्या’ इत्यतिदेशेन विकृतायपि प्राप्नोति । एव च प्रकृतौ प्राप्ताया जुह्वपक्षताया विकृतावतिदेशवाक्येनैव प्राप्तत्वे यदि तस्या एव पुन साक्षाद् विध्यन्तरेण विधानं स्यात् तर्हि द्विरुक्तिरेव स्यात् । सा तु न न्याय्या । तस्मात् प्रकृतावेव निविशते पर्णमयतेति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—न पर्णतेति । ‘पर्णता’ जुह्वा पर्णमयता—‘विकृतौ’ यागे—‘न स्यात्’ न प्राप्नोति—‘द्विरुक्ते’ । तस्या विकृतिगामित्वे अतिदेशवाक्येन प्राप्ताया पुनर्विधिवाक्येन प्राप्त्यदि स्यात् तर्हि वृथा पुनरुक्तिरेव स्यात्, तस्मात् कारणात् प्रकृतिगामित्वमेव पर्णताया न प्रकृतिविकृत्युभयगामित्वमित्याशयः ॥ १ ॥

(२) ३।६।६ न साप्तदश्यं प्रकृतौ विरोधात् ।

(१) पूर्वाधिकरणपवादः ।

(२) अनारभ्य श्रूयते—‘साप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्’ इति । [ ‘प्रवो बाजा अभिद्यव’ इत्याद्या अग्निसमिन्धनार्था ऋच ‘सामिधेन्य’ ] ।

(३) तत्र सन्देह —सामिधेनीनां साप्तदश्यं यदश्लोकं तत् किं प्रकृतौ निविशते उत विकृताविति ।

(४) पूर्वपक्ष —पूर्वाधिकरणन्यायेनैव साप्तदश्यं प्रकृतावेव निविशते । एव च विध्यन्तरप्राप्तेन पाञ्चदश्येन विकल्प्यत इदं साप्तदश्यं प्रकृताविति ।

( ५ ) सिद्धान्त — विकृतावेव साप्तदश्य निविशते । प्रकृतौ पाञ्चदश्येनैव रुद्धानां सामिधेनीनां सङ्ख्यान्तराकाङ्क्षाया अनुत्थानात् । न च पाञ्चदश्यसाप्तदश्ये तुल्यबले येन विकल्प स्यात् । पाञ्चदश्ये हि प्रकरणमुग्राहकमधिकतरम् न तु तत् साप्तदश्ये उपलभ्यते इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—न साप्तदश्यमिति । 'साप्तदश्य' सामिधेनीगतसप्तदशसङ्ख्या—'प्रकृतौ न' निविशते इति शेष । कुत—'विरोधात्'—प्रकृतिगतसामिधेनीनां पञ्चदशसङ्ख्याया सप्तदशसङ्ख्याया इति यावत् ।

( ३ ) ३।६।१० गोदोहनादेर्विकृतौ विधिर्नो

( १ ) पूर्वाधिकरणापवादः ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयो ध्रूयते—'चमसेनाप प्रणयेत्—गोदोहनेन पशुकामस्य' इति ।

( ३ ) तत्रैवजातीयकेषु नैमित्तिकविधानेषु सन्देहः—गोदोहनं यदत्र पशुकामनिमित्तकत्वेन विहितं तत् किं प्रकृतौ निविशते—उत विकृतौ—इति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—प्रकृते पूर्वोक्तेन पात्रेण चमसेनैव निराकाङ्क्षीकृतत्वात्—नैमित्तिकस्य पात्रान्तरस्य विकृतावेव निवेश इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—कामनाविशेषनिमित्तकेन गोदोहनेन अविशेषेण प्राप्तस्य चमसस्य सङ्कोचनीयत्वात् प्रकृतावेव गोदोहनस्य सन्निवेश इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—गोदोहनादेरिति । 'गोदोहनादे' नैमित्तिकतया विहितस्य गोदोहनस्य अन्यस्य च तादृशस्य पदार्थस्य—'विधिः' विधानं सन्निवेश 'विकृतौ नो' अपि तु प्रकृतावेवेति शेषः ॥ ३ ॥

( ४ ) ३।६।११—१३ नाधनमङ्गं खलु पावमान्याः ॥

( १ ) अनारभ्य विहितानामङ्गानां विचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) अस्ति पवमानेष्टिविधिः—'अग्नये पवमानायाष्टाकपालं निर्वपेत्, अग्नये पावकाय, अग्नये शुचये' इति । तासामेवेष्टीनाम्प्रकरणे सामास्यातमाधानम्—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनाङ्धीत' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—इदमाधानं किं पवमानेष्टीनामङ्गम् उत न इति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—अङ्गमेवाधानम्पवमानेष्टीनाम् । दर्शपूर्णमासविकृतिषु पवमानेष्टिषु प्रकृतिगताहवनीयाद्यग्नीनामिष्टयङ्गत्वे सिद्धे तदग्निद्वाराऽग्निसंस्कारस्याधानस्यापि तदङ्गत्वं दुर्वारमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—इदमाधानं न कस्यचिदपि यागस्य प्रकरणे पठितम् । अतो न कस्याप्येतदङ्गम् । यद्यपि पवमानेष्टिप्रकरणे पठि-

तमाधानम् तथाऽपि इष्टीनामाधानस्य चोभयोरप्यग्निसंस्कारार्थत्वाच्च  
परस्परमङ्गाङ्गिभाव । तस्मान्नाधानमिष्टीनामङ्गमिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—नाधानमिति । ‘आधानम्’ अग्न्याधानम्—  
‘पावमान्या’ इष्टे ‘अङ्ग’ ‘न’ ‘खलु’ अङ्ग न भवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

(५) ३।६।१५-१५ अग्न्यर्थमेतन्न गुणः क्रतूनाम्

(१) अनारभ्य विधानविचारोऽनुवर्तते । तत्र पर्णमयीन्या  
यापवादः ।

(२) ‘वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत’ इति अग्न्याधान विहितम् ।

(३) तत्र सन्देह—इदमाधान किम्प्रकृतियागार्थमुत सर्वक  
मार्थमिति ।

(४) पूर्वपक्ष—यथाऽन्येऽनारभ्यवादा प्रकृत्यर्थास्तथाऽयमपि ।  
तस्मात् आधानम्प्रकृतियागार्थमेवेति ।

(५) सिद्धान्त—आधानमेतन्न प्रकृती प्रकृत्य श्रूयते । न चात्र  
सन्ति श्रुतिलिङ्गादीनि प्रमाणानि येनास्य क्रतुपङ्गता स्यात् । यत्राना  
रभ्यविहितस्याङ्गत्व श्रुत्यादिप्रमाणसिद्ध तत्र भवत्यवसरोऽस्य विचा  
रस्य ‘कस्येदमङ्गमिति’ । आधानस्य त्वङ्गत्वमेव न सिध्यति । तस्मात्  
अग्निसंस्काररूपमाधानम्—अग्नयश्च सर्वकर्मार्था—इत्याधानमपि सर्व-  
कर्मार्थं न प्रकृत्यर्थमिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—अग्न्यर्थमिति । ‘एतत्’ आधानम् ( पूर्वोक्तम् )—  
‘अग्न्यर्थम्’ सर्वकर्मसम्पादकाहवनीयाद्यग्न्यर्थम्—‘न’ तु—‘क्रतूनाम्’  
यागविशेषाणाम् ‘गुण’ अङ्गमित्यर्थः ॥ ५ ॥

(६) ३।६।१६-१७ न पावमानीम्पति पावमानी ।

(१) आधानसंस्कृताग्निपवमानेष्टिविषये विचारः ।

(२) अग्निसंस्कारका सन्ति पवमानेष्टयः ।

(३) तत्र सन्देह—पवमानेष्ट्या संस्कृतेऽग्नौ पवमानेष्टय कर्त  
व्या—उतासंस्कृत एवेति ।

(४) पूर्वपक्षः—पवमानादिभिरिष्टिभरेवाग्नयः संस्क्रियन्ते—एव  
संस्कृतेष्वेवाग्निषु अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकतश्च क्रियन्ते । एत एव  
च क्रतवः पवमानेष्टीनां प्रकृतयः । अतः प्रकृतिवत् पवमानेष्टयोऽपि  
संस्कृते एवाग्नौ कर्तव्या—इति ।

(५) सिद्धान्त—अग्निसंस्कारार्था एव पवमानेष्टयः क्रियन्ते । पव-  
मानेष्ट्यनुष्ठानार्थमपि यदि पवमानेष्ट्यन्तरस्यापेक्षा स्यात्तर्हि तस्याऽपि

सम्पादनार्थमग्निसंस्कारार्थपवमानेष्ट्यन्तर कर्तव्यमित्यनवस्था स्यात् । तस्मात् पवमानेष्ट्योऽसंस्कृते एवाग्नौ कर्तव्या इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—न पावमानीमिति । 'पावमानीम् प्रति' पवमानेष्टिसम्पादनार्थम्—'पावमानी' पवमानेष्टि द्वितीया—'न' कर्तव्येति शेष । तथा च पवमानेष्टिसंस्काररहिते एवाग्नौ पवमानेष्टि कर्तव्येत्याशय ॥६॥

(७) ३।६।१८-२७ धर्मास्तु दैक्षस्य पशोः समीपात्

( १ ) अङ्गत्वबोधकप्रमाणानां मध्ये क्रमस्य प्रकरणेनानपनोद-  
चिन्त्यते ।

( २ ) ज्योतिष्टोमप्रकरणे अथ पशवः समाम्नाता—अग्नीषोमीय-  
सवनीय अनुबन्ध्यश्चेति । पशुधर्माश्च समाम्नाता—उपाकरणम्  
( 'प्रजापतेर्जायमाना' 'इम पशुम्' इति ऋग्भ्यामुपस्पर्शनम् )—पर्यग्निक-  
रणम् ( 'दर्भज्वाल्या त्रि प्रदक्षिणीकरणम्' )—उपानयनम् अक्षया  
बन्ध—यूपे नियोजनम्—सहपनम्—विशसनम्—इत्येवमादयः ।

( ३ ) तत्र सन्देह—किमेते धर्मस्त्रिष्वपि पशुषु अग्नीषोमीयसवनी-  
यानुबन्ध्येषु कर्तव्या उताग्नीषोमीयसवनीययोरेव उत सवनीये एव—  
उताग्नीषोमीये एवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—त्रयाणामपि ज्योतिष्टोमप्रकरणे तुल्यमेव समाम्ना-  
नम् । तस्मात् त्रिष्वपि धर्मा कर्तव्या । न चैते ज्योतिष्टोम एव प्राप्त-  
तत्र साक्षात्पशुधर्माणामाकाङ्क्षाभावात् । तस्मादङ्गिनि अनर्थका अङ्गेषु  
पशुषु निविशमाना सर्वेऽपि पशुष्वविशेषेण निविशन्ते । अथवा सव-  
नीयस्य पूर्वदिनकृत्यसम्पन्नत्वात्तत्रैवैकस्मिन् उक्ता धर्मा । अथवा क्रम-  
प्रकरणबलेनाग्नीषोमीयसवनीययोर्द्वयो कर्तव्या इति त्रयोऽत्र पूर्वपक्षा ।

( ५ ) सिद्धान्त—अग्नीषोमीयमात्रे धर्मा निविशन्ते । अस्ति ह्यत्र  
विशेष सन्निधिलक्षण । सुत्यानामकादह प्राचीने औपयस्यनामकेऽङ्गि-  
धिष्यनिर्माणादूर्ध्वमेत धर्मा उक्ता । अग्नीषोमीयस्यापि तदेव स्थानम् ।  
सवनीयस्तु सुत्याहि श्रूयते—अनुबन्ध्यश्चावभृथान्ते । तस्मात् सन्निधि-  
प्रमाणेन धर्मा अग्नीषोमीय एव सम्बध्यन्ते न सवनीये अनुबन्ध्ये वेति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—धर्मा इति । 'धर्मा' उपाकरणादय—'दैक्षस्य'  
अग्नीषोमीयस्य एव 'पशोः'—भवन्ति इति शेष, न त्वन्ययोर्द्वयो सवनीया-  
नुबन्ध्ययोरिति भावः । कस्मादित्यपेक्षायामाह—'समीपात्' सन्निधिप्र-  
माणबलादित्यर्थ ॥ ७ ॥

( ८ ) ३।६।२८-२९ दोहद्वये दोहगुणः समत्वात् ॥

( १ ) स्थानस्य श्रुत्यादिभिरपनोद—पूर्वाधिकरणापवादः ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयो स्तो द्वौ दोहौ—एक सायमपर प्रात । सन्ति च दोहर्मा --पलाशशाखाहरणम्, तथा शाखया वत्साप्लकरणम्, गवाम्प्रस्थापनम् प्रस्नावनम्, गोदोहनमित्येवमादय ।

( ३ ) तत्र सन्देह —एते धर्मा किं सायन्दोहार्था उत प्रातर्दोहार्था उत उभयार्था इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —पूर्वाधिकरणन्यायेन प्रथमोक्ते सायन्दोहे एवैते धर्मा निविशन्ते । औपवसथ्ये ह्यहि तान् धर्मान् समामनन्ति—तस्मिन्नेव चाहि सायन्दोहोऽप्याम्नात । तस्मात् क्रमप्रामाण्येन सायन्दोह एव धर्मा इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —प्रकरणेनोभयदोहसम्बद्धा धर्मा क्रमेण तु सायन्दोहमात्रसम्बद्धा । क्रमश्च प्रकरणेन बाध्यते । तस्मात् उभयोरपि दोहयोर्निविशन्ते धर्मा । न च पूर्वाधिकरणन्यायावतारोऽत्र । तत्र हि विश-सनादिधर्माणां सोमेऽनन्वयात् प्रकरणमानर्थक्यप्रतिहत न क्रमबाधन क्षमम्—इह तु न तथेति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—दोहद्वय इति । ‘दोहगुण’ शाखाहरणादयो दोह धर्मा —‘दोहद्वये’ उभयोरपि सायम्प्रातर्दोहयो —निविशते इति शेष । कुत इत्यपेक्षायामाह ‘समत्वादिति’ । धर्माणामङ्गत्वबोधकप्रमाणस्य प्रकरणस्य द्वयोरपि दोहयो तुल्यत्वेन प्राप्तत्वात् ॥ ८ ॥

( ६ ) ३।६।३० सर्वग्रहार्थाः सवनस्थधर्माः

( १ ) स्थानापनोदस्योदाहरणान्तरम् ॥

( २ ) ज्योतिष्टोमे दश ग्रहा भवन्ति—ऐन्द्रवायवाद्या प्रात सवने, भरुत्वतीयादयो माध्यन्दिनसवने, आदित्यादयस्तृतीयसवने । सादन-सम्मार्गादयो धर्माश्च प्रात सवनीयग्रहसन्निधावास्माता—‘ग्रहा साद्य-न्ते’ ‘दशापवित्रेण ग्रह सम्मार्ष्टि’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —एते धर्मा किं सर्वेषु ग्रहेषु कर्तव्या उत प्रात स-वनीयग्रहमात्रेष्विति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —प्रात सवनीया ग्रहा प्रथमोक्तास्तत्सन्निधा च धर्मा उक्ता । तस्मात् तेष्वेव धर्मा अनुष्ठेया नेतरेष्विति ।

( ५ ) सिद्धान्त —प्रकरणेन सवेषा ग्रहाणां धर्मैः सम्बन्धस्तुल्य एव । वाक्येन च ते ग्रहमात्रस्य विधीयन्ते । सन्निधिश्च वाक्यप्रकरणाभ्यां बाध्यते । तस्मात् सर्वेषु ग्रहेषु अनुष्ठेया इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—सर्वेति । ‘सवनस्थधर्माः’ सवनत्रयसम्बन्धिग्रहे-ष्वनुष्ठेयतया समास्माता सादनादयो धर्मा—‘सर्वग्रहार्था’ प्रातर्माध्य-

न्दिनतृतीयसवनसम्बन्धिषु सर्वेषु ग्रहेषु अनुष्ठेया इत्यर्थः ॥ ६ ॥

(१०] ३।६।३१ पशुत्रयार्था रशना सधर्मा ।

(१) पूर्वविचारसदृशमेव विचारान्तरम् ।

(२) ज्योतिष्टोमे त्रय पशव — अग्नीषोमीय सवनीय अनुषन्ध्यश्च । तत्र यूपवेष्टनार्था रशना श्रूयते तद्वता धर्माश्च-परिव्याणम् त्रिवृत्करणम् दर्भमयत्वञ्च । एते च धर्मा अग्नीषोमीयपशुसन्निधौ समा स्नाता उपलभ्यन्ते ।

(३) तत्र सन्देहः—एते धर्मा किमग्नीषोमीयपशुमात्रेऽनुष्ठेया उत त्रिष्वपि पशुष्विति ।

(४) पूर्वपक्षः—सर्व एते धर्मा अग्नीषोमीयपशुमात्रेऽनुष्ठेया । तस्यैव सन्निधाववान्तरप्रकरणे च तेषां समुपलम्भादिति ।

(५) सिद्धान्तः—तृतीयाश्रुत्या वाक्येन च परिव्याणादीनां धर्माणां यूपधर्मता, प्रकरणमात्रेण क्रमेण वाऽग्नीषोमीयपशुधर्मता । यूपश्च पशुत्रय-साधारणः । तस्मात् त्रिष्वपि पशुषु धर्मा अनुष्ठेया । अग्नीषोमीयादतिरिक्ते सवनीये च परिव्याणत्रिवृत्त्वयोः सम्बन्धो लिङ्गादप्यवगम्यते—‘त्रिवृता यूप परिवीयाग्नेय सवनीय पशुमुपाकरोति’ इत्यत्र ॥

एतदेवाभिप्रेत्याह—पश्विति । ‘सधर्मा’ परिव्याणादिधर्मैः सहिता—‘रशना’ यूपवेष्टनार्था रज्जु —‘पशुत्रयार्था’ त्रयाणामपि अग्नीषोमीयसवनीयानुबन्ध्यानामङ्गामित्यर्थः ॥ १० ॥

(११) ३।६।३२-३४ अंशुग्रहाङ्गं प्रकृतिस्थधर्माः

(१) वाक्यप्रकरणयोर्बाधाबाधविचारः ।

(२) ज्योतिष्टोमाद् दूरे अनारभ्यैव द्वौ ग्रहौ अश्वदाभ्यौ श्रुतौ—‘अंशु गृह्णाति’ ‘अदाभ्य गृह्णाति’ इति ।

(३) तत्र सन्देहः—सादनसम्मार्गादयो ग्रहधर्मा अश्वदाभ्ययोरनुष्ठेया न वेति ।

(४) पूर्वपक्षः—अनयोर्ग्रहयोर्नानुष्ठेया धर्माः । ते हि प्रकरणेन ऐन्द्रवायवादिष्वेव ग्रहेषु व्यवस्थापितो नान्यत्र प्रवेश लभन्ते—इति ।

(५) सिद्धान्तः—‘ग्रहा साद्यन्ते’ इत्यादिवाक्यैः सावनादीनां सामान्यतो ग्रहमात्रस्य धर्मत्वम् । सर्वग्रहसाधारणाश्च धर्मा अश्वदाभ्ययोरपि निविशन्ते । वाक्यं च प्रकरणं बाधते । तस्मादश्वदाभ्ययोरपि धर्मा अनुष्ठेया एवेति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—अशुग्रहेति । ‘प्रकृतिस्थधर्माः’ ज्योतिष्टोमप्रकरणे उक्ता सादनादयो ग्रहधर्मा—‘अशुग्रहाङ्गम्’ अशुनामकस्यापि ग्रहस्य

अङ्गम्,—तत्राप्यनुष्ठेया इति यावत् ॥ ११ ॥

(१२) स्युरिष्टका दूरगताः सधर्माः ॥

(१) वाक्यप्रकरणयोर्विरोधे विचारोऽनुवर्तते ।

(२) अनारभ्य श्रूयते—‘चित्रिणीरूपदधाति, वज्रिणीरूपदधाति, भूतेष्टका उपदधाति’ इति । सन्ति च प्रकरणे इष्टकाधर्मा आज्ञाता प्रथमचित्तौ ‘अखण्डामकृष्णा कुर्यात्’ इति ।

(३) तत्र सन्देह—इमे धर्मा किं प्रकरणसमाज्ञातचितावेव निविशन्ते—उताप्रकरणपठितास्वपीति ।

(४) पूर्वपक्ष—वरणा चित्तोनाम्भ्ये प्रथमचितावेवाज्ञाता. धर्मा अखण्डत्वादयः । अतः प्रकरणबलात् तस्यामेव व्यवस्थिता इतरास्तु चित्रियादिषु न कर्तव्या इति ।

(५) सिद्धान्त—यद्यपि वाक्यद्वयमप्यनारभ्याधीत तथाऽपि ‘य एवविद्वानग्निं चिनुते’ इति यदग्न्यपूर्वं तत्सम्बन्धित्वेनैवाप्रकरणपठिता अपि चित्रियादयोऽपि वाक्येन विनियुज्यन्ते । अखण्डत्वादयश्च अग्निसाधनभूतानां सर्वासामिष्टकानां धर्मा, न प्रथमचित्तिमात्रस्येति वाक्यादवगम्यते । वाक्यं च प्रकरणाद् बलवत्तरम् । तस्मात् अग्निसाधनभूतास्तु चित्रियादीष्टकास्वपि निविशन्तेऽखण्डत्वादयो धर्मा इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—स्युरिति । ‘दूरगता’ अप्रकरणपठिता अपि—‘इष्टका’ चित्रियादयः—‘सधर्मा’ अग्निसाधनीभूतानां सर्वासाम् इष्टकानां ये साधारणा धर्मा अखण्डत्वादयः तद्वत्य—‘स्युः’ भवेयुः, कर्तव्या इति यावत् ॥ १२ ॥

(१३) ३।६।३६ नैमित्तिके धर्मगणः श्रुतौ नो

(१) अङ्गत्वविषये विचारविशेषः ।

(२) ज्योतिष्टोमे श्रूयते सोमप्रतिनिधिरूपेण फलचमसः—‘स यदि राजन्यं वा वैश्यं वा याजयेत् स यदि सोमं विभक्षयिषेत् न्यग्रोधस्तिभीराहृत्य तां सम्पिष्य दधनि उन्मृज्य तमस्मै प्रयच्छेद्भुञ्जाम्, न सोमम्’ इति । ज्योतिष्टोमे च सन्ति केचन सोमधर्मा—मानम् उपावहरणम् क्रयः अभिषव इत्येवमादयः ।

(३) तत्र सन्देह—किमेते धर्मा सोममात्रेऽनुष्ठेया उत तत्प्रतिनिधौ फलचमसेऽपीति ।

(४) पूर्वपक्ष—यथा सोमस्य यागसाधनत्वं तथैव फलचमसस्यापि । तस्मात् मानादयो धर्मा यागद्रव्यसंस्कारभूता यथा सोमे तथैव फलचमसेऽपि निविशन्ते—इति ।



( ४ ) पूर्वपक्ष —अत्र सोमाभाव निमित्तीकृत्य पूतीकलताखण्डानां विहितत्वात् त्रयोदशाधिकरणन्यायेन सोमाभिषवक्यादिधर्मविधिः पूती केषु न प्रवर्तते । तस्मात् तेषु नैवानुष्ठेया धर्मा —इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —नाय त्रयोदशाधिकरणन्यायविषय पूतीकानां मत्र प्रतिनिधित्वेन श्रुतत्वात् । तस्मान्नीवारन्यायेन पूतीकेष्वपि सोम-धर्मा अनुष्ठेया एवेति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—पूतीकेति । 'पूतीकखण्ड' सोमप्रतिनिधित्वेन श्रुत पूतीकलताखण्ड 'अपि'—'उपदिष्टधर्मा'—'उपदिष्टा' विहिता 'धर्माः' अभिषवाद्य सोमधर्मा धर्मा यस्य स इति मध्यमपदलोप । सोमधर्मास्तत्प्रतिनिधिषु पूतीकेष्वप्यनुष्ठेया इत्यर्थः ॥ १५ ॥

( १६ ) ३।६।४१-४७ संस्थासु नाङ्गान्युपदेशभाञ्जि ॥

( १ )—अङ्गत्वविवेके विचारविशेषोऽनुवर्तते ।

( २ )—समष्टिरूपेणैकोपि ज्योतिष्टोम सस्याभेदेन सप्तधा विभ-ज्यते । तथा हि—( १ ) यज्ञायज्ञियस्तोत्रपर्यन्तो भागः प्रथमा सस्था 'अग्निष्टोम'नाम्ना प्रसिद्धा—( २ ) तत ऊर्ध्वमुक्थ्यस्तोत्रपर्यन्तो भागो द्वितीया सस्था 'उक्थ्य' इत्युच्यते—( ३ ) तथैव षोडशीति तृतीया संस्था—( ४ ) अतिरात्र इति च चतुर्थी—एवम्प्रकारेण सप्त सस्था भवन्ति ॥ एतादृशस्य सप्तसस्थात्मकस्य ज्योतिष्टोमस्य प्रकरणे दीक्षणीयेष्ट्यादीनामङ्गानां विधिराम्नात ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किमेतान्यङ्गानि प्रथमसस्थाविशेषेऽग्निष्टोममात्रे निविशन्ते—उत सर्वासु सस्थासु तुल्यमेवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —उक्तानामङ्गानां विधिर्यथा प्रथमसस्थाविशेषेऽग्नि-ष्टोमे प्रवर्तते तथैवेतरेष्वपि सस्थाविशेषेषु—प्रकरणसम्बन्धस्य सर्वत्र समानत्वात् । यथा चाग्निष्टोमः फलवास्तथैवोक्थ्यादयोऽपि । तस्मात् सप्तस्वपि सस्थासु दीक्षणीयादयो धर्मा अनुष्ठेया इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —उक्थ्याद्य सस्था नाग्निष्टोमेन तुल्या । यस्मात् तेषां पृथक् फलान्युक्तानि तस्मात् स्पष्टं ज्ञायते यदेता अग्निष्टोमस्य गुण-विकारा एव । अतो न सर्वसंस्थासाधारण प्रकरणमपि त्वग्निष्टोमस्यैव अथ चोक्थ्यादीनामन्तर्भाविताग्निष्टोमकत्वात् ज्योतिष्टोमो न कदाचि-दप्यग्निष्टोम व्यभिचरति—उक्थ्यादीस्तु व्यभिचरत्येव—विनापि तैरग्नि-ष्टोमदशायां ज्योतिष्टोमत्वसम्भवात् । तस्मादग्निष्टोममात्रसंस्थस्य ज्योतिष्टोमस्येदं प्रकरणम्—ततश्च तेन प्रकरणेन दीक्षणीयाद्यङ्गानामग्नि-ष्टोम एव सन्निवेशो नोक्थ्यादिसंस्थान्तरेषु—इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—सस्थास्विति । ‘अङ्गानि’ दीक्षणीयादीनि—  
‘सस्थास्तु’ सर्वास्तु सप्तस्तु—‘न उपदेशभाजि’ न विधिप्राप्तानि—अपि  
त्वेकस्यामेव सस्थायामग्निष्टोमनाम्ना प्रसिद्धायाः प्राप्तानीत्याशयः ॥१६॥

न्यायास्तु पादे परिकीर्तिताः स्तुः

समीक्ष्य सम्यक् दश चैव पदं च ॥

स्पष्टार्थम् ॥

इति तृतीयस्य षष्ठ ।

## अथ तृतीयस्य सप्तमः ।

(१) ३।७।१-५ बर्हिः सर्वहविःशेषः

(१) वाक्यप्रकरणद्वाराऽङ्गत्वनियमनमनुवर्तते ।

(२)—दर्शपूर्णमासयो श्रूयते ‘बर्हिषि हवींष्यासादयति’ । बर्हि-  
स्सम्बन्धेन च कतिचिद् धर्मा अपि समाप्ताता ‘बर्हिलुं नानि’  
इत्यादयः ।

(३) तत्र सशय —बर्हिरादयस्तद्धर्माश्च किम्प्रधानमात्रस्याङ्गमुत  
प्रधानस्याङ्गाङ्गा चेति ।

(४) पूर्वपक्ष —प्रकरणबलात्प्रधानमात्रस्याङ्गान्येते इति ।

(५) सिद्धान्त —अङ्गानामपि हवींषि प्रधानस्यापूर्वमुपकुर्वन्त्येव ।  
तस्मात् प्रधानापूर्वसायनत्वेन तेषामप्यङ्गा नि वेद्यादयस्तद्धर्माश्चेति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—बर्हिरिति । ‘बर्हिः’ हविरासादनावारूपेणो-  
पात्त —‘सर्वहविःशेष’ सर्वेषा प्रधानानान्तदङ्गानां च हविषा ‘शेष’  
अङ्गमिति ॥ १ ॥

(१) ३।७।६ मुख्यार्थाः स्वामिसंस्क्रियाः ।

(१) पूर्वाधिकरणापवादः ।

(२) ज्योतिष्टोमे केशश्मश्रुवपेनूपयोव्रतादयो यजमानसंस्काराः समा-  
प्ताता । ज्योतिष्टोमे च ग्रहैः सोमहोम प्रधानकर्म अग्नीषोमीयपशु-  
यागादयोऽङ्गम् ।

(३) तेषु सन्देह —एते किम्प्रधानमात्रस्य शेषा उताङ्गानामपीति ।

(४) पूर्वपक्ष—प्रधानस्याङ्गानां च शेषा एते । कर्तृधर्मा एते, कर्तृत्व

चै यथा प्रधाने तथाऽङ्गेष्वपि । तस्मात् वपनादिभिर्य उपकारः स उभयत्र समानः—इति ।

(५) सिद्धान्तः—द्वे हि यजमानस्य रूपे—क्रियाकर्तृवस्फलभोक्तृत्वं च । तयोः फलभोगोऽदृष्टः क्रियानिष्पत्तिस्तु दृष्टा । वपनादिकृतस्योपकारस्य चादृष्टत्वात् भोक्तृशेषा एव वपनादय इति सिद्धति । साक्षात् फलभोगसाधनं च प्रधानमेव कर्म । तथा सति वपनादयः प्रधान एव कर्मणि निविशन्ते । एव चादृष्टफलभोजिनो यजमानस्य यः शास्त्रीयः संस्कारो वपनादिकृतः स प्रधान एव युक्तो नाङ्गेषु । प्रकरणमपि प्रधानस्यैव न मुख्यानामिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—मुख्यार्थ इति । ‘स्वामिसंस्क्रियाः’ स्वामिनो यजमानस्य ‘संस्क्रियाः’ संस्काराः वपनादिकृताः—‘मुख्यार्थाः’ प्रधानकर्माः, नाङ्गकर्माः इति शेषः ॥ २ ॥

(३) ३।७।७-८ साङ्गार्था सौमिकी वेदिः

( १ ) पूर्वाधिकरणप्रवादः ।

( २ ) दार्शिकी वेदि मध्येऽन्तर्भाव्य प्राचीनवंशो मण्डपोऽवस्थितः । ततः पूर्वस्यां दिशि सदोहविधादीनां पर्याप्तो भूभागविशेषस्तैः सदःप्रभृतिभिः सह ‘सौमिकी वेदिः’ इत्युच्यते ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—किमिय वेदिः मुख्यस्य सोमयागस्यैवोपकरोत्युत्तमानीपोमीयादीनामङ्गानामपीति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—उक्ता वेदिमुख्यस्य सोमयागस्यैवोपकरोति न तु तदङ्गानाम्,—मुख्यस्यैव चिकीर्षितत्वात् । तथा चात्र वाक्यम्—‘षट्त्रिंशत्प्रक्रमा प्राची चतुर्त्रिंशतिरग्रेण त्रिंशज्जघनेन—इयति शदयामहे’ । अस्य च ‘उक्तप्रमाणके भूभागे फलहेतुभूतं सोमयाग कर्तुं शदयामहे’ इत्येवार्थः । अथ चाग्नीपोमीयादीनां सदोहविधादीनादिमण्डपनिरपेक्षमनुष्ठानं वेदैरत्यत्रापि सम्भवति—सोमयागस्य त्वनुष्ठानं वेद्यामेव भवति नान्यत्र—इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—‘इयति शदयामहे’ इति वाक्यं साङ्गमुख्यं परामृशति—तादृशस्यैव फलसाधनत्वात् । अतो मुख्याङ्गयोश्चिकीर्षितत्वतुल्यत्वात् मुख्यस्य अङ्गानां चोपकरोति वेदिः इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—साङ्गार्था इति । ‘सौमिकी वेदिः’ ‘साङ्गार्था’ अग्नीपोमीयाद्यङ्गसहितस्य मुख्यस्य सोमयागस्योपकरोतीति भावः ॥ ३ ॥

(४) ३ ७।६ १० साङ्गार्थमभिदर्शनम् ॥

( १ ) पूर्वविचारसदृश विचारान्तरम् ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयो श्रयते 'चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत् पञ्च-  
होत्रा अमावास्याम्' । [ 'पृथिवी होता' इत्यादिको मन्त्र 'चतुर्होता'- 'अ-  
ग्निर्होता'-इत्यादिको मन्त्र 'पञ्चहोता' । इमौ मन्त्रौ आज्यादिहविष उप-  
स्पर्शनाथौ विहितौ । ]

( ३ ) तत्र सन्देह — इदमभिमर्शनं किमङ्गप्रधानार्थमुत प्रधान-  
मात्रार्थमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — अभिमर्शनं प्रधान एव निविशते पौर्णमास्यामावा-  
स्याशब्दयो प्रधानपरत्वादिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — पौर्णमास्यमावास्याशब्दौ साङ्गप्रधानवाचिनो ।  
तस्मात् प्रधाने तदङ्गेषु च यानि हवीषि तेषु सर्वष्विदमभिमर्शनं भवतीति ।

तदेतदभिप्रेत्याह—साङ्गार्थमिति । 'अभिमर्शनम्' हविष उपस्पर्शनम्—  
'साङ्गार्थम्' अङ्गसहितप्रधानकर्मार्थम्—प्रधाने कर्मणि तस्याङ्गेषु च यानि  
हवीषि तेषु सर्वेषु तस्य सम्बन्ध इत्यर्थः ॥ ४ ॥

( ५ ) ३।७।११-१२ दीक्षा सदक्षिणा नाङ्गे

( १ ) पूर्वधिरुणापवादः ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे भवन्ति दीक्षा दक्षिणाश्च । 'तिष्ठो दीक्षा' 'द्वाद-  
शशत दक्षिणा' इत्यादि ।

( ३ ) तत्र सन्देह — इयं दीक्षा दक्षिणा च किमङ्गेषु प्रधाने च निवि-  
शते—उत प्रधानमात्रे इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — दीक्षा दक्षिणा च प्रधानस्याङ्गानां चोपकरोति ।  
प्रधानकर्मणा ज्योतिष्टोमेन सम्बद्ध दीक्षादक्षिणे—प्रधानं च कर्माङ्गे सम्ब-  
द्धम् । तस्मात् परम्परासम्बन्धो भवत्येवाङ्गानामपि दीक्षादक्षिणाभ्यामिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — दीक्षादक्षिणयो साक्षात्सम्बन्धं प्रधानेनैव गम्य-  
ते । परम्परासम्बन्धश्च साक्षात्सम्बन्धस्यासम्भवे एव गृह्यते । इह तु  
नास्त्यसम्भवः साक्षात्सम्बन्धस्य । तस्मात् प्रधानेनैव सम्बन्धः ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—दीक्षेति । 'सदक्षिणा' दक्षिणासहिता—'दीक्षा'  
दीक्षा दक्षिणा च—'अङ्गे न' निविशते—अपि तु प्रधाने एवेति तात्पर्यम् ॥ ५ ॥

( ६ ) ३।७।१३-१४ वेदिर्युपशृणो न हि ।

( १ ) अङ्गत्वविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) अस्ति ज्योतिष्टोमेऽग्नीषोमीयं पशुः । तत्सम्बन्धेन यूपं प्रकृत्य  
श्रयते—'अर्धमन्तर्वेदि' मिनोति अर्धं बहिर्वेदि' इति ।

[यूप स्थापयितुं कियद्विस्तारवान् अवटं कर्तव्य इत्यपेक्षायां तन्निर्णयाय यूपमूलस्य स्थौल्यमङ्गुल्यादिभिर्मार्तव्यम् भवति ।]

( ३ ) तत्र सन्देह — किम् 'अन्तर्वेदि' इति यूपान्नत्वेन वेदिरूपदिश्यते—उत देशलक्षणार्थमेव 'अर्धमन्तवेदि' अर्धं बहिर्वेदि' इत्युच्यते इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — मीयमानस्य यूपस्याङ्गत्वेन वेद्यभ्यन्तरभागो विधीयते । तथाहि मीयमानस्य यूपस्यार्धं वेद्यभ्यन्तरे भवतीति लभ्यते । एवमेव हि वेदिश्रुतिरनुगृहीता भवति—इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — यदि सस्कृतो वेद्यभ्यन्तरभागोऽर्धमन्तर्वेदीत्यनेन वाक्येन यूपान्नत्वेन विधीयते तर्हि असस्कृतो वेदिबहिर्भागोऽपि 'बहिर्वेदी'त्यनेन वाक्येन विधातव्यः । तथा सति वाक्यभेदो दुर्निवारः । एतद्वाक्यभेदपरिहाराय वेदेरभ्यन्तरबहिर्भागाभ्यामुपलक्षितो लौकिक एव देशो मीयमानयूपोचितो विधीयते—इत्येव स्वीकार्यम् । तस्मात् लौकिकदेश एवात्र यूपान्नत्वेन विधीयते न वेदिभाग इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—वेदिरिति । 'वेदि' वेदिभाग — 'नहि यूपगुण' न यूपान्नत्वेन विधीयत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

( ७ ) ३।७।१५-१७ हविर्धानं गुणो नर्चाम्

( १ ) अङ्गत्वविचारः ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—'उत यत् सुन्वन्ति सामिधेनीस्तदन्वाहु' इति । हविर्धाननामकयोः शकटयोर्यस्मिन्नेकस्मिन् दक्षिणे शकटे सोमस्याभिषवः क्रियते तं सामिधेनीभिः सम्बन्धयेदित्यर्थः ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किं हविर्धानं सामिधेनीनामुङ्गत्वेन विधीयते ( तथाच हविर्धानविशिष्टा सामिधेन्योऽनुवक्तव्या इत्यर्थः )—उत हविर्धानेन अनूच्यमानानां सामिधेनीनां देशो लक्ष्यते इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — हविर्धानस्य सामिधेन्यङ्गत्वमत्र स्पष्टं प्रतीयते । न चात्र वाक्यभेदादिदोषापत्तिरिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — देशलक्षणार्थमेवेदं वाक्यम्—'यस्मिन् देशे सुन्वन्ति तस्मिन् देशे सामिधेन्योऽनुवक्तव्या' इति । दक्षिणोत्तरहविर्धानसमीपदेशयोरनियमेन प्राप्तौ दक्षिणस्यैव हविर्धानस्य समीपदेशो त्रिहितो भवति । एवं च हविर्धानेन तत्सन्निधिर्लक्ष्यते । तथा सति नियममात्रविधानाज्ज्ञाघवम् । इतरस्मिन् पक्षे तु अभिषवोपलक्षितस्य दक्षिणस्य हविर्धानस्य सामिधेन्यङ्गत्वमत्यन्तमप्राप्तमेव विधीयते—इति गौरवम् इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह । हविर्धानमिति । 'हविर्धानम्'—'अन्वाहम्' सामि

धेनीनाम् - 'गुण' अङ्ग 'न' भवतीति शेष । अपि तु देशविशेष एव तेन लक्ष्यते इति भावः ॥ ७ ॥

(८) ३।७।१८-२० स्वामीत्युक्त्या नान्यकृत् ॥

( १ ) द्रव्याणां कुमणा चाङ्गत्वविषये श्रुत्यादां वलावल विविच्या धुनाऽनुष्ठातृणां विषये तद् विचारणीयं प्राप्नोति । तत्रादौ केऽनुष्ठातार इत्येव विवाद्यते ।

( २ ) 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि श्रूयते ।

( ३ ) तत्र सन्देहः — दर्शपूर्णमासनाम्ना प्रसिद्धं यत् कर्मजातं तत्सर्वं किं स्वर्गकामेन यजमानेनैवैकेनानुष्ठातव्यमुत सङ्कल्पवरणमात्रं यजमान स्वयं कुर्यात् अन्यत् सर्वमन्यं कुर्यात्—अथ किञ्चित् स्वयं किञ्चिदन्यं इति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः — स्वयं यजमान एव सर्वाणि कर्माणि कुर्यात् । यत् कमफलं स्वयं कर्म प्रयुज्जानस्यैव भवतीति दृश्यते । शब्दोऽपि तथैवाभिधत्ते—'यः स्वर्गकामः स एव दशपूर्णमासाभ्यः कर्मं कुर्यादिति' ।

( ५ ) सिद्धान्तः — निखिलकर्मानुष्ठानेऽपि यजमानस्य यागकर्तृत्वं तत्फलभाक्त्वं च न हीयते । यथा क्षेत्रस्वामी यद्यपि हलकर्षणादिकर्म अन्यैर्हालिकादिभिः कारयति तथाऽपि सस्यरूपं फलं तस्यैव भवति—एवमेव यद्यपि यागाङ्गानि कर्माणि यजमानोऽन्यैर्ऋत्विग्भिः कारयति तथाऽपि तयागफलं तस्यैव भवति । ऋत्विजा परिक्रयश्च शास्त्रविहितः । परिक्रयश्च कर्मानुष्ठानसाहाय्यसम्पादनमात्रप्रयोजनः । यदि परिक्रीतैर्ऋत्विग्भिः कर्माणि न क्रियेरन् तर्हि तेषां परिक्रयोऽदृष्टार्थः एव स्यात् । अथ च सकलानां कर्मणामेकेन पुरुषेण स्वयमनुष्ठानमपि न सम्भवति । परिक्रीतेन पुरुषेण यत् कार्यते तत् स्वयमेव क्रियते । तस्मात् सङ्कल्प-वरणादिकमेव यजमानः स्वयं कुर्यात् अन्यानि सकलानि त्वन्य-द्वारेणैव इति ।

एतदभिप्रेत्याह स्वामीति । 'स्वामीति उक्त्या'—यस्मात् यजमानः स्वामीति नाम्नाऽभिधीयते तस्मात् स 'अन्यकृत्'—सङ्कल्पवरणादिकात् 'अन्यस्य' कर्मकलापस्य 'कर्ता' अनुष्ठाता 'न' भवति । येषामयं स्वामी ते यदि तदर्थं कर्माणि न कुर्वीरन् तर्हि स्वामित्वं व्यर्थं स्यात् । तस्मात् यागस्य यः स्वामी स नैव कुर्यात् यागाङ्गकर्माणि—तानि तेन परिक्रीतैः ऋत्विग्भिरेव सम्पादनीयानीत्यर्थः ॥ ८ ॥

(९) ३।७।२१-२४ प्रतिनामर्त्विजो भिन्नाः

( १ ) परिक्रीतैरन्यैः पुरुषैः कर्माणि कार्याणीति स्थितम् । तेषामृत्वि-जां विषये विचारः प्रवर्तते ।

( २ ) कर्मणामनुष्ठानात्, अयन्ते—‘अध्वर्युर्विभजति’ प्रतिप्रस्थाता मन्थिन जुहोति’ इत्यादि ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—परिक्रेतव्यानामृत्विजा सङ्ख्यानियमोऽस्ति न चेति ।

( ४ ) पूर्ववत् —अनुष्ठानसङ्ख्यानियमो न श्रूयते । अतो यावद्भिः पुरुषैः कर्मानुष्ठानं सम्भाव्यते तावन्तः परिक्रेतव्याः । अतो न सङ्ख्यानियमः । यद्येक एव सकलकर्मानुष्ठानक्षमः पुरुष उपलभ्यते तदा स एवैको वरणीयः—अन्यथा द्वौ त्रयो वा आवश्यकतानुसारेण वरणीया इति ॥

( ५ ) सिद्धान्तः । कर्तृविशेषसम्बद्धा एष सर्वे कमविशेषा श्रूयन्ते—‘तान् पुरोध्वर्युर्विभजति—प्रतिप्रस्थाता मन्थिन जुहोति—नेष्टा पत्नीमभ्युदायति—उन्नेता चमसानुन्नयति—प्रस्तोता प्रस्तौति—उद्गाता उद्गायति—प्रतिहर्ता प्रतिहरति—सुब्रह्मण्य सुब्रह्मण्यमाह—होता प्रातरनुवाकमनुब्रूते—मैत्रावरुणं प्रेष्यति चानु चाह—अच्छावाको यजति—प्रावस्तुत् प्रावस्तोत्रीयामन्वाह’ इति । यच्च कर्म यत्पुरुषकर्तव्यत्वेनाम्नात तत् तेनैव कर्तव्यमतस्तत्करणार्थं सोऽवश्यं वरणीयः । तस्माद्यावन्तः पुरुषा कर्मविशेषसम्बद्धा नाम्नाऽऽम्नातास्तावन्त एव वरणीया—सत्यपि सकलकर्मानुष्ठानक्षमे पुरुषे कर्मसङ्करो नैव कार्य इति ॥

एतदभिप्रेत्याह—प्रतिनामेति । ‘ऋत्विजः’ कर्मानुष्ठानार्थं परिक्रेतव्याः पुरुषाः—‘प्रतिनाम’ प्रतिपदोक्ताध्वर्वादिनामानुसारेण—‘भिन्ना’ पृथगेव वरणीया भवन्तीति । कर्मसङ्करीकरणं नोचितमित्याशयः ॥९॥

( १० ) ३।७।२५ चमसाध्वर्यवः पृथक् ।

( १ ) ऋत्विजाविषये विचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) ‘चमसाध्वर्यून् वृणीत’ इति चमसाध्वर्युनाम्ना केचन श्रुताः ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—चमसाध्वर्युनाम्ना य उक्तास्ते किं पूर्वोक्तैः पुरोक्तेभ्यो ऋत्विग्भ्यो भिन्ना उत त एव नामान्तरेणोपवर्णिता इति ॥

( ४ ) पूर्वपक्षः—अध्वर्युनाम्नोक्ता पूर्वोक्ताध्वर्यव एते-चमससम्बन्धमात्रमत्र विवक्षितमिति ॥

( ५ ) सिद्धान्तः—अध्वर्यवः सर्वे स्वस्वनामभिः पृथगेव यथोक्ताः, तथैवात्र चमसाध्वर्यवोऽपीति पृथगेवैते स्ति ॥

एतदभिप्रेत्याह चमसाध्वर्यव इति । ‘चमसाध्वर्यवोऽपि पुरोक्तेभ्यो—ऋत्विग्यः—‘भिन्ना’ व्यतिरिक्ता इति ॥ १० ॥

( ११ ) ३।७।२६ वहवस्ते बहुश्रुत्या

( १ ) तेषामेव चमसाध्वर्यूणां विषये विचारोऽनुवर्तते ।

( २ )—पूर्वोक्तमेव—‘चमसाध्वर्यून् वृणीत’ इति विषयवाक्यम् ।

( ३ ) किमेते बहव एवेति नियम —उत एको द्वौ बहवो वेत्यनियम इति सन्देहः ।

( ४ ) तत्र पूर्वपक्ष —ग्रहैकत्ववदुद्देश्यगतत्वादविवक्षितमत्र बहुत्वम् । अतश्चमसाध्वर्यूणां सङ्ख्यानियमो नास्ति ।

( ५ ) सिद्धान्त —विवक्षितमेवात्र बहुत्वम् । न चात्र ग्रहैकत्वन्यायः प्रवर्तते । तत्र ‘ग्रह सम्मार्ष्टि’ इति ग्रहाणामुत्पत्तिवाक्यन्तं भवति—अतस्तत्रोक्तमेकत्वमविवक्षितम्—अत्र तु चमसाध्वर्यूणामुत्पत्तिवाक्यमेवैतत्—अतस्तेषामुपादेयत्वात् तदत्र बहुत्व विवक्षितम् । तस्मात् बहव एव चमसाध्वर्यव इति भवत्येव नियम इति ।

एतदभिप्रेत्याह—बहव इति । ‘ते’—चमसाध्वर्यव —‘बहव’ एव—कुत —‘बहुश्रुत्या’—यस्मात् तेषां बहुत्व साक्षात्—‘श्रुत्या’ वाक्येन उक्तम् तस्मादिति सम्बन्धः ॥ ११ ॥

( १२ ) ३।७।२७ दश ते लिङ्गदर्शनात् ॥

( १ ) चमसाध्वर्युर्विषय एव विचारान्तरम् ।

( २ ) पूर्वोक्तमेवात्र विषयवाक्यम् ।

( ३ ) चमसाध्वर्यवो बहव इत्युक्तम्—कियन्तो बहव—अथ एव चोत ततोऽधिका इति भवति सन्देहः ।

( ४ ) तत्र पूर्वपक्ष —बहुत्वमात्रस्योक्तत्वात् बहुत्वस्य च त्रिभिरेव चरितार्थत्वात् ततोऽधिकसङ्ख्याग्रहणे प्रमाणाभावात् अथ एव चमसाध्वर्यव इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —चमसाध्वर्यवो दश भवेयुः । चमसानां दशसङ्ख्यकत्वात् प्रतिचमसमेकस्य चमसाध्वर्योरुक्तत्वात् । तथाहि ज्योतिष्टोमावकारे दशपेये श्रयते—दश चमसाध्वर्यवो दश दश एकैकं चमसमनुसर्पन्तीति । एवञ्च लिङ्गम्भवति दशसङ्ख्यास्वीकरणे—इति ।

एतदभिप्रेत्याह—दशेति । ‘ते’ चमसाध्वर्यव ‘दश’ भवन्तीति शेषः—कुत —‘लिङ्गदर्शनात्’—‘दश चमसाध्वर्यव’ इत्यादिवाक्यरूपस्य दशसङ्ख्यालिङ्गस्य दृष्टत्वात् ॥ १२ ॥

( १३ ) ३।७।२८-२९ शमितोऽध्वर्युरेव स्यात्

( १ ) ऋत्विगदन्तीषविषये विचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) ‘शमितारमुपनयीत’ इत्यस्त्युक्तं कश्चिदनुष्ठातृविशेषः ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—अथ शमितृनामकोऽनुष्ठाता किमध्वर्य्वर्धन्तर्गत एव कश्चिदुत तेभ्यो व्यतिरिक्त इति ।



( ४ ) पूर्वपक्ष --अध्वर्याद्यतिरिक्तनाम्नाऽयमुक्त । तस्माच्छ्रु-  
मितृसन्नकः कश्चिदन्य आनेतव्य । अपि च 'कलोमा चोर्ध्वं वैकर्तन च  
शमितु स्यात् -तद् ब्राह्मणाय दद्यात् यद्यब्राह्मण स्यादिति' वाक्ये श  
मितुरब्राह्मणत्वमपि सम्भाव्यते--न च सम्भवत्यब्राह्मणत्व कस्मिंश्चिदप्य-  
ध्वर्यादावृत्तिजि । तस्मादपि तेभ्यो भिन्न एव शमितेति ।

( ५ ) सिद्धान्त -शमितुर्नास्ति पृथग्वरण क्वचिदुक्तम् । अतो न व्य-  
तिरिक्त शमिता । अध्वर्यादिष्वेव य कश्चिद्वृत्तिक् पशुशमनरूप कार्यं  
करोति स एव तत्कर्मसंयोगात् शमितृनामभाग् भवति । अब्राह्मणाशङ्का  
तु यजमानविषयैव । तस्मान्न व्यतिरिक्त शमितेति ।

एतदभिप्रेत्याह--शमितेति । 'अध्वर्युरेव' पशुशमनकार्यकरत्वात्  
'शमिता' शमितृसन्नको भवति--न कश्चिदन्य इति शेष । नाध्वर्यु-  
शमिता अपि तु प्रतिप्रस्थात्रादय एव शमनकर्म कुर्वन्ति--अतस्त एव  
शमितार इति विस्तरकारा । 'शमनादध्वर्युरेव शमिता' इति भाष्यवचन  
विरुद्धमेव तदिति नादरणीयम् ॥ १३ ॥

( १४ ) ३।७।३० उपगाः प्रकृता मताः ।

( १ ) पूर्वाधिकरणसदृश विचारान्तरम् । न च पूर्वाधिकरणन्याये  
नास्यापि गतार्थता--अत्रोपगोति नाम्ना सूच्यते यत् प्रधानादुद्गातृनाम  
कादु ऋत्विजोऽन्य पार्श्वस्थ कोऽप्यय न मुख्यविवर्जामेक इति । न चैव  
विशेषज्ञापक किञ्चिच्छ्रुमितृनामविषये ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे उपगनामकाऽनुष्ठातोक्त ।

( ३ ) तत्र सन्देहः--किमयमुपगोऽध्वर्यादिष्वेक उत तेभ्यो व्यति-  
रिक्त एव कश्चित् इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष -- यथा लोके मुख्येभ्यो गायकनायकादिभ्योऽन्ये पा-  
र्श्वस्था उपगातारो भवन्ति तथाऽत्रापि मुख्येभ्योऽध्वर्युहोत्रोद्गात्रादिभ्य-  
ऋत्विग्भ्यो व्यतिरिक्त एवोपग । पृथङनाम्ना पार्श्वक्यस्य स्पष्टं सूचि-  
तत्वादिति ।

( ५ ) सिद्धान्त --यद्यध्वर्यादिभ्यो व्यतिरिक्त उपग स्यात् तर्हि  
उपगानुरूप कर्माध्वर्यौ नैव प्रसक्त स्यात् । तथाच 'नोध्वर्युरुपगोयेत्' इति  
प्रतिषेधोऽनर्थक स्यात् । तस्मादध्वर्यादिष्वेवैक उपग इति सिद्धम् इति ।

एतदभिप्रेत्याह--उपगा इति । 'प्रकृता' यज्ञप्रधानानुष्ठातारोऽध्व-  
र्यादयो ये वरणीयवृत्तिज उक्ता ते एव 'उपगा' उपगानुरूपकर्मसम्बद्धा  
उपगनामधेया 'मता' सिद्धा इति सम्बन्ध ॥ १४ ॥

(१५) ३।७।३१ विक्रयी प्रकृतेभ्योऽन्यः

(१) उक्तविचारसदृश विचारान्तरम् ।

(२) अस्ति ज्योतिष्टामे सोमस्य विक्रेता ।

(३) तद्विषये सन्देह — न्मियमन्वयर्वादिष्वेक उपगवत्—उत तेभ्यो व्यतिरिक्त कश्चिदिति ।

(४) पूर्वपक्ष — उपगवत् सोमविक्रय्यपि अध्वर्यादिभिर्ऋत्विग्भिस्सहैव यागानुष्ठातृवर्गे उक्त । तस्मात्तेषामेवान्यतमोऽयं न भिन्न इति ।

(५) सिद्धान्त — सोमस्य त्रयणमेव ज्योतिष्टोमाद्वत्वेन विहितं न विक्रयणम् । न चाविहितं कर्म ऋत्विजं कुर्वन्ति । तस्माद्वत्विग्भ्योऽन्य एव सोमस्य विक्रेतेति ।

एतदभिप्रेत्याह—विक्रयीति । ‘विक्रयी’ सोमस्य विक्रेता—‘प्रकृतेभ्य’ अध्वर्यादिभ्य ऋत्विग्भ्य — ‘अन्य’ व्यतिरिक्त एवेति ॥ १५ ॥

(१६) ३।७।३२-३५ सोमे सप्तदशत्विजः ॥

(१) ऋत्विजा विषये विचारोऽनुवर्तते ।

(२) अध्वर्युहोतृचमसाध्वर्यूपगसोमविक्रय्यादयः पुरुषा ज्योतिष्टोमयागाङ्गानुष्ठातृत्वेनोक्ता उपलभ्यन्ते ।

(३) तत्र सन्देह — किमेते सर्व एवर्विड्नामभाज उत केचिदेव न सर्वे इति ।

(४) पूर्वपक्ष — ऋतौ यजन्तीति ऋत्विग्शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम् । तच्च सर्वेषु समानम् । तस्मात् सर्व एवर्विड्नामभाज इति ।

(५) सिद्धान्त — ‘सौम्यस्याध्वरस्य यज्ञकनो सप्तदशत्विजः’ इति स्पष्टं सप्तदशानामेव ऋत्विङ्नामभाजत्वं साक्षान्छ्रुत्योक्तम् । तस्मात् ऋत्विक्शब्दस्य यौगिकार्थं पणित्यज्यं शास्त्रीया च रुढि स्वीकृत्य यागाङ्गानुष्ठातृणाम्मध्ये सप्तदशत्वेव ऋत्विजत्वमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—सोम इति । ‘सोमे’ ज्योतिष्टोमयागे—‘सप्तदश’ एव न ततोऽधिका पुरुषा — ‘ऋत्विजः’ ऋत्विङ्नामभाजो भवन्तीति शेषः ॥ १६ ॥

(१७) ३।७।३६-३७ ते तु ब्रह्मादयो नान्ये

(१) पूर्वाधिकरणविचारोऽयम् ।

(२) सप्तदशानामेव ऋत्विक्त्वमिति सिद्धम् ।

(३) तत्र सशयः — क एते सप्तदश इति ।

(४) पूर्वपक्ष — विशेषस्याश्रवणात् स्वेच्छयाऽनियमेन ब्रह्मादिषु चमस्वाध्वर्यादिषु च ये केचित् ग्रहीतव्या इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — श्रूयते तु विश्व । ऋत्विग्भ्यो दक्षिणा ददातीति उक्त्वा तद्विशेष — ‘ब्रह्मणे ददाति—अग्नीध्रे ददाति—’ इत्यादि । श्वमेव दीक्षाधिधानेऽपि श्रूयते — ‘अध्वर्युर्गृहपति दीक्षयित्वा ब्रह्माण दीक्षयति— तत उद्गातारम् ततो होतारम्—ततस्त प्रतिप्रस्थाता दीक्षयित्वाऽर्धिनो दीक्षयति’—इत्यादि । एतद्दीक्षावाक्यसङ्कलनया षोडशानुष्ठातार उपलभ्यन्ते—तद्यथा—( १ ) अध्वर्युयजुवदाक्त कर्म करोति—तस्य त्रय पुरुषा —( २ ) प्रतिप्रस्थाता ( ३ ) नेष्टा ( ४ ) उन्नेता चेति । ( ५ ) ब्रह्मा वेदत्रयोक्तस्य प्रत्यवेक्षण करोति—तस्य त्रय पुरुषा ( ६ ) ब्राह्मणा च्छसी ( ७ ) अग्नीत् ( ८ ) पोता चेति । ( ९ ) उद्गातृद्धान करोति—तस्य त्रय पुरुषा ( १० ) प्रस्तोता ( ११ ) प्रतिहता ( १२ ) सुब्रह्मण्य श्वेति । ( १३ ) होता शसन करोति—नस्यापि त्रय पुरुषा —( १४ ) मैत्रावरुण ( १५ ) अच्छावाक ( १६ ) ग्रावस्तुच्चेति ॥ तस्मात् एतेष्वेव त्विङ्नामभास्त्वम्, नान्येषु चमसाध्वयूपगादिष्विति ॥

एतदभिप्रेत्याह—त इति । ते ऋत्विज —‘ब्रह्माद्य एव’—‘न अन्ये’ चमसाध्वर्वादय इति शेष ॥ १७ ॥

( १८ ) ३।७।३८ स्वामिसप्तदशश्च ते ।

( १ ) पूर्वाधिकरणेषोऽयं एववार ।

( २ ) सप्तदश ऋत्विजा भवन्ति—नत्र षोडश अध्वर्युब्रह्मादयः परिगणिताः ।

( ३ ) सप्तदश क किं यजमान उत सदस्य—इतोर्दानीं भवति सम्बन्धः ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अध्वर्वादिषु षोडशसु व्यवस्थितेषु सप्तदशसङ्ख्या पुरक कश्चिद् ऋत्विगपक्षिनः । साऽत्र सदस्य एव भवति । स एव कर्मकर यजमानस्तु स्वामी कर्मकर एव परिक्रियते । ऋत्विज एव परिक्रियन्ते । तस्मात् सदस्य एव सप्तदश ऋत्विक् इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —स्वामी यजमान एव सप्तदश स्यात् । यज्ञे कर्तार एव ऋत्विजो भवन्ति—यज्ञे च कर्ता स्वामी । तस्मात् स एव ऋत्विजा सप्तदश इति ।

एतदभिप्रेत्याह—स्वामीति । ‘ते’ ऋत्विज, ‘स्वामिसप्तदश’—‘स्वामी’ एव ‘सप्तदश’ सप्तदशसङ्ख्यापुरक येषां ते तथाभूता भवन्ति इति सम्बन्धः । सप्तदशश्च यजमान एवेति ध्येयम् ॥ १८ ॥

( १९ ) ३।७।३९-४० तेषां समाख्यया कर्म

(१)—के सप्तदश ऋत्विज इति व्यवस्थापितम् । अत इदानीं तेषां करणीयविषये विचार प्रवर्तते ।

(२) सप्तदश ऋत्विजो ज्योतिष्टोमे समाभ्नाता ।

(३) तै किमनियमेन सर्व पुरुषकार्यं सत्र करणीयमुतास्ति काचिद् व्यवस्थेति नश्य ।

(४) पूर्वपक्ष —यज्ञसम्पादनाय वृत्ता ऋत्विज सर्व एव सर्व यथा-प्राप्त कार्यं कुर्यु नियमे प्रमाणाभावात् तेन च कार्य-याघातप्रसङ्गादिति ।

(५) सिद्धान्त —यज्ञाङ्गकार्याणां भवति प्रतिपुरुषमृत्विक्स्वम्बन्ध समाख्यया । अतो यन्नाम्ना सम्पन्नं यत् कर्म समारय्यायते तत् कर्म तेनैव ऋत्विजा कर्तव्यमिति कर्तृनियमं समारय्याप्रमाणेन व्यवस्थाप्यते । यानि कर्माणि आध्वयवनाम्ना प्रसिद्धानि तान्यध्वर्युणा कर्तव्यानि यानि होत्राणि तानि होत्रा-इत्येवरूपा भवत्येव व्यवस्थेति ।

एतदभिप्रेत्याह—तेषामिति । 'तेषां' ऋत्विजा 'कर्म' करणीय कार्यं—'समारय्या' आध्वर्यवहोत्रादिरूपया—नियमितम्भवतीति शेषः ।

[एतदधिकरणान्तगतमेवाधिकरणान्तरमपि भाष्यकारेण निरूपितम् । तदुक्त्या—आहवनायादयोऽग्नये किं प्रकृत्यर्था एवोत प्रकृतिविकृत्युभयार्था इति सशये पूर्वपक्ष —प्रकृतिमात्रार्था अग्नये इति—तत्र सिद्धान्त प्रकृतिविकृत्युभयार्थास्ते—इति । एतत्प्रधिकरणं प्रकृतसम्बद्धत्वेनोपेक्षितम्मण्डनमिश्रेणेति न परिगणितमत्रापीति ध्येयम् ॥ १६ ॥

(२०) २।७।४१-४२ वचनाच्च क्वचिद् भवेत् ॥

(१) पूर्वाधिकरणापवादः ।

(२) ऋत्विक्कार्याणां समाख्यया व्यवस्थेति व्यवस्थितम् ।

(३) तत्र सन्देह —किं सत्रैवेत्यमुत कुत्राप्यन्यथाऽपि भवतीति ।

(४) पूर्वपक्ष —पूर्वाधिकरणन्यायेन सर्वत्रैव समाख्यया व्यवस्थेति ।

(५) सिद्धान्त —समाख्ययव प्रायो भवति व्यवस्था । किन्तु क्वचित् साक्षाच्छ्रुत्याऽन्यथापि भवति । यथा प्रैषानुवचनादिकानि कार्याणि 'पोत्रीयानेष्टीया' इति समाख्यातानि पोतृनेष्टृकर्तव्यत्वेन प्राप्तानि । किन्तु मैत्रावरुणेन तानि क्वचित् क्रियन्ते । तच्च साक्षाच्छ्रुतोपदेशबलात्—'तस्मान्मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानुचाहेति' भवत्युपदेश इति ।

एतदभिप्रेत्याह—वचनादिति । 'क्वचित्' स्थलनिशेषेषु 'वचनात्' साक्षादुपदेशात् समाख्यानिरपेक्षमपि—'भवेत्' कमव्यवस्थापनमिति शेषः ॥ २० ॥

(२१) - ७।४३-४५ प्रशास्ता न वदेदेकम्

( १ )—पूर्वाधिकरणशेषभूतो विचार ।

( २ ) ज्योतिष्टोमेऽग्नीषोमीयपश्वालम्भन प्रकृत्य—‘तस्मान्मैत्रावरुण प्रेष्यति चानुचाहेति’ प्रैषानुवचनरूप कर्मद्वयमुपदिष्टम्—‘मैत्रावरुणकर्तव्य-  
त्वेन—समाख्याया तु होत्रादिकर्तव्यत्व तेषा प्राप्तम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किं सर्वाण्यनुवचनानि सर्वं च प्रैषा मैत्रावरुणेन कर्तव्या उत यत्रानुवचनसमुच्चित प्रैष कर्तव्यस्तन्मात्र एवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —उपदेशेन समाख्याया बाधात् सर्वे प्रैषा सर्वाणि चानुवचनानि मैत्रावरुणेन कार्याणीति ।

( ५ ) सिद्धान्त —‘प्रेष्यति चानुचाहेति’ उपदेशवाक्यम् । तत्र च चकारद्वयेन प्रैषानुवचनयो समुच्चय उच्यते । ततश्च यत्रोभय समुच्चितं तत्रैवानेनोपदेशेन समाख्याया बाध । तस्मात् समुच्चिते यत्र प्रैषानुवचने क्रियते तत्रैव मैत्रावरुणकर्तृकत्वमन्यत्र तु व्यस्तयोस्तयो समाख्याबलेन होत्रादिकर्तृकत्वमेवेति ।

एतदभिप्रत्याह प्रशास्तेति । ‘प्रशास्ता’ मैत्रावरुण —‘एक’ अनुवचनमात्रम् अथवा प्रैषमात्र ‘न वदेत्’ नोच्चारयेत्—समुच्चितमेव यत्र तदुभय प्रयुज्यते तत्रैव स वदेदन्यत्र तु समाख्याप्राप्ता होत्रादय एवेत्याशय ॥ २१ ॥

(२२) ३।७।४६-४९ अध्वर्योश्चमसाहुतिः ।

( १ ) समाख्याया बाधाबाधविषये विचारविशेष ।

( २ ) सन्ति चमसाहुतय सन्ति च चमसाध्वर्युनामत्विज ।

( ३ ) तत्र सशय —चमसाहुति चमसाध्वर्युभि कर्तव्योताध्वर्युणेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —समाख्याबलात् चमसाध्वर्यव एव चमसाहुति कुर्युरिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —सर्व होमा आध्वयवनाम्नाज्ञाता । आध्वर्यवाणि च कर्माण्यध्वर्युणैव कर्तव्यानि नान्येनत्विजा । तस्माच्चमसहोमोऽप्यध्वर्युणैव कार्य । न च “चमसाध्वर्यवोऽप्यध्वर्यव एव—ततश्च तेषामप्याध्वयवक मनुष्ठानेऽधिकारोऽस्त्येवेति”वाच्यम् । चमसपदविशेषसापेक्षाया चमसाध्वर्युसमाख्यापेक्षाया विशेषनिरपेक्षाया अध्वर्युसमाख्याया बलवत्तरत्वात् केवलाध्वर्युशब्दस्यैव ऋत्विक्सन्नारूपेण प्रवृत्तिर्बलवत्तरा । तथा च सति ‘आध्वर्यवो’होम’ इति केवलाध्वर्युशब्दगर्भया समाख्ययाऽध्वर्युरेव चमसहोममपि कुर्यात्—तस्याशक्तावेव चमसाध्वर्यु कुर्यादिति निष्कर्षः । इति ।

एतदभिप्रेत्याह—अध्वर्योरिति । ‘चमसाहुति’ चमसहोम ‘अध्वर्यो’  
अध्वर्योरैव—कर्तव्यो न चमसाध्वर्योरिति शेष ॥ २२ ॥

(२३) ३।७।५०-५१ श्यने सर्वत्रिजा कर्म

(१) ऋत्विजा कार्यविषये समारण्याबाधाबाधयोर्विचारान्तरम् ।

(२) अस्त्यौद्गात्रनाम्नाम्नातेषु श्येन ।

(३) तत्र सन्देह —श्येनयागे कि सर्वाण्येव कार्याण्युद्गात्रैव कत  
व्यान्युतानेकैर्ऋत्विग्भिरिति ।

(४) समारण्याबलात् श्येनाङ्गभूतानि सर्वाण्युद्गात्रैव कर्त यानीति ।

(५) सिद्धान्त —श्येनो ज्योतिष्टोमविकार । ज्यातिष्टोमचोदकस्तु  
तानि तानि कर्माणि तैस्तैर्नान्त्विग्भि कतव्यत्वेन समर्पयति । श्येन-  
रूपविकृतौ चातिदेशप्राप्तानि तानि कर्माणि तच्चोदकबलात् चोदकवच  
नाधीना दुर्बला समाख्या बाधित्वा तत्तद्विग्भि कतव्यानीति ।

एतदभिप्रेत्याह—श्येन इति । ‘श्येने’ श्येनयागे—‘कर्म’ सर्वैर्ऋत्वि  
ग्भिर्यथोपदेश कर्तव्यम्—न केवलमुद्गात्रेति भाव ॥ २३ ॥

त्रयोविंशतिनीतयः ॥

अत्र पादे त्रयोविंशतिरेव न्याया इत्यर्थ ।

इति तृतीयस्य सप्तम ॥

## ‘अथ तृतीयस्याष्टमः पादः ।

(१) ३।८।१ परिक्रयः स्याद् यजमानकर्म

(१) कर्मनाम्ना तत्कृतनियमननियमेऽपवादोऽयम् ।

(२) ज्योतिष्टोमादौ दक्षिणादानेन कर्मकरा आसादयितव्या । एत-  
देव तेषा ‘परिक्रय’ इत्युच्यते ।

(३) तत्र सन्देह —इदं परिक्रयरूपं कर्म केन कर्तव्यम्—यजमानेनो  
ताध्वर्यादिना केनचिद्विजेति ।

(४) पूर्वपक्ष—यागीयद्रव्याणां यागार्थपरित्यागरूपं कर्म विहाय  
सर्वं तदङ्गजातमृत्विग्भिरैव कर्तव्यम् । परिक्रयसाधनभूतं च दक्षिणादानम् ।

दक्षिणा च आध्वर्यववेदे समाम्नाता । तस्मादाध्वर्यवसमारयाबलाद्  
ध्वर्युणैव दक्षिणादानं तद्द्वारा च परिक्रयणं कर्तव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—परिक्रयणं कर्मणामनुष्ठानात् प्रागेव भवति ।  
परिक्रयणात् प्राक् ऋत्विजामात्विज्यमेव न सम्पन्नम् । आत्विज्याभावे च  
तेषां यागेन सम्बन्धो नास्ति । यजमानस्य तु फलकामद्वाराऽस्येव  
तत्साधनीभूतेन यागेन सम्बन्धः । अतः परिक्रयणं यजमानेनैव कर्त-  
व्यम् । परिक्रयणानन्तरं च सर्वं तत्तद्विधिभिर्न्याश्रुतं कर्तव्यमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—परिक्रय इति । ‘परिक्रय’ ऋत्विजामानति—  
‘यजमानकर्म’ यजमानेनैव कर्तव्यम्—‘स्यात्’ भवेत् ॥ १ ॥

( २ ) ३।८।२ वाक्येन स स्यात् कचिदन्यकर्म ।

( १ ) पूर्वधिकरणपवादः ।

( २ )—‘य एतामिष्टकामुपदध्यात् स जीन् वरान् दद्यात्’ इति गोत्र-  
यरूपदक्षिणादानं समाम्नातम् ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—इतरदक्षिणादानवत् इदं दक्षिणादानमपि कि-  
ं यजमानेनैव कर्तव्यमुतान्येनेति ।

( ४ ) पूर्वधिकरणन्यायेन यजमानेनैवेदमपि दक्षिणाद्वारा परि-  
क्रयणं कर्तव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—उक्तवाक्ये गोत्रयदानमिष्टकोपघातृणैव कर्तव्य-  
मिति स्पष्टमुक्तम् । इष्टकोपघातं च यजमानेन न क्रियतेऽपि त्वध्वर्युणा ।  
तस्माद् गोत्रयरूपदक्षिणादानद्वारा यत् परिक्रयणं तदध्वर्युरेव कुर्यात्—  
साक्षाच्छ्रुतिबलेनेति ।

एतदभिप्रेत्याह—वाक्येनेति । ‘क्वचित्’ स्थलविशेषे—उक्तं परिक्र-  
यणं ‘वाक्येन’ साक्षाच्छ्रुतिबलेन—‘अन्यकर्म’ अन्येन—यजमानाद्यतिरि-  
क्तेन ऋत्विजाऽध्वर्युरेति यावत्—कर्तव्यं—‘स्यात्’ इति सम्बन्धः ॥

एतदधिकरणमाद्याधिकरणान्तर्गतमेव वतते भाष्ये वार्तिके च । मण्ड-  
नमिश्रेण तु पृथगुक्तम् । न्यायमालायामपि तथैव ॥ २ ॥

( ३ ) ३।८।३—स स्यात् स्वामिनिष्ठ वपनादिकर्म

( १ ) कर्मविशेषकर्तृत्वविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) ज्योतिष्टोमविषये आध्वर्यववेदे विधयः—‘केशश्मश्रु वपते—  
दतो धावते नखानि निकृन्तते’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—एतानि वपनादीनि किं यजमानेन कार्याण्युता-  
ध्वर्युरेति ।

( ४ ) पूर्वापत्तिः—प्रध्वर्युरेति श्रुत्यादेतान्यध्वर्युणैव कार्याणीति ।

( ५ ) सिद्धान्त — वपनादीनि शरीरसंस्काररूपाणि यजमानगत-  
मालिङ्ग्यमपनीय तस्य यागयोग्यता सम्पादयितुं कियन्ते । स्पष्टमेतदुक्तं  
ब्राह्मणवाक्ये—‘मृता वा एषा त्वक् अमेध्या यत् केशश्मश्रु मृतामेव त्वच-  
ममेध्यामपहत्य यज्ञियो भूत्वा मेधमुपैति’ इति । ( मेधम् यज्ञमिति  
यावत् ) । न चाध्वर्युवपनेन यजमानगताऽमेध्याऽपैति । अतो वपनादि  
संस्कारो यजमानस्यैव नाध्वर्योगिति ।

एतदभिप्रेत्याह—स्यादिति । वपनादिकर्म—‘स्वामिनिष्ठ’ यजमा-  
नगतं यजमानेनैव कर्तव्यं ‘स्यात्’ ॥ ३ ॥

( ४ ) ३।८।९—११ तपोऽपि दुःखं यजमानगामि ॥

( १ ) कर्मविशेषकर्तृत्वविचार एवानुवर्तते ।

( २ ) ‘अहं नाश्नाति—व्यहं नाश्नाति’ इत्याद्युपवासरूपं तपः प्राक्तम्  
ज्योतिष्टोमे ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—एतादृशन्तपः किं यजमानेन कर्तव्यमुत त्विजेति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—अध्वर्योरेवैतद्युक्तम्—दुःखरूपत्वात्तस्य परिकीर्ते-  
नैव पुरुषेण कर्तुमुचितत्वात् । तथा चाध्वर्यव एव कारणे एतत्तपो  
विहितम्—एवमपि समाख्याबलाद्ध्वर्यौव कर्तव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—यागफलप्राप्तिरूपं यत् दुःखं तद्यजमानगामि—  
तस्यैव सुखस्य प्रतिबन्धकीभूतं यत् पापं तस्यैवापनुत्तये तपोऽनुष्ठा-  
तव्यम् । यस्य सुखं यस्य वा पापं तत्प्रतिबन्धि तेनैव तत्प्रतिबन्धापनो-  
दनं कर्तव्यमिति—दुःखरूपं तपो यजमानेनैवानुष्ठातव्यम् । एतत्तपोपक-  
लिङ्गमप्युलभ्यते—‘यदा वै दीक्षितं कृशो भवति अथ मेध्यो भवति’  
इति—‘दीक्षितो’ यजमानः यदा ‘कृशः’ तपोऽनुष्ठानेन दुर्बलो भवति  
तदैव ‘मेध्यः’ यज्ञयोग्यो भवतीत्यर्थः ॥ इति ।

एतदभिप्रेत्याह—तपोऽपीति । ‘तपः अपि’ ‘दुःखं’ दुःखात्मकं तथाच  
दुरदृष्टापनोदकं सत्—‘यजमानगामि’ यजमानेनानुष्ठातव्यं भवतीति ॥ ४ ॥

( ५ ) ३।८।१२ हिरण्यमाला सकलत्विगङ्गम्

( १ ) समाख्यायां संस्कारनियामकत्वे ऽपवादः ।

( २ ) वाजपेये श्रूयते ‘हिरण्यमालिनं ऋत्विजः प्रचरन्ति’ इति ।  
तथाच श्येने—‘लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—अत्रोक्तं हिरण्यमालित्वमध्वर्युमात्रस्योत् सर्वेषां  
मृत्विजाम् । लोहितोष्णीषत्वञ्च किमुद्रातृमात्रस्योत् सर्वेषामिति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—आध्वर्यवे यजुर्वेदे हिरण्यमालित्वविधयः—आद्रात्रे  
ह्यमवेदे लोहितोष्णीषत्वविधिः । तस्मात् समाख्यया हिरण्यमालित्वम-



ध्वयोरेव लोहितोष्णीषत्व चोद्गातुरेवेति ।

(५) सिद्धान्त —‘ऋत्विज प्रचरन्ति’ इति सर्वेषामृत्विजा सन्निधौ हिर-  
ण्यमालित्व लाहितोष्णीषत्व च विहितम् । सन्निधिश्च समारयातो बली-  
यसी । तस्मात् समाख्या बाधित्वा सन्निधि हिरण्यमालित्व लोहितो  
ष्णीषत्व च सर्वैरेवर्त्विग्भिः सम्बध्नाति इति सर्वेषामेवर्त्विजा हिरण्य  
मालित्वादिसंस्कार इति ।

एतदभिप्रेत्याह—‘हिरण्यमालेति । ‘हिरण्यमाला’ हिरण्यमालाधा  
रण ‘सकलर्त्विगङ्गम्’ सकलानां सर्वेषां ऋत्विजामङ्ग संस्कार इति यावत्  
न केवलमध्वयोरेवेति शेष ॥ ५ ॥

(६) ३।८।१३-१४ स्वामी सदोमानफलस्य शेषी

(१) समाख्यानियामकत्वेऽपवादान्तरम् ।

(२) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—‘यदि कामयेत् वर्षेत् पर्जन्य नीचैस्सदो  
मिनुयादिति’ ।

(३) तत्र सन्देह —अत्रोक्तो वृष्टिकामो यजमानस्योताध्वयोरिति ।

(४) पूर्वपक्ष —आध्वर्यववेदोक्तत्वाद्वाक्यस्य तत्समाख्याबलादध्व  
योरेव तत्रोक्ता कामना । अथ च ‘य कामयेत् स एव मिनुयादिति’ हि  
वाक्यार्थः । तेन च मानकामनयोरेककर्तृकत्वम् । मान चाध्वर्युं करोति ।  
तस्मात् कामनाऽपि तस्यैवेति ।

(५) सिद्धान्त —साङ्गस्य यागस्य फल यजमानगाम्येव भवति ।  
अतो ज्योतिष्टोमाङ्गस्य सदोमानस्य यत् फल वृष्टिरूपं तदपि यजमान  
गाम्येव । अथ च मिनुयादिति परस्मैपदेनाध्वर्योर्य सदोमानरूपो व्या  
पारस्तस्य फल अध्वर्युभिन्नपुरुषगामीति प्रत्याय्यते । एव च परस्मै  
पदश्रुत्या वाक्यस्य समारयाद्याश्च बाधे सति वृष्टिकामना यजमान  
गामिन्येवेति ।

एतदभिप्रेत्याह स्वामीति । ‘सदोमानफलस्य’ अध्वर्युणा यत्सदसो  
मानरूपं कर्म क्रियते तस्य ‘फलस्य’ वृष्टे—‘शेषो’ आधार—‘स्वामी’  
यजमान एवेति ॥ ६ ॥

(७) ३।८।१५-१६ तस्यैव चाशसनमन्त्रपाठः

(१) समाख्यानियामकत्वेऽपवादान्तरम् ।

(२) ‘आयुर्दा अग्ने आयुर्मे देहि’—‘वर्चोदा अग्ने वर्चो मे देहि’ इत्या  
दिमन्त्राणां पाठ आम्नातः ।

(३) तत्र सन्देह —अयं मन्त्रपाठो यजमानेन काय उताध्वर्युणेति ।

(४) पूर्वपक्ष — आध्वर्यवकारणोपलब्धत्वात्तत्समाप्त्ययाऽध्वर्युणैव कार्यो मन्त्रपाठ इति ।

(५) सिद्धान्त — 'आयुर्मै देहीति' फलस्य स्वात्मसम्बन्ध प्रतीयते । फलाशसन च प्रोत्साहनार्थं क्रियते । तच्च यजमानस्यैव युज्यते नाध्वर्यो । तस्माद् यजमानस्यैवाय मन्त्रपाठ इति ।

एतदभिप्रेत्याह तस्यैवेति । 'आशसनमन्त्रपाठ' — आशसनमन्त्राणां आयुर्वर्चआदीनां फलानामाशसन येषु उपलभ्यते तेषां मन्त्राणां पाठ 'तस्य' यजमानस्यैव कर्तव्य — नाध्वर्योरिति शेष ॥ ७ ॥

(८) ३।८।१७ द्याम्नातमन्त्रा उभयप्रयोज्याः

(१) समाख्यया कर्तृनियमनस्योदाहरणान्तरम् ।

(२) 'वाजस्य मा प्रसवेनेति' मन्त्रो दर्शपूर्णमासप्रकरणे याजमाने आध्वर्यवे च कारुण्डे द्याम्नात ।

(३) तत्र सन्देह — किमयस्मन्त्रपाठो यजमानस्यैवोताध्वर्योरैवोतो भयोरिति ।

(४) पूर्वपक्ष — समाख्यया यद्यप्युभयोरपि पाठकर्तृत्वं सूच्यते तथा ऽप्येकेनैव पाठे कृते मन्त्रस्य चरितार्थत्वादितरेण पाठो व्यर्थ स्यात् । तस्मात् एकोऽध्वर्युरेव मन्त्र पठेदिति ।

(५) सिद्धान्त — उभाभ्यामेव पठनीयो मन्त्र । एककारण्डसमाख्येयैव पाठे एकेन निवृत्ते कारुण्डान्तरपाठो मन्त्रस्य व्यर्थ स्यात् । उभयोश्च पाठेऽभिप्रायभेदो भवति — 'अनेन मन्त्रेण प्रकाशितमर्थमनुतिष्ठामीति' अध्वर्योरभिप्राय — 'अत्रार्ये न प्रमदिष्यामीति' यजमानस्येति ।

एतदभिप्रेत्याह — द्याम्नातेति । 'द्व्याम्नाता' 'द्वयो' कारुण्डयो 'आम्नाता' उक्ता 'मन्त्रा' उभाभ्यां यजमानाध्वर्युभ्यां 'प्रयोज्या' पठनीया इति ॥ ८ ॥

(९) ३।८।१८ क्लृप्त्यादयः स्युर्विदुषैव वाच्याः

(१) कर्मविशेषकर्तृविचारोऽनुवर्तते ।

(२) वाजपेये श्रूयते — 'क्लृप्तीर्यजमान वाचयतीति' । 'आयुर्यज्ञेन कल्पता'मित्यादयो मन्त्रा क्लृप्तिनैः स्यादभिधीयन्ते ।

(३) तत्र सन्देह — क्लृप्तिमन्त्रवाचनं किं मन्त्रतदर्थमिच्छस्यैव यजमानस्य उत तदभिज्ञानमिच्छयोरुभयोरपीति ।

(४) पूर्वपक्ष — विद्वांस वाचयेदिति विशिष्टविधेरनुपलम्भात् 'यजमानं वाचयतीति' अविशिष्टस्यैव यजमानस्य वचनकर्तृत्वेनोक्तत्वात्

उभाभ्या मन्त्रतदर्थभिज्ञानभिज्ञाभ्या कलृप्तिमन्त्रपाठ कार्य इति ।

(५) सिद्धान्तः—अध्ययनविधिबलादधीतवेदस्य विदितवेदाथस्यैव यजमानत्वसम्भवात् मन्त्रतदर्थभिज्ञ एव यजमानो वाचनीय इति ।

एतदभिप्रेत्याह—कलृप्त्यादय इति । 'कलृप्त्यादय' कलृप्तिनाम्ना उज्झसतिनाम्ना च प्रसिद्धा ये मन्त्रा ते—'विदुषैव' मन्त्रतदर्थभिज्ञेनैव यजमानेन 'वाच्या स्यु' पठनीया भवेयुरिति ॥ ९ ॥

(१०) ३।८१६-२० द्वन्द्वानि न स्युर्यजमानकर्म

(१) अष्टमाधिकरणापवाद ।

(२) दर्शपूर्णमासयोर्द्वादश द्वन्द्वार्यानि कर्माणि याजमाने कारणे समाम्नातानि—धत्स चोपावसृजति-उखा चाधिश्रयति-अव च हन्ति दूषदुपले च समाहन्ति-अधि च वपते-कपालानि चोपदधाति-पुरोडाश चाधिश्रयति-आज्य च-स्तम्भयजुश्च हरति-अभि च गृह्णाति-वेदि परि गृह्णाति-पत्नी च सन्नहति-प्रोक्षणीश्चासादयति आज्य च-तानि द्वादश द्वन्द्वानि दशपूर्णमासयो ' इति ।

(३) तत्र सन्देह —क इमान् कुर्यात्-यजमानोऽध्वर्युर्वोतोभावपीति ।

(४) पूर्वपक्ष —याजमानकारण्डाम्नानात् समारयाबलेन यजमाने नैवेद्यानि कार्याणीति ।

(५) सिद्धान्तः—यस्मिन् यजुर्वेदकारण्ड इमान्याम्नातानि तथाजमानमेवावान्तरकारण्डम् आध्वयव तु महाकारण्डतद्वयापकम् । यजमानस्य च यानि कर्माणि तत्सम्पादनायैवाध्वर्युः परिक्रीयते । तस्मादध्वर्युरेवानुष्ठेत् द्वन्द्वानि कर्माणि । याजमाने च कारण्डे तत्कर्मप्रकारो न चोदित केवल क्रमसूचनार्थ परिगणन कृतम् । तस्मादध्वर्युर्यैव कार्याणीमानिति ।

एतदभिप्रेत्याह—द्वन्द्वानिति । 'द्वन्द्वानि' वत्सोपावसर्जनादीनि द्वन्द्वार्यानि कर्माणि—'यजमानकर्म' यजमानेन कर्तव्यानि—'न स्यु' अपि तु अध्वर्युरेवेति भावः ॥ १० ॥

(११) ३।८।२१ अध्वर्युमन्त्रः करणो विरोधे

(१) समारयथा कतृत्वनियमेऽपवादान्तरम् ।

(२) ज्योतिष्टोमेऽस्ति पशुरशोषोमीय । तस्य यूपस्य परिव्याणे द्वौ मन्त्रौ युगपदेव पठ्येते । एक. 'परिवीरसि' इत्यध्वर्युपठनीयः करणख्य-अपरश्च 'युवासुवासा' इति होतृपठनीय क्रियमाणानुवादी । ज्योतिष्टोमविकृतौ च कुण्डपायिनामयनेऽपि एतन्मन्त्रद्वयपाठश्चोदक-

प्राप्त, परन्तु तत्र 'यो होता सोऽध्वर्युरित्यनेनर्विगद्वयस्याभावादेको होतैष भवति तत्रर्त्विक् । एकेन च युगपन्मन्त्रद्वयपाठो न सम्भवति ।

(३) तस्मादत्र भवति सन्देह—कम्मन्त्र होता पठेत्—परिवीरसीति करणमन्त्रमुत् युवासुवासा इति क्रियमाणानुवादिमन्त्रमिति ।

(४) पूर्वपक्ष —कचिदेक पठनीय कचिदपर इत्यनियम एकतरस्य स्वीकारे मानाभावादिति भाष्यकारीय पूर्वपक्ष । होता स्वपठनीय युवासुवासा इति मन्त्रमेव पठेत् स हि तस्य चोदकत प्राप्त न च तत्प रित्यागे कश्चिद्धेतुरूपलभ्यते इत्यपर ।

(५) सिद्धान्त —कुण्डपायिनामयने सकलमाध्वर्यव कर्म होत्रा कर्तयमिति साक्षाच्छ्रुत्या विधीयते 'यो होता सोऽध्वर्युरित्यनया । अत आध्वर्यवमन्त्रस्य पाठ होतु साक्षाच्छ्रुतिप्राप्त । होत्रमन्त्रपाठस्तु तस्य 'प्रकृतिवद्विकृति कर्तव्येत्प'तिदेशादेव प्राप्त । एव च युगपत्प्राप्तस्य मन्त्रद्वयपाठस्यासम्भवे साक्षाच्छ्रुतिप्राप्तस्य करणस्यैव पाठो होत्रा कर्तव्य इतरस्तु त्यक्तव्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह—अध्वर्युविति । 'विरोधे'—आध्वर्यवकरणमन्त्रहोत्र-क्रियमाणानुवादिमन्त्रपाठस्यासम्भवे—'अध्वर्युमन्त्र' अध्वर्युपठनीयमन्त्र 'करण' करणाख्य परिवीरसीत्यादिरेव—'होत्रा पठनीय कुण्डपायिना-मयने' इति शेष ॥ ११ ॥

(१२) ३।८।२२ प्रैषे तदर्थे च न कर्तुरैक्यम् ।

(१) अनुष्ठातृविषये विचारोऽनुवर्तते ।

(२) दशपूर्णासासयो केचन प्रैषा ( आज्ञापनानि ) श्रुता—'प्रोक्षणीरासादय-इध्मा बर्हिरुपसादय-अग्नीदग्नीन् विहर' इत्यादय । उच्चारणीयाश्चैतेऽध्वर्युणा ।

(३) तत्र सन्देह—य आज्ञापनवाक्यमुच्चारयति कि स एवाज्ञातार्थमप्यनुतिष्ठत्युतान्य इति ।

(४) पूर्वपक्ष —यजुर्वेदे उक्ता एते प्रैषा प्रैषार्थाश्च । तस्मादध्वर्यवसमाख्याबलादध्वर्युरेव प्रैषमुच्चारयेदनुतिष्ठेच्च तदर्थमिति ।

(५) सिद्धान्त —लोके समाज्ञापनवाक्यं य उच्चारयति न स एवाज्ञापितार्थमनुतिष्ठत्यपि तु य प्रति तद्वक्त्यमुच्चारयते स एव । प्रकृते च प्रैषवाक्यानि अग्नीध्रादीन् ऋत्विजः प्रत्युच्चारयन्तेऽध्वर्युणा । एव च सति यद्यध्वर्युरेव तत्तत्कार्यं कुर्यात् तर्हि अग्नीध्रादिसम्बोधनं मध्यमपुंल्लिङ्गप्रयोगश्च नोपपद्येत । तस्मात् प्रैषोच्चारकादन्य एव तदर्थानुष्ठातेति ।

एतदभिप्रेत्याह—प्रैष इति । ‘प्रैषे’ आज्ञापनवाक्ये—‘तदर्थे’ आज्ञापि-  
तार्थे च—‘कर्तुं’ अनुष्ठातु प्रैषोच्चारयितु प्रैषार्थकर्तुश्च—‘ऐक्यं न’—  
नोभयोरेक एव कर्ता । किन्तु प्रैषोच्चारयितैकोऽन्यश्च तदर्थानुष्ठातेत्या-  
शय ॥ १२ ॥

(१३) ३३।८।२३-२४ अध्वर्युणा प्रेषणमेव कार्यम् ।

(१) पूर्वाधिकरणशेषो विचार ।

(२) पूर्वाधिकरणोदाहृतमेवात्र विषयवाक्यम् । प्रैषोच्चारकादन्य-  
एव तदर्थानुष्ठातेति स्थितम् ।

(३) तत्र सन्देह —क कि कुर्यात्—क प्रैषमुच्चारयेत् कश्च प्रषार्थ-  
मनुतिष्ठेदिति ।

(४) पूर्वपक्ष —अनियमेन येन केनापि यस्य कस्याप्यनुष्ठानमि-  
त्याह । अध्वर्युरेव प्रैषार्थं कुर्यात् तस्यैव सकलपदार्थानुष्ठापकत्वात् । प्रैष-  
च तस्मादन्य एवाग्नीध्र उच्चारयेदिति ।

(५) सिद्धान्त —सर्वाणि कार्याण्येकेनाध्वर्युणा कर्तुं न शक्यन्ते ।  
स यत् स्वयं कर्तुं न शक्नोति तत्रान्यान् प्रेरयति । एतत्प्रेरणार्थमेव च  
प्रैषोच्चारणम् भवति । यतश्च सवषा पदार्थानामाध्वर्युश्च इति समा-  
ख्या—यद्वलेनाध्वर्युरेव सर्वानुष्ठातेति गम्यते—तस्मादेव प्रैषोच्चारणमध्व-  
र्युणैव कार्यम् । तेन प्रेरितैर्यत् क्रियते तत्तन्नैव क्रियते—तत्र तस्य प्रयोजक-  
कर्तृत्वादिति निबन्ध । तस्मात् प्रैषोच्चारणमध्वर्युणा कार्यम् । एवमेवा-  
ध्वर्यवसमाख्याऽनुगृहीता भवति । प्रैषार्थानुष्ठानं त्वग्नीध्रेण कर्तव्यम्—इति ।

एतदभिप्रेत्याह—अध्वर्युणेति । ‘अध्वर्युणा’ ‘प्रेषणम्’ प्रेरणम्—प्रैष-  
मन्त्रोच्चारणद्वारेणेति यावत्—अग्नीध्रादीनामप्रेषार्थानुष्ठाने इति शेष —  
‘एव’—न तु प्रैषार्थानुष्ठानमपोत्याशय —‘कार्यम्’ ॥ १३ ॥

(१४) ३।८।२५-२७ वर्चःपदे स्वामिफलप्रकाशः ।

(१) कर्मविशेषस्य कर्तृविशेषेण सम्बन्धो विचार्यते ।

(२) दर्शपूर्णमासयोरुदाहवनीयस्यान्वाधाने करणभूतो मन्त्रोऽध्वर्युणा  
पठ्यते फलाशसो—ममाग्रे वर्चो विहवेष्वस्तु इति—यज्ञाद्गहोमाना यत्  
वर्चसोपलक्षितं फलं तन्ममास्त्विति तस्यार्थः ।

(३) तत्र सन्देह —आत्राशसितफलं कस्य—अध्वर्योर्यजमानस्य वेति ।

(४) पूर्वपक्ष —मन्त्रे यन्ममपदं तदुच्चारयितुरेव फलसम्बन्धं सूच-  
यति—उच्चारयिता चाध्वर्युः । तस्मादध्वर्युरेव फलमिति—स्वगतफला-  
शसनेन च तस्य स्वकर्मानुष्ठानोत्साहो वर्धते—इति ।

(५) सिद्धान्त । 'दर्शपूर्णमासाभ्या स्वर्गकामो यजेत' इत्यात्मनेपद-श्रुते सङ्गप्रधानफलस्य यजमानभामित्वं प्रतीयते । न च परिकीतस्या-ध्वर्योदक्षिणालाभातिरिक्तफलसम्बन्धो न्याय्यः । अतो याजमानमेव फलम् । लिङ्गमप्यत्र भवति—'या वै काञ्चन ऋत्विज आशिपमाशासते यजमानस्यैव सा' इति । मन्त्रे ममपदं च लक्षणया यजमानपरमेव—'यद्यजमानस्य वर्चस्तन्ममैवेति' लक्षणार्थः इति ।

एतदभिप्रेत्याह—वर्चं पदे इति । 'वर्चं पदे'—'ममाग्रे वर्चः' इति मन्त्रस्थे—'स्वामिफलस्य' यजमानगामिफलस्यैव तेजोरूपस्य—'प्रकाश' आशसनम्—भवति नाध्वर्योरिति शेषः ॥ १४ ॥

(१५) ३।८।२८ न स्वामिनोऽसन्तपनं फलं स्यात् ।

(१) पूर्वाधिकरणपवादः ।

(२) दर्शपूर्णमासयोराधारहोमार्थमाज्यपूर्णौ सुक्लुबौ गृहीत्वा नाभिसमीपे हस्तेन धारयति—तत्र च करणमन्त्रोऽध्वर्युणा पठ्यते—'अग्नाविष्णु मा वामवक्रमिष विजिहार्थां मा मा सन्ताप्तं कुरुतम्' इति । अस्यार्थः—भो सुक्लुबरूपौ अग्नाविष्णु युवा नाभिदेशे धारयन्नहं 'वामवक्रमिषम्' युवयोरतिक्रमं न कृतवानस्मि—युवा च मत्तो वियुक्तौ मा भवतम्—ततो मा देहधारिण 'मा सन्ताप्तं' मम देहे सन्तापं ज्वरादिरूपं 'मा कुरुतम्' इति ।

(३) तत्र सन्देहः—अत्रोक्तं फलमसन्तापरूपं किं यजमानस्योताध्वर्योरिति ।

(४) पूर्वपक्षः—पूर्वाधिकरणन्यायेन यजमानस्यैवैतत् फलमिति ।

(५) सिद्धान्तः—अध्वर्यावसन्तप्ते सति तेनानुष्ठितं यजमानस्य कर्माविष्नेन सम्पद्यते ततश्च तस्य मुख्यफलसिद्धिरपि भवति । तस्मादत्रोक्तं फलमध्वर्योरेव न यजमानस्येति ।

एतदभिप्रेत्याह न स्वामिन इति । 'असन्तपनं' सन्तापाभावरूपं 'फलं' यदुक्तं तत्—'स्वामिनः' यजमानस्य—'न स्यात्'—अपि त्वध्वर्योरेवेति भावः ॥ १५ ॥

(१६) ३।८।२९ द्वयोः फलं भद्रपदाभिधेयम् ।

(१) पूर्वाधिकरणशेषो विचारः ।

(२) ज्योतिष्टोमे हविर्धानमण्डपे सोमाभिषवाधारयोः फलकयोरधस्ताच्चतसृष्वग्नेय्यादिविदिक्षु चत्वार उपरवनामका गता अरत्निमात्र-खाता अधोभागे परस्परमिलिता ऊर्ध्वभागे परस्परं प्रादेशमात्रव्यवहिता

वर्तन्ते । तेष्वेकस्मिन्नुपरवे यजमानो दक्षिणहस्त प्रसारयति । तथैवाध्वर्युरन्यस्मिन् स्वहस्त प्रसार्याधस्ताद् यजमानहस्त गृह्णाति । तदा यजमान 'किमत्र' इति मन्त्रेण पृच्छति । अध्वर्यु 'भद्रम्' इत्यनेन मन्त्रेणोत्तर ब्रूते । ततो यजमान 'तन्नौ सह' इत्यनेन मन्त्रेण प्रत्युत्तर ददाति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —अत्रोक्त यद् भद्ररूप फल तत्किं यजमानस्यो ताध्वर्योरुतोभयोरिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —यतो यजमान 'तन्नौ सहेति' मन्त्रेण फल स्वकीयत्वेन गृह्णाति तस्मात्तस्यैव तदिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —'नौ' इति द्विवचनेन 'सह' इत्यनेन चोभयगामितैव फलस्य भवतीति ।

एतदभिप्रेत्याह द्वयोरिति । 'भद्रपदाभिधेय' अध्वर्युक्तमन्त्रगतभद्रपदेन यत् अभिधीयते तत्—'फल'—'द्वयो' अध्वर्युयजमानयोरुभयोरेव भवतीत्यर्थ ।

[ इदमधिकरणभाष्यकारेण वार्तिककारेण वा पृथङ् न निरूपितम्—पूर्वाधिकरणान्तर्गतमेव कृतमूनत्रिशत्तम सूत्रम् । तन्मतेन च यथा अष्टाविंशसूत्र पञ्चदशाधिकरणस्यापवाद वक्ति तथैवेदमप्यपवादान्तरमिति न पृथगधिकरणता । वार्तिककारमतेन च षष्ठाधिकरणसदृश एवैतत्सूत्रस्थो विचारः । तत्र तु ब्राह्मणवाक्येन त्विगमामिता फलस्य सूचिताऽत्र तु मन्त्रेणेत्येतावानेव विशेष ] ॥ १६ ॥

( १७ ) ३।८।३० साङ्गप्रयोगाय घृतादिधर्माः

( १ ) समारण्याया श्रुतिलिङ्गादिविरोधे बलाबलचिन्ता पर्यवसिता । तेषु ये सिद्धान्तास्ते किं केवल प्रधाने कर्मणि प्रयोजका उत तस्याङ्गेषु विकृतिषु चेति विचार प्रवर्तते ।

अत्राधिकरणस्वरूप तार्तीयसप्तमपादीयप्रथमाधिकरणवदेव । अत्र चास्योपन्यासो विकृतिगतविचारस्याङ्गत्वेन । अत एव वार्तिककारेण त्रिशसूत्र विकृतिगतविचारान्विकरणपूर्वपक्षत्वेन गृहीतम् । भाष्यकारोऽपि सक्षेपतः सप्तमपादीयाधिकरणं प्रदर्शय उक्तवान्—'यथा व्याख्यातमेव—उत्तरविवक्षया प्राप्तिरेषा क्रियते' इति । न्यायमालाकारस्तु एतदधिकरणं पृथङ् नैवात्र प्रदर्शितवान् ॥ १७ ॥

( १८ ) ३।८।३१ यूपान्नाज्ये न भवन्ति धर्माः

( १ ) प्रकृतिधर्माणां विकृत्यङ्गत्वे विचारः ।

( २ ) ज्योतिष्टोमेऽग्नीषोमीयपशु प्रकृत्य श्रूयते—'आज्येन यूपमनक्ति' इति । ज्योतिष्टोमप्रकरणे चाज्यधर्मा आस्तातः ।

( ३ ) तत्र सन्देह —ये चाज्यधर्मा उक्तास्ते कि प्रधानमात्रे ज्योतिष्टोमे निविशन्ते—उत तद्विकृतावघ्नीषोमीयपशावपीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —प्रकृतिवद्विकृति कर्तव्येति चोदकबलात्प्रकृतिधर्माणां सर्वेषां निवेशो विकृतावपि सिद्ध्येन्नियामकाभावात् । तस्मादुक्ता धर्मा विकृतावपि निविशन्त इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —कार्यमेवास्ति नियामकमत्र । यूपाञ्जनरूप कार्यं प्रकृतौ नास्ति—तस्माद् विकृतिगतयूपाञ्जने नास्ति सम्बन्धः प्रकृतिगताज्यधर्माणाम् । तस्मात् येषाम्प्रकृतिगतधर्माणां विकृतौ प्रयोजनमस्ति तेषामेव चोदकेन प्राप्तिर्न सर्वेषाम् । अत एव आज्यधर्माणां न निवेशो यूपाञ्जनाज्ये—इति ।

एतदभिप्रेत्याह—यूपेति । ‘यूपाञ्जनाज्ये’—यूपस्याञ्जने यदाज्यं प्रयुज्यते तस्मिन्—‘धर्मा’ ज्योतिष्टोमसम्बन्धेनास्मात् आज्यधर्मा—‘न भवन्ति’ न निविशन्ते—इति सम्बन्धः ॥ १८ ॥

( १६ ) ३।८।३२ नोपात्तदर्भौ विधृती पवित्रे

( १ ) शेषशेषिविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोर्विधृती पवित्रे दर्भमये आह्वाने—‘समौ अन्नच्छिन्नाग्रौ दर्भौ प्रादेशमात्रौ पवित्रे करोति’—‘अरविमात्रे विधृती करोति’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किं वेदिसस्तरणार्थं ये दर्भा उपात्तास्तेभ्य एव दर्भान् गृहीत्वा विधृती पवित्रे च कर्तव्ये—उत अन्येभ्यो दर्भेभ्य इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —वेदिसस्तरणार्थमुपात्ता सस्कृताश्च दर्भास्तत्र वर्तन्ते—सत्सु च तेष्वन्यस्य दर्भस्यासादनस्य नास्त्यावश्यकता । तस्मात् तैरेव दर्भैः पवित्रे विधृती च कार्ये इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —सस्तरणार्थं ये दर्भा उपात्ता सस्कृताश्च ते सर्वे सस्तरणकार्ये एवोपक्षीणाः । तस्मादन्यैरसस्कृतैरेव दर्भैः परिभोजनीयाख्यैः पवित्रे विधृती च कार्ये—इति ।

एतदभिप्रेत्याह—नोपात्तेति । ‘उपात्तदर्भौ’ वेदिसस्तरणार्थमुपात्ता सस्कृताश्च ये दर्भास्तेभ्यः परिगृहीतौ द्वौ दर्भौ—‘विधृती’ ‘पवित्रे’ वा—‘न’ भवत इति शेषः । तद्विज्ञाभ्यामेव दर्भाभ्यां ते कर्तव्ये इत्याशयः ॥ १६ ॥

( २० ) ३।८।३३ धानाः पयस्या शकलश्च शेषात्

( १ ) पूर्वाधिकरणापवादः ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—‘पुरोडाशशकलमैन्द्रवायवस्य पात्रे निदधाति, धानां आश्विनपात्रे, पयस्या मैत्रायणपात्रे’ इति ।



( ३ ) तत्र सन्देह — पुरोडाशशकलस्य धानाया पयस्यायाश्च नि-  
धानमत्रोक्त किं पूर्वोपयुक्तद्रव्याणामेव शेषैः कार्यमुतान्यैर्न तनैर्द्रव्यैरिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पूर्वोपकरणन्यायेनान्यैरेव द्रव्यैरेतन्निधानरूपं  
कार्यं सम्पादनीयमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — यानि द्रव्याणि पुरोडाशादीनि पूर्वं सस्कृतानि  
कर्मान्तरेषूपयुक्तानि च तेषामेव शेषैरिदं निधानं कार्यम् । विद्यत एव  
तत्र शेष पूर्वमुपयुक्तस्य सस्कृतस्य पुरोडाशस्य धानाया पयस्यायाश्च ।  
विद्यमाने च तस्मिन् नास्त्यावश्यकताऽन्येषां सम्पादनस्य । तस्मात्पूर्वो  
पयुक्तद्रव्यशेषैरेव निधानकार्यं सम्पादनीयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—याना इति—‘धाना’ ‘पयस्या’ ‘शकलश्च’—‘शे-  
षात्’ पूर्वोपयुक्तधानादिद्रव्यशेषादेव—निधातव्या इति शेषः । न चा-  
त्रान्यद्रव्यसमावेशस्यावकाश इत्याशयः ॥ २० ॥

( २१ ) ३।८ ३४-३५ काम्येष्टिपूर्णांशु भवेत् प्रधानम् ।

( १ ) शेषशेषिविचारप्रसङ्गेनाङ्गप्रधाननिवेशविचारः ।

( २ ) ‘यज्ञात्पूर्वण वै काम्या इष्टय ता उपाशु कर्तव्या’ इति काम्ये  
ष्टिविषये उपाशुधर्म आह्नातः ।

( ३ ) तत्र सन्देह — इदमुपाशुत्वं किमङ्गप्रधानोभयार्थमुत प्रया-  
नार्थमेवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — सप्तदशाधिकरणन्यायेनाङ्गप्रधानोभयगतत्वमस्य  
धर्मस्य—नात्र कश्चिद् विशेषोऽस्ति—इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — काम्यत्वमेवात्र धर्मविशेषनियामकम् । न त्वङ्गानां  
काम्यत्वमस्ति । तस्मात्साक्षात्फलसाधनत्वात् काम्ये प्रधान एवोपाशु-  
त्वस्य निवेश इति ।

एतदभिप्रेत्याह—काम्येति । ‘काम्येष्टिषु’ ‘प्रधानम्’ एव ‘उपाशु’  
‘भवेत्’—न त्वङ्गानि—तेषां काम्यत्वाभावादित्याशयः ॥ २१ ॥

( २२ ) ३।८ ३६३८ श्येनेऽङ्गधर्मो नवनीतमाज्यम्

( १ ) शेषशेषिविचारेऽङ्गप्रधानगतत्वे विशेषो विचार्यते । पूर्वाधिक-  
रणापवादः ।

( २ ) श्येने श्रूयते—‘दूतिनवनीतमाज्यं भवति’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — इदं नवनीतमाज्यं किं प्रधाने श्येने निविशने—  
उत तदङ्गेष्विति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — प्रधान एव निविशने । प्रधानस्यैव प्रकरणात् ।

तस्मात् वचनप्रामाण्येन नवनीतेनाज्येन प्रधानमेव निर्वर्तयितव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — श्येनस्य सोमयागविकारत्वेन नास्त्याज्यस्यापेक्षा । अङ्गेषु वरेक्ष्यत एवाज्यद्रव्यम् । अतस्तेष्वेव निवेशो नवनीताज्यस्येति ।

एतदभिप्रेत्याह—श्येन इति । ‘श्येने’श्येनयागप्रकरणे—यत् ‘नवनीतमाज्यम्’ उक्तं तत्—‘अङ्गधर्मः’ श्येनाङ्गानामेव धर्मः—तेष्वेव निविशते—न प्रधाने श्येने इत्याशयः ॥ २२ ॥

( २३ ) ३।८।३६-४१ सर्वत्र चाङ्गे नवनीतमिष्टम्

( १ ) पूर्वविचारशेषः ।

( २ ) श्येनेऽङ्गेष्वेव नवनीतमाज्यं निविशत इति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—किं सुत्याकालानामेवाङ्गानां धर्मो नवनीतमुत सर्वेषां श्येनाङ्गानामिति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—यथा सह पशूनालभेत इति विहितं पशुसाहित्यं सुत्याकालीनेष्वेवाङ्गेषु सवनीयपशुतःपुरोडाशरूपेषु निविशते तथैव नवनीतमपि तेष्वेव निविशेत—न कालान्तरवर्तिष्वङ्गेषु दीक्षणीयादिष्विति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—‘द्वृतिनवनीतमाज्यम्’ इति श्रुत्या नवनीतस्याविशेषेण सर्वाङ्गगतत्वप्राप्तौ नास्त्यवकाशः सङ्कोचस्येति सर्वेष्वेव श्येनाङ्गेषु निवेशो नवनीताज्यस्येति ।

एतदभिप्रेत्याह—सर्वत्रेति । ‘सर्वत्र अङ्गे’—सर्वेषु श्येनस्याङ्गेषु—‘नवनीतम्’ ‘इष्टम्’—धर्मत्वेनेति शेषः ॥ २३ ॥

( २४ ) ३।८।४२-४४ मासं विधेयं सवनीयकार्यं

( १ ) पूर्वोक्तिरूपवादि ।

( २ ) ण्विंशत्सवत्सराणुष्ठेयं शक्न्यायनम् । तत्र ध्रुयते—‘संस्थितेऽहनि गृहपतिर्मुग्धया याति—स तत्र यान् मृगान् हन्ति तेषां न्तरसा सवनीया पुरोडाशा भवन्ति’ इति । अत्र मासमयत्वम्पुरोडाशस्योक्तम् ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—किं सर्वेषां पुरोडाशानां मासमयत्वमुत सवनीयानामेवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—पूर्वाधिकरणयायेन सर्वेषां पुरोडाशानां मासमयत्वमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—उदाहृते वाक्ये पुरोडाशपदस्य तरसशब्देन सम्बन्धो व्यवहितः—अव्यवहितश्च सम्बन्धः सवनीयतरसशब्दयोः । तस्मात् ‘ये

सवनीयास्ते तरसा ( मासमया )' इत्येव भवति वचनव्यक्ति —न 'ये पुरोडाशास्ते तरसा' इति । तस्मात् सवनीयानामेव मासमथेता-न सवेषामिति ।

एतदभिप्रेत्याह—मासमिति । 'सवनीयकाय' सवनीयानामेव पुरोडाशाना 'कार्ये' सम्पादने—'मास' विधेय' प्रयोज्यम्—न सवेषा पुरोडाशानामिति शेष ॥ २३ ॥

न्यायाश्चतुर्विंशतिरत्र पादे

समीरिता भाष्यकृता विचार्य ॥

स्पष्टोऽथ । यद्यपि मुद्रितभाष्यपुस्तकेऽधिकरणसङ्ख्या द्वाविंशतिरेव, तथापि मण्डनमिश्रग्रन्थप्रामाण्यात् तत्रत्य सङ्ख्यान सम्पादकभ्रान्तिप्रिलसिनमेवेति ध्येयम् । अस्ति त्वत्राधिकरणानां निरूपणे कश्चिद् भेदो भाष्यात् वार्तिकाच्चेति तत्र तत्र प्रदर्शितम् ॥

इति तृतीयाध्यायस्याष्टम पाद ।

तृतीयाध्यायः समाप्त ।

## अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

(१) ४।१।१ अथ प्रयोजकाध्यायः ।

( १ ) तृतीयेऽध्याये श्रुतिलिङ्गवास्यप्रकरणस्थानसमाख्यानं शर्पाव-  
नियोगलक्षणमुक्तम् । अतः परं किं प्रयोज्यं किं प्रयोजकमिति चिन्ता  
प्रचरति । प्रधानमेवाङ्गस्य प्रयोजकं भवतीत्यतोऽङ्गप्रधानविचारानन्तरं  
प्रयोज्यप्रयोजकविचारस्य भवत्येवापरः । कर्मसु कानिचित् साक्षात्  
पुरुषेऽस्मिन्फलसाधनानि कानिचित् कर्मान्तरसम्पादनद्वारेण फलमाप्नु-  
यन्ति । आद्यानां प्रयोजकपुरुषेऽस्मिन् फलमन्यानां तु तत्तत्कर्मान्तरमेव ।  
अतएव आद्यानि साक्षात्पुरुषेऽस्मिन्साधकत्वात् पुरुषार्थानि-अन्यानि  
तु न साक्षात्फलस्य साधनानि अपि तु कर्मान्तरस्यैवेति भवन्ति तानि  
क्रत्वर्थानि । एते च प्रधानं कर्म पुरुषार्थमङ्गन्तु क्रत्वर्थमिति भवति तृती-  
याध्यायगताङ्गप्रधानविचारस्य चतुर्थाध्यायगतकर्मार्थविचारेण सङ्गतिः ।

( २ ) क्रत्वर्थपुरुषार्थविवेक एवात्र विषयः ।

( ३ ) तत्र सन्देहः —अयं विवेकः कर्तव्यो न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः —अस्य विवेकस्याप्रयोजनत्वात् अयमुपेक्षणीय  
इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः —अनेनैव विवेकेन कर्मणा प्रयुक्तिः सम्यक् ज्ञातु-  
शक्यते । तस्मात् साक्षात्परम्परया वा प्रयुक्तिर्निर्णयायोपयुक्तोऽयं  
विचार इति ।

एतदेवाभिप्रेत्य प्रतिज्ञाधिकरणं सूचयति—अथेति । 'अथ' शपशभि-  
निरूपणानन्तरं—'प्रयोजकाध्यायः' किम्प्रयोज्यं किम्प्रयोजकमित्यस्य  
विषयस्य निरूपणपरोऽध्यायः—अधुना प्रवर्तते इति शेषः ॥ १ ॥

(२) ४।१।२ पुण्यम्पुरुषप्रियम्

( १ ) क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्विवेकः कर्तव्य इति स्थितम् । अधुना को-  
सौ पुरुषार्थ इति विचारणीयमप्रप्नोति ।

( २ ) क्रत्वर्थपुरुषार्थविवेक एवात्र विषयः ।

( ३ ) तत्र सन्देहः —पुरुषार्थस्य लक्षणमभिज्ञातुं शक्यते न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः —न सम्भवति पुरुषार्थस्य क्रत्वर्थस्य वा लक्षणम् ।  
यस्मात्तयोरदुष्टं लक्षणं सर्वथा दुर्निरूपमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — पुरुषस्य प्रीतये यद् विधीयते तत् पुरुषार्थमिति पुरुषार्थलक्षणमदुष्टम् । तथाच यत् केवल क्रतुस्वरूपपौष्कल्याय विधीयते तत् क्रतुर्थमिति क्रतुर्थस्यापि लक्षण सुवचमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—पुरुषार्थमिति । यत् 'पुरुषप्रियम्' यस्मिन् कृते पुरुषस्य प्रीतिर्भवति तदेव 'पुरुषार्थम्' पुरुषार्थम् ॥ २ ॥

[ अत्रैव सूत्रे भाष्यकारेण मण्डनेन चान्यदप्यधिकरणद्वयम्पठितम् । तच्च भाष्ये द्वितीयस्यैवाधिकरणस्य द्वितीयतृतीयवर्णकरूपेणोपवर्णितम् । मण्डनेन तु पृथगेव त्रीण्यधिकरणानि निर्दिष्टानि । तस्मादधिकरणसङ्ख्याने भेदो दृश्यते ]

( ३ ) ४।१।२ गोदोहनं क्रतोर्नाङ्गम्

( १ ) क्रतुर्थपुरुषार्थयोर्लक्षणे स्थिते क पदार्थं क्रतुर्थं कश्च पुरुषार्थ इति पृथक् पदार्थविचारोऽधुना प्रवर्तते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयो श्रयते—चमसेनाप प्रणयेत् 'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्' 'वत्सजानु पशुकामस्य वेद कुर्यात्' इत्येवमादि ।

( ३ ) तत्र सशय —यदिद गोदोहनं तत्क्रतुर्थं पुरुषार्थं वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —क्रतुर्थमेवेदम् । अप्रणयनेन तत्प्रत्यक्षमेवोपकारं क्रतो करोति—इति ( भाष्यसम्मत पूर्वपक्ष ) । क्रतुपुरुषाभ्यर्थमिदम्—पशुफलजननेन पुरुषप्रीतिमुत्पादयति अपा च प्रणयनेन क्रतुपौष्कल्यं करोतीति ( न्यायमालासम्मत पूर्वपक्ष ) ।

( ५ ) सिद्धान्त —येन पुरुषप्रीतिर्भवति तत् पुरुषार्थमिति लक्षणं स्थितम् । गोदोहनेन च पशुरूपफलजननरूपपुरुषप्रीतिरुत्पाद्यते । क्रतुपौष्कल्यार्थमपाम्प्रणयनं तु प्राकारान्तरेणपि चमसादिना भवत्येव—गोदोहनविधानं तु केवलपशुरूपफलसम्पादनाय । तस्मात् पुरुषार्थमेवेदमिति ।

एतदभिप्रेत्याह गोदोहनमिति । 'गोदोहनं' 'क्रतो' यज्ञस्य 'अङ्ग' शेषो 'न' भवति । यो यदर्थस्स तच्छेष इति शेषलक्षणम् । गोदोहनं च पुरुषेऽपि तपशुसम्पादनार्थम्—तस्मात् पुरुषस्यैव शोभो न क्रनोरिति भवत्यस्य पुरुषार्थत्वमित्योशय ॥ २ ॥

( ४ ) ४।१।२ नार्जने नियमः क्रतोः

( १ ) क्रतुर्थपुरुषार्थविशेषविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) द्रव्यार्जनं जातिभेदेन नियमितैरुपायैः श्रुतम्—ब्रीह्याण्यग्निप्रतिग्रहादिना अत्रियस्य जयादिना वेद्यस्य कृत्यादिना शुद्रस्य सेवयेति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —इदं द्रव्यार्जनं क्रत्वर्थमुत पुरुषार्थमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —क्रत्वर्थमेवेदम्—अर्जनोपायानां नियमनात् । पुरुषप्रातिस्तु येन केनाप्युपायेनार्जितेन द्रव्येण सिध्येत्—अतस्तत्र नियमोऽनर्थकः स्यात् । क्रत्वर्थत्वे तु नियमादपूर्वविशेषो ज्ञ्यते येन परमापूर्वं पुष्टिः क्रियते । तस्मादत्र सार्थको नियम इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —यदि द्रव्यार्जनं क्रत्वर्थमेव स्यात् तर्हि क्रत्वनुष्ठानेच्छायां प्राक् पुरुषस्य जीवनमेव न स्यात्—कुतस्तरां यागानुष्ठानेच्छा । द्रव्यार्जने च विधिर्नापेक्ष्यते । फलं च तस्य शुभिवृत्तिप्राणधारणादिरूपं दृष्टमेव । अतः पुरुषार्थमेव द्रव्यार्जनम् । यथा च तस्य द्रव्येणैहिकभोजनादिप्रीतिरुत्पद्यते तथैव क्रत्वनुष्ठानद्वाराऽऽमुष्मिन्मर्यापि तस्य प्रीतिर्जन्यत एव । द्रव्यार्जनोपायनियमनं तूपायान्तरेषु प्रत्यवायो भवतीति ज्ञापनाथमुपपद्यत एव । तस्माद् द्रव्यार्जनं पुरुषार्थमेवेति ।

एतदभिप्रेत्याह नार्जनं इति । 'अर्जने' यो 'नियमः'—प्रतिग्रहादिनैव द्रव्यार्जनं कर्तव्यमित्येव रूपं स 'क्रतो' 'कर्तुः' सम्बन्धो क्रत्वर्थो 'न' भवतीति शेषः ।

अत्रापि चतुर्थमप्यधिकरणं वर्णकान्तररूपेण न्यायमालायां धृतम् । तद्यथा—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत इत्यत्र स्वर्गरूपं फलं विधीयते न वेति संशये—विधीयत एव फलमिति पूर्वपक्ष—अप्रवृत्तप्रवर्तनमेव च विध्यर्थः—तस्मात् फलन्तैव विधेयमिति सिद्धान्तः ॥ ४ ॥

( ५ ) ४।१।२-६ अनीक्षणव्रतम्पुंसः

( १ ) क्रत्वर्थपुरुषार्थविवेकोऽनुवर्तते ।

( २ )—'नेक्षेताद्यन्तमादित्यन्नास्त यान्त कदाचन' इत्यादि प्रजापतिव्रतमाप्नोतम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह —इदं व्रतं किं क्रत्वर्थमुत पुरुषार्थमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —क्रत्वर्थमेवैतत् । तथासति नास्य फलं कल्पयितव्यम् । पुरुषार्थत्वे तु फलं कल्पयितव्यम् । न च तत्र प्रमाणमुपलभ्यते । तस्मात् क्रत्वर्थमेवैतदिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —नेदं व्रतमभावपूर्णं—'तस्य व्रतम्' इत्युपक्रम्य यानि व्रतानि अनुष्ठेयत्वेन विहितानि तेष्वेवैकमिदम्—'नेक्षेताद्यन्तमादित्यम्' इति । तस्मादनुष्ठेयं नियमस्वरूपमेवेदं व्रतम् । 'उद्यन्तमस्तं यान्तं चादित्यन्नेक्षिष्ये' इत्येवरूपं सङ्कटं एव तस्य व्रतस्य स्वरूपम् । न च फलं कल्पनीयं भवति । उक्तमेव फलमुपलक्ष्यते—'एतावता हैनसाऽयुक्तो भवति' इति । एव च पापासयोगरूपफलसाधकत्वात् क्रत्वङ्गद्रव्याद्यसाधकत्वाच्चेत् व्रतम्युषार्थमेवेति ।

एतदभिप्रेत्याह—अनीक्षणेति । 'अनीक्षणव्रतम्'—'उद्यन्तमस्तयान्त चादित्यन्नेक्षिष्ये' इति सङ्कटपरूप व्रतम्—'पुस' पुरुषसम्बद्ध पुरुषार्थमेव भवतीति सम्बन्ध ॥ ५ ॥

(६) ४।१।७-१० होतव्याः स्फ्यादयो न हि

( १ ) कृत्वर्थार्थानां विषये विचारविशेष प्रवर्तते ।

( २ ) दर्शपूर्णमायोराग्नायते—'स्फ्यश्च कपालानि च अग्निहोत्रहवणी च शूर्पं च कृष्णाजिनं च शम्या चोलूखलं च मुसलं दूषच्छोपला च—एतानि दश यज्ञायुधानि' इति । ,

( ३ ) यज्ञायुधान्येतानि किं होतव्यहविष्तेनात्र विधीयन्ते—उत तत्कर्मसाधनत्वेनान्यत्र विहितान्यत्रानूद्यन्ते इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —विध्यभावे ऽनुवादमात्रमनर्थकमेव स्यात् । यज्ञायुधत्वं च यज्ञसाधनत्वं—तच्च यज्ञे ऽदीयमानानामेव स्यात् । उद्धहननादिमात्रार्थत्वे त्वेतेषामुद्धननाद्यायुधत्वं स्यात् यज्ञायुधत्वम् । तस्मात् यज्ञहोतव्यत्वेनैवेतान्यत्र विधीयन्ते इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —'स्फ्येनोद्धन्ति—कपालेषु श्रपयति—अग्निहोत्रहवण्या निर्वपति—शूर्पेण विचिनक्ति—कृष्णाजिनमुलूखलस्याधस्ताद्वस्तृणाति—शम्याया दूषदुपदधाति—प्रोक्षिताभ्यामुलूखलमुसलाभ्यामवहन्ति—प्रोक्षिताभ्या दूषदुपलाभ्या पिनष्टि'—इत्येवरूपा विधय स्फ्यादिसाध्यकर्मणामाज्ञाता । एतैरेव कर्मभि उद्धननादिभिरेतानि यज्ञसाधयन्ति—एतानि कर्माणि विना प्रधानहविष पुरोडाशस्यैवासम्भवात्—तत एक यज्ञायुधानीति व्यपदिश्यन्ते । 'यज्ञायुधानि सम्भरति' इति च यज्ञायुधसम्भरणविधिः । एतत्सम्भरणविधिस्तुत्यर्थमेवानूद्यन्ते स्फ्यादीनि स्फ्यश्चेत्यादिवाक्ये । तस्मादनुवाद एवायमिति ।

एतदभिप्रेत्याह होतव्या इति । 'स्फ्यादयः' स्फ्यादीनि यज्ञायुधानि—'न होतव्याः'—यज्ञे होतव्यहविष्त्वेन नोक्ता —स्फ्यश्चेत्यादिवाक्ये इति शेषः । तस्मादनुवाद एवेदं वाक्यं विधिरित्याशयः ॥ ६ ॥

(७) ४।१।११-१६ पश्वेकत्वविवक्षा स्यात्

( १ ) कृत्वर्थविशेषे विचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीय —'यो दीक्षितो यदग्नीषोमीय पशुमालभेत्' इति । तथा 'अनङ्वाहौ युनक्ति' इति । तथाऽऽथमेधे 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' इति ।

( ३ ) अत्र सन्देहः —अत्र यैकत्वादिसङ्ख्योक्ता सा किं यज्ञाङ्गत्वेन

विवक्षितो नैति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — एवत्वादि न भवति यज्ञाङ्गम् । पशुमित्यत्र साक्षाच्छ्रुत्या सङ्ख्याया पशुसङ्ख्ये विधीयते । यज्ञसम्बन्धश्च तस्या पशुमालभेदेत्यनेन वाक्येनैवावगमितं स्यात् । श्रुतिश्च वाक्यादुबलीयसी । तस्मान्न भवत्येकत्वादि यज्ञाङ्गम् । तस्मादविवक्षितम् ।

( ५ ) सिद्धान्त — पशुमित्यत्र प्रकृत्या पशुनिर्दिश्यते प्रत्ययेन च कारकत्वमेव त्वत्वेऽभ्ययम् । इत एकत्वस्य कारकत्वेऽपि सम्बन्ध आसक्त्येतर । कारकत्व च क्रियाहेतुत्वम् । एव च कारकद्वारा क्रिययाऽपि सम्बन्ध एव त्वस्य प्रत्ययेनैव निर्दिष्टो भवति । क्रियाविशेषश्च सन्निहितपदोपात्तो याग एव भवति । तस्मात् सिद्ध्यत्येकत्वस्य यजनाङ्गतेति विवक्षितैकत्वादिसङ्ख्येति ।

एतदभिप्रेत्याह पश्विति । 'पश्वेकत्वाविवक्षा' पशुमित्यत्र यत् पशोरेकत्वमुक्तम् तस्य 'विवक्षा' 'स्यात्' यागाङ्गत्वेन तद विवक्षितमेवेत्यर्थः ॥ ७ ॥

( ८ ) ४।१।१७ पशोलिङ्गं विवक्ष्यते ।

( १ ) पूर्वाधिकरणेऽपि एवायं विचारः ।

( २ ) पशुमालभेदेत्युक्तम् ।

( ३ ) तत्र सन्देहः — पशुमित्यत्र पुल्लिङ्गयज्ञाङ्गत्वेन विवक्षितमुत नैति

( ४ ) पूर्वपक्षः अलिङ्गेऽपि वृत्तपदार्थे पुल्लिङ्गो वृत्तजब्दः प्रयुज्यते । पुंयक्तावपि मक्षिकायां खालिङ्ग एव मक्षिकाशब्दः प्रयुज्यते—स्त्रीव्यक्तो च पुल्लिङ्गो दाराशब्दो नपुंसकलिङ्गश्च कलत्रशब्दः प्रयुज्यते । तस्मात् न लिङ्गस्य शब्दार्थत्वनं भवति सम्बन्धः । कर्मानुष्ठानमपि स्त्रीपुंय्यक्तिभ्यः समानमेव सम्भवति । तस्मादविवक्षितमेव लिङ्गमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः — शब्दानां लिङ्गपर्यागे नार्थतः साधुत्वमपि त्वभिप्रेत्युक्तपयोगादेव । न च स्त्रीपुंय्यक्तिभ्यां समानं कर्मानुष्ठानम् । पुंस्त्वविशिष्टस्य तत्र विशेषेण मन्त्रादिभिः सूचितत्वात् । तथाहि 'मेढू त आप्यायतामिति' मन्त्रो भवति—न च स्त्रीपशोर्मेढूसंभवः । तस्मादेकत्ववत् पुंस्त्वमपि विवक्षितमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—पशोरिति । 'पशो'—पशुमालभेदेत्यत्रोक्तस्य—'लिङ्गम्' पुरस्त्वम्—'विवक्ष्यते'—यज्ञाङ्गत्वेनेति शेषः ॥ ८ ॥

( ९ ) ४।१।१८-२० स्विष्टकृत्यप्यपूर्वं स्यात् ।

( १ ) क्रत्वर्थविशेषे विचारः ।



( २ ) सन्ति कानिचित् यज्ञान्तर्गतानि कर्माणि तदीयद्रव्यदेवताश्रयाणि । तेष्वेकं स्विष्टकृदिति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — योऽयं स्विष्टकृद्यागः स किमनुष्ठानमात्रेण द्रव्यमुपकरोत्युत तज्जन्यापूर्वद्वारेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — स्विष्टकृद्याग उपयुक्तद्रव्यसंस्कारक इत्यविवादम् । तत्र संस्कारस्य द्रष्टव्यप्रयोजनत्वेनावश्यम्भावित्वे तावतैवोपक्षीणो यागो नापूर्वस्य किञ्चिदुपकरोति । न ह्येकस्मिन् कर्मणि प्रयोजनद्रव्य युक्तमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — कर्मण एव त्वेप्यश्रमेदेन प्रयोजनभेदो न विरुध्यते । मन्त्रपाठ, द्रव्यप्रक्षेप, देवतोद्देशेन त्यागश्चेति त्रयोऽशा भवन्ति यज्ञकर्मणः । तत्र मन्त्रपाठेन द्रव्यप्रक्षेपेण च उपयुक्तद्रव्यसंस्कारो भवति — त्यागेन च परमापूर्वोपयोग्यवान्तरापूर्वमुत्पद्यते — इति न किञ्चिद्विरुध्यते । तस्मात् स्विष्टकृदपूर्वमपि जनयति — इति ।

एतदभिप्रेत्याह — 'स्विष्टकृति' स्विष्टकृद्यागे — 'अपूर्वम् अपि' ( अपि रत्र भिन्नक्रम ) न केवलं द्रव्यसंस्करणमपि त्वपूर्वसंस्पादनमपि — 'स्यात्' इति सम्बन्धः ॥ ९ ॥

( १० ) ४।१।२१ तृतीयविषयो गतः ।

( १ ) ( २ ) एतावत्पर्यन्तं चतुर्याध्यायविषयप्रयुक्तिविचाराङ्गभूत — स्तार्तीयशेषशेषविचार एवानुवृत्त आसीत् । स इदानीं पर्यवसितः । इतः परं विमायातीति भवति प्रतिज्ञापनीयम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किं वक्ष्यमाणेष्वप्यधिकरणेषु शेष एव विचारणीय उत प्रयुक्तिविषय इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — यथाऽतीतेष्वधिकरणेषु — क्रतुशेषोऽयम् पुरुषशेषोऽयमिति शेषशेषित्वमेव विचारितम् — तद्वदेव वक्ष्यमाणेष्वपि पर्णादीनां तत्तच्छेषत्वविचार एव भासते । अतोऽग्रेपि शेष एव चिन्ताविषय इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — यद्यपि शेषत्वविचारोऽग्रिमेष्वधिकरणेष्वपि भासते तथाऽपि शेषत्वस्य यत् प्रयुक्तिरूपं फलं तदेव प्राधान्येनात्र विचार्यते — शेषत्व तु तदुपयोगित्वेनैवेति प्रयुक्तिरेव विचारविषय — इति ।

एतदभिप्रेत्याह तृतीयेति । 'तृतीयस्य' अध्यायस्य 'विषय' शेषत्वविचाररूप — 'गत' समाप्त — इतः परम्प्रयुक्तिरेव विचारविषय इत्याशयः ॥ १० ॥

( ११ ) ४।१।२२-२४ दम्नः प्रयोजिकाऽऽमिक्षा

( १ ) प्रतिज्ञात प्रयुक्तिविचारः प्रस्तूयते ।

( २ ) चातुर्मास्येषु वैश्वदेवे श्रूयते—‘तप्ते पयसि ध्यानयति—साद वेश्वदैव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्’ इति । तप्ते दुग्धे दधिप्रक्षेपे दुग्ध विकृतम्भवति । तस्य कश्चिदशो घनीभूय पृथग्भवति अवशिष्टश्च जल-रूपेणावतिष्ठते । तत्र जलरूपेण यदवतिष्ठते तद् वाजिनमिति यच्च घनी-भूतं तदामिक्षेति । तत्राद्य वैश्वदेवार्थं विहितमपरं च वाज्यर्थमित्यर्थः । एव च दधिप्रक्षेपेण द्रव्यद्वयं सम्पद्यते ।

( ३ ) तत्र सन्देह —द्वयोर्द्रव्ययोरामिक्षावाजिनयोः कतरत् दधिप्रक्षेपस्य प्रयोजकम्—किमामिक्षासम्पादनाय दधि प्रक्षिप्यते उत वाजिनसम्पादनार्थमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —पयसि दधिप्रक्षेपाद् यथा आमिक्षादयं सम्पद्यते तथैव वाजिनद्रव्यमपि । उभयश्चात्र हविष्ट्वेनोक्तम् । तस्मादुभयार्थो दधिप्रक्षेप इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —वाक्येनात्र न द्रव्यान्तरं हविष्ट्वेन विधीयते—अपि तु पय एव दधिसम्मिश्रम् । तच्च द्रव्यमामिक्षैव—तत्रैव दधिपयसो रसस्य सङ्गावात्—वाजिने तु नोपलभ्यते दधिपयसो रसः । एव च दधिमिश्रितपयोर्द्रव्यसम्पादनार्थं तप्ते पयसि दधिप्रक्षेप आमिक्षार्थ एव भवति न वाजिनार्थः । अनुनिष्पाद्यमेव हि वाजिनम्—न तु प्रयोजकम् । तस्मादामिक्षैवात्र प्रयोजिकेति ।

एतदभिप्रेत्याह दध्न—इति । ‘दध्न’ तप्ते पयसि ‘दधिप्रक्षेपस्य—‘प्रयोजिका’ ‘आमिक्षा’—न तु वाजिनमिति शेषः ॥ १२ ॥

(१२) ४।१।२५ पदकर्माप्रयोजकम् ।

( १ ) प्रयुक्तिविशेषविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) अस्ति ज्योतिष्टोमे सोमक्रय आम्नात—‘अरुणया पिङ्गाक्ष्यैक-हायन्या सोमं क्रीणाति’ इति । इयं च गौर्यदा सोमक्रयणार्थमानीयते तदाऽध्वर्युस्तस्याः पृष्ठतो गत्वा यत्र तस्याः सप्तमं पदं निधीयते तत्र हिंसायं निधाय हुत्वा च तत्पदगतं रजो गृह्णाति—इत्याम्नातम्—‘सप्तमं पदमञ्जलिनाऽध्वर्युर्गृह्णाति’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —गवानयनस्य किम्प्रयोजकम्—सोमक्रयणमु त पदरजोग्रहणमुतोभयमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —गोरानयनेनोभयमपि निष्पद्यते—सोमक्रयणं रजो ग्रहणं च । तस्मादुभयार्थम्—विशेषस्यानुपलम्भात्—इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —‘एकहायन्या क्रीणाति’ इति साक्षाच्छ्रुत्या गो क्रयार्थताऽभिधीयते । गोद्वारा तदानयनमपि क्रयार्थमेवेति क्रम एव

गवानयने प्रयोजक । न च पदरजोग्रहणार्थता गोस्तदानयनस्य वा क्वचिच्छ्रूयते । तस्मात् सोमकयार्थमेव गवानयनमिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—पदकर्मैति । ‘पदकर्म’ पदरजोग्रहणम् ‘अप्रयोजकम्’ न प्रयोजकम्—गवानयनस्येति शेष ॥ १२ ॥

(१३) ४।१।२६ कपालं न तुषाक्षिप्तम्

( १ ) प्रयुक्तिविशेषविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयो श्रूयते—‘कपालेषु पुरोडाशं श्रपयति’ इति—तथा च ‘पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपति’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह—कपालसम्पादनस्य किम्प्रयोजकम्—पुरोडाशश्रपणमुत तुषोपवाप उतोभयम् ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—विनिगमनाभावादुभयमपि प्रयोजकम् । उभयोरपि कपालसम्पादनीयत्व तुत्यमेवोक्तमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त—अत्र द्वितीये वाक्ये यत् तुषोपवापसाधनत्वमुक्तं तत्र कपालसामान्यस्य—अपि तु पुरोडाशश्रपणार्थं यत् कपालमासादितं तस्यैव । तदिदं पुरोडाशकपालेनेति नामनिर्देशेन स्पष्टमवगम्यते । तस्मात्प्रथम श्रपणमेव कपालम् प्रयोजयति—तस्य च तुषोपवापार्थताऽपि प्रसङ्गात् सिध्यति । तस्मात् पुरोडाशश्रपणमेव कपालस्य प्रयोजकम्—इति ।

एतदभिप्रेत्याह—कपालमिति । ‘कपालम्’ कपालासादनम् ‘तुषाक्षिप्तम्’ तुषोपवापप्रयुक्तं ‘न’ भवेति—अपि तु पुरोडाशश्रपणप्रयुक्तमेवेति शेष ॥ १३ ॥

(१३) ४।१।२७ नाक्षिप्तः शकृता पशुः

( १ ) प्रयुक्तिविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीय । तम्प्रकृत्य—‘हृदयस्याग्नेऽवद्यति अथ जिह्वाया’ इत्यादि पशुशरीराङ्गैर्हवनं श्रूयते । तथा च तत्सम्बन्धेनैव ‘शकृत्सम्प्रविध्यति—लोहितं निरस्यति’ इत्यादि शकृत्सम्प्रव्याधादिकमपि श्रूयते ।

( ३ ) तत्र सन्देह—अत्र पश्वालम्भस्य किम्प्रयोजकम्—किं हृदयाद्यवदानमुत शकृत्सम्प्रव्याधादिकमुतोभयमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—हृदयादीनां शकृदादीनां च प्रकरणपाठसाम्यात् पशुसाध्यसाम्याच्च हृदयाद्यवदानमिव शकृत्सम्प्रव्याधादिकमपि पश्वालम्भस्य प्रयोजकमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त—पशुयागो हि हवि साध्य । अतु योग्यस्यैव च

हविष्टम् । तत्र योग्यत्व च हृदयादीनामेव न शक्रदादीनाम् । तस्मात् हृदयाद्यवदानमेव प्रयोजकम् । शक्रत्सम्प्रयायादिक तु शेषप्रतिपत्तिमात्रम् इति ।

एतदभिप्रेत्याह—नाक्षिप्त इति । 'पशु' पश्वालम्भ—'शक्रता' 'न' 'आक्षिप्त' प्रयुक्त—अपि तु हृदयादिभिरेवेति भावः ॥ १४ ॥

(१५) ४।१।२८-३२ प्रयोक्ता स्विष्टकृत्तेष्टः

(१) प्रयुक्तिविचारोऽनुवर्तते ।

(२) दर्शपूर्णमासयो श्रूयते—'उत्तरार्धात् स्विष्टकृते समवधति' इति । अत्र पुरोडाशस्योत्तरार्धात् स्विष्टकृतेऽवदान विहितम् ।

(३) तत्र सन्देह—अत्र पुरोडाशस्य प्रयाजक किम्—किमाग्नेययाग उत स्विष्टकृदवदानमुतोभयमिति ।

(४) पूर्वपक्ष—स्विष्टकृदवदानमत्र द्वितीय पुरोडाशं तस्योत्तरार्धं च प्रयोजयति । तदुभयं विना तदवदानस्यासम्भवात्—इति ।

(५) सिद्धान्त—उत्तरशब्दोऽर्धशब्दश्च भागवाचित्यात् कश्चित् प्रकृत भागिनमाकाङ्क्षत । अग्निदेयतार्थं सम्पादित आग्नेय पुरोडाशश्चात्र प्रकृत भागवाश्च । तस्मात्तमेवोपजीय तस्यैवोत्तरार्धेन स्विष्टकृद्यागसम्पत्तौ लाघवम्—न च प्रयोजनमप्यस्य पुरोडाशस्य । तस्मादाग्नेय एव पुरोडाशस्य प्रयोजको न स्विष्टकृदिति ।

एतदभिप्रेत्याह प्रयोक्तेति । 'स्विष्टकृत्' स्विष्टकृद्याग—'प्रयोक्ता' प्रयोजक पुरोडाशस्य—'न' 'इष्ट' । किन्तु आग्नेय एव तत्प्रयोजक इति भावः ॥ १५ ॥

(१६) ४।१।३३-३९ प्रयाजार्थेऽभिघारणम्

(१) प्रयुक्तिविचारविशेषोऽनुवर्तते ।

(२) प्रकृतौ ज्योतिष्टोमे श्रूयते—'प्रयाजरोपेण हवींष्यभिघारयति' इति । विकृतौ च वाजपेये श्रूयते—'सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभते' इति । एवं वाजपेये द्विविधा पशव—एके 'आग्नेयं पशुमालभते' इत्यादिना विहिता प्रकृतियागत प्राप्ता इतरे विकृतिमात्रगता सप्तदश प्राजापत्या । सर्वे चैते प्रातः कोल एवोपक्रम्यन्ते । किन्तु आग्नेयादीनां पशूनां प्रातरेवालम्भनात् तदीयानां हविषा प्रातरनुष्ठितप्रयाजशेषेणैवाभिघारणं सिध्यति । प्राजापत्यानां त्वालम्भो मध्याह्ने भवति । अतः प्रयाजानुष्ठानकाले तदीयहविषामभावः ।

(३) तत्र सन्देह—प्राजापत्यपशुहविषामभिघारणसिद्ध्यर्थं किं

प्रातरनुष्ठितप्रयाजशेषो धारयितव्यः तद्वारणार्थं च पात्रान्तरसम्पादयितव्यम्—तेन च प्राजापत्यानामभिघारणं कर्तव्यम्—उत प्रयाजशेषो न धारयितव्यः, न प्राजापत्यानामभिघारणं कर्तव्यमिति ।

(४) पूर्वपक्षः—मध्याह्नकालीनप्राजापत्याभिघारणसिद्ध्यर्थं प्रातरनुष्ठितप्रयाजशेषो धारयितव्यः । तद्वारणार्थं च पात्रान्तरसम्पादनीयम्—शेषाधारभूताया जुह्वा मध्याह्ने कार्यान्तरे व्यापृतत्वादिति ।

(५) सिद्धान्तः—शेषाभिघारणं हि प्रतिपत्तिकर्म । तस्य च प्रयोजनद्वष्टमेव पात्रस्य रिक्तीकरणम् । न तद् द्वष्टार्थम् । अतः पात्ररिक्तीकरणरूपप्रतिपत्त्यर्थमेव प्रकृतौ शेषाभिघारणम् । तच्च प्रातरनुष्ठितेनैवाभिघारणेन सिद्धम् । तस्मान्नास्ति प्रयोजनमुपनर्मध्याह्नेऽभिघारणस्य न तत्रा च तत्सिद्ध्यर्थं शेषवारणस्य तद्वारणार्थं वा पात्रसम्पादनस्येति । तस्मात् प्रातरनुष्ठितप्रयाजशेषमात्रस्याभिघारणम् न पुनर्वारममध्याह्ने इति ।

एतदभिप्रेत्याह—प्रयाजार्थं इति । ‘अभिघारणम्’ शेषस्य—‘प्रयाजे’ एव प्रातरनुष्ठिते—न पुनर्मध्याह्न प्राजापत्यपशुसम्बन्ध इति शेषः । अतो न भवति प्राजापत्यपश्वालम्भनमभिघारणस्य प्रयोजकमित्याशयः ॥१६॥

( १७ ) ४।१।४०-४१ समानयः प्रयोक्ता स्यात् ।

( १ ) प्रयुक्तिविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—‘अतिहायेडो बर्हिः’ प्रतिसमानयति जुह्वामौपभृतम्’ इति । अस्यार्थः ‘पञ्चानाम्मध्ये तृतीयः प्रयाज इदं शब्देन बहुवचनान्तेनाभिधीयते—त तृतीयः प्रयाजमतिक्रम्य बर्हिर्नामकचतुर्थं प्रयाजं होतुम् उपभृतसङ्कायां स्तुचि स्थितं घृतं जुह्वामानेतव्यम्’—इति ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—यदिदमानयनम् तत् उपभृति आज्यग्रहणस्य प्रयोजकं भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—प्रयाजानुयाजार्थस्यैवाज्यस्यैकदेशः समानीयते । तस्मात् पूर्वाधिकरणन्यायेन न भजत्यानयनमाज्यस्य प्रयोजकम् इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—यथाऽनुयाजा औपभृतस्याज्यस्य प्रयोजकस्तथा चतुर्थपञ्चमप्रयाजनिष्पादकमानयनमपि तस्य प्रयोजकमेवेति ।

एतदभिप्रेत्याह—समानय इति । ‘समानयः’ समानयनम्—‘प्रयोक्ता’ प्रयोजकः स्यात्—औपभृतस्याज्यस्येति शेषः ॥ १७ ॥

( १८ ) ४।१।४२-४५ अर्थमौपभृतं घृतम्

( १ ) प्रयुक्तिविचारोऽनुवर्तते ।

## अथ चतुर्थस्य द्वितीयः ।

( १ ) ४।२।१-६ यूपैकदेशः स्वरुप्रयोक्ता

( १ ) प्रयुक्तिविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) अस्ति ज्योतिष्टोमेऽग्नीषोमीय पशु । तस्य पशोयूपे बन्धन  
माम्नातम्—‘खादिरे बध्नाति—पालाशे बध्नाति’ इति । तस्यैव सन्निधौ  
श्रूयते ‘यूपस्य स्वरु करोति’ इति । यूपस्यैवैकोऽश स्वरुरिति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किं यूपात् पृथगेव स्वरुरुत्पादयितव्य उत  
क्रियमाणं यूपमनुनिष्पन्न एव ग्रहीतव्य । अर्थात् शाखाच्छेदनादिव्या-  
पाराणाम्प्रयोजको भवति स्वरुर्न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —‘स्वरु करोति’ इति पृथक् स्वरु करण विधीयते।  
करण च छेदनादिना काष्ठस्य स्वरुत्वसम्पादनम् । तस्मात् स्वरु  
यूपात् पृथगेव करणीयत्वेन विहितश्छेदनादीनाम्भवति प्रयोजक इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —विद्यमानस्य यूपस्य य प्रथम खण्ड पतति स  
स्वरुरित्येतावन्मात्रमेवार्थं स्वरुविधे स्वरु करोतीत्येतस्य । करोतेश्चात्र  
आदानमेवार्थं । तस्मात् स्वरुर्वर्धनं छेदनान्तरमपि तु यूपमनुनिष्पन्न एव  
स ग्रहीतव्य । तस्मात् न स्वरुश्छेदनादे प्रयोजक इति ।

एतदभिप्रेत्याह—यूपैकदेश इति । यस्मात् ‘स्वरु’ यूपस्यैव ‘एक  
देश’ खण्डविशेषो भवति—तस्मात् स ‘अप्रयोक्ता’—न प्रयोजक—  
छेदनादीनामिति शेष ॥ १ ॥

( २ ) ४।२।७ प्राचीतिशब्दो वदतीह शाखाम् ।

( १ ) प्रयुक्तिविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयो पलाशशाखया वत्सापाकरणमाम्नातम् ।  
तामेव पलाशशाखाम्पूकृत्योक्तम् ‘प्राचीमाहरति’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —अत्र प्राचीशब्द किं प्राचीं दिश वक्ति—उत  
प्राच्या दिशि स्थिता पलाशशाखामिति । अर्थात्—आहरणस्य प्रयोजिका  
किम्प्राची दिगुत तस्यान्दिशि स्थिता शाखेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष प्राचीशब्दस्य प्राचादिगेव मुख्योऽर्थः । मुख्यस्य  
चार्थस्य परित्यागे प्रमाणाभावात् प्राचीदिगेवात्राहरणीयाऽऽहरणस्य  
प्रयोजिका भवतीति ।

( ५ ) सिद्धान्त —दिश आहरण सर्वथाऽशक्यम् । तस्मात्प्राचीशब्द

प्राचीदिग्वस्थितपलाशशारेपलक्षकत्वेनैव नेय । तथा सत्येव प्रकृतं  
कर्माद्भिन्नहो भवति । तस्मात् प्राचीदिग्वस्थितैवात्राहरणीयति ।

एतदभिप्रेत्याह प्राचीतीति । 'प्राचीतिशब्द' 'शाखाम्' वदति' उप  
लक्ष्यतीति यावत् । तस्मात् शाखैवात्राहरणीयाऽऽहरणस्य प्रयोजिका भ  
वतीत्याशय ॥ २ ॥

( ३ ) ४।२।८-९ छेदप्रयोक्ता न खलूपवेपः

( १ ) प्रयुक्तिविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयो श्रूयते—'मूलतः शाखा परिवास्योपवेपं क  
रोति' इति । येन पलाशशाखा वृक्षादाहता ताम्पुनश्छित्वा मूलभागेन  
प्रादेशपरिमितेनोपवेपे कार्य इत्यर्थः । शाखाभागयोश्च द्वयोरग्रमूलयो  
कार्ये अपि पृथगाग्नाते—'शाखया वत्सापकरोति—उपवेपेण कपा  
लान्युपदद्याति' इति । तदिदं कार्यद्वयमत्र छिन्नया शाखया सम्पाद्यते ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—शाखाच्छेदनस्यात्र किम्प्रयोजकम्—शाखोप  
वेपश्चेत्युभयमुत शाखैव प्रयोजिका उपवेपस्तदनुनिष्पादी इति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—यस्मात् शाखाकार्यं वत्सापाकरणमुपवेपकार्यं च  
कपालोपगानमित्युभयमपि छिन्नया शाखया सम्पाद्यते तस्मादुभयमपि  
छेदनस्य प्रयोजकमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—'उपवेपं करोति' इत्युक्ते केन द्रव्येणेत्याकाङ्क्षाया  
'मूलतः' इति वक्तव्यम्—कस्य मूलमित्याकाङ्क्षाया—'वत्सापाकरणार्थं  
छिन्नाया पलाशशाखाया मूलम्' इति तत्प्रकरणम् । तस्माच्छेदने वत्सा  
पाकारिका शाखैव प्रयोजिका उपवेपस्त्वनुनिष्पादी इति ।

एतदभिप्रेत्याह 'उपवेप' 'छेदस्य' शाखाच्छेदनस्य—'प्रयोक्ता' प्रयो  
जक—'न खलु' किन्तु वत्सापाकरणार्थं शाखैव तत्प्रयोजिकेत्याशयः ॥ ३ ॥

( ४ ) ४।२।१०-१३ शाखाप्रहारः प्रतिपत्तिकर्म ।

( १ ) प्रयुक्तिविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयो श्रूयते 'सह शाखया प्रस्तरं पहरति' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—अत्रोक्तं शाखाप्रहरणं किमर्थकर्म उत प्रतिप  
त्तिकर्म, अर्थात् प्रस्तरप्रहरणमिव शाखाप्रहरणमपि होमप्रयोजयति  
न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—प्रहरतिशब्देनात्र यागो विधीयते । प्रस्तरप्रहरण  
च यागः । तस्मात् तत्साहचर्याच्छाखाप्रहरणस्यापि यागत्वम् तत्तद्वार्थं  
कर्मत्वमपि—इति ।

( ५ ) सिद्धान्त -- शाखाप्रहरणन्न भवति तुल्यम्पूस्तरप्रहरणेन । प्रस्तरप्रहरणविषये 'सूक्तवाकेन प्रस्तर प्रहरति' इति वाक्यान्तरे मान्त्व एणकदेवतासम्बन्धेऽवकल्पते तन्मूलको याग कल्पित । शाखाप्रहरणे तु नास्ति काचिद्देवता । ततोऽत्र याग कल्पयितुं न शक्यते । तस्मात् प्रहरतिशब्देनात्र त्यागमात्रमुच्यते । वत्सापाकरणे पलाशशाखोपयुक्ता । तस्या अयं त्याग प्रतिपत्तिकर्मैव भवति—इति ।

एतदभिप्रेत्याह—शाखेति । 'शाखाया' वत्सापाकरणोपयुक्ताया पलाशशाखाया 'प्रहार' प्रहरण 'प्रहरति'शब्दोपात्त—'प्रतिपत्तिकर्म' उपयुक्तद्रव्यपरित्यगरूपमेव—न तु "अर्थाय" क्रतुसाफत्यप्रयोजनाय क्रियमाणम् 'अर्थकर्म' इत्याशय ॥ ४ ॥

( ५ ) ४।२।१४-१५ अपान्निनीतिः प्रतिपत्तिरेव

( १ )—प्रयुक्तिविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयो श्रूयते—'अप प्रणयति' इति । प्रणीतानां चापाम्प्रयोजनमाप्नातम्—'प्रणीताभिर्हवीषि सयौति—अन्तर्वेदि प्रणीता निनयति' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह—अपा निनयनमत्रार्थकर्मोति प्रतिपत्तिकर्म । अर्थात् अपाम्प्रणयनस्य किम्प्रयोजनम्—किं हविस्सयवनं निनयनं चेत्प्रयोजनमुत हविस्सयवनमात्रमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—उभयमप्यत्र प्रयोजकम् । अप प्रणयनेनोभयोरपि तुल्य एव सम्बन्ध उक्त । न च कश्चिद्विशेष उपलभ्यते येनैकेनैव सम्बन्ध स्यात् । तस्मान्निनयनमपि सयवनमिवाप प्रणयनस्य प्रयोजकमर्थकर्मैवेति ।

( ५ ) सिद्धान्त—संयवनविनियोगवाक्ये प्रणीताभिरिति तृतीयाश्रुत्या अपा सयवनसाधनत्वमवगम्यते । निनयनवाक्ये तु प्रणीता इति द्वितीयाश्रुत्या सस्कार्यत्वमात्रमवगम्यते । अतः सयवनमेवात्र प्रयोजकम्—नininयनं तु न प्रयोजकमपि तु प्रतिपत्तिरूप सस्कार एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह—अपामिति । 'अपा' 'निनीति' निनयनम्—'प्रतिपत्तिरेव'—प्रतिपत्तिरूप सस्कार एव—नापाम्प्रणयनस्य प्रयोजकमित्याशय ॥ ५ ॥

( ६ ) ४।२।१६-१८ दण्डप्रदानम्पुनरर्थकर्म ।

( १ ) प्रयुक्तिविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—'क्रीते सोमे मैत्रावरुणाय दण्डम्प्रयच्छ



ति' इति । दीक्षितेन धृतस्य दण्डस्य मैत्रावरुणाय समर्पणमत्राभ्यायते ।

(७३) तत्र सन्देह — एतदण्डदानमर्थकमौत प्रतिपत्तिकर्म । अर्थात् दण्डस्य प्रयोजक कि दीक्षितेन धारणमुत धारणमैत्रावरुणाय प्रदानं चेत्युभयमिति ।

(४) पूर्वपक्ष — दण्डस्य यजमानसंस्कारसाधनभूतस्य यजमान धारणेनैव कृतकृत्यत्वात् कृतोपयोगस्य दण्डस्यान्यस्मै प्रदानं प्रतिपत्तिमात्रं भवितुमर्हति इति ।

(५) सिद्धान्त — यजमानधारणेन वदण्डस्य सर्वं उपयोगा न पूर्णा । अनन्तरमपि तस्योपयोगो वर्तते । तथाहि यदा मैत्रावरुणं प्रेषमनुवदति तदानीमवलम्बनाय दण्डोऽपेक्षित इत्याभ्यासात् — 'दण्डी प्रेषानन्वाह' इति । तस्मात् यथा यजमानसंस्काराय दण्डोऽपेक्षितस्तथैव मैत्रावरुणसंस्कारायापौति । यथा यजमानाय दण्डसमर्पणमर्थकर्म तथैव मैत्रावरुणाय समर्पणमपीत्यर्थकर्मैव मैत्रावरुणाय दण्डप्रदानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह — दण्डेति । 'दण्डस्य' संस्कारकत्वेन यजमानधृतस्य 'प्रदानं' मैत्रावरुणाय समर्पणम् — 'अर्थकर्म' यागाङ्गसम्पादनोपयोगि न प्रतिपत्तिरूपम् — 'पुनः' इति प्रवृत्तिरुक्तसिद्धान्तमस्माद्धा वर्तयति ॥ ६ ॥

(७) ४।२।१६ प्रासो विषाणाप्रतिपत्तिकर्म

(१) प्रयुक्तिविचारोऽनुवर्तते ।

(२) ज्योतिष्टोमे श्रूयते — 'कृष्णविषाण्या कण्डूयते — प्रक्षासु दक्षिणासु चात्वाले कृष्णविषाणा प्रास्यति' इति । अत्र कृष्णविषाणेन कण्डूयनं तत्प्रासनं ज्ञात्नात् ।

(३) तत्र सन्देह — कृष्णविषाणप्रासनमत्रार्थकमौत प्रतिपत्तिकर्म । अर्थात् कण्डूयनं प्रासनं चेत्युभयमपि विषाणस्य प्रयोजकमुत कण्डूयनमात्रमिति ।

(४) पूर्वपक्ष — प्रासनमप्यपूर्वविशेषजनकत्वात् सप्रयोजनम् । तस्मादर्थकर्मैवैतदिति ।

(५) सिद्धान्त — 'कृष्णविषाण्या कण्डूयते' इति तृतीयाश्रुत्या यजमानशिरः कण्डूयनोपयुक्तस्य विषाणस्य नास्त्युपयोगान्तरम् । तस्मात् कृतोपयोगस्य तस्य प्रासनं प्रतिपत्तिरेव भवितुमर्हति । अपूर्वञ्च चात्वाले एव प्रासनमिति प्रतिपत्त्याधारनियमनेन सम्पद्यते । तस्मात् विषाणस्य प्रासनं प्रतिपत्तिकर्मैति ।

एतदभिप्रेत्याह—प्रास इति । 'प्रास' चात्वाले प्रासन यदास्नात तत्—विषाणाप्रतिपत्तिकर्म 'विषाणाया' कृतोपयोगाया 'प्रतिपत्ति' परित्यागरूप य सस्कार तद्रूपमेव कर्म—न तु अर्थकर्मैति ॥ ७ ॥

(८) ४।२।२०-२२ न सोमलिप्तेरुदकेष्टिरिष्टा ।

( १ ) प्रयुक्तिविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) अस्ति ज्योतिष्टोमेऽवभृथस्नानम् । तत्प्रकृत्य श्रूयते—'यत् किञ्चित् सोमलिप्तं द्रव्यं तेनावभृथं यन्ति' इति ।

( ३ ) तत्र सशय —अत्र यत् सोमलिप्तानां द्रव्याणामवभृथगमनमुक्तं तत् किमप्रतिपत्तिकर्मोत्तरार्थकर्म । अर्थात् अवभृथं किं द्रव्याणामप्रयोजकमुत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —सोमलिप्तानां द्रव्याणामवभृथसाधनत्वमभ्युपेयम्—'तेनावभृथं यन्ति' इति तृतीयाश्रुत्या अवभृथसाधनत्वावगमात् । तस्मात् सोमलिप्तं द्रव्यमवभृथे हविष्ये न ज्ञेयम् । तथा च भवत्यवभृथं द्रव्यस्य प्रयोजकमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —'वारुणैककपालेनावभृथमवयन्ति' इत्यनेन वाक्येनावभृथे पुरोडाशस्येव हविष्यमास्नातम् । एव च पुरोडाशेनावरुद्धेऽवभृथकर्मणि अन्यस्य हविषो न भवति सम्बन्धः । तथाच सति प्रवृत्त वाक्येऽवभृथशब्देन अवभृथदंशो लक्ष्यते । तस्मिन् देशे सोमलिप्तद्रव्यस्य नयनं विधीयते । तच्च नयनं प्रतिपत्तिरूपमेव भवति सोमलिप्तानां द्रव्याणां पूर्वमुपयुक्तत्वात् । तस्मात्प्रतिपत्तिकर्मैव सोमलिप्तद्रव्याणामवभृथगमनमिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह नेति । 'सोमलिप्तैर्द्रव्यै' 'उदकेष्टि' 'न इष्टा' । 'सोमलिप्तद्रव्यरूपैर्हविर्भिरवभृथारययागोऽनुष्ठातव्य' इति मतं न सम्यक्—अपि तु उक्तद्रव्याणामवभृथगमनेषां प्रतिपत्तिरूपमेव भवतीत्याशयः ॥ ८ ॥

(९) ४।२।२३-२४ देशादिवाक्ये नियमो विधेयः

( १ )—प्रयुक्तिविचार एवानुवर्तते ।

( २ ) 'समे दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत, प्राचीनप्रवरणे वैश्वदेवेन यजेत, पौर्णमास्यां पौर्णमास्यां यजेत, अमावास्यायाममावास्यां यजेत, अग्निहोत्रस्यैकं ऋत्विक्, सोमेन यजेत' इत्यादि समुपलभ्यन्ते देशकालकर्तृद्वयसमाप्नानम् ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—देशकालादयोऽत्र विधीयन्ते—उत्तानूद्यन्ते । अर्थात् देशकालादयो भवन्ति तत्तत्कर्मणः प्रयोजका न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — देश—काल—कर्तृ—द्रव्याणि विना कर्मणामस-  
म्भवात् अर्थापत्त्यैवैते प्राप्ता । तथ च प्राप्तानामुपवर्णनमनुवाद एव न  
विधिरिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — देश काल कर्ता द्रव्यमेतत् सर्वय दर्थापत्त्याप्राप्त  
तत्सामान्यत एव । य रुश्चिद्देश य कश्चित् काल यकश्चित् कर्ता यत्  
किञ्चिद्द्रव्यम्—अनियमेन पर्याप्त तत्तत्कर्मसम्पादनाय । प्रकृतेषु तु  
वाक्येषु नियमा उपलभ्यन्ते—सम एव देशे दर्शपूर्णमासाभ्या यष्टव्यम्—  
पौर्णमास्यामेव पौर्णमासस्याग कर्तव्य —अग्निहोत्रे एक एवानुष्ठाता—  
यागविशेषे सोम एवैक द्रव्यम्—इत्येवरूपा । न चैते नियमा कुतश्चि  
दपि प्राप्ता । तस्मात् समदेशादिनियमा अत्र विधीयन्त इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—देशेति । देशादिवाक्ये यस्मिन् वाक्ये समो दे-  
श पौर्णमासीकाल इत्यादि वक्ष्यते तस्मिन्—‘नियम’ सम एव देश  
पौर्णमास्येव काल इत्येवरूप —‘विधेय’ विधिविषयो भवति—नानुवाद  
मात्रमित्यर्थ ॥ ९ ॥

( १० ) ४।२।२५ द्रव्यं गुणानां नियमस्तथेव ।

( १ )—पूर्वाधिकरणसदृश एवाय विचार ।

( २ ) ‘वायन्त्य श्वेतमालभेत भूतिकाम’ इत्यत्र श्वेतपशोर्वागुदरतो  
दुदेशेनालम्भनमुक्तम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किं श्वेतवर्णाऽत्र विधीयते—उतान्नयते—इति ।  
अर्थात् श्वैत्यगुण प्रधानन कर्मणा प्रयोज्यते न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — श्वैत्यगुणस्य द्रव्य पशु विना न भवति क्रियया  
। ऽन्यय । पशुसहितस्य च तस्य क्रियान्वय पशुविजिनैव प्राप्त । तत  
एव प्राप्तस्य चात्र वचनमनुवाद एव ।

( ५ ) सिद्धान्त — सामान्यत पशुद्रव्यस्यान्यत प्राप्तत्वेऽपि श्वेत  
वर्ण एव पशुरालम्भनीय इति नियमस्य कुतश्चिदपि न प्राप्ति । तस्मात्  
नियमार्थे भवत्येव विधे प्रयोजनम् । तस्मात् श्वैत्यगुणोऽत्र विधी  
ह्यत इति ।

एतदभिप्रेत्याह—द्रव्य इति । ‘द्रव्ये’ पश्वादी—‘गुणानां’ श्वैत्यादीना—  
‘नियम’ श्वेतमेव पशुमालभेतेत्यादिरूप —‘तथैव’ पूर्वाधिकरणवद् वि  
धेय एव—न तु गुणस्य वचनमनुवादमात्रमित्याशय ॥ १० ॥

( ११ ) ४।२।२६ तथाऽवघातादिविधिर्नियन्ता

( १ ) नवमाधिकरणसदृश एव विचार । नवमे देशकालकर्तृदेश-

नियमानां विधेयत्व— दशमे गुणनियमस्य विधेयत्व स्थापितम् । स स्कारनियम इदानीं चिन्त्यते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—‘ब्रीहीनवहन्ति’ इति । अत्र चरुसम्पादनार्थं तण्डुलकरणाय ब्रीहीणां वितुषीभावायावहननमाप्नातम् । -

( ३ ) तत्र सन्देह —किमत्रावहननस्य विप्रिरुत चरुविधिप्राप्तस्यानुवाद इति । अर्थात् अवहननम्प्रदानकर्मणा प्रयोज्यते न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —तण्डुलनिष्पत्त्यर्थमवहननं लोकन्यवहारतः प्राप्तमेवात्रानूयत इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —यथायवघातस्तण्डुलनिष्पत्त्यर्थं लोकव्यवहारतः प्राप्तस्तथाऽपि नखविदलनादीनां वितुषीकरणोपायान्तराणां निवृत्त्यर्थं तस्य नियमोऽपेक्ष्यते । स एव नियमोऽत्र विधीयते—इति ।

एतदभिप्रेत्याह—तथेति । ‘तथा’द्रव्यगुणविधानवत्—‘अवघातादिविधि’द्रव्यसंस्काराणामवघातादीनां विधि—‘नियन्ता’ नियमविधायक भवति—न तु संस्कारवचनमनुवादमात्रमित्याशयः ॥ ११ ॥

( १२ ) ४।३।२७-२८ त्यागः श्रुतोद्देशयुतो यजिः स्यात् ।

( १ ) प्रदानेनाङ्गानि विनियुज्यन्त इति स्थितम् । किं चास्य प्रधानस्याङ्गिन ( शेषिण ) स्वरूपमितीदानीं विचार्यते ।

( २ ) ‘सोमेन यजेत’—‘अग्निहोत्र जुहोति’—‘हिरण्यमात्रेयाय ददाति’ इति वाक्येषु यागहोमदानरूपाणि कर्माण्याप्नातानि ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किमेतेषां त्रिविधानां कर्मणा प्रातिस्विकस्वरूपं निरूपयितुम् शक्यते न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —त्रयाणामपि यागहोमदानानां त्यागरूपसाम्याद्भेदो दुर्निरूपः । तस्मात् सर्वाण्यप्येतानि त्यागरूपाण्येवत्यवसेयम्—इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —त्रयाणामपि प्रातिस्विक स्वरूपं सुनिरूपम् । तथा हि ‘दर्शपूर्णमासाभ्यां शर्गकामो यजेत’इति विहिते यागे तत्र पुनर्विशेषेण होमो विहितः—‘चतुरवत्त जुहोति’ इति । अत्र च यागहोमयोः पार्थक्यं स्पष्टं प्रतिभाति—देवतोद्देशेन द्रव्यस्य त्यागमात्रं याग—त्यागपूर्वकं प्रक्षेपस्तु होम इति ।

एतदभिप्रेत्याह—त्याग इति । ‘श्रुतोद्देशयुत’ ‘श्रुतो’य‘उद्देशो’देवतारूपं तेन ‘युत’ तत्सम्बद्धत्वेनोक्तं—‘त्याग’द्रव्यस्य—‘यजि’ यागमिधेय कर्म—‘स्यात्’ । तथा च विहितदेवतोद्देशेन द्रव्यस्य त्यागो याग इति यागस्वरूपमवधेयमित्याशयः ।

[ भाष्ये यागलक्षणपरं द्वादशमधिकरणं होमलक्षणपरं च त्रयोद

शाधिकरण—तदन्नर्गतमेव च दानलक्षणमिति । न्यायमालाया त्वेक-  
स्मिन्नेवाधिकरणे त्रयाणामपि समावेश कृतो वर्तत इत्यवधेयम् ॥१२॥

(१३) ४।२।२८ प्रक्षेपयुक्तो यजिरेव होमः

( १-२-३-४ ) पूर्वाधिकरणानुरूपम् ।

( ५ ) सिद्धान्त —देवतोद्देशेन त्यागपूर्वको द्रव्यस्य प्रक्षेपो होम ।  
प्रक्षेपाशोऽत्राधिक इति ।

एतदभिप्रेत्याह—प्रक्षेपेति । ‘प्रक्षेपेण’ द्रव्यस्य कस्मिंश्चिदाधारे आ-  
सेचनेन ‘युक्तः’ सहितो यदा ‘यजि’ त्यागमात्ररूपो यागो भवति—तदा  
स एव याग —‘होम’ होमपदवाच्यो भवति ॥ १३ ॥

(१४) ४।२।२८ त्यागः परस्वीकरणं च दानम् ।

( १-२-३-४ ) द्वादशाधिकरणेऽनुसन्धेयम् ।

( ५ ) सिद्धान्त —यत्र त्यागरूपे कर्मणि दात्रात्सृष्टे द्रव्ये स्वस्व-  
त्व निवर्त्य परपुरुषस्वत्वमुत्पाद्यते तद् भवति दानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—त्याग इति । यस्मिन् कर्मणि द्रव्यस्य ‘त्यागो’ भ-  
वति अथ च ‘परस्वीकरणम्’ —‘परस्य’ पुरुषान्तरस्य ‘स्वीकरणम्’ ग्रह-  
णम् भवति—तदा तद् भवति ‘दानम्’ इति । एव च त्रिष्वपि यागहोम-  
दानेषु द्रव्यस्यात्सर्ग समान —किन्तु देवतामुद्दिश्योत्सर्गमात्र ‘याग’  
आसेचनसहित उत्सर्गो ‘होम’ उत्सर्गपूर्वक परस्वत्वोत्पादनं ‘दानम्’ इति  
विवेक ॥ १४ ॥

(१५) ४।२।२६।३० समानमिष्टित्रितयेऽपि बर्हि

( १ ) प्रसक्तानुप्रसक्तविचारानन्तर प्रयुक्तिविचार पुनरनुवर्तते ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—‘यदातिथ्याया बर्हि तदुपसदा तदग्नीषो  
मीयस्य चे’ति । क्रीत सोम शरटेऽवस्थाप्य प्राचीनवश प्रति आनयने या  
इष्टिर्निरूप्यते सा ‘आतिथ्या’ तत ऊर्ध्वं त्रिषु दिनेष्वनुष्ठीयमाना ‘उप-  
सदा’—औपवसथ्येऽङ्घ्रि अनुष्ठेयोऽग्नीषोमीय’ ।

( ३ ) अत्र सन्देह —किमत्रातिथ्येष्टिर्बर्हिष उपसदादावतिदेश उत  
बर्हिस्साधारणविधिरिति । अर्थात् उपसदादयो बर्हिषस्तद्धर्माणा वा  
भवन्ति ष्योजका न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —आतिथ्येष्टौ विहित बर्हिर्यद्युपसत्सु आच्छिद्य  
विधीयते तर्हि तस्यातिथ्याया विधानमनर्थक स्यात् । यदि चातिथ्या-  
यामुपयुक्त यद्बर्हिस्तदेवोपसत्सु विधीयते तदा विनियुक्तविनियोगरूपो  
विरोधः स्यात् । तस्मात् आतिथ्याबर्हिषो ये धर्मास्त एवोपसत्स्वतिदि

श्रूयन्ते इत्यतिदेशपरमेवात्र वाक्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — साक्षाच्छ्रुत्या बर्हिष आतिथ्योपसदग्नीषोमीयेष्वे क्त्व प्रतीयते । न तु तस्या प्रतीतेस्त्यागे मानम्पश्याम । तस्माद् बर्हिष साधारण्यमत्र विधेयम् । आतिथ्यार्थं यद् बर्हिरासादित तत्सर्वं नातिथ्यामात्रार्थमपि तूपसदग्नीषोमीयार्थं चोपादेयमिति विधिवाक्यार्थः । तस्मात् आतिथ्येष्टिवत् उपसदग्नीषोमीया अपि बर्हिष प्रयोजका इति । एतदभिप्रेत्याह—समानमिति । ‘इष्टित्रितयेऽपि’—आतिथ्यायाम् उपसत्सु अग्नीषोमीये च—‘बर्हि’ ‘समानम्’ साधारणम् इति सम्बन्धः १५॥

न्यायास्तु पादे दश पञ्च चात्र ।

स्पष्टम् । न्याय्यामालानुसारेणाधिकरणसङ्घाऽत्र त्रयोदशैवेति ध्येयम्॥

इति चतुर्थस्य द्वितीय पादः ।

## अथ चतुर्थस्य तृतीयः ।

[ फलविचारात्मकः ]

(१) ४।३।१-३ द्रव्यादिफलवाकू स्तुत्यै

( १ ) प्रयुक्तिप्रसङ्गेनैव क्रत्वर्थपुरुषार्थविवेकः प्रथमात्पादादनुवर्तते ।

( २ ) ‘यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापः श्लोकः शृणोति’ इति पर्णद्रव्यविशेषसम्बन्धेन फलश्रवणम्—‘यद्यङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते’ इति अङ्गनरूपसंस्कारसम्बन्धेन फलश्रवणम्—‘यत् प्रयाजानु याजा इज्यन्ते वर्म वा एतद् यज्ञस्य क्रियते वर्म यजमानस्य भ्रातृव्याभि भूत्यै’ इति कर्मविशेषसम्बन्धेन फलश्रवणम् ।

( २ ) तत्र सन्देहः — किमेतानि द्रव्यसंस्कारकर्माणि पुरुषार्थानि फलोक्यश्च फलविधयः — उतैतानि क्रत्वर्थानि फलोक्यश्चार्थवादा एवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः — अत्र यत् पर्णद्रव्यम्, यश्चाङ्गनेन चक्षुःसंस्कारः, यश्च प्रयाजानुयाजरूपः कर्म—तत् त्रितयमेव पुरुषार्थत्वेन विधीयते—पापश्लोकश्रवणराहित्यम् भ्रातृव्यचक्षुर्वृङ्गनम् भ्रातृव्याभिभवनं चेति फलत्रितयस्य पुरुषगामित्वेन स्पष्टं प्रतिभासात् इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः — एतेषु वाक्येषु फलसाध्यत्वेन न प्रतीयते—शृणोतीत्यादिवर्तमानत्वं निर्दिष्टात् । तस्मात् यदत्र फलश्रवणं तत् तत्तत्कर्मणि प्रवर्तकं क्रत्वर्थार्थवादा एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह—द्रव्यादीति । ‘द्रव्यादिफलवाक्’—‘द्रव्यादीनां’ द्रव्यसंस्कारकर्मणा सम्पन्धेन या ‘फलानां’ पापश्लोकश्रवणाहित्यदिफलानां ‘वाक्’ उक्ति सा—‘स्तुत्यै’ अर्थवाद एव, न तु विधिरिति भावः ॥१॥

(२) ४।३।४ नित्ये गोदोहनं न हि ।

( १ ) प्रयुक्तिविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोरपि प्रणयनमाप्नोतम् । तत्र विशिष्य श्रूयते ‘गोदोहनेन पशु कामस्य प्रणयेत्’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —अपि प्रणयनार्थं यद् गोदोहनपात्रमुक्तं तत्किं काम्यमात्रार्थमुत नित्यकाम्योभयार्थमिति । अर्थात् किं नित्यकाम्योभयप्रणयनं गोदोहनस्य प्रयोजकमुत काम्यमेव प्रणयनमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —नित्यकाम्योभयार्थमिदम्पात्रम् । नित्यप्रणयने पात्रान्तरस्यानाम्नानात् पात्रस्य च तत्राप्यपेक्षितत्वात् श्रौते च कर्मण्यश्रुतपात्रस्य प्रवेशानौचित्यादिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —कामविशेषमिद्वयार्थं च पात्रविशेषस्य विधानम् । तच्च कामे सत्येव योग्यम् नान्यथा । नित्ये प्रणयनं च ‘त्रयसेनापि प्रणयति’ इति सामान्यतो विहितेन येन केनापि वा पात्रेण सम्भवति । काम्यपात्रं नित्ये नान्वेति इति ।

एतदभिप्रेत्याह नित्य इति । ‘नित्ये’ अपि प्रणयने—‘गोदोहनं’ पात्र—‘न हि’ नान्वेतीत्यर्थः ॥ २ ॥

(३) ४।३।५-७ नित्ये काम्ये च दध्यादि

( १ ) पूर्वाधिकरणपवादः । एष एव संयोगपृथक्त्वन्याय इति प्रसिद्धः ।

( २ ) अग्निहोत्रे श्रूयते ‘दध्ना जुहोति’ इति पुनश्च ‘दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —द्वितीयवाक्ये यद् दधिद्रव्यमुक्तं तत् किं काम्य एवान्वेति उत नित्यकाम्योभयोरिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —पूर्वाधिकरणन्यायेन काम्य एव होमे दध्नोऽन्वय इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —‘दध्ना जुहोतीत्यत्र कामनिरपेक्षमेव दधिद्रव्यस्य विधानम् ‘दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्’ इत्यत्र च कामसापेक्षं विधानम् । एष च वाक्यद्वयानुसारेण दधिद्रव्यस्य नित्येन काम्येन चान्वयोऽविरुद्धः । तस्मादुभयोरप्यन्वयो दधिद्रव्यस्येति ॥

एष एव न्याय — 'खादिरे बध्नाति' — 'खादिर वीर्यकामस्य यूप कुर्वीत' इत्यत्रापि ।

एतदभिप्रेत्याह नित्य इति । 'दध्यादि' दधि खादिर च द्रव्यम् — 'नित्ये काम्ये च' — अन्वेतीति शेष ॥ ३ ॥

(४) ४।३।८-६ क्रत्वर्थ स्यात् पयोव्रतम् ।

( १ ) क्रत्वर्थपुरुषार्थविवेकोऽनुवर्तते ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे दीक्षितस्यान्नभोजनाभावे व्रतमाप्नायते — 'पयो व्रत ब्राह्मणस्य, यवागू राजन्यस्य, आमिक्षा वैश्यस्य' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — एतद् व्रत पुरुषार्थमुत क्रत्वर्थमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — प्रकरणेन क्रत्वर्थता वाक्येन तु ब्राह्मणादिपुरुषार्थता । तस्मात् प्रकरण बाधित्वा वाक्येन पुरुषार्थत्वमेवेति ।

( ५ ) सिद्धान्त — ब्राह्मणादिपुरुषसम्बन्धो व्रतसम्बन्धिद्रव्यविशेषस्य तत्तज्जातिगतत्वेन व्यवस्थापनार्थमेवोक्त । अतः प्रकरणबलेन क्रतुशेषत्वमेव व्रतस्य स्वीकार्यमिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह क्रत्वर्थमिति । 'पयोव्रतम्' 'क्रत्वर्थम्' 'स्यात्' — न तु पुरुषार्थम् । पुरुषार्थत्वे फलकत्पनमावश्यक स्यादिति भावः ॥४॥

(५) ४।३।१०-१२ विश्वजित् सफलो यागः

( १ ) पुरुषार्थत्वे फलवचनस्य नियामकत्वं सूचितम् । कदाचित् यत्र फलवचन नास्ति तत्र किं सर्वथा फलाभाव एवेति विचार्यते ।

( २ ) 'विश्वजिता यजेत' इति विश्वजियाग आम्नात ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किमयमफल एव याग उत सफल इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — फलस्याश्रुतत्वान्नास्ति विश्वजिति फलमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — विश्वजिता यजेतेति वाक्यस्य विश्वजिता यागेन भावयेदित्यर्थोऽवगम्यते तत्र किम्भावयेदित्याकाङ्क्षा उत्तिष्ठति । तदा काङ्क्षाविवृत्तये यागसम्पादनीयस्य फलस्यावश्यकता । कतिपये चैव फल तत्सिद्ध्यर्थं यागे प्रवृत्ति पुरुषस्य सिध्यति । अन्यथाऽनर्थक स्याद् विधिरिति ॥

एतदभिप्रेत्याह विश्वजिदिति । 'विश्वजिद् याग' 'सफल' कतिपयफलत्वात् न फलशून्य इति भावः ॥

पञ्चमषष्ठसप्तमाधिकरणानि समष्ट्या 'विश्वजिन्याय' इति नाम्ना प्रसिद्धानि ॥ ५ ॥

(६) ४।३।१३-१४ एकमेव फलं ततः ।

( १ ) विश्वजिफलविचार पद्यानुवर्तते ।



( २ ) विश्वजिद्याग एवात्र विषय ।

( ३ ) तत्र सन्देह विश्वजिद्यागे किमेकमेव फल कल्पनीयमुत सर्वाणि फलानीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — एतदेवास्य फलमेकमिति नियामकस्याभावात् पशुपुत्रादिक सर्वमेवास्य फल कल्पनीयमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — एकस्यैव फलस्य कल्पनेन पुरुषप्रवृत्ते सिद्धत्वात् फलान्तरकल्पना न न्याय्या । अत एकफलक एव विश्वजिद्याग इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—एकमेवेति । 'तत' विश्वजिद्यागात् 'एकमेव फल'—सिध्यति इति शेष ॥ ६ ॥

(७) ४।३।१५-१६ स स्वर्गस्त्वविशिष्टत्वात्

( १ ) विश्वजिद्विचार एवानुवर्तते ।

( २ ) विश्वजिद्विचारमेवात्र विषय ।

( ३ ) सन्देहश्चात्र—किं यत् किञ्चिदेक फल कल्पनीयमुत नियमेन कमेव किञ्चिदिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — नियामकाभावाद् यत्किञ्चित् कल्पनीयमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — स्वर्ग एवात्र फलत्वेन कल्पनीय । पश्वादिफलवत् स्वर्गो दुःखसम्मिश्रितो न भवति—सुखमयश्चाय पुरुषमात्रस्येष्टतमा भवति । अत कल्पयितव्ये एकस्मिन् फले स्वर्ग एव कल्पनीय इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—स स्वर्ग इति । 'स्वर्गः' एव 'स' विश्वजिद्विचारत्वेन कल्प्य । कुत इत्याह अविशिष्टत्वादिति । सर्वं पुरुषैरीप्सिततमत्वादित्यर्थ ॥ ७ ॥

(८) ४।३।१७-१८ रात्रिसत्रे फलं स्तुतौ ।

( १ ) पूर्वाधिकरणपवाद ।

( २ ) द्वादशाहादूर्ध्व भाविनस्त्रयोदशरात्रचतुर्दशरात्रादय सत्रविशेषा । एत एव समुदायरूपेण रात्रिसत्रनाम्ना प्रसिद्धा ।

( ३ ) तत्र सन्देह — अत्रापि फलस्यानुक्तत्वात् किं स्वर्ग एव फल कल्प्यमुत्पन्न्यः कल्प कोऽप्यस्तीति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—पूर्वाधिकरणन्यायेन स्वर्ग एवात्रापि फल कल्पनीयमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — सत्रकाण्ड एवार्थवादवाक्यमुपलभ्यते 'प्रतिष्ठन्ति ह वा एते य एता रात्रीरुपयन्ति' इति । एव च रात्रिसत्रविधे

स्तावकेऽर्थवादे प्रतिष्ठा श्रुतोपलभ्यते । सा चान्यत्राश्रुतस्वर्गफलापेक्षया प्रत्यासन्नतरा । तस्मात् अर्थवादवाक्योक्ता प्रतिष्ठैव रात्रिसत्रे फलत्वेन कल्पनीयेति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—रात्रिसत्र इति । 'रात्रिसत्रे' यत् 'फल' कल्पनीयं तत् 'स्तुतो' अर्थवादवाक्ये एवोक्तम्—अतो नान्यत् कल्पनीयमिति भावः ॥ ८ ॥

(६) ४।३।२०-२४ तत्तच्छ्रुतं फल काम्ये

(१) य सफल सपुरुषार्थ इत्थतो यागफलविचार एवानुवर्तत विश्वजिन्यायापवादरूपः ।

पूर्वस्मिन्निधिकरणेऽर्थवादवाक्ये फलस्योक्तिरत्र तु विधिवाक्य एव तस्योक्तिरिति विशेषः ।

(२) 'सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकाम' इत्येवरूपाणि काम्यानि कर्माण्याम्नातानि ।

(३) तत्र सन्देहः—एवविधस्य कर्मण किं यथोक्तमेव फलमुत तत् स्वर्गश्चेत्युभयमिति ।

(४) पूर्वपक्षः—उभयमपि फलमभ्युपेयम् । एकस्य विधावेव प्रतिपदमुक्तत्वात् स्वर्गस्य च सर्वैरेवाविशिष्टमभीप्सितत्वादिति ।

(५) सिद्धान्तः—साक्षाच्छ्रुतेनैव फलेन निराकाङ्क्षे विधिवाक्ये विश्वजिन्यायेन फलान्तरकल्पनमनावश्यकम् । तस्मात् यथाश्रुतमेव फलमिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह तत्तदिति । 'काम्ये' फलविशेषमुद्दिश्य विहिते कर्मणि 'तत् तत्' प्रातिस्विकरूपेण 'श्रुत' विधिवाक्योपपत्तम् एव 'फलम्' ग्राह्यम्, नान्यत् कल्पनीयमिति शेषः ॥ ९ ॥

(१०) ४।३।२५-२६ सर्वकामविधिर्भवेत् ।

(१) फलविचारोऽनुवर्तते ।

(२) इदमाप्नायते—'एकस्मै वा अन्या इष्टय कामायाहियन्ते, सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ' इति—तथा 'एकस्मै वा अन्ये यज्ञकृतं वा कामायाहियन्ते, सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोम' इति च॥

(३) तत्र सन्देहः—'सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ, सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोम' इत्युभयत्र 'सर्वपक्षेन किं दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमयोरङ्गोपाङ्गसाध्यानि फलान्यनूद्यन्ते उत सर्वाण्येव फलानि दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमयौ साध्यत्वेन विधीयन्ते—इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—सर्वभ्य इत्यनुवाद एवाङ्गोपाङ्गसाध्यफलानाम् । तद्यथा सामिधेय्यनुवचन दर्शपूर्णमासाङ्गम्—तस्य फल प्रतिष्ठा ब्रह्मवर्चस च । एवमन्यान्यपि । 'सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासां' इत्यत्र विधिर्न श्रूयते न च भावना, तस्माद्यत्र विधि सर्वकामानामिति ।

( ५ ) सिद्धान्त—दर्शपूर्णमासाभ्या यजेत इत्युत्पत्तिवाक्योपात्त एव विधिर्भावना चात्राप्यन्वेति । 'सर्वभ्य' इत्यत्र च तादर्थ्यवाचिन्या चतुर्थ्या फलसयोगो बोध्यते । तस्मादेष फलविधिरेव नानुवाद मात्रमिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—सवेति । 'सर्वकामविधि' सर्वेषा 'कामाना' फलाना विधि एव—भवेत् 'सर्वभ्यो दर्शपूर्णमासां' 'सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोम' इति वाक्यद्वयमिति शेष—न त्वनुवादमात्रमिति भाव ॥ १० ॥ इदमधिकरणमप्रमेण सह 'दर्शपूर्णमासस्याय' इति नाम्ना प्रसिद्धम् ।

( ११ ) ४।३।२७-२८ सर्वे कामाः सकृन्न स्युः

( १ ) पूर्वाधिकरणशेषभूतो विचार । अयमेव योगसिद्ध्यन्याय इति प्रसिद्धः ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयो सर्वकामे सम्बन्धो विहित इति सिद्धान्तितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह—किमेकेनैव दर्शपूर्णमासप्रयोगेण युगपदेव सर्वाणि फलानि सिध्यन्ति उत प्रतिफल पृथक् प्रयोग ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—दर्शपूर्णमासाख्य कर्म सर्वाणि फलानि साध्यतांति कार्यकारणभावे सिद्धे सकृदनुष्ठानेनैव सर्वाणि निष्पद्येरन् । तस्मान्नैव प्रयोजनं प्रतिफलमावर्तनस्येति ।

( ५ ) सिद्धान्त—'सर्वभ्यो दर्शपूर्णमासां' इत्यनेन कार्यकारणभाव उच्यते—न तु फलाना साहित्यम् । तस्मादेकैकस्य फलस्य साधनत्वे नैव दर्शपूर्णमासाख्य कर्म विधीयते । साहित्ये विवक्षिते सर्वाण्यङ्गा कृत्यैकमेव फलमुक्तं स्यात् । अत्रत्येव फलमैदे प्रयोगभेदः । तस्मात् प्रतिफल पृथक्प्रयोगो दर्शपूर्णमासयोज्यतिष्ठोमस्य चेति ।

एतदेवाभिप्रत्याह—सर्व इति । 'सर्व' सर्वेभ्य इति पदेनोक्ता—'कामा' फलानि—'सकृत्' कर्मणः सकृदनुष्ठानेन—'न स्युः' न निष्पद्येरन्—अपि तु प्रतिफल पृथगेव प्रयोगोऽपेक्षित इति भावः ॥ ११ ॥

( १२ ) ४।३।२७-२८ अत्र वाऽप्युत्र वा फलम् ।

( १ ) फलविषयकमेव विचारान्तरं पूर्वोक्ताभ्यामेव सूत्राभ्यां वर्णकान्तरेण क्रियते ।

( २ ) काम्यानि कर्माणि विहितानि—‘सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चं सकामः’—‘ऐन्द्राग्रमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः’—‘चित्रया यजेत पशुकामः’—इत्यादीनि ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—एतानि फलानि किमिहैव लोके प्राप्यन्ते—उत लोकान्तरे इति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—यथा स्वर्गस्य लोकान्तरीयकत्वं नियतम्, एवमेव पश्वादिफलस्यापोति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—स्वर्गस्यास्मिन् लोके प्राप्तुमशक्यत्वात्तस्यामुष्मिकत्वमगत्या कल्प्यते । पश्वादिवत्स्मिन् लोकेऽपि प्राप्तुं शक्यते । अतस्तेषामामुष्मिकत्वकल्पनायाः प्रमाणं नास्ति । तस्मादसति प्रतिग्रन्धे फलमैहिकम्, सति तु प्रतिग्रन्धे आमुष्मिकमिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—अत्रेति । ‘फलम्’ स्वर्गपश्वादि—‘अत्र’ अस्मिन् लोके—‘वा’ ‘अमुत्र’ लोकान्तरे—स्यादिति शेषः । सति सम्भवे ऐहिकमेव फलम्—असम्भवे एव केवलं तत्पारलौकिकमित्याशयः ॥ १२ ॥

( १३ ) ४।३।२६-३१ सौत्रामणी चितेरङ्गम्

( १ ) क्रत्वर्थपुरुषार्थविवेके यत् प्रधानं तत् पुरुषार्थं यदङ्गन्तत् क्रत्वर्थमिति सङ्गत्या अङ्गप्रधानविचारविशेषः प्रस्तूयते ।

( २ ) ‘अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत्’ इति चयनप्रकरणे श्रूयते ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—इदं वाक्यं किं सौत्रामणेश्चयनाङ्गत्य बोध्यं स्युत तस्य चयनोत्तरकालतामात्रमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—चित्त्वेत्यत्र क्त्वाप्रत्ययश्चयनस्य पूर्वकालीनतां बोधयति । तस्माद् वाक्यमिदं सौत्रामणेश्चयनोत्तरकालतां व्रते—इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—क्रियाद्वयस्यैककर्तृकत्वमेव सूचयितुं क्त्वाप्रत्ययः प्रयुज्यते । प्रकरणेन चाङ्गत्वमेव बोध्यते । तस्माद् वाक्यमिदं सौत्रामणेश्चयनाङ्गत्वमेव ज्ञापयतीति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—सौत्रामणीति । ‘सौत्रामणी’ तन्नामकं कर्म—‘चित्ते’ चयनार्थस्य कर्मणः—‘अङ्गम्’—न तु तयोः पौर्वापर्यं वाक्येन बोध्यत इति भावः ॥ १३ ॥

( १४ ) ४।३।३२-३५ पौर्णमासस्य वैश्वधः ।

( १ ) क्रत्वर्थज्ञायामेव विचारविशेषोऽनुवर्तते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासप्रकरणे श्रूयते—‘संस्थाप्य पौर्णमासा वैश्वधमनु निर्वपति’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — अत्रोक्तो वैमृध किं दर्शस्य पौर्णमासस्य चेत्युभयोरप्यङ्गमुत पौर्णमासीमात्रस्येति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — प्रकरणाबलात् प्रयाजादिवदुभयोरपि दर्शपौर्णमासयोरङ्गं वैमृध इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — यद्यपि प्रकरणेनोभयाङ्गता वैमृधस्य तथापि सवाक्येनकस्यैव पौर्णमासीमात्रस्याङ्गम् । वाक्यं च प्रकरणादबलवत् तस्मात् उत्पत्तिवाक्यबलात् पौर्णमासीमात्रस्याङ्गं वैमृध इति ।

एतदेवामिप्रेत्याह—पौर्णमासस्येति । 'वैमृध' तन्नामकेष्टि—'पौर्णमासस्य' तन्मात्रस्य—अङ्गमिति शेष—न तु दर्शस्यापीति भावः ॥ १३ ॥

( १५ ) ४।३।३६ परिध्युक्तिः स्वकालार्था

( १ ) क्रत्वथताया विचारविशेष—पूर्वाधिकरणयोरपवादः ।

( २ ) 'प्रहृत्य परिधीन् जुहोति हारियोजनम्' इति श्रूयते ।

( ३ ) तत्र सन्देह — वाक्यमिदं किमङ्गत्वं बोधयत्युत कालमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — परिधिहारियोजनयोरङ्गाङ्गिभावोऽत्र साक्षाच्छब्दालम्ब्यते । कालविधिस्तु साक्षाच्छब्दान्न बोध्यते—केवलं लक्षणया बोध्यते । तस्मादङ्गमेव हारियोजनं परिधेः पूर्वाधिकरणद्वयन्यायनेति ।

( ५ ) सिद्धान्त — परिध्यः पशुधागाङ्गमित्यन्यतोऽवगतम्—हारियोजनं स्वतन्त्रमन्यदेव प्रधानं कर्म । तथा चानयोर्न कश्चित् परस्पररोपकारः सम्भवति । आनन्तर्यं त्वनयोर्नान्यतः कुतश्चिदप्यवगतम् । तस्मादानन्तर्यबाधनमेवास्य वाक्यस्यार्थः । तस्मात् कालविधिरेवायमिति ।

एतदेवामिप्रेत्याह—परिधीति । 'परिध्युक्तिः' परिधिं प्रहृत्यति वचनम्—'स्वकालार्था' 'स्वस्य' कर्मणः 'कालः' अनुष्ठानफलप्रधानम् 'अर्थः' प्रयोजनं यस्याः सा । परिधिवचनं कालविधायकत्वाङ्गत्वप्रतीतिमिति भावः ॥ १५ ॥

( १६ ) ४।३।३७ कृतेष्टिः सोमकालवान् ।

( १ ) त्रयोदशस्याधिकरणस्यापवादान्तरम् ।

( २ ) 'दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत' इति श्रूयते ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किमेतदङ्गत्वस्य विधायकमुत कालस्येति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — अङ्गत्वमेव साक्षाच्छ्रुत्या बोध्यते इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — स्वतन्त्रफलवान् सोमयागः । अतो न तस्याङ्गत्वं सम्भवति । वाक्यं चेद् कालप्रधानम्, न यागविधानपरम्, यागविधानस्यान्यत एव प्राप्तत्वात् । तस्मात् कालविधिरेवायम् । सोम

स्य च दर्शपूर्णमासोत्तरकालताया लिङ्गमपि वर्तते-‘एष वै देवरथो यद् दर्शपूर्णमासौ यद्दर्शपूर्णमासाविष्टा सोमेन यजेत’ । अस्यार्थ-यथा अदृशिते मार्गे रथेन यातु सुख भवति एव दर्शपूर्णमासाविष्टा सोमेन यष्टु सुख भवतीति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह-कृतेष्टिरिति । ‘कृतेष्टि’ कृता अनुष्ठिता इष्टि दर्शपूर्णमासयागो येन स एव पुरुष-‘सोमकालवान्’ भवति । तादृशस्यैव पुरुषस्य सोमयागमनुष्ठातु ‘काल’ अवसरो भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

( १७ ) ४।३।३८-३९ पुत्रे फलं स्याज्जातेष्टेः

( १ ) कृत्वर्थताविचारविशेषोऽनुवर्तते ।

( २ ) कृम्येष्टिकाण्डे श्रूयते-‘वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह-एतदिष्टिफलं किम्पुत्रगतमुत पितृगतमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष-पितुरेवानुष्ठातु फलम् तस्य प्रबुद्धत्वात् पुत्रस्य च मुग्धत्वादिति ।

( ५ ) सिद्धान्त-उक्तविधिवाक्यानन्तरमेव श्रूयते-‘यस्मिन् जात एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव तेजस्यन्नाद इन्द्रियावौ पशुमान् भवति’ इति । अनेन च वाक्येन पूतत्वादिफलस्य पुत्रगतत्वं स्पष्टमुच्यते । स्वतनयगतपूतत्वादेष्वपि पितुरीप्सितत्वात्तस्य तत्र कर्मणि प्रवृत्तिः । तस्मात् पुत्रगतमेव फलमिति ।

एतदधिकरणमग्निमेणाधिकरणद्वयेन सहजातेष्टिन्यायनाम्ना प्रसिद्धम् ।

एतदेवाभिप्रेत्याह पुत्र इति । ‘जातेष्टे’ पुत्रे जाते या वैश्वानरी इष्टि क्रियते तस्या-‘फलं’ पूतत्वादिकम्-‘पुत्रे’ पुत्रगाभ्येव-भवतीति शेषः ॥ १७ ॥

( १८ ) ४।३।३९ नैषा प्राग् जातकर्मणः ।

( १ )-जातेष्टिविषये विचारान्तरम् ।

( २ ) जातेष्टिवाक्यमेवात्रापि विषयः ।

( ३ ) तत्र सन्देह-इयं जातेष्टिः किं पुत्रजन्मानन्तरमव्यवहितमेव कर्त्तव्या उत जातकर्मसंस्कारानन्तरमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष-पुत्रे जाते इष्टिं निर्वपेदिति वाक्येऽव्यवहितोत्तरकालतैवोच्यते । तस्मात् पुत्रजन्मसमानन्तरं जातकर्मादेः प्रागेव जातेष्टिं कर्त्तव्येति ।

( ५ ) सिद्धान्त-जातस्य बालस्य स्तन्यपानं जातकर्मानन्तरं विहितम् । एव यदि जन्मानन्तरं जातेष्टिं निरूप्येत ततो जातकर्मानुष्ठानं

तत स्तन्यपानं तर्हि स्तन्यपाने विलम्बाद् बालो विपद्येत । तथाच सति ऋश्य स्यात् पूतत्वाद्विफलम् । तस्मात् जन्मानन्तरं जातकर्म तदनन्तरमेव जातेष्टिरिति ॥

एतदेवाभिप्रेत्याह नैपेति । 'एषा' जातेष्टि- 'जातकर्मण' जातकर्म-संस्कारानुष्ठानात्- 'प्राक्' 'न'- कर्तव्या अपि तु तदनन्तरमेव कर्तव्येत्यर्थः ॥ १८ ॥

( १६ ) ४।३।३६ शुद्धे पर्वणि सा कार्या

( १ ) जातेष्टरेवानुष्ठानकालस्य विचारविशेषः ।

( २ ) प्रागुक्तमेवात्र वाक्यम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह- किं जातकर्मसमनन्तरं सद्य एव जातेष्टि कर्तव्योनाशौचदिनेभ्य ऊर्ध्वमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष-जन्मानन्तरं जातकर्म तदनन्तरमेव जातेष्टिरिति सिद्धान्तितम् । इतोऽधिकविलम्बकरणे किमपि कारण नास्ति । तस्मादव्यतीतेऽप्याशौचे जातकर्मनन्तरमेव जातेष्टि कर्तव्येति ।

( ५ ) सिद्धान्त- यथाविहितमनुष्ठितमपि कर्माशुचिना पित्रा कृतमङ्गविकलं विफलं च भवेत् । जातकर्मानुष्ठानमात्रे तु तात्कालिकी शुद्धिः शास्त्रेण दर्शिता । तस्मादशुद्धिवारणायाशौचापगमोऽपेक्षणीयः । न च आशौचावसान एव जातेष्टि कर्तव्येति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह-शुद्ध इति । 'सा' जातेष्टि 'शुद्धे' आशौचादि रहिते- 'पर्वणि' काले- 'कार्या' न त्वाशौचाभ्यन्तरं ण्वेत्याशयः ॥ १९ ॥

( २० ) ४।३।४०-४१ काले सौत्रामणी स्वके

( १ ) अनुष्ठानकालविषयं च विचार-त्रयोदशाधिकरणविचारः ।

( २ ) 'अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत' इति श्रूयते । तत्र च सौत्रामण्याश्चयनाङ्गत्वमुच्यते इति स्थितं त्रयोदशेऽधिकरणे ।

( ३ ) तत्र सन्देह- किं चयनेन सहैव सौत्रामणी कर्तव्योत स्वसम्बन्धेन विहिते काले इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष-सौत्रामणी चयनस्य अङ्गम् । अङ्गं च अङ्गिना सहैव प्रयोक्तव्यम् । तस्मात् चयनेन सहैव सौत्रामण्यनुष्ठेयेति ।

( ५ ) सिद्धान्त-सौत्रामणी इष्टिप्रकृतिका । तस्मात् तस्याः पूर्वकालश्चोदकप्राप्त- 'प्रकृतिवद्विकृति' कर्तव्येति न्यायेन । 'अग्निं चित्त्वे'त्यत्र च क्त्वाप्रत्ययेन चयनसौत्रामण्यो पूर्वोत्तरकालतोच्यते । एव सति

यदि तयो सहप्रयोग स्यात् तर्हि पूर्वोत्तरकालतये बाध्येत । तथाच पौर्वापर्यधिया सौत्रामण्या पृथक्प्रयोगेऽवश्यम्भाविनि तस्याश्चोदक-  
प्राप्तकालपरित्यागो नोचित । तस्मात् स्वविहितकाल एव सौत्रामण्य  
नुष्ठानमिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—काल इति । 'सौत्रामणी' इति—'स्वके' स्वीये  
चोदकप्राप्ते—'काले'—पर्वणि—अनुष्ठेयेति शेष—न त्वङ्गिना चयनेन सहैवे  
स्याशय ॥ २० ॥

पादेऽस्मिन् विशतिन्याया

भाष्यकारेण वणिताः ।

स्पष्टम् ।

इति चतुर्थस्य तृतीय ।

## अथ चतुर्थस्य चतुर्थः ।

( राजसूयजघ्न्याङ्गावेचारात्मक )

( १ ) ४।४।१ २ राजमखस्य यजीतरदङ्गम्

( १ ) क्रत्वर्थताविचारप्रसङ्गेनाङ्गत्वविशेषविचार प्रस्तूयते ।

( २ ) राजसूयप्रकरणे 'राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इति राज-  
सूयमुक्त्वा तत्सन्निधाने यागरूपा अनुमत्यादय उक्ता अयागरूपा  
द्यूतादयोऽपि ।

( ३ ) तत्र सन्देह—कि एतानि कर्माणि यागरूपोऽययागरूपाणि  
च सर्वाण्येव मुर्यान्त्येवोत कानिचिदेव मुर्यानि कानिचिदङ्गानीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—प्रकरणपाठस्य सर्वत्र समानत्वात् सर्वाण्येव  
मुर्यानीति ।

( ५ ) सिद्धान्त—'स्वाराज्यकामो राजसूयेन यजेत' इत्यत्र स्वारा-  
ज्यरूपफलस्य साधनत्वेन याग एव श्रुत । अतो यागरूपाणामनुम-  
त्यादीनामेव फलसाधकतया मुख्यत्वमित्येषां त्वयागरूपाणामफलानां  
द्यूतादीनामङ्गत्वमेवेति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह राजमखस्येति । राजमखस्य' राजसूययाग  
स्य—'यजीतरत्' यागरूपेभ्य कर्मभ्योऽन्यत् यदुक्त द्यूतादिकं तत्—  
'अङ्गम्' एवेति ॥ १ ॥



( २ ) ४।४।३-४ देवनमस्य गुणः सकलस्य ।

( १ ) पूर्वविचारशेषो विचार ।

( २ ) द्यूतादिक राजसूयस्याङ्गमिति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह — राजसूयमध्येऽभिषेचनीयारय सोमयागो यो विहित — किं तन्मात्रस्याङ्ग द्यूतादि — उत सकलस्य राजसूयस्येति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — अभिषेचनीयानन्तरं द्यूतादे पाठात् तस्यैवाङ्गमिदमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — अवान्तरप्रकरणान्महाप्रकरणं बलवत्तरम् । महाप्रकरणं चात्र राजसूयस्य । राजसूयशब्दश्चानुमत्यादिसकलयाग-जातमभिधत्ते । तस्मात् कृत्स्नस्यैव राजसूयस्याङ्गं द्यूतादि — इति ।  
- एतदेवाभिप्रेत्याह देवनमिति । 'देवनम्' द्यूतम् — 'सकलस्य' कृत्स्नस्य — 'अस्य' राजसूयस्य — 'अङ्गम्' — न त्वभिषेचनीयमात्रस्यैकस्येत्याशयः ॥ २ ॥

( ३ ) ४।४।५-६ नोपसदङ्गमगादि हि सौम्यम्

( १ ) राजसूयगतमेव विचारान्तरम् ।

( २ ) राजसूये ससृच्छब्दवाच्यानि आग्नेयाष्टाङ्गपालादीनि दश हवीष्याम्नातानि । तेष्वष्टमनवमदशमानि सौम्य — त्वाष्ट्र-वैष्णवानि । तद्विषये श्रूयते — 'पुरस्तादुपसदा साम्यं वान्ति — अन्तरा त्वाष्ट्रेण — उपरिष्टाद् वैष्णवेन' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — सौम्यादयः किमुपसदामङ्गान्युत केवलमुपसत्कालेऽनुष्ठेयानीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — योऽयं राजसूये सोमयागस्तस्मिन्नतिदिष्टानामुपसदामादिमध्यावसानेषु सौम्यादीनां त्रयाणामनुष्ठानमनेन वाक्येन चोद्यते । ततो वाक्यप्रमाणेन सौम्यादीनि उपसदामङ्गानीति ।

( ५ ) सिद्धान्तः — 'उपसदा'मित्यत्र पठ्या 'पुरस्तात्' इति कालवाचिना शब्देनान्वयः । अतः सौम्यादीनां कालविशेषगोधनपरमिदं वाक्यं न त्वङ्गत्वाभिधानपरम् । तस्मात् सौम्यादिकं न कस्याप्यङ्गमपि त्वनुमत्यादिवद् प्रधानमेवेति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह — नोपसदङ्गमिति । 'सौम्यम्' — 'उपसदङ्गम्' उपसदामङ्गत्वेन 'न' 'अगादि' उक्तम् इति सम्बन्धः ॥ ३ ॥

( ४ ) ४।४।७ साङ्गहणीगुण आमनहोमः ।

( १ ) क्रत्वर्थताप्रसङ्गेनाङ्गत्वविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) काम्येष्टिकाण्डे—‘वैश्वदेवीं साङ्ग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकामः’ इति साङ्ग्रहणेष्टि श्रूयते । तत्रैव ‘आमनस्यामनस्य देवा इति तिस्र आहुतीर्जुहोति’ इत्यामनहोम आम्नायते ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किमामनहोम साङ्ग्रहण्या सह तुल्यप्रधान-भाव उत तस्या अङ्गमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —समप्रधानभाव एवामनहोम साङ्ग्रहण्या । य एव साङ्ग्रहण्या प्रधानभावे हेतु स एवातनहोमस्यापि अत्रापि ग्रामावाप्तिफलस्यानुषङ्गादिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —‘साङ्ग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकाम’ इति वाक्यग्रामावाप्तिफलस्य साङ्ग्रहणीमात्रेण सम्बन्ध वक्ति, नामनहोमेन । तस्मात् फलवत्या साङ्ग्रहण्या सन्निधावाप्तातोऽफल आमनहोमस्तस्या अङ्गमिति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह साङ्ग्रहणीति । ‘आमनहोम’ ‘साङ्ग्रहण्या’ इष्टे ‘गुण’ अङ्गम्—न तु तथा सह समप्रधानभाव इति भाव ॥ ४ ॥

( ५ ) ४।४।८-११ नित्यमियेष दधिग्रहहोमम्

( १ ) कर्मणामङ्गप्रधानभावप्रसङ्गन नित्यनैमित्तिकविवक प्रस्तूयते ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—‘या वे काञ्चिदध्वर्युर्यजमानश्च देवतामन्तरीत तस्या आवृश्चेत यत् प्राजापत्य दधिग्रह गृहणाति शमयत्येवै नाम्’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —योऽय दधिग्रहहोमोऽत्र विहित स किन्नित्य उत नैमित्तिक इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —यदि देवताया अन्तरायस्तदा दधिग्रहहोम इति वाक्यस्य स्पष्टोऽर्थः । एव च देवतान्तरायरूपे निमित्ते सत्येव तस्य प्राप्ति । तथा च नैमित्तिकोऽय होम इति । अथवा नित्यो नैमित्तिकश्चोभयात्मकोऽय होम । उक्तहेतोर्नैमित्तिक । अथवा ‘ज्येष्ठो वा एष ग्रहाणाम्’ इति ज्यैष्ठ्योक्तेर्नित्यत्वं च । नित्यत्व एव ज्येष्ठत्वोक्तिरूपा प्रशस्तिः सङ्गच्छते न नैमित्तिकत्व इति उभयोक्तक एव दधिग्रहहोम इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —देवतान्तरायस्य ग्रहहोमनिमित्तत्व वाक्येन नैवोच्यते । वाक्यार्थस्त्वेव—“यदि देवताया अन्तरायस्तदा कर्मणि ‘आवृक्ति’ हानिर्भवति—किन्त्वस्या आवृक्ते शान्तिर्भवति यदा दधिग्रहोम क्रियते” इति—न तु ‘देवतान्तराये सत्येव होमो नान्यथेति’ । तस्मात् नैमित्तिकत्वे प्रमाणाभावात् ज्यैष्ठ्योक्तिरूपप्रशस्तिबलान्नित्य-तैव स्वीकार्या—इति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—नित्यमिति । 'दग्निग्रहहोमम्' 'नित्यम्' 'इयेष' इष्टवान्—सूत्रकार इति शेष ॥ ५ ॥

(६) ४।४।१२ १३ वत्सरमुख्यमविभ्रत इष्टिः ।

(१) नित्यनैमित्तिकविवेकोऽनुवर्तते ।

(२) अग्निचयने श्रयते—'यो वै सवत्सरमुख्यमभृत्वाऽग्निं चिनुते—यथा सामिगर्भो विवद्यते तादृगेव तदार्त्तिमार्हेत्—वैश्वानर द्वादश-कपाल पुरस्तान्निर्वपेदिति' ।

(३) तत्र सन्देह—अत्रोक्तो वश्वानरयाग किन्नित्य उत नैमित्तिक इति ।

(४) पूर्वपक्ष—अस्य वाक्यस्यैवमर्थः । 'उखा' पिठर—तामुखा सम्पाद्य तस्यामग्निं निधाय स्तकण्डे बध्नीयात्—त चोख्यमग्निं सवत्सर भृत्वा पश्चादिष्टकाभिरग्निश्चेतव्य इति विधौ—यदि कोऽपि सम्बत्सर उख्यमग्निमभृत्वेव चिनुते तर्हि अपूर्णगर्मपात इव सोऽग्निर्नश्येत्—अस्य च विघ्नस्य शान्तिस्तर्हि भवति यदा वैश्वानरेष्टिरुप्यते' इति । एवं च सति पूर्वाधिकरणन्यायेन नित्यतैव वैश्वानरेष्टेरिति ।

(५) सिद्धान्तः—'य पुमान् उख्यमग्निमभृत्वा चिनुयात् स वैश्वानरेष्टिं निर्वपेत्' इत्येवार्थो वाक्यस्य यच्छुन्दप्रलाटलभ्यते । तथाच सति उख्याग्निभरणाकरणनिमित्तक एवाय होमः । ततोऽस्या इष्टे नैमित्तिकत्वमेवेति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह—वत्सरमिति । 'उख्यम्' उखाया निहितमग्निम्—'वत्सरम्' एकवत्सरपर्यन्तम्—'अविभ्रत' भरणमकुर्वत एव—'इष्टि' वैश्वानरेष्टि । उक्ताग्नेरभरणं सत्येवष्टिं भार्या नान्यथा तथाच नैमित्तिकत्वमेवास्या इष्टरित्याशयः ॥ ६ ॥

(७) ४।४।१४-१८ षट्चित्तिकोऽग्निरयं न हि नित्यः

(१) नित्यनैमित्तिकविवेक एव वर्तते ।

(२) अग्निचयने श्रयते—'सवत्सरो वै न प्रतिष्ठायै नुदते । योऽग्निं चित्वा न प्रतिष्ठति—पञ्च पूर्वाश्रितयो भवन्ति—अथ षष्ठां चित्तिं चिनुते' इति ।

(३) अत्र सन्देह—येयं षष्ठी चितिः सा किं नित्योत नैमित्तिकी—तथाच किं पञ्चचित्तिकाश्वित् षट्चित्तिकोऽप्यग्निर्नित्य एवोत नैमित्तिक इति ।

(४) पूर्वपक्ष—उक्तवाक्यानुसारेण—पञ्च चितय पूर्वा क्रियन्ते तदनन्तर षष्ठी चिति । पञ्चानाम्पूरणी च षष्ठी भवति । तस्मात् यथा पञ्च

चित्तयो नित्यास्तथैव षष्ठ्यपीति षट्चित्तोऽग्निर्नित्य एवेति ।

(५) सिद्धान्त — वाक्यार्थो ह्येवम्—पूर्वाभिरेव पञ्चभिरग्निचयन सम्पद्यत इत्यग्नि चित्वेत्यनेन स्पष्टम्—एव च चयने पञ्चभिश्चितिभि सम्पन्ने 'यो न प्रतितिष्ठति' स एव षष्ठी चिनुयादिति । तथा च पञ्चचि त्तिकोऽग्निर्नित्य-तदनन्तर यदा प्रतिष्ठाराहित्यनिमित्तकषष्ठीचित्तिकस्तु क्रियते तदा य षट्चित्तिकोऽग्नि सम्पद्यते स नैमित्तिक एवेति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह षट्चित्तिक इति । 'अय षट्चित्तिक' षष्ठ्यन्तर सम्पन्नोऽग्नि — 'न हि नित्य' अपि तु नैमित्तिक एवेत्याशय ॥ ७ ॥

(८) ४।४।१६-२१ दर्शयजेर्न गुणः पितृयज्ञः ।

(१) अङ्गप्रधानविवेकोऽनुवर्तते ।

(२) इदमाप्नायते—'अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति' इति ।

(३) तत्र सन्देह —अय पिण्डपितृयज्ञ किममावास्यानामकया गस्याङ्गमुत प्रधानमेवेति ।

(४) पूर्वपक्ष —उक्तवाक्ये अमावास्याशब्दत्राच्ये दर्शयागे विधी यमानत्वादय पिण्डपितृयज्ञ तद्यागस्याङ्गमेवेति ।

(५) सिद्धान्त —अमावास्याशब्द कालमात्रवाची । दर्शयागे तु लाक्षणिक एवास्य प्रयोग । वाक्य चानारभ्याधीतम् । तस्मात् अमावास्याकाले पिण्डपितृयज्ञ कर्तव्य इत्येव वाक्यार्थः । न च दर्श यागाङ्गतायामस्य प्रमाणमुपलभ्यते । तस्मात् स्वयम्प्रधानभूत पिण्ड पितृयज्ञ पुरुषार्थ एवेति ॥

एतदेवाभिप्रेत्याह दर्शयजेरिति । 'पितृयज्ञ' 'दर्शयजे' दर्शयाग स्य—'गुणः' अङ्गम्—'न' भवति—अपि तु प्रधान स्वयमेव पुरुषार्थ इ त्याशय ॥ ८ ॥

(६) ४।४।२२-२४ यूपगुणो रशनः त्रिवृदिष्टः ।

(१) क्रत्वर्थतानियामकाङ्गत्वविचारोऽनुवर्तते ।

(२) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—'आश्विन ग्रह गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिधीय आग्नेय सवनीय पशुमुपाकरोति' इति ।

(३) तत्र सन्देह —अत्र या त्रिवृद्दर्शनोक्ता सा कि पशोरङ्गमुत यूपस्येति ।

(४) पूर्वपक्ष —अत्र वाक्ये यूपपरिव्याण कालोपलक्षणार्थमनूद्य परिव्याणोत्तरकाले त्रिवृद्दर्शनोपलक्षितपशोरुपाकरण विधीयते । एवं

च रशनाया पशुनवान्वयात् रशनया पशुबन्धनन च तस्येतस्ततोऽप  
क्रमेणनिवारणरूपदृष्टार्थलाभाच्च पश्वर्थतैव रशनाया-इति ।

( ५ ) सिद्धान्त -- 'त्रिवृता' इति तृतीयया 'यूपम्' इति द्वितीयया  
च त्रिवृद्रशनाया यूपस्य च अङ्गाङ्गिभावोऽवगम्यते । अव्यवहितान्वय-  
श्च त्रिवृद्रशनाया यूपेनैव दृश्यते । तस्माद् यूपार्था रशना । कालस्तु  
'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा' इत्यनेनैवोपलक्षित - इति ।

एतदभिप्रेत्याह यूपगुण इति । 'त्रिवृद् रशना'--'यूपस्य' एव 'गु-  
ण' अङ्गम्--'इष्ट' प्रमाणसिद्धा--न तु पशोरित्याशय ॥ ९ ॥

( १० ) ४।४।२५-२८ यूपगुणं स्वरुमाह न षष्ठी ।

( १ ) अङ्गत्वविचार एव वर्तते ।

( २ ) अग्नीषोमीयपशौ श्रूयन्ते--'यूपस्य स्वरुं करोति- स्वरुणा  
यूपमनक्ति' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह-अत्रोक्त स्वरुं किं यूपान्मुत पश्वङ्गमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष --'यूपस्य स्वरुं करोति' इत्यत्र स्वरूपयूपसम्ब-  
न्धाभिधानात् यूपस्यैवाङ्ग स्वरुरिति ।

( ५ ) सिद्धान्त --'स्वरुणा पशुम्' इत्यत्र तृतीयाद्वितीयाभ्यां स्वरु-  
रुपश्वोरङ्गाङ्गिभावो बाध्यते । यूपस्येत्यत्र षष्ठी तु सम्बन्धसामान्यवा-  
चिनी । तस्मात् पशोरेवाङ्ग स्वरुरिति ।

एतदभिप्रेत्याह--यूपगुणमिति । 'षष्ठी' यूपस्य स्वरुमित्यत्र--'स्व-  
रु' 'यूपगुण' 'न' 'आह' वक्ति--तस्मान् स्वरुणा पशुमनक्तीत्यनेन पश्व-  
ङ्गतैव स्वरोरित्याशय ॥ १० ॥

( ११ ) ४।४।२६-३८ केचिदिहेष्टिगुणाः खलु यागाः

( १ ) ऋत्वंथत्वनियामकाङ्गत्वविचारो वर्तते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोः श्रूयन्ते--आग्नेयाग्नीषोमीयापाशुयाजेन्द्रा-  
ग्नृसान्नाय्ययागाः--तथा आघारोऽयमागो प्रयाजानुयाजा' पत्नीसंया-  
जा समिष्टयजु स्विष्टकृत् इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह--किं सर्व एते यागा प्रधानभूता उत केचिद्  
गुणभूता इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष --प्रकरणपाठसाम्यात् यथा आग्नेयादयः प्रधान  
भूतास्तथैवाघारादयोऽपीति सर्वे प्रधानभूता इति ।

( ५ ) सिद्धान्त --कालवाचिनौ दर्शपूर्णमासशब्दौ कालसयोगेन  
विहितानामाग्नेयादिसान्नाय्यान्तानामेव नाम प्रेयनाम्प्रतिपद्येते । ततश्च

‘दर्शपूर्णमासाभ्या स्वर्गकामो यजेत’ इति फलसम्बन्धस्तेषामेव भवति न  
वाधारादीनाम् । तस्मान्निष्फला आधारादयः फलवतामान्नेयादीना  
सन्निधौ पठितास्तेषामङ्गभूता इति न तेषाम्प्रधानतेति ।

एतदभिप्रेत्याह केचिदिति । ‘केचित्’ एव ‘यागा’ आधारादयः  
‘इष्टीनाम्’ आग्नेयादीनाम्—‘गुणा’ अङ्गानि —न तु प्रधानानीत्यर्थः ११॥

(१२) ४।४।३६-४१ सोमयजेरितरे गुणयागाः ।

( १ ) अङ्गत्वविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) ‘ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत’ इत्यत्र ज्योतिष्टोमे सोमयागा  
दीक्षणीयादीष्टयश्चास्नाता ।

( ३ ) तत्र सन्देहः --किमत्र सर्वे यागा प्रधानभूता उत सोमया-  
गा एवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः --सर्व एव तुल्यप्रधानभावाः । सर्वेषां तुल्यमेव फ-  
लवत्त्वम् । फलवत्त्वमेव च प्रधानत्वाया कारणमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः --ज्योतीषि स्तोमा यस्य यज्ञस्य सोऽयं ज्योतिष्टोम  
इति तन्नामव्युत्पत्तिः । स्तोमसम्बन्धश्च सोमयागानामेव न दीक्षणी-  
यादीनाम् । तस्मात् ‘ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत’ इत्यत्र ज्योतिष्टोम-  
नाम्ना विहित फल सोमयागैरेव सम्बध्यते--ततश्च सोमयागानामेव  
सफलत्वमितरेषां तु निष्फलत्वम् । तस्मादितरेषामङ्गत्वमेवेति ॥

एतदभिप्रेत्याह सोमयजेरिति । ‘इतरे’ सोमयागैर्भ्योऽन्ये दीक्षणीया-  
दयः --‘सोमयजे’ सोमयागानाम् ‘गुणयागा’ अङ्गभूता यागा इति  
सम्बन्धः ॥ १२ ॥

द्वादश पाद इहाह मुनीती

वीक्ष्य मुनिः किल तत्त्वविदत्र ।

‘मुनीती’ न्यायज्ञः --‘तत्त्ववित्’ मीमांसाशास्त्रसिद्धान्तवेत्ता—‘मु-  
नि’ भाष्यकारः --‘वीक्ष्य’ परीक्ष्य--‘इह’ अस्मिन्--‘पादे’ द्वादश अ-  
धिकरणानीति शेषः --‘आह’ उक्तवान् इति सम्बन्धः ॥

इति चतुर्थस्य चतुर्थः ।

इति चतुर्थाध्यायः ।

## अथ पञ्चमोऽध्याय ।

५२१२०

प्रथम पादः ।

[ श्रुत्यादिभिः क्रमनियमनविचारात्मक

(१) ५।१।१। श्रुत्या क्रमः स्याद्

( १ ) द्वितीयतृतीयचतुर्थभ्यायेरनुष्ठेयकर्मस्वरूपं निरूपितम् । इदानीम्पञ्चमेऽनुष्ठानस्यक्रमो निरूप्यते । श्रुत्या अर्थेन पाठेन प्रवृत्त्या कारणेन च क्रमो नियम्यते । एतेषु पञ्चसु क्रमप्रमाणेषु यथापूर्वं बलीयस्त्वम् । श्रुत्या क्रमनियमोऽत्राधिकरणे विचार्यते ।

( २ ) प्रत्येक कर्मणि दर्शमासादौ बहवो भवन्त्यनुष्ठेया पदार्था ।

( ३ ) तत्र सन्देह — एतेषामनुष्ठाने कोऽपि क्रमनियमोऽस्त्युत अनियमेन यथारुच्येव कर्तव्यानीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — क्रमनियमे प्रमाणाभावात् अनियम एवेति ।

( ५ ) सिद्धान्त — यथाऽनुष्ठेये वेद प्रमाणम् तथाऽनुष्ठानक्रमेऽपि—इति ।

एतदभिप्रेत्याह श्रुत्येति । 'क्रम' अनुष्ठानक्रम — 'श्रुत्या' प्रमाणेन—'स्यात्'—नियमित इति शेष । अतो नानियम इति भावः ॥ १ ॥

(२) ५।१।२ वणकान्तरेण ]

दीक्षामु

क्रमः श्रुत्या विधीयते ।

( १ ) सामान्यतः क्रमस्य प्रामाणिकत्वं निर्धार्य क्रमविशेषस्योदाहरणं चिन्त्यते । श्रुतिक्रमन्यायोऽयम् ।

( २ ) सत्रे द्वादशाहे श्रूयते— 'अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माण दीक्षयति तत उद्गातारं ततो होतारम्' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — अत्र वाक्ये किं गृहपत्यादीनां दीक्षाकर्ममात्रं विधीयते उत तेषां दीक्षायाः क्रमोऽपीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — गृहपत्यादिदीक्षामात्रं विधीयते—'दीक्षयेत्' इति श्रुत्या तस्यैव विधेयत्वावगमात्—इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — सत्र 'ये ऋत्विजस्ते यजमाना' इत्युक्तम् । तथा च येन विधिवाक्येन यजमानस्य दीक्षा 'विहिता तेनैर्वत्विजामपि सा

प्राप्तैव । अतो दीक्षाभाष्यस्य वाक्यान्तरेण विधानत्र सम्भवति । तस्मात् 'दीक्षयेत्' इत्यनेन दीक्षामनुद्य तत्क्रम एवात्र विधीयते इति ।

एतदभिप्रेत्याह दीक्षास्त्विति । 'दीक्षासु' गृहपत्यादीना कर्तव्यासु—  
'क्रम' पौर्वापर्यं—'श्रुत्या'—'विधीयते' एवेति सम्बन्धः ॥ २ ॥

(३) ५।१।३ पाकाग्निहोत्रयोः संऽर्थात्

(१) क्रमस्य नियामकान्तरं चिह्नयते पुर्वार्थिकरणापवातरूपेण । अर्थक्रमन्यायोऽयम् ।

(२) 'अग्निहोत्र जुहोति—यवागू पचति' इत्यग्निहोत्रहवनयवा गूपाकरूप कर्मद्वयमुक्तम् ।

(३) तत्र सन्देहः—किमत्रापि विधिवाक्यद्वयक्रमानुसार्यैव क्रम उत्तान्य इति ।

(४) पूर्वपक्ष —श्रुतिप्रमाणबलेन यथाश्रुत एव क्रमो होमपाकयो-  
रनुष्ठेयस्तथा च प्रथम होमस्ततो यवागूपाक इति ।

(५) सिद्धान्त —होमीयद्रव्यमन्तरेण न सम्भवति होम । द्रव्य यवागूव्यतिरिक्त नास्ति । यवागू च पाक विना न निष्पद्यते । अतो होमीयद्रव्यसम्पादनार्थं होमात् प्रागेव पाक कर्तव्य । प्राकानन्तरमेव च पाकनिष्पन्नेन द्रव्येण होम इत्यर्थत प्राप्त क्रमोऽत्राभ्युपगन्तव्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह पाकेति । 'पाकाग्निहोत्रयोः'—'स' क्रम —'अर्थात्' प्रयोजनानुसारेण—अभ्युपगन्तव्य इति शेषः ॥ ३ ॥

(४) ५।१।३ अन्यत्रानियमो भवेत् ।

(१) क्रमविचार एव वर्तते ।

(२) दर्शपूर्णमासयोर्याजमाने कारणे प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्रा आ-  
म्नाता—'वसन्तमृतूना प्रीणामि ग्रीष्ममृतूना प्रीणामि' इत्यादयः ।

(३) तत्र सन्देहः—एतेषा मन्त्राणाम्प्रयोगे किं कोऽपि क्रमोऽभ्यु-  
पेय उत नास्ति क्रमनियम इति ।

(४) पूर्वपक्ष —वसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्तमन्त्राणामनेनैव क्रमै-  
र्णापलम्भात् द्वितीयाधिकरणन्यायेनात्रापि स एव क्रमोऽभ्युपेय इति ।

(५) सिद्धान्त —यद्यपि ऋतूना ऋतुमन्त्राणां चोक्त क्रमो लभ्य-  
ते कुत्रचित् शाखायाम् तथाऽप्यन्यत्र क्रमान्तरमभ्युपलभ्यते । तस्मा-  
दुक्त पाठक्रमो न नियामकत्वेन ग्राह्यः । नाप्यत्र पाकहोमवत् अर्थो  
नियामकः वसन्तमन्त्रेण यस्य कस्यापि प्रयाजस्यानुमन्त्रणेऽनुपपत्त्य  
भावात् । तस्मान्नास्ति क्रमनियमोऽत्रेति ।



एतदभिप्रेत्याह अन्यत्रेति । 'अन्यत्र' यत्र श्रुतिरर्थो वा नियामकत्वेन नैव लभ्यते तत्र—'अनियम' एव क्रमस्य—'भवेत्' इति सम्बन्धः ॥४॥

(५) ५।१।४-७ समिदादौ क्रमः पाठात्

(१) क्रमविचारो वर्तते । पाठक्रमन्यायोऽयम् ।

(२) दर्शपूर्णमासयोः प्रयाजां आम्नाता.—'समिधो यजति—तन्न नपात यजति—इडो यजति—ग्रहिर्यजति—स्वाहाकारं यजति' इति ।

(३) तत्र सन्देहः—किमत्र यागेषु नियम उतानियम इति ।

(४) पूर्वपक्षः—अत्र नोपलभ्यते काचित् क्रमनियामिका क्त्वाप्रत्ययादिवती श्रुतिः । न च पाश्चोक्तयोरिवात्र कश्चिदर्थः क्रमनियामकः । तस्मात् क्रमनियामकप्रमाणाभावात् पूर्वाधिकरणन्यायेन नात्र क्रमोऽभ्युपेय इति ।

(५) सिद्धान्तः—समिदादियागविधायकानि वाक्यानि क्रमेण पठितान्युपलभ्यन्ते । अनेन च पाठेन सूचितस्य क्रमस्यानुष्ठाने कश्चिदपि बाधको नास्ति । तस्मात् पाठानुरोधेनैवात्र यागेषु क्रमोऽभ्युपगन्तव्यः । तथा चादौ समिद्यागस्ततस्तनूनपातयाग इत्येव क्रमेणानुष्ठानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—समिदिति । 'समिदादौ' समिदादिप्रयाजानां विषये—'पाठान्' विधायकवाक्यानां क्रमेणोपलम्भात्—'क्रम' अभ्युपगन्तव्य इति शेषः ॥ ५ ॥

(६) ५।१।८-१२ प्रवृत्त्या पशुषु क्रमः ।

(१) क्रमविचार एव वर्तते । प्रवृत्तिक्रमन्यायोऽयम् ।

(२) वार्जपेये—'सप्तदश प्राजापत्यानालभेत' इति सप्तदश पशवो विहिता । एतेषु पशुषु उपाकरणनियोजनादयः सस्काराः कर्तव्याः ।

(३) तत्र सस्कारेषु सशयः—किं यः पशुमारभ्योपाकरणसस्कारं कृतस्तमेव पशुमारभ्य नियोजनादिसस्कारान्तरमपि कर्तव्यमुत क्रमनियमं विनैव येन केनापि प्रकारेण सर्वं सस्काराः कर्तव्या इति ।

(४) पूर्वपक्षः—'अस्मिन् पशौ सस्काराणामारम्भः अस्मिन् समाप्तिः' इत्येव रूपस्य क्रमस्य नियामकं श्रुत्यर्थपाठरूपं किमपि प्रमाणं नास्ति । तस्मान्नात्र क्रमनियमः । येन केनापि क्रमेण सस्काराः कर्तव्या—इति ।

(५) सिद्धान्तः—प्रथमसस्कार उपाकरणरूपो येन क्रमेण पशुषु कृतस्तेनैव क्रमेण सस्कारान्तराण्यपि कर्तव्यानि । श्रुत्यर्थपाठा इव प्रथ-

मप्रवृत्तिरपि क्रमस्य नियामिका भवति । प्रथमप्रवृत्त्या य क्रमो बुद्धौ स्थितस्तस्य परित्यागे नास्ति प्रमाणम् । तस्मादत्र प्रवृत्त्या क्रमो 'नियम्यत इति ।

एतदभिप्रेत्याह—प्रवृत्त्येति । पशुषु सप्तदशसु संस्क्रियमाणेषु—'क्रम' येन क्रमेण सस्कारा तेषु कर्तव्या स—'प्रवृत्त्या' प्रथमप्रवृत्त्या येन क्रमेण प्रथम सस्कारोऽनुष्ठितस्तदनुष्ठानेन 'नियम्यते' इति शेष ॥ ६ ॥

(७) ५।१।१३ ऋगागमे क्रमः स्थानात्

( १ ) क्रमोऽनुवर्तते ।

( २ ) 'एकविशेनातिरात्रेण प्रजाकाम याजयेत्—त्रिणवेनौजस्का-मम्—त्रयस्त्रिंशेन प्रतिष्ठाकामम्' इति भिन्नसङ्ख्यकानामृचाम्प्रयोगो विहित । संख्यापूरणं चागन्तुकानामृचाम्प्रवेशेन भवति ।

( ३ ) अत्रागन्तुकानामृचाम्प्रवेशे सशय —किमनियतक्रमा एव ऋच आगमयितव्या उत काण्डक्रमानुसारेणेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अनियमेनैवागम ऋचाम्—क्रमनियामकस्य पाठक्रमस्यात्राभावात् इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —ऋचो वेदे नियतस्थानेष्वाम्नाता । आम्नाये च यत्रासा स्थान तेनैव स्थानेन नियमनमासा भवति यदा एता आगमयिता भवन्ति । तथाच यां पूर्व समाम्नातास्ता पूर्व प्रयोक्तव्या इति ।

एतदभिप्रेत्याह—ऋगिति । 'ऋगागमे' 'ऋचा'मागन्तुकाना सरया-पूरकाणाम् 'आगमे' आगमयितव्ये—'स्थानात्' आम्नातस्थानेनैव—'क्रमः'—नियम्यत इति शेष ॥ ७ ॥

( ८ ) ५।१।१३ वर्णकान्तरण ]

साद्यस्के तु पशुक्रमः ।

( १ ) सप्तप्राधिकरण पाठक्रमाधिकरणेन पुनस्तुक्रमिव मन्यमानो वर्णकान्तरेणाधिकरणमिदं वर्णयामास स्थानक्रमस्यादाहरणान्तरं प्रदर्श्य ।

( २ ) साद्यस्के सोमयागविशेषे श्रूयते—'सह पशूनालभेत' इति । साद्यस्कस्य प्रकृतौ ज्योतिष्टोमे पश्वालम्भनेऽयं क्रमो भवति—अग्नीषोमीय पशुरौपवसथ्ये पूर्वदिन आलभ्यते, सवनीय पशु सुत्यादिने प्रातः सवने आश्विनग्रहादूर्ध्वमालभ्यते, अनुबन्ध्य पशु अवभृथादूर्ध्वमालभ्यते । साद्यस्के तु सर्वेषां सहैवालम्भनं विहितम् । तच्च सहालम्भनं सुत्यादिने आश्विनग्रहादूर्ध्वं सवनीयस्य स्थाने भवति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —एवम्प्राप्ते सुत्यादिने सहालम्भे केन क्रमेणा-

लभ्य कार्य — किम्पूर्वमग्नीषोमीयस्य ततः सवनीयस्यातादौ सवनीयस्य ततोऽग्नीषोमीयस्येति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — प्रकृतौ य क्रम स एव विकृतावप्यनुसर्तव्य । तथा चादौ अग्नीषोमीयस्यैवालम् इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — सुत्यादिने सवनीयस्य स्थानम् । तथा सति तस्मिन् दिने आश्विने गृहात्ते सवनीय एव बुद्धिस्थो भवति । एव च सुत्यादिने सवनीयस्य प्राथम्यं स्थानाच्चिश्चितम् । तस्य च परित्यागे नास्ति प्रमाणम् । तस्मात् सवनीयालम्भनानन्तरमेव स्वस्थानभ्रष्टयोर्-अग्नीषोमीयानुबन्ध्योः प्राप्तिरिति ।

एतदभिप्रेत्याह साद्यस्क इति । 'साद्यस्के' तन्नामके सोमयागविशेषे—'पशुकर्म' आलब्धव्याना पशूना 'क्रम'—'स्थानात्' भवतीति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ८ ॥

( ६ ) ५।१।१४ मुख्यक्रमात् क्रमोऽङ्गेषु

( १ ) क्रमविचारः ।

( २ ) चित्रायागे समाना हविषाम्मध्य चतुर्थपञ्चमे इत्यमाम्नायेते—'सारस्वतो भवत — एतद्वै दैत्य मिथुनम्' इति । सरस्वती च सरस्वाश्चति विगृह्य समासे कृते पुमान् स्त्रियेत्येकशेषात् 'सरस्वन्तौ' इति भवति । सरस्वन्तो देवते ययोस्तौ सारस्वतौ यागौ । तत्र प्रकृति-यागत प्राप्ता निर्वापादयः ।

( ३ ) तत्र सन्देहः — किं निर्वापादयः पूर्वं स्त्रीयागस्य वा पुंयागस्य वा यथारुचि कार्या अनियमेनात अस्ति कश्चित् क्रमनियम इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — नियमकारिण आलस्यभावादनियम इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — हौत्रकारण्डे स्त्रीदेवताया एव पूर्वं याज्यानुवाक्ये समाम्नाते पश्चात् पुंदेवताया । अनेन च याज्यानुवाक्याक्रमेण मुख्ययोर्यागयोर्मध्ये स्त्रीयागस्यैव प्राथम्यमवगम्यते । धर्माणां च मुख्य आगार्थत्वात् मुख्यक्रमेणैव क्रमो नियतो भवति । तस्मात् स्त्रीयागस्यैव धर्मा पूर्वं कार्या इत्येव क्रमो ग्राह्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह मुख्येति । 'अङ्गेषु' यागेषु—'क्रमः'—'मुख्यक्रमात्' मुख्यभूतथागे य क्रमस्तस्मादेव—तेनैव प्रमाणेन नियतो भवतीति भावः ॥ ९ ॥

( १० ) मुख्यात् पाठक्रमो बली ।

( १ ) क्रमे विचारविशेषो वर्तते क्रमनियामकबलावलम्बिवेकरूपः ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोरुपाशुयाजोऽग्नीषोमीयश्च भवत । उपाशुयाजे आज्य द्रव्यम्-अग्नीषोमीये च पुरोडाशो द्रव्यम् । पुरोडाशधर्मा, निर्वा पावघातादय पूर्वमाज्ञाता पश्चादाज्यधर्मा उत्पवनादय ।

( ३ ) तत्र सन्देह —अत्र धर्माणामनुष्ठाने क क्रम —आज्यधर्माणाम्पूर्वमनुष्ठानमुताग्नीषोमीयधर्माणामिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —धर्मक्रमस्य मुख्यक्रमाधीनत्वपूर्वाधिकरणे सिद्धम् । मुख्यौ चात्रोपाशुयाजाग्नीषोमीयौ । तयो क्रमानुसारेण चाज्यधर्मा एव पूर्वमनुष्ठेया पश्चादग्नीषोमीयधर्मा इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —पुरोडाशधर्मा पूर्व पठितास्तत आज्यधर्मा । पाठक्रमो हि वैदिकै शब्दै साक्षात् प्रतीयते । तस्मात् मुख्यक्रमात् पाठक्रम एव बलीयान् । तथाच मुख्यक्रमप्रयुक्तमाज्यधर्माणाम्प्राथम्य वा धित्वा पाठक्रमानुरोधेनाग्नीषोमीयधर्मा एव पूर्वमनुष्ठेया इति ।

एतदभिप्रेत्याह मुख्यादिति । 'मुख्यात्' मुख्यक्रमापेक्षया—'पाठक्रम' एव 'बली' बलीयान् प्रामाणिकतर इति भाव ॥ १० ॥

( ११ ) ५।१।१६ मन्त्रक्रमो बली तत्र

( १ ) क्रमप्रमाणबलाबलविचारो वर्तते ।

( २ ) अग्नीषोमीययाग तैत्तिरीयब्राह्मणस्य पञ्चमप्रपाठके आह्वात आग्नेययागस्तु षष्ठे प्रपाठके । मन्त्रकाण्डे तु पूर्वमाग्नेयमन्त्रा पठिता पश्चादग्नीषोमीयमन्त्रा ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किमत्र ब्राह्मणपाठानुसारेण पूर्वमग्नीषोमीयानुष्ठानमुत मन्त्रपाठानुसारेणाग्नेयस्येति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अनुष्ठानस्य ब्राह्मणोक्तविध्यधीनत्वात् ब्राह्मण पाठक्रम एव ग्राह्य । तस्मादग्नीषोमीयस्य प्रथममनुष्ठानमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —ब्राह्मणवाक्य कर्मविधानेन चरितार्थ क्रमस्य बोधनाय न तथा समर्थं यथा मन्त्रपाठ । मन्त्रै स्मृत्वैवानुष्ठानम्भवति । तस्माद् ब्राह्मणपाठक्रमापेक्षया मन्त्रपाठक्रम एव बलीयान् । तस्मादाग्नेयस्यैव प्रथममनुष्ठानम् इति ।

एतदभिप्रेत्याह मन्त्रेति । 'तत्र' मन्त्रब्राह्मणपाठविरोधे—'मन्त्रक्रम' मन्त्रपाठक्रमसूचित, क्रम —'बली' बलीयान्-ब्राह्मणपाठक्रमापेक्षयेति शेष ॥ ११ ॥

( १२ ) ५।१।१७-१८ बलवांश्चोदकक्रमः ।

( १ ) क्रमबलाबलविचारो वर्तते ।

( २ ) अस्त्यध्वरकृत्पा नामेष्टि । तत्र हविस्त्रय श्रूयते—‘आग्नाव-  
ष्णवमैकादशकपाल निर्वपेत्—सारस्वत्याज्यभागा स्यात्—बार्हस्प-  
त्यश्चरु’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —सारस्वतबार्हस्पत्ययागयो क क्रम । किं  
सारस्वतस्य धर्मा पूर्वमनुष्ठेया उत बार्हस्पत्यस्येति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —प्रयोगवाक्ये बार्हस्पत्ययागात् पूर्व सारस्वतयाग  
उपदिष्ट । अतः प्रयोगवचनानुसारेण यागरूपमुख्यक्रमेण धर्माणां  
क्रमोऽनुष्ठेयः नवमाधिकरणन्यायेन । तस्मात् सारस्वतधर्माणामेव पूर्व-  
मनुष्ठानमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —अनयोर्यागयोर्धर्मा पृथङ्नोपदिष्टाः । प्रकृतिया-  
गाक्ता एव ते चोदकप्रलात् प्राप्नुवन्ति । चोदकश्च सक्रमानेव पदार्थान-  
तिदिशति । प्रकृतौ चोपधधर्माणामेव पूर्वमनुष्ठानम् दशमाधिकरणन्या-  
यन । इह बार्हस्पत्ययाग एव चरुरूपमौष प्रद्व्यम् । तस्माद् बार्हस्पत्य-  
धर्माणामेव प्रथममनुष्ठानम् । किञ्च प्रथमभाविन आग्नेयस्य विकृतिर्वा  
र्हस्पत्यश्चरु, पश्चाद्भाविन उपाशुयागस्य विकृतिः सारस्वतमाज्यम् ।  
इतोऽपि बार्हस्पत्यधर्माणामेव प्रथममनुष्ठानमिति ॥

एतदभिप्रेत्याह बलवानिति । ‘चोदकक्रम’ प्रकृतिवद्विकृति कर्त-  
व्येति चोदकप्राप्त क्रम —‘च’ ‘बलवान्’ उलीयान्—प्रयोगवाक्यसूचि  
तक्रमापेक्षयेति शेष ॥ १२ ॥

( १३ ), ५ । ११६-२२ प्रातरादियज्ञिः सयः

( १ ) रुमत्रसङ्गेन तच्छेषभूतो विचारः प्रवर्तते । साकमेध्रीयन्याय ।

( २ ) ज्ञातुर्मास्येषु साकमेधनामके तृतीयं पर्वाणि निस्त्र इष्टय-  
श्रयन्ने—‘अग्नयेऽनीकवते प्रातरष्टाकपाल निर्वपेत्—मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यो  
माध्यन्दिन चरुम् मरुद्भ्यो गृहमेधिम्य सर्वासा दुग्धे सायमोदनम्’  
इति । एतासाञ्च प्रकृतिभूतो यागो दिनद्वयेन सम्पद्यते पवणि दिने  
यन्वाधानादिकम्—प्रतिपदि दिन च इष्टि ।

( ३ ) तत्रेष्टित्रयप्रिये सन्देह —किमेता अपि पकृतिप्रहितद्वय-या-  
पिन्य उतैकेनैव दिनेन सम्पादनीया इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —प्रकृतिवद्विकृतिरिति न्यायेन दिनद्वयव्यापित्वमेव ।  
तथाच पूर्वेषु प्रातरादिकालेषु तेषामुपक्रम उत्तरेषु स्तेष्वेव कालेषु य-  
थाक्रमन्तेषा समापनमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —‘अग्नयेऽनीकवतेऽष्टाकपाल निर्वपेदित्यत्र साङ्गा  
इष्टि प्रातः कालानवया विधीयते । प्रातःशब्दश्च एकमेव प्रातः काल-

मुद्दिश्य प्रयुज्यते । तस्मात् साङ्गाया एवेष्टेरेकस्मिन्नेव प्रातः काले विधानात् सद्यस्कालीनत्वमेव श्रौतम् । दिनद्वयव्यापित्वं च चोदकवाक्यबलात् कर्तव्यम् । श्रौतं च चोदकाद् बलीयः । तस्मादेकाहकालीना एव तिस्र इष्टय इति ।

एतदभिप्रेत्याह प्रातरिति । 'प्रातरादियजि'—'प्रातः' प्रातः कालीना इष्टिरादिर्यस्य स एवम्भूतो 'यजि' याग इष्टित्रयरूप—'सद्यः' सद्यस्कोल एकमात्रप्रातर्मध्यन्दिनसायन्यापी—न द्विनद्वयव्यापीति भावः ॥ १३ ॥

(१४) ५।१।२३-२४ तदाद्युत्कर्ष इष्यते

(१) क्रमे विचारविशेषः । तदादितदन्तन्यायः ।

(२) अग्नीषोमीयपशुसम्बन्धे श्रूयते 'तिष्ठन्तः पशुः प्रयजन्ति' इति । अस्य प्रकृतौ तु हविष्यासादिते पश्चात् प्रयाजा अनुष्ठीयन्ते । तदनुसारेण चाग्नीषोमीयेऽपि पशुसङ्गपनानन्तरमेव प्रयाजा प्राप्ताः । 'तिष्ठन्तः पशुः प्रयजन्ति' इत्युदाहृतवाक्ये तु जीवत्येव पशौ प्रयाजस्य कर्तव्यतोक्ताः । अयमेव च प्रयाजानां चोदकप्राप्तसमयात्प्रागेवानुष्ठानमिति तेषामपकर्ष इति कथ्यते ॥—एवमेव सवनीयपशुसम्बन्धे श्रूयते 'आग्निमास्तादूर्ध्वमनुयाजैश्चरन्ति' इति । तत्र चानुयाजानां चोदकप्राप्तसमयादनन्तरमनुष्ठानमिति तेषामुत्कर्ष इति कथ्यते ॥ एवं चात्र वाक्ययोः प्रयाजमात्रस्यापकर्षोऽनुयाजमात्रस्य चोत्कर्षः श्रुतः ॥

(३) तत्र सन्देहः—किमपकर्षे प्रयाजमात्रमपकृत्यते उत प्रयाजान्तः सकलोऽङ्गसमूहः—तथा च किमुत्कर्षेऽनुयाजमात्रमुत्कृत्यते उत अनुयाजादि सकलोऽङ्गसमूह इति ।

(४) पूर्वपक्षः—यथाश्रुतावेवोत्कर्षापकर्षावङ्गीकर्तव्यौ । सकलाङ्गकलापस्यापकर्षे उत्कर्षे वा महद् व्यवधानं मुख्यकालव्यत्ययश्च स्यात् । तस्मात् प्रधानमात्रस्यापकर्षोऽनुयाजमात्रस्य चोत्कर्ष इति ।

(५) सिद्धान्तः—प्रकृतौ पदार्थानुष्ठानक्रमः क्लृप्तः । सक्रमाणां नैव च पदार्थानां विकृतावतिदेशः । तथा सति एकमङ्गमपकृष्टमुत्कृष्टं वा सकलमेवाङ्गकलापमपकृत्येदुत्कृत्येच्च । तस्मात् प्रयाजान्तस्य सकलस्याङ्गकलापस्यापकर्षः अनुयाजादेश्च सकलस्याङ्गकलापस्योत्कर्ष इति ।

एतदभिप्रेत्याह—तदादीति । 'तदादे' अनुयाजादे सकलस्याङ्गकलापस्य—'उत्कर्षः'—नानुयाजमात्रस्येति । एवमेव प्रयाजान्तस्याङ्गकलापस्यापकर्ष इत्यपि बोध्यम् ॥ १४ ॥

(१५) ५।१।२५-२६ सौमिकोऽलङ्कृतेः पश्चात् ।

(१) प्रवृत्त्या क्रमनियमस्योदाहरणम् ।

(२) ज्योतिष्टोमेऽय पाठक्रम — पातरनुष्ठेयोऽनुवाक पठित — तदनन्तर पचरणीहोमादय पठिता — तत सवनीयादयश्चोदकगतनिर्घर्षपादियुक्ता — ततो बहिष्पवमानस्तोत्र पठितम् ॥ किन्तु अध्वर्युर्होत्रे पातरनुवाकपैष दत्त्वा तदानीमेव पतिपस्थाताम् प्रेष्यति 'सवनीयान् निर्घर्षस्व' इति । एव च पाठक्रमानुसारेण पचरणीहोमानन्तर पातोऽपि सवनीयपुरोडाशनिर्वाप प्रेषवशात्पातरनुवाककाले एवापकृष्यते । पुनश्च सवनीयपुरोडाशालङ्करणप्रपञ्चैव दृश्यते — 'बहिष्पवमाने स्तुते आह पुरोडाशानलङ्कृ' इति । एवं च पाठक्रमेण बहिष्पवमानस्तुत पागेव — पाप्त सवनीयपुरोडाशनिर्वाप सवनीयपुरोडाशालङ्करणपैषवशात् बहिष्पवमानस्तुतेरनन्तरमुत्कृष्यते ।

(३) तत्र सन्देह — मध्यवर्तिना सौमिकधर्माणा पचरणीहोमादीना ब्रीहिपोक्षणादीनामलङ्करणान्तानाम्पुरोडाशधर्माणा च क्रमे नियमोऽस्त्युतानियम इति ।

(४) पूर्वपक्ष — क्रमनियामकप्रमाणानामभावे नास्ति क्रमनियम इति ।

(५) सिद्धान्त — इष्टिपृक्तौ दर्शपूर्णमासे ज्ञातकाला निर्वापानन्तर कर्तव्या, पुरोडाशधर्मा । तत पवृत्यनुसारेण च निर्वापानन्तरमेव पोक्षणमारभ्यालङ्करणान्तास्सर्व एव पुरोडाशधर्मा अनुष्ठेया, तत सौमिका, पचरणीहोमादय इति ।

एतदभिप्रेत्याह सौमिक इति । 'सौमिक' पचरणीहोमादिसौमिकधर्मसमूहः — 'अलङ्कृतेः' अलङ्करणान्तपुरोडाशधर्मसमूहस्य — 'पश्चात्' अनन्तर कर्तव्य इत्येव क्रम इति भाव ॥ १५ ॥

(१६) ५।१।२७ यूष एवापकृष्यते

(१) क्रमप्रसङ्गेनापकर्षविचार । यूषकर्मन्याय चतुर्दशाधिकरणापवाद ।

(२) ज्योतिष्टोमे वैसर्जनहोमादनन्तर वह्नि प्रणेतव्य — सौमिकहविर्धाने, प्रणेतव्य — उभयप्रणयनानन्तर यूषच्छेद आज्ञातः । तदेतत् सर्वमौषवसथ्ये दिने पाप्तम् । किन्तु 'दीक्षासु यूष छिनत्ति' इत्यनेन यूषच्छेदन औषवसथ्यात्प्रागेव दीक्षादिनेऽपकृष्यते ।

(३) तत्र सन्देहः — किमत्र यूषमात्रस्यापकर्ष उत यूषच्छेदनान्तस्य सकलाङ्गकलापस्य अग्निसोमादिप्रणयनस्यापीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — चतुर्दशाधिकरणीय-प्रयाजन्यायेन यूपच्छेदना-  
न्तस्य सकृलाङ्गकलापस्योत्कर्ष इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — प्रयाजाधारादीनामेकमेव प्रधानम्प्रति अङ्गत्वेन  
एकप्रयोगान्त पातित्वादवश्यम्भावी परस्परक्रमनियम । ततश्चैकस्य प्र-  
याजस्यापकर्ष तदन्तस्य सर्वस्यापकर्षो युक्त । इह तु प्रणयन सोमयाग  
स्याङ्गम् यूपच्छेदन-तु अग्नीषोमीयपशोरङ्गमिति प्रणयनच्छेदनयोर्ना-  
स्त्यन्योन्य कोऽपि क्रम । एवं च एकस्यापकर्षेऽन्यस्याप्यपकर्षो ना-  
वश्यम्भावी । तस्माद् यथाश्रुतो यूपच्छेदनमात्रस्यापकर्ष इति ।

एतदभिप्रेत्याह यूप इति । 'यूप' 'एव' यूपच्छेदनमात्रम्—'अपकृ-  
ष्यते'—न तु अन्यदङ्गजात प्रणयनादिकमिति शेष ॥ १६ ॥

( १७ ) ५।१।२८ नात्कृष्यते पिष्टलेपि

( १ ) क्रमपसङ्गेनैवोत्कर्षविचार ।

( २ ) सवनीयपुरोडाशे पिष्टलेपहोमश्चोदकेन प्राप्त । दूषदुपल-  
कपालादिष्वाश्रिष्टो य पिष्टलेप तमुदधृत्य जुह्वा चतुर्गृहीते आज्ये  
प्रक्षिप्य दक्षिणाग्नौ जुहोति—स एव पिष्टलोपहोम ॥

( ३ ) तत्र सन्देह किमस्योत्कर्षो भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — प्रकृतावय होमोऽनुयाजोत्तरकालीन — अनुया-  
जाश्चाग्निमारुतादूर्ध्वमुत्कृष्टा भवन्ति चतुर्दशाधिकरणन्यायेन । तस्मा-  
त्पिष्टलेपहोमस्याप्युत्कर्ष इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — उत्कृष्यमाणा अनुयाजा पश्वर्था, न पुरोडा-  
शार्था । पिष्टलेपहोमश्च पुरोडाशार्थ — पशौ पिष्टाभावेन तद्धोमास्म-  
वात् । एव च प्रयोगभेदान्नस्य होमस्यानुयाजै सहोत्कर्ष इति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'पिष्टलेपि' यस्मिन् होमरूपे कर्मणि पिष्टलेपौ  
ह्रयते तत् कर्म—'न उत्कृष्यते' इति सम्बन्ध ॥ १७ ॥

( १८ ) ५।१।२९ वेदिरेवापकृष्यते

( १ ) अपकर्षविचार ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोर्हविरभिवासनोत्तरकाले वेदिराम्नाता । दर्शे  
तु तस्या अपकर्ष आम्नात — 'पूर्वेद्युरम्भावास्याया वेदि करोति' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — अपकृष्याणां वेदि किं ततोऽर्वाचीनान् सर्वान्  
अभिवासनान्तान् श्रद्धान्यपकर्षति उत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — वेदिना सम्बद्धत्वात् तेषामप्यपकर्ष इति ।

( ५ ) सिद्धान्त, — अप्रकृतिपूर्विकायाममावास्याया पूर्वेद्युर्वेदिकरण



मास्नातम् । उभयोरपि दर्शयागपौर्णमासीयागयो श्वाभूते हविरभिवास नमास्नातम् । किन्तु 'अमात्रास्यायामभिवासनानन्तरं वेदि कर्तव्या' इत्यस्मिन् क्रमे श्रुत्यादि किमपि प्रमाणान्नास्ति । तस्मादभिवासनान्तानां पदार्थानां नास्त्यपकर्ष इति ।

एतदभिप्रेत्याह—वेदिमिति । दर्शयागे 'वेदिरेव' वेदिमात्रं वचनबलात्—'अपकृष्यते'—न तु तदर्वाचीना अभिवासनान्ता पदार्था अपीति शेष ॥ १८ ॥

(१६) ५।१।३०-३४ उत्कर्षो नाग्निहोत्रस्य

( १ ) उत्कर्षविचार ।

( २ ) चातुर्मास्येषु साकमेव नामक पर्वणि सान्तपत्नीष्टि श्रूयते—'मरुद्भ्यः सान्तपत्नेभ्यो माध्यन्दिने चरुम्' इति । तां चेष्टिं समाप्य सायङ्कालेऽग्निहोत्रं ह्रियते ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—यदि कदाचिद्वैविकान्मानुषाढा प्रतिबन्धात् सान्तपत्नी इष्टिं सायसमयात् प्राक् न सम्पन्ना साय तदनन्तरे वा कालेऽपकृष्येत तदा किमग्निहोत्रस्यापि सायकालादुत्कर्षो भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—सान्तपत्नीष्ट्यग्निहोत्रयो पौर्वापर्ये सिद्धौ भवत्यत्र चाग्निहोत्रस्यापकर्षो यदि सायम्पर्यन्तमिष्टिर्न कृतेति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—ऽष्ट्यग्निहोत्रयो प्रयोगभेदान्नास्ति कोऽपि शास्त्रीय पौर्वापर्यभावः । इष्टिर्यदि स्वकालाद् भ्रष्टा तदा तस्या कालान्तरेऽनुष्ठानं भवतु । तावता अग्निहोत्रस्य तु स्वकालाद् भ्रष्टो न भविष्यति । तस्मादग्निहोत्रस्य नापकर्ष इति । -

एतदभिप्रेत्याह—उत्कर्ष इति । 'अग्निहोत्रस्य' 'उत्कर्ष' स्वकालादपनयनं 'न' भवतीति शेषः ॥ १९ ॥

(२०) ५।१।३५ षोडशयुत्कर्ष इष्यते

( १ ) उत्कर्षविचार ।

( २ ) ज्योतिष्टोमेऽस्ति षोडशिश्रहणम् । तस्य कालं सूर्यास्तसमय उक्तः—'समयाध्युषिते सूर्ये षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोति' इति । अन्वञ्चोक्त्येभ्यः परस्तात् षोडशिश्रहणं भवतीत्येतदप्यास्नातम्—'तम्पराञ्च मुक्थ्येभ्यो निगृह्णाति' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—यदि कारणवशात् सायसमयात्पूर्वमुक्थ्यग्रहो न सम्पन्न तदनन्तरकाले उत्कृष्येत—तर्हि किं तत्परास्ताद्भाविनं षोडशिनोऽप्युत्कर्षो भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पूर्वाधिकरणन्यायेन नोत्कर्ष षोडशिन । तस्या-  
पि स्वकालाद्भ्रशने नास्ति प्रमाणमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — पराञ्चमिति शब्देन स्पष्टमुक्त्येभ्य उत्तरकाल  
षोडशिग्रहाङ्गत्वेन विधीयते । ततश्च यदोक्त्यग्रह सम्पन्नो भविष्यति तदैव  
षोडशिग्रहस्य काल । तस्माद् भवत्येवास्योत्कर्ष इति ।

एतदभिप्रेत्याह—षोडशीति । 'षोडशिन' षोडशिग्रहस्य 'उत्कर्ष'  
स्वकालानन्तरमनुष्ठानम्—'इष्यते' इष्टतया स्वीक्रियते इत्यर्थ ॥२०॥

पादेऽस्मिन् विशतिन्याया

भाष्यकारेण वर्णिताः ॥

स्पष्टम् ।

इति पञ्चमस्य प्रथम ।

## अथ पञ्चमस्य द्वितीयः पादः ।

[ क्रमविशेषविचारात्मक ।

( १ ) ५।२।१-३ क्रमः पदार्थेषु गुणे पशूनाम्

( १ ) क्रमे विचारविशेष । पदार्थानुसमयन्याय ।

( २ ) वाजपेये सप्तदशसु प्राजापत्येषु पशुषु एकैकस्मिन् पशौ  
उपाकरणादिसंस्कारा प्रकृतियागात् प्रकृतिवद्विकृति कर्तव्येति चो-  
दकप्राप्ता ।

( ३ ) तत्र सन्देह — पशूना संस्कारानुष्ठाने क क्रम — किं प्रत्येक  
सर्वान् संस्कारान् समाप्य द्वितीये तेऽनुष्ठेया उत आदायुपकरणस-  
ंस्कार सवेषा कृत्वा ततो द्वितीयो नियोजनसंस्कार सर्वेषु कर्तव्य इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — साङ्गप्रधान कर्तव्यमिति स्थितम् । प्रयोगवत्-  
त्वेन सधर्माणां साहित्यमवगतम् । एव चैकस्य पशो सवे संस्कारा  
सहैवानुष्ठेया । एव द्वितीयादेरपि इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — साक्षाच्छ्रुत्या साहित्य पशूनामेव न तत्संस्का-  
राणाम् । एवं च पशूना साहित्यार्थं सर्वेषु एकैक उपाकरणादिसंस्कार  
कर्तव्य । तस्माद् सर्वेषां पशूनामुपाकरणं तत् सर्वेषां नियोजनम्—एव-  
मेव सर्वे संस्कारा कर्तव्या । अयमेवैकजातीयानुसमय पदार्थानुसम-  
यश्च कथ्यते । इति ।

अत्र त्वेकविधिगम्य एक पदार्थ । विधिश्च चतुस्सङ्ख्याविशिष्टानेव मुनीन् विदधाति । तस्मान्मुष्टिचतुष्टयमेक पदार्थ । एव च प्रथमे निर्वापे चत्वारो निरूप्यास्ततो द्वितीये इति ।

एतदभिप्रेयाह—मुष्टीति । 'मुष्ट्यादय' चत्वारो मुख्य [ आदि पदेन पुरोडाशस्याष्टकपालोपधानम् ] 'क्रमेण' आदौ प्रथमे ततो द्वितीये निर्वापे—'गणेश' चतुष्टयरूपेण, न त्वेकैकम्—'स्यु' निरूप्या भवेयु रिति सम्बन्ध ॥ ३ ॥

(४) ५।२।६ क्रमोऽवदानेऽधिगतः प्रदाने ।

(१) क्रमोऽनुवर्तते ।

(२) दर्शपूर्णमासयो श्रूयते—'द्विहविषोऽवद्यति' इति ।

(३) तत्र सन्देह —किमत्र द्विरवदानमेक पदार्थस्तथा च एक स्यात्तन्नेयस्य हविषोऽवदानद्वय कृत्वा तद्धोमात्प्रागवाग्नीषोमीयस्य द्विरवदानमुताग्रेयस्य द्विरवदान ततोऽस्य होमस्तदनन्तरमाग्नीषोमीयस्य द्विरवदान ततोऽस्य होम इति ।

(४) पूर्वपक्ष —उक्तैर्न विधिना विहितत्वाद् द्वित्वसङ्ख्याविशिष्ट मवदानमेक पदार्थ । तथा च एकैकस्मिन् हविषि तत्सम्प्रादनीयम्— तदनन्तरमुभयोर्होम इति ।

(५) सिद्धान्त —होमपर्यन्तमवदानमेक पदार्थ —होमार्थत्वा देवावदानस्य । अत एव 'चतुरवत्त जुहोति' इतिविधिना सावदानक एको होमो विहित । एवञ्च होमान्तस्यावदानस्यैकपदार्थत्वात् आग्ने यमवदाय हुत्वा च तत आग्नीषोमीयावदानमित्येव क्रमोऽभ्युपेय इति ।

एतदभिप्रेत्याह—अवदाने य 'क्रम' 'अधिगत' अभ्युपगन्तव्यत्वेन च 'प्रदाने' होमे समाप्ते सत्येव—सम्पन्नो भवतीत्यर्थ ॥ ४ ॥

(५) ५।२।७-६ क्रमः परिव्याणयुतेऽञ्जनादौ

(१) क्रमविचार ।

(२) ज्योतिशमेऽग्नीषोमीयपशौ यूपस्य—युतेनाञ्जनम् उच्छ्रणम् अन्नस्य समूहनम् यूपमूलस्य परिवृहणम् मध्ये रशतया परिव्याणम्— इत्येते पदार्था आम्नाता ।

(३) तत्र सन्देह —यत्र बहवो यूपस्तत्र किं अञ्जनादि प्रत्येकम् एकैकस्मिन् यूपे कर्तव्यमुत सर्वे एकस्मिन् यूपे समापनीयास्ततो द्वितीये इत्येव क्रम—इति ।

(४) पूर्वपक्ष —प्रथमाधिकरणन्यायेन प्रत्येकमञ्जनाद्येकैकस्मिन् यूपे कर्तव्यम् । तथा च प्रथमस्य यूपस्याञ्जनम्, ततो द्वितीययूपस्याञ्जनम्,

ततस्तृतीयस्य यूपस्य—ततः प्रथमयूपस्योच्छ्रयणम्, ततो द्वितीयस्यो-  
च्छ्रयणम्, ततस्तृतीयस्येत्येव क्रमोऽनुष्ठेय इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —‘अञ्जनादि परिव्याणान्त यजमानो यूप नावसृ-  
जेत्’ इति वचनेन यूपत्यागनिषेधस्तदेवोपपद्यते यदि अञ्जनमारभ्य  
परिव्याणान्ता सकला पदार्थास्तत्रैकस्मिन् यूपे सहैवानुष्ठिता भवन्ति ।  
अन्यथा यद्येकस्य यूपस्याञ्जनानन्तरं द्वितीयस्याञ्जनं कृतं स्यात्तर्हि  
प्रथमयूपस्योच्छ्रयणादे प्रागेव त्यागो भवेत् । तच्च वचनेन निषिद्धम् ।  
तस्मात् काण्डानुसमय एवात्र भवति—इति ।

एतदभिप्रेत्याह—क्रम इति । ‘परिव्याणेन’ ‘युते’ सहिते एव—‘अञ्ज-  
नादौ’ ‘क्रम’ स्यात् । अञ्जनमारभ्य परिव्याणपर्यन्तं सर्वं मिलित्वैव  
प्रथमेऽनुष्ठेयास्ततो द्वितीय इति भावः ॥ ५ ॥

( ६ ) ५।२।१०-१२ हव्यावदान युगपत्पशूनाम् ।

( १ ) क्रमविचारः ।

( २ ) अग्नीषोमीयपशौ श्रूयते—‘दैवतान्यवदाय न तावत्यव-  
होतव्यम्, सौविष्टकृतान्यवदाय न तावत्येव होतव्यम्, ऐडान्यवद्यति’  
इति । अत्र प्रधानदेवतार्थानि स्विष्टकृदर्थानि इडामक्षणार्थानीति  
त्रिविधान्यवदानानि ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—अत्र दैवताद्यवदानेषु किं काण्डानुसमय-  
उत पदार्थानुसमय—किं त्रीण्यप्यवदानानि सहैवैकैकस्मिन् पशौ  
समापनीयान्युत प्रथममवदानमेकस्मिन् ततो द्वितीये पुनर्द्वितीयमव-  
दानम्प्रथमे पशौ ततो द्वितीये—इति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—त्रिविधानामप्यवदानानां समूहः ( काण्ड )  
एकैकस्मिन् पशौ समापनीयः—काण्डानुसमयन्यायेनेति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—पदार्थानुसमय एवात्र युक्तः । दैवावदानरूप-  
मेकं पदार्थं सर्वेषु पशुषु समाप्य पश्चात्सर्वेषु सौविष्टकृतावदानम्—  
तच्च सर्वेषु कृत्वा पश्चात् सर्वैवेडावदानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—हव्यावदानमिति । ‘हव्यस्य हविष’ ‘अवदानम्’ दैवत-  
दिकम् ‘पशूनां’ सर्वेषु पशुषु—‘युगपत्’ मिलितमेव—‘अनुष्ठेयम्’ इति शेषः ॥ ६ ॥

( ७ ) ५।२।१३-१५ उलूखलैक्य बहुबीजयागे

( १ ) क्रमे विचारविशेषः ।

( २ ) राजसूये नानाबीजेष्विराज्जाता—‘अग्नये गृहपतये’ पुरोडाश-  
मष्टाकपालं निर्वपति कृष्णानां ब्रीह्याणाम्—सोमाय वनस्पतये श्यामाक-  
चरुम् इत्यादि । तत्रैषा बीजानामवघाताय—कृष्णाजिनाङ्गतरणम्, उप

युल्लखलस्यापनम्, तत्र बीजावाप, अवघात, सूर्पेण परावपण, कण्ठेभ्य-  
स्तरण्डुलानां विवेचनम्—इत्यादि पदार्था अतिदिष्टा ।

( ३ ) तत्र सन्देह — कृष्णाजिनास्तरणादय पदार्था किं सर्वेषु  
बीजेषु कर्तव्या उतैकस्मिन्नेवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — कृष्णाजिनास्तरणादय पृथग्विधिभिर्विहितत्वाद्  
भिन्ना एव पदार्था । ततो नानाबीजेषु सर्वमेव कृष्णाजिनास्तरणादि  
क्रमानुसमेतव्यम् । तथासति यावत्यो बीजजातयस्तावन्ति कृष्णाजिनानि  
तावन्ति चोलखलानीति ।

( ५ ) सिद्धान्त — 'व्रीहिनवहन्तीति' विधिनाऽवघातरूप एक एव  
पदार्थ । स ज्ञ कृष्णाजिनास्तरणादिस्तरण्डुलनिष्पत्त्यवसान । स च  
पदार्थ कृष्णव्रीहिविष्वनुष्ठाय पुन श्यामाकेष्वनुष्ठेय । तथा चानुक्रमेणैक-  
मेव कृष्णाजिनमेकमेव चोलखल सर्वेषु बीजेषूपयुज्यते । एवमुल्लखल  
कृष्णाजिनादीना नास्त्यनेकत्वमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—उल्लखलेति । 'बहुबीजयागे' 'उल्लखलस्य' 'ऐक्यम्  
एकत्वमेव, न नानात्वमित्याशय ॥ ७ ॥

( ८ ) ५।२।१६ भिन्न पशौ स्यात् पृथगाज्यपात्रम् ।

( १ ) पूर्वाधिकरणपवाद ।

( २ ) अग्नीषोमीयपशौ श्रूयते—'पृषदाज्येनानुयाजान् यजति' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किं प्रयाजानामनुयाजानां द्रव्याणि धारयितुमे  
कमेव पात्रमुतानेकमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — प्रकृतौ उभयार्थस्याज्यस्यैकयैवोपभृता धृतत्वेन  
विकृतावपि तदतिदेशात् एकमेव पात्रमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — प्रकृतिवत् केवल प्रयाजा आज्येन क्रियन्ते ।  
अनुयाजास्तु पृषदाज्येन यष्टव्या — 'पृषदाज्येनानुयाजान् यजति' इति  
विधानात् । पृषदाज्यं च दधिमिश्रमाज्यम् । न च शुद्धमिश्रयोरेकेन  
पात्रेण धारणं सम्भवति । तस्मात् पृषदाज्यपात्रमाज्यपात्रात् पृथगेवेति ।

एतदभिप्रेत्याह भिन्नमिति । 'पशौ' अग्नीषोमीयपशौ—'पृषदाज्य  
पात्रम्' अनुयाजे पृषदाज्यधारणपात्रम्—'भिन्नम्' आज्यपात्रात् पृथक्  
स्यादिति शेष ॥ ८ ॥

( ९ ) ५।२।१७-२० अन्ते भवेद्वैकृतमङ्गजातम्

( १ ) क्रमविचारविशेष — नारिष्टन्याय ।

( २ ) अग्न्यादिदेवतायुक्तीनां कृत्तिकादिनक्षत्राणां काम्या इष्टय

आप्नाता —‘अग्नये कृत्तिकाभ्य पुरोडाशमष्टाकपालम्’ इत्यादयः । तत्र प्रधानहोमा ‘अग्निर्न पातु कृत्तिका’ इत्यादि याज्यानुवाक्यापुरस्सरं ह्वयन्ते । उपहोमाश्चात्रैवमाप्नाता —‘सोऽत्र जुहोति अग्नये स्वाहा—कृत्तिकाभ्य स्वाहा—अम्वायै स्वाहा—दुलायै स्वाहा’ इति । अत्रैव च ‘दश ते तनवो यज्ञयज्ञिया’ इत्यादिभिर्मन्त्रैराज्याहुत्यात्मका नारिष्टहोमाश्च प्रकृतितत्त्वोदकप्राप्ता ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किं प्राकृता नारिष्टहोमा पूर्वमनुष्ठेया उत वैकृता उपहोमा—इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —‘अष्टाकपाल निर्वपेत्’ इति मुख्य कर्म—तत्सम्बद्धतया प्रथममुपहोमा उक्ता । ‘सोऽत्र जुहोतीति’ प्रत्यक्षपाठेन मुख्यकर्मसमनन्तरमुपहोमा एव प्राप्ता । यदि तस्मात् प्राक् नारिष्टहोमा क्रियेन् तर्हि तद्व्यवधानेनोक्त पाठकमो बाध्येत । तस्मात् पूर्वमुपहोमा कर्तव्यास्ततो नारिष्टहोमा—इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —नक्षत्रेष्टिरूपा विष्वातर्विधीयमाना स्वोपकारकमङ्गजातमपेक्षते—तदा प्राकृतमङ्गजात नारिष्टहोमादिक चोत्केन प्राप्नोति—प्रत्यक्षवाक्येन चोपहोमादिक वैकृतम् । अनयोर्द्वयोर्नारिष्टहोमादिक क्लृप्तोपकार प्रथम बुद्धावारोहति पश्चादुपहोमादिक तु क्लृप्तोपकारम् । तस्मात् प्रधानप्रत्यासत्त्या नारिष्टहोमा पूर्वमनुष्ठेया पश्चाच्चोपहोमा इति

एतदभिप्रेत्याह—अन्त इति । ‘वैकृतम्’ नक्षत्रेष्टिरूपविकृतिमात्रसम्बन्धि—‘अङ्गजातम्’ उपहोमादिकम्—‘अन्ते’ प्राकृतानां नारिष्टहोमानाम्पश्चात्—‘भवेत्’ अनुष्ठीयेत इति सम्बन्धः ॥ ९ ॥

( १० ) ५ २।२१ विदेवनादेर्विहितोऽपकर्षः

( १ ) क्रमविचार । पूर्वाधिकरणापवादः ।

( २ ) राजसंये श्रयते—‘अक्षैर्दीयति—शौन शेफमारथापयति—अभिषिच्यते’ इति । अभिषेचनीयमत्र विकृतियागः, तस्याङ्ग विदेवनादिकम्—अभिषेकस्तु प्रकृतिभूतराजसूयादागत प्राकृतमङ्गम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह —विदेवनाद्य किमभिषेकात् प्राक् उत पश्चादिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —विदेवनादीनां वैकृतत्वात् पूर्वाधिकरणन्यायेनान्तेऽनुष्ठेयता । तस्मादभिषेक एव प्रथममनुष्ठेयः पश्चाद्विदेवनाद्य—इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —‘माहेन्द्रस्तोत्र प्रत्यभिषिच्यते’ इति वाक्येन सोमयागस्य मध्येऽभिषेकोऽपकर्षः । अभिषेकात्पूर्वमावित्वा तु विदेवना-

दीना प्रत्यक्षपाठादेवावगतम् । तस्मात् माहेन्द्रस्तोत्रादपि पूर्वं विदेव  
नादीनामनुष्ठेयता । अतस्तेषामपकर्ष इति ।

एतदभिप्रेत्याह—विदेवनादेरिति । ‘विदेवनादे’ विदेवनशौन शेपा  
ख्यानरूपाङ्गजातस्य—‘अपकर्ष’ अभिषेकात्पूर्वभावित्व-‘विहित’ प्र  
त्यक्षपाठादवगत । तस्मात्प्रथम विदेवनादिक ततो माहेन्द्रस्तोत्र ततो  
ऽभिषेक इत्येव क्रमोऽभ्युपगन्तव्य इत्यर्थ ॥ १० ॥

(११) ५।२।२२ पश्चादुखासम्भरणाच्च दीक्षा

(१) क्रमविचार । अथमपि नवमाधिकरणस्यापरोऽपवाद ।

(२) अग्निचयने सावित्रहोम उखासम्भरणम् इष्टका पशुश्चेत्यादि  
आम्नातम्—तत्पश्चात्—‘अग्नावैष्णवमेकादशकपाल निर्वपेद्दीक्षिष्यमाण’  
इति दीक्षा विहिता ।

(३) तत्र सन्देह—सावित्रहोमादिकम्पूर्वमनुष्ठेयमुत दीक्षणीया  
दिकम् ।

(४) पूर्वपक्ष—नवमाधिकरणन्यायेन प्रकृतौ क्लृप्तोपकारक  
दीक्षणीयादिक शीघ्र बुद्धावारूढमत सावित्रहोमादिभ्य पूर्वमेव  
दीक्षणीयेति ।

(५) सिद्धान्त—प्रत्यक्षपाठेन हि क्रमोऽवगम्यते । तस्मात् यद्यपि  
दीक्षणीयादिक प्राकृत तथाऽप्यग्निचयनकारणं सावित्रहोमादिभ्य  
पश्चात् पठितम् । तस्मात्सावित्रहोमादिक प्रथम कृत्वा ततो दीक्षणीया  
दिकमनुष्ठेयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—पश्चादिति । ‘उखासम्भरणात्’ सावित्रहोमोखा  
सम्भरणादिकात्—‘पश्चात्’—‘दीक्षा’ दीक्षणीयादिकमङ्गजानमनुष्ठेय  
मित्यर्थ ॥ ११ ॥

(१२) ५।२।२३ रुक्म पर दीक्षितसंस्कृतेः स्यात् ।

(१) क्रमविचार—पूर्वाधिकरणापवाद ।

(२) अग्निचयने दीक्षणीयादेरूर्ध्व रुक्मधारणमाम्नातम् । उखा  
स्थितोऽग्नि शिख्येऽवस्थापित कण्ठे धार्यमाण उर प्रदेशे यथा न इहति  
तथा व्यवधायकत्वेन कण्ठे धृतस्य उरसि लम्बमानस्य सौवर्णस्याभरण-  
विशेषस्य रुक्मसङ्गकस्य धारण विहितम् । यजमानसंस्काराश्च वपना  
दय प्रकृतौ दीक्षणीयानन्तरभाविन इह चोदकेन प्राप्ता ।

(३) तत्र सन्देह—रुक्मधारण किं यजमानसंस्कारेभ्य प्रागुत  
पश्चादिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —यजमानसंस्कारेभ्य प्रागेव रुक्मधारणम् । आदौ दीक्षणीया ततो रुक्मधारणम् इति प्रत्यक्षपाठात् क्रम । दीक्षणीयानन्तरं च संस्काराणां चोदकात् प्राप्तम् । तस्मादादौ दीक्षा-ततो रुक्मधारणम्—ततः संस्कारा इत्येव क्रमः पूर्वाधिकरणन्यायेन सङ्गच्छते इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—यजमानसंस्काराणां दीक्षानन्तरं प्रकृतौ क्लृप्तोपकारम्—रुक्मधारणस्य तूपकारः पाठात् कर्तव्यः । तस्मात् संस्कारा एव पूर्वमनुष्ठीयेन् रुक्मधारणं च पश्चात् कर्तव्यमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—रुक्ममिति । ‘दीक्षितस्य’ यजमानस्य ‘संस्कृते’ संस्कारात्—‘परम्’ अनन्तरमेव—‘रुक्मम्’ रुक्मनामकसौवर्णाभरणधारणम्—‘स्यात्’ अनुष्ठीयेतेत्यर्थः ॥ १२ ॥

पादे द्वितीये खलु पञ्चमस्य

भाष्योदिता द्वादश नीतयः स्युः ॥

पञ्चमस्य द्वितीये पादे ‘भाष्येण’ ‘उदिता’ उक्ता ‘द्वादश’ ‘नीतयः’ न्यायाः अधिकरणानि ॥

इति पञ्चमस्य द्वितीयः ।

## अथ पञ्चमस्य तृतीयः पादः ।

( कर्मणा वृद्धवृद्धिचिचारात्मकः )

( १ ) ५।३।१-२ सङ्ख्या प्रयाजवृन्दस्य

( १ ) क्रमविचारप्रसङ्गेन कर्मणामावृत्त्यनावृत्ती चिन्त्येते ।

( २ ) अग्नीषोमीयपशौ श्रूयते—‘एकादश प्रयाजान् यजति’ इति । चोदकप्राप्ताश्च पञ्चैव प्रयाजाः ।

( ३ ) तत्र सम्यग्—किं पञ्चसु प्रयाजेषु प्रतिप्रयाजमेकादशत्वसङ्ख्या उत सर्वसम्पाद्येति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—प्रत्येकमेकादशत्वसङ्ख्यासम्बन्धः । प्रयाजानुद्दिश्य सङ्ख्यागुणे विहिते सति प्रतिप्रधानगुणस्य सम्बन्धोऽभ्युपेय एवेति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—न ह्येकैकस्य प्रयाजस्य स्वरूपे एकादशत्वसङ्ख्या सम्पादयितुं शक्या । नापि पञ्चप्रयाजसमुदायस्य स्वरूपे सा सम्भवति । तस्मात् विहिता एकादशत्वसङ्ख्या प्रयोगद्वारेणैव सम्पादनीया । प्रयोगस्थावर्तयितुं शक्यत्वात् । पञ्च प्रयाजान् द्विरावर्त्य दश भवन्ति चरमस्य च प्रयाजस्य पुनरावृत्त्या एकादशत्वसङ्ख्या सम्पाद्यते । त



स्मात् सर्वं प्रयाजसम्बद्धा एकादशत्वसङ्ख्येति ।

एतदभिप्रेत्याह सङ्ख्येति । 'सङ्ख्या' एकादशत्वरूपा—'प्रयाजानाम्' पञ्चानाम्,—'वृन्दस्य' समूहस्य—सम्बद्धा भवति—आवृत्त्येति भावः ॥ १ ॥

(२) ५।३।३ स्वस्थानेषूपसत्ततिः ।

( १ ) पूर्वाधिकरणापवादः ।

( २ ) अग्नौ श्रूयते—'षडुपसद' इति । चोदकप्राप्तास्तु तिस्र एवोपसदः ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—तिस्रणामुपसदा षट्सङ्ख्यापूरणं किं तासां सङ्कलितानामावृत्त्या भवति उत प्रत्येकमावृत्त्येति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—पूर्वाधिकरणन्यायेन तिस्रणां समूहस्यैवावृत्त्या षट्सङ्ख्या सम्पादनीयेति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—एव सति प्राकृतक्रमो बाध्येत । प्रकृतो हि दीक्षा नन्तरभाविनि दिने प्रथमोपसत्—ततोऽपरस्मिन् दिने द्वितीया—ततोऽप्यपरस्मिन् दिने तृतीया । एतासां समुदायस्यावृत्तिपक्षे उक्तदिनत्रया नन्तरमेव सा आवृत्तिः स्यात् । तथा च सति प्रथमायाश्चतुर्थीत्य द्वितीयाया पञ्चमत्व तृतीयायाश्च षष्ठत्वमापतति । तस्मात् प्राकृतक्रमरक्षायै परस्मिन् दिने प्रथमा क्रियते तस्मिन्नेव दिने सा आवर्तनीया । एवमेव द्वितीयाऽपि स्वकीय एव दिने आवर्तनीया—तृतीया च तृतीये दिने । इत्येव प्रत्येक स्वस्थाने एव तासांमावृत्तिः कार्येति ।

एतदभिप्रेत्याह स्वेति । 'उपसदा'—'तति' वृद्धिरावृत्त्येति भावः—'स्वस्थानेषु' प्रत्येक स्वस्वस्थाने—न तु समुदायरूपेण सर्वासामन्ते—कार्येति शेषः ॥ २ ॥

(३) ५।३।४-६ धार्याशब्दोदिता मध्ये

( १ ) आवृत्त्या सङ्ख्यापूरणं विविच्य अनावृत्त्या सङ्ख्यापूरणं विविच्यते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोः सामिधेनीषु श्रूयते—'एकविंशतिमनुब्रूयात् प्रतिष्ठाकामस्य' इति । पठितास्तु सामिधेन्य ऋच एकादशैव । तासां सङ्ख्याविबृद्धौ पञ्चदशत्वपूरणायाम्नातम् 'त्रि प्रथमामन्वाह' 'त्रिरुक्तमाम्' इति । एकविंशतित्वपूरणं च दशतयीपठितानां षण्णामृचामागमेन भवति ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—आगन्तूनामेतासामृचा समावेशः कुत्र भवति किमेकादशानामध्ये—उतान्ते इति ।

(४) पूर्वपक्ष — नारिष्टहोमन्यायेनागन्तूनामन्त एव निवेश उचित इति ।

(५) सिद्धान्त — धाय्यानाम्ना प्रसिद्धिरागन्तूना सामिधेनीनाम् । धाय्याना चान्तराले एव विधानम् — 'इय वै समिध्यमानवती असौ समिद्धवती यदन्तरा तद्धाय्या' इति । तस्मान्मध्य एव निवेश आगन्तूनामिति ।

एतदभिप्रेत्याह धाय्येति — 'धाय्या' इति 'शब्देन' नाम्ना 'उदिता' प्रसिद्धा मन्त्रा — 'मध्ये' एव पठनीया — नान्त इत्याशय ॥

मूलानुसारेणेत्यमेवाधिकरणस्वरूपम् । भाष्यकारेण न्यायमाला-कारेण च प्रकारान्तरेणापि व्याख्यातम् । तत्र च पूर्वपक्ष — 'धाय्याशब्देन ख्यातानामागन्तुकमन्त्राणा मध्ये निवेशस्य विधानात् सर्व एवागन्तुक मन्त्रा मध्य एव निवेशनीया इति । सिद्धान्तस्तु — येषाममन्त्राणा धाय्या-नाम्ना प्रसिद्धिस्तेषा निवेशो मध्ये स्यादपि — किन्तु सर्व एवागन्तुका न धाय्यानाम्ना प्रसिद्धा । तस्मात् धाय्यातिरिक्तानामागन्तूना पठित-सामिधेनीनाममध्ये निवेशने सामिधेनीपाठक्रमो बाध्यते — तत्र च न प्रमाण किमप्यस्ति । तस्मादागन्तूनामन्त एव निवेश इति ।

अस्मिन्नाधिकरणस्वरूपे — 'धाय्याशब्दोदिता एव मन्त्रा मध्ये निवे-शनीयास्तदतिरिक्तानान्वागन्तुकानामन्त एव निवेश' इति मूल-व्याख्या ॥ ३ ॥

(४) ५।३।७-१२ स्तोमेष्वगन्तुचोऽन्तः ।

(१) क्रमविचारे पूर्वाधिकरणपवाद ।

(२) सन्ति विवृद्धस्तोमका क्रतवः — 'एकविंशतिरात्रेण प्रजाकाम याजयेयुः — त्रिणवैनौजस्कामम् — त्रयस्त्रिंशेन प्रतिष्ठाकामम्' इति । प्रकृतौ बहिष्पवमानस्तोत्रे त्रय एव तृचा भवन्ति । त्रिषु तृचेषु नवैव ऋक्सङ्ख्या । एकविंशतिसङ्ख्यापूरणाय च चत्वारस्तृचा आगमयितव्या, त्रिणवसङ्ख्यापूरणाय षट् तृचा, त्रयस्त्रिंशसङ्ख्यापूरणाय चाष्टौ तृचा इति ।

(३) तत्र सन्देह — एतेषामागन्तूना तृचाना कुत्र निवेश — किन्नवा-नाममध्ये उत्तान्ते इति ।

(४) पूर्वपक्ष — आगन्तूनाममन्त्राणा प्राकृतमन्त्राणाम्मध्य एव निवेशः — द्वादशाहे तथैव दर्शनात् इति ।

(५) सिद्धान्त — द्वादशाहे तु मध्ये निवेशन श्रुतिविहितम् । अत-स्तद्बलेन क्लृप्तोऽपि प्राकृत क्रमो बाध्यते । इह तु नोपलभ्यते तादृशी

श्रुति । तस्मादत्र क्लृप्तं प्राकृत एव क्रमो गृह्यते । तथा चागन्तूनामन्ते एव निवेश इति ।

एतदभिप्रेत्याह स्तोमेष्विति । 'स्तोमेषु' 'आगन्तव ऋचं' 'अन्तत' प्राकृतानामन्ते एव—निविशन्ते इति शेष ॥ ४ ॥

(५) ५।३।१३-१४ गायत्र्यादावृगावापः ।

(१) पूर्वाधिकरणापवाद ।

(२) पूर्वोदाहृत एव विवृद्धस्तोमेऽतिरात्रे उत्तरयो पवमानयो विवृद्धसङ्ख्यापूरणं सामगानेन भवति ।

(३) तत्र सन्देह—आगम्यमानानि सामानि कुत्र निविशन्ते-सर्वासामृचामन्ते उत मध्ये इति ।

(४) पूर्वपक्ष—आगन्तूनामन्ते निवेश इति न्यायेनागन्तूना सामानान्ते निवेश इति ।

(५) सिद्धान्त—'त्राणि ह वा यज्ञस्योदराणि गायत्री बृहती अनुष्टुप् च—अत्र ह्येवावपन्ति अत एवोद्वपन्ति' इति विशेष आम्नायते । अस्यार्थ—स्तोमस्य विवृद्धये य साम्ना आवाप क्रियते यश्च तस्य ह्य सायोद्वाप क्रियते । तावुभावावापोद्वापौ गायत्र्यादिष्वेव नान्यत्रेति । द्वयोश्च पवमानयोर्द्वौवैव तृचौ गायत्रीलुन्दस्कौ—'उच्चा ते जातमन्धस' इत्येष माध्यन्दिनपवमानस्याद्य तृच, 'स्यादिष्टया' इत्येषामवपवमानस्य । तथा चानयोरेवावाप । तस्माच्च मध्ये एव सामागमो नान्त इति ।

एतदभिप्रेत्याह गायत्रीति । 'गायत्र्यादौ' गायत्रीबृहत्यनुष्टुप्सु एव, न तु त्रिष्टुब्जगत्यो—'ऋगावाप' ऋचि स्तोमस्य विवृद्धये साम्ना आगम—न त्वन्ते इत्याशय ॥ ५ ॥

(६) ५।३।१५-१६ यागाग्न्यर्था ग्रहेष्टकाः ।

(१) आवृत्तिविचार ।

(२) अनारभ्य श्रूयते—'योऽदाभ्यं गृहीत्वा सोमाय यजते' इति—अत्रादाभ्यग्रह आस्तात । तथा 'इष्टकाश्चित्रिणीरुपदधाति' इतीष्टका आस्ताता ।

(३) तत्र सन्देह—अत्रोक्तो ग्रह किं सवनशेष उत यागशेष—तथा च इष्टका किं चितिशेष उताग्निशेष इति ।

(४) पूर्वपक्ष—ग्रहाणां सवननिष्पादकत्वं प्रत्यक्षदृष्टम् । तथा चादाभ्यग्रहस्यापि सवनाङ्गत्वम् । एव च प्रतिसवनमदाभ्यग्रह आवर्तनीय । इष्टकाभिश्च प्रत्यक्षं चितिनिष्पत्तिर्दृश्यते । तथा च चित्रिणीनामपीष्टकानां

चित्यङ्गत्वम् । एव च प्रतिचयन चित्रिणीनामावृत्तिरिति ।

(५) सिद्धान्त — सोमयाग एव फलवत्, न सवनम् । तयैवाग्नि फलोपेतो न तु चिति । अनारभ्याधीतस्य च वाक्यात् फलवत्येव सम्बन्धो युक्तः । तस्मात् ग्रहस्य यागाङ्गत्वम् इष्टकानां चाग्न्यङ्गत्वम् । तथाच सति नैवावृत्तिरिति ।

एतदभिप्रेत्याह यागेति । 'ग्रहश्च' 'इष्टकाश्च'—यागश्च 'अग्निश्च' इति यागाग्नी-यागाग्नी अर्थौ प्रयोजनं यासां तास्तथाभूता —यागाग्निशेषभूता-भवन्ति । क्रमिकश्चात्रान्वयः । एव च ग्रहो यागार्थं यागस्य शेष — इष्टकाश्च अग्न्यर्थं अग्ने शेष इत्यर्थं पर्यवसितः ॥ ६ ॥

(७) ५।३। १७-१६ चित्रिण्याद्या मध्यचितौ

(१) पूर्वाधिकरणशेषो विचारः क्रमविचारसम्बद्धः ।

(२) 'चित्रिणीरुपपदधाती'ति श्रुतं चित्रिण्या उपधानम् ।

(३) तत्र सन्देहः — पञ्चानां चित्तीनां कस्यां चितिं चित्रिण्या उपधातव्या इति ।

(४) पूर्वपक्षः — अन्तिमाया पञ्चम्यामेव चित्तौ अनारभ्याधीतानां चित्रिणीनामुपधानं युक्तम् । तथा सति क्लृप्तक्रमाणां प्रकरणाधीतानां मिष्टकानामुपधानक्रमो न बाध्येत इति ।

(५) सिद्धान्तः — 'या का चे ब्राह्मणवतीमिष्टकामभिजानीयात् ता मध्यमार्यां चिता' इति वाक्येन — अनारभ्याधीतब्राह्मणविहितानां मिष्टकानां मध्यमचित्तावेवोपधानम् ।

एतदभिप्रेत्याह — चित्रिणीति । 'चित्रिणी' आद्या' प्रथमा यासां तास्तथाभूता इष्टका — 'मध्यचित्तौ' मध्यमायामेव चित्तौ — 'उपधातव्या' इति शेषः ॥ ७ ॥

(८) ५।३।२० ताः प्राग्लोकम्पृणान्वयात् ।

(१) क्रमविचारः — पूर्वाधिकरणसम्बद्धः ।

(२) 'चित्रिणीरुपपदधाति' इति श्रुतम् । तच्चोपधानं मध्यमाया चित्तौ भवतीति स्थितम्पूर्वाधिकरणे । मध्यमाया चित्तावुपहितानामध्ये ऽन्तिमा लोकम्पृणा नाम्नी इष्टका भवति ।

[ लोकम्पृण इति मन्त्रेणोपहितत्वात्तस्यास्तत्राम ]

(३) तत्र सन्देहः — यच्चित्रिण्या उपधानं तत् किं लोकम्पृणाया उपधानात् प्रागुत पश्चात् इति ।

(४) पूर्वपक्षः — आगन्तूनामन्ते निवेश इति न्यायेन प्राकरिकाया अन्तिमेष्टकाया लोकम्पृणाया उपधानस्यान्ते एवोपधानं चित्रिण्या भवतीति ।

(५) सिद्धान्त — अनुष्ठिते कर्मणि न्यूनत्वादोषसमाधानेन सूम्पू  
तिहेतुत्व लोकस्पृणोष्ठकाया ब्राह्मणवाक्येनावगतम्—‘यदेवास्योन यच्छ्रु  
द्रन्तदेतया पूरयति लोकस्पृण छिद्रं पृण’ इति । एव यद्येतस्या उपधाना  
दनन्तर चित्रिण्युपधान क्रियेत तर्हि चित्रिणीगत न्यूनत्वादिकमसमाहि  
तमेव स्यात् । तस्मात् लोकस्पृणात् पूर्वमेव चित्रिण्युपधानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—ता इति । ‘ता’ चित्रिणीष्टका —‘लोकस्पृणाया’  
तस्माभ्या इष्टकाया ‘अन्वयात्’ सम्बन्धात् उपधानात्—‘प्राक्’ एव—  
उपधातव्या इति शेष ॥ ८ ॥

(६) ५।३।२१-२५ सपावमानेऽग्नौ कर्म

(१) क्रमविचारो वर्तते ।

(२) अग्न्याधानाङ्गभूता पवमानेष्टय आधानद्वादशदिनानन्तर क्रिय  
न्ते—‘द्वादशसु रात्रिष्वनुनिवपेत्’ इति तस्या इष्टे कालविधानात् ।  
सन्ति च नियतानि कर्तव्यानि अग्निहोत्रादीनि ।

(३) तत्र सन्देह — किम्पवमानेष्टि समाप्य तदनन्तरमग्निहोत्रा  
दीनि कर्तव्यानि उत आहितमात्रेष्वग्निषु पवमानेष्टे प्रागपीति ।

(४) पूर्वपक्ष — आधानमात्रेण निष्पन्ने आहवनीयेऽग्नौ तस्मिन्ने  
वाग्निहोत्रादीनि कर्तव्यानि पवमानेष्टे प्रागपि—इति ।

(५) सिद्धान्त — पवमानेष्टिनिरपेक्षेणाधानमात्रेण न सम्पद्यते  
आहवनीयाग्नि । उक्तेष्टिमन्तरेणाप्याहवनीयो यदि निष्पद्येत तर्हि से  
ष्टिर्व्यर्था स्यात् । आधानमुपजीव्यैव च तस्मादुत्तरकाले पवमानेष्टिर्वि  
धीयते । अतः पवमानेष्टिसमुच्चितस्यैवाधानस्याहवनीयाग्न्युत्पादकत्वम् ।  
तस्मात् पवमानेष्टिभिः संस्कृते एवाग्नावग्निहोत्रादीन्यनुष्ठेयानीति ।

एतदभिप्रेत्याह सपावमान इति—‘सपावमाने’ पवमानेष्टिसंस्कृते  
एव—‘अग्नौ’ आहवनीये—‘कर्म’ अग्निहोत्रादि—अनुष्ठेयमिति शेष ॥ ९ ॥

(१०) ५।३।२६-२८ यागे पूर्णेऽग्निचिद्ब्रतम् ।

(१) क्रमविचार ।

(२) इदमाम्नायते—‘अग्निचिद् वर्षति—न धावेन्न स्त्रियमुपेयात्—  
तस्मादग्निचिता न पक्षिणोऽशितव्या’ इत्याद्यग्निचिद्ब्रत श्रूयते ।

(३) तत्र सन्देह — किमेतद् ब्रतमग्निचयनसमनन्तरमेवानुष्ठेय  
मुताचितेऽग्नौ यागागुष्ठानादनन्तरमिति ।

(४) पूर्वपक्ष — चितौ निष्पन्नाया तदनन्तर ब्रतानुष्ठाने विलम्बो  
नोचित । अतश्चयनान्तरमेव ब्रतमनुष्ठेय न क्रत्वनुष्ठानमपेक्षणीयम् ।

अग्निचित्पदेन चयनमात्रं व्रते निमित्तमुक्तम् । न हि सति निमित्ते नैमित्तिकस्य विलम्बो युज्यत इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — कृत्वनुष्ठानायैवाग्निश्चयनेन सस्क्रियते । न चान-  
पन्ने क्रतौ चयनसंस्कारः सफलो भवति । तस्मात् क्रतौ सम्पन्ने एव  
चयनस्य याथार्थ्येन सम्पत्तिः । तत्सम्पत्त्यनन्तरं चानुष्ठानुरग्निचित्वम्-  
ततश्चास्याग्निचिद्व्रते ऽधिकारः । तस्मात् कृत्वन्ते व्रतानुष्ठानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—याग इति । 'यागे पूर्णे' सम्पन्ने सति चयनसंस्क-  
रताम्नो यागानुष्ठानानन्तरमेव—'अग्निचिद्व्रतम्' अनुष्ठेयम्—न तु चय-  
नमात्रे सम्पन्ने इत्याशयः ॥ १० ॥

( ११ ) ५।३।२९-३१ दीक्षितो दीक्षणीयान्ते

( १ ) क्रमविचारः आवृत्तिपरकः ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—'अग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेत्  
दीक्षिष्यमाणः' इति । अन्यदपि श्रूयते—'दण्डेन दीक्षयति—मेखलया  
दीक्षयति—कृष्णाजिनेन दीक्षयति' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—किं सर्वैरेभिर्दीक्षणैर्दीक्षितत्वं सम्पद्यते—उ-  
त केवलमेकत्रैव दीक्षणीयेष्येति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—इष्टिवद् दण्डादीनामपि दीक्षितत्वसाधनत्वाभि-  
धानात् सर्वाणि दीक्षणांन्यपेक्षितानि दीक्षितत्वसिद्धाविति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—पुरुषसंस्कारकत्वेनैव दीक्षायाः उपयोगः । संस्का-  
रकत्वं च कर्मरूपाया इष्टेरेव, न द्रव्यरूपाणां दण्डादीनाम् । तस्माद्दी-  
क्षासिद्धिर्दीक्षामात्रेणेति ।

एतदभिप्रेत्याह दीक्षित इति । 'दीक्षणीयायाः' इष्टे—'अन्ते' सम्प-  
त्तौ—'दीक्षितः' दीक्षासंस्कारयुक्तो भवति पुरुष इति ॥ ११ ॥

( १२ ) ५।३।३२-३६ काम्ययागेषु न क्रमः ।

( १ ) क्रमविचारः ।

( २ ) भवन्ति काम्या यागा—'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्  
प्रजाकामः' इत्यादयः ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—किं येन क्रमेणाग्नातास्तेनैव क्रमेणानुष्ठेया  
काम्ययागा उत नियतक्रमविनैवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—पाठस्य क्रमहेतुत्वात् पठितक्रमेणैवानुष्ठानमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—एकप्रयोगाभावेन परस्परकाण्डक्षाभावात् यदा  
काम उपपद्यते तदैव काम्यस्य कर्मणोऽनुष्ठानम् । नाश्रयणीयस्तत्र कोऽपि  
क्रम इति ।

एतदभिप्रेत्याह कास्येति । 'कास्ययागेषु' 'क्रम' अनुष्ठानपौर्णपर्य  
रूप 'न' आश्रयणीय इति शेष ॥ १२ ॥

( १३ ) ५।३।३७-३८ अग्निष्टोमस्त्वेतदर्थः

( १ ) क्रमविचार ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे श्रयते—'एष वाव प्रथमो यज्ञाना यज्ज्योतिष्टोम  
य एतेनानिष्ठाऽथान्येन यजेत गर्तपत्यमेव हि तज्जीर्येत प्रवा मीयेत' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह—'य एतेन' इत्यनेन किं कर्म उच्यते—किं सर्व  
सस्थो ज्योतिष्टोम सकल उत तस्याग्निष्टोमसस्थामात्रमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—सप्ताना ज्योतिष्टोमसस्थाना कामप्येकामनुपन्य  
स्य 'एतेन' इति सामान्यनिर्देशात् प्रकृत पूर्ववाक्योक्त सकल सर्वस  
स्थोपेतो ज्योतिष्टोम परामृश्यते । तस्मात् सकल ज्योतिष्टोम समाप्यैव  
यागान्तरमनुष्ठेयमिति वाक्यार्थ—इति ।

( ५ ) सिद्धान्त—अग्निष्टोमसस्थैव ज्योतिष्टोमस्य नैज रूपम् ।  
अग्निष्टोमस्यैव नित्यत्वात् । अतः प्रकरणमेतदग्निष्टोमस्यैव । तस्माच्च  
एतच्छब्देन स एव परामृश्यते । सस्थान्तराणां काम्यत्वेनानित्यता । त  
तश्च न तद्रूपत्वं नित्यस्य ज्योतिष्टोमस्य युक्तम् । तस्मात् अग्निष्टोम एव  
तत् कर्म यस्यानुष्ठानं विना यागान्तरं नानुष्ठेयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह अग्निष्टोम इति । 'एतदर्थ' एतेनेत्यत्र एतच्छब्देन  
परामृष्ट—'अग्निष्टोम' एव, न तु ज्योतिष्टोमस्य सस्थान्तराणी  
त्याशय ॥ १३ ॥

( १४ ) ५।३।३९-४२ ऽथान्येनेत्यखिलः क्रतुः ।

( १ ) पूर्वधिकरणशेष एव विचार ।

( २ ) पूर्वोदाहृतमेवात्रापि विषयवाक्यम् ।

( ३ ) सन्देहान्तरं च तत्र—अथान्येनेत्यत्रान्यपदेन किं परामृश्यते  
किं ज्योतिष्टोमस्य सस्थान्तराणि उत तानि सोमविकृतिरूपाण्य  
न्यानि चेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—सन्निधानात् अग्निष्टोमसजातीयानां सस्थान्तराणां  
मेवात्र परामर्श इति ।

( ५ ) सिद्धान्त—'यज्ञाना प्रथमो यज्ञ' इति सर्वयज्ञप्रतियोगिक  
प्राथम्यमुक्तम् । तस्मात् अन्येनेतिपदेन सर्वे एव यागा—ज्योतिष्टोम  
स्य सस्थान्तराणि एकाहाहीनसत्ररूपा सोमविकृतियागाश्च—परामृ-  
श्यन्ते । तस्मादग्निष्टोमानुष्ठानान्तरमेव सर्व एतेऽनुष्ठेया इति ।

अथ च नियम सोमविकृतिष्वेव नेष्टिपशरूपयागान्तरेषु इति लिङ्गा  
द् गम्यते—‘प्रजापतिर्वा अग्निष्टोम स उत्तरानेकाहान्तानसृजत्—तेभ्य  
स्वा तनु प्रायच्छत्’ इत्यनेन एकाहादीनामेवाग्निष्टोमप्रभवत्वं सूच्यते  
‘न यागान्तराणाम् ।

एतदभिप्रेत्याह—अथेति । ‘अथान्येनेति’ शब्देन—‘अखिल क्रतु —  
सर्व एव यागा ज्योतिष्टोमस्य षट् संस्था सोमविकृतयश्च—परामृश्यन्ते  
इति शेष ॥ १४ ॥

( १५ ) ५।३।४३-४४ स चैकानेकशस्तोमः

( १ ) पूर्वविचारशेष ।

( २ ) पूर्वोदाहृतमेवात्रापि विषयवाक्यम् ।

( ३ ) सन्देहस्तु—अन्येनेत्यय शब्द किमेकस्तोमके क्रतौ वर्तते उत  
एकस्तोमके बहुस्तोमके चेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —एकस्तोमके एव क्रतौ वर्ततेऽत्रान्यशब्द—अर्थवा  
देन तथैवावगमात् । अग्निष्टोमे यस्त्रिवृत् स्तोम स त यज्ञ दौपयतीत्यर्थ  
वादवाक्ये उपलभ्यते । तस्मादर्थवादात् एकस्तोमकानामेव बुद्धौ प्रा-  
प्ति । अत एकस्तोमका एवान्यशब्देनोच्यन्ते इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —अग्निष्टोमप्रतियोगिकतया एकस्तोमबहुस्तोम-  
साधारण्येन श्रूयमाणस्यान्यशब्दस्य सङ्कोचे हेत्वभावात् सर्वविषयो  
ऽन्यशब्द इति ।

एतदभिप्रेत्याह स चेति । ‘एकानेकशस्तोम’ एकस्तोमक अनेक  
स्तोमक ‘च’ क्रतु —‘स’ अन्येनेत्यत्रान्यशब्देन परामृष्ट इत्यर्थः ॥१५॥

न्यायाः पञ्चदशरिताः ।

‘पञ्चदश’ ‘न्याया’ अधिकरणानि—‘रिता’ उक्ता —भाष्यकारे  
णास्मिन् पादे इति शेष ॥

इति पञ्चमस्य तृतीय ।



## अथ पञ्चमस्य चतुर्थः पादः ।

[क्रमनियामकश्रुत्यादिवलाबलविचारात्मकः]

(१) ५।४।१ श्रुत्यर्थाभ्याम्पाठबाध क्रमेषु

( १ ) क्रमबोधकेषु बलाबलविचारः ।

( २ ) (अ)ज्योतिष्टोमे ऐन्द्रवायवादिग्रहेषु आश्विनग्रहस्तृतीयस्थाने पठितः । तस्यैव दशमस्थानत्वं श्रुत्याऽऽम्नायते—‘आश्विनो दशमो गृह्यते’ इति ॥ (क) अग्निहोत्रानन्तरं यवागूपाकः पठितः अर्थवशात्तु अग्निहोत्रात्प्रागेव स प्राप्तः ॥

( ३ ) उभयथात्र सन्देहः—(अ) आश्विनग्रहस्य कः क्रमोऽभ्युपेयः—किं पाठानुरोधात् तृतीयस्थानं तस्योत श्रुत्यनुरोधाद् दशममिति । (क) तथैव यवागूपाकस्य कः क्रमः—किं पाठवशात् सोऽग्निहोत्रानन्तरं कर्तव्यं उतार्थवशात् तस्मात् प्रागिति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—श्रुतिपाठयोरर्थपाठयोश्च समबलत्वादुभयत्रात्र चिह्नको विकल्प इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—(अ)पाठो न क्रममभिधत्ते—केवलमन्यथानुपपत्त्या क्रमस्य कल्पने मूलं भवति । श्रुतिस्तु साक्षात् क्रममभिधत्ते । तस्मात् श्रुतिः पाठाद् बलवत्तरा । एव चाश्विनस्य दशममेव स्थानमिति । (क)अर्थपाठयोर्मध्येऽपि पाठः क्रमं कल्पयन् वस्तुसामर्थ्यमनुसरन्नेव तं कल्पयति । असमर्थं तु यवागूपाकात् पूर्वमग्निहात्रमनुष्ठानम्—द्रव्यमन्तरेण होमस्यासंभवात् । एव चार्थपाठयोरुपजीव्योपजीवकभावे सिद्धेऽर्थः पाठाद् बलवत्तरः । तस्मात् यवागूपाकादनन्तरमेवाग्निहोत्रानुष्ठानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह श्रुतीति । ‘क्रमेषु’ क्रमविषयकसंशये—‘श्रुत्यर्थाभ्याम्’ श्रुत्या अर्थेन च—‘पाठस्य’ ‘बाधः’—तथा पाठापेक्षया श्रुतेरर्थस्य च प्राबल्यमित्याशयः ॥ १ ॥

(२) ५।४।२-४ ग्राह्यमुख्यं न प्रवृत्तिर्विरोधे ।

( १ ) बलाबलविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोः पूर्वं दध्नो धर्मा आम्नाता अवदानादयः पञ्चादाग्नेयस्य । प्रदानं तु आग्नेयस्यैव पूर्वम् ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—किं प्रावृत्तिकेन क्रमेण पूर्वं दध्नोऽवदानादयः उत मुख्यक्रमेणाग्नेयस्यैव पूर्वमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — प्रावृत्तिकक्रमेणावदानादिर्दध्न एव पूर्वं कार्यं इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — यस्य प्रदानं पूर्वं तस्यैवावदानादि पूर्वं कार्यं । फलप्रत्यासत्त्या प्रदानमेव मुख्यम् अवदानादिकं तु तदङ्गम् । तथा-सति मुख्यस्य क्रममनुसृत्यावदानादिकमप्याग्नेये पूर्वं कर्तव्यम् । मुख्यक्रमो हि प्रावृत्तिकक्रमाद्बलवत्तरः । अन्यथाकरणे तु दध्नोऽवदानादि-तत आग्नेयस्यावदानादि-तत आग्नेयस्य प्रदानम्-ततो दध्नः प्रदानम् इति क्रमः स्यात् । तत्र च दध्नोऽवदानादेः प्रदानस्य च मध्ये महद्बन्धवधानं स्यात् । मुख्यक्रमश्रयणे तु आग्नेयस्यावदानादि-तत-स्तस्य प्रदानम्-ततो दध्नोऽवदानादि-ततो दध्नः प्रदानमिति न कस्याप्यङ्गविप्रकर्षः इति ।

एतदभिप्रेत्याह-ब्राह्ममिति । 'विरोधे' प्रवृत्तिक्रममुख्यक्रमयोर्विरोधे 'मुख्यम्' मुख्यक्रम एव- 'ब्राह्मम्' बलवत्तरत्वेनेति शेषः ॥ २ ॥

( ३ ) ५।४।५-६ इष्टिं कृत्वा सोमयागन्नं कुर्यात्

( ४ ) ५।४।५-६ यद्वा सोमः पूर्वमिष्टेरपि स्यात् ।

( १ ) क्रमविरोधविचारः ।

( २ ) स्तोत्रं दर्शपूर्णमासौ इष्टियागौ-अस्ति च ज्योतिष्टोम सोमयागः ।

( ३ ) तत्र सन्देहः — इष्टिसोमयागयोः कः क्रमः — किमादाविष्टिः पश्चात् सोम उत व्यत्यय इति

( ४ ) पूर्वपक्षः — 'दर्शपूर्णमासाविष्ट्या सोमेन यजेत' इति स्पष्टं श्रुत्या क्रमस्याभिधानात् प्रथममिष्टिः कार्या ततः सोमयाग इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः — 'सोमेन यद्यमाणोऽग्नीनादधीत' इति श्रुतिः अन्यथाधानादनन्तरमेव सोमयागस्य कर्तव्यत्ववक्तिः । अत्र च यदानन्तर्यमुच्यते तद् व्यवधानं न सहते । 'दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्या सोमेन यजेत' इत्यत्र तु पौर्वापर्यमात्रमुक्तं नानन्तर्यम् । तस्मात् सोमेनेति श्रुतिबलात् सोमयागस्यैव पूर्वमनुष्ठानम् नेष्टेरिति ।

एतदभिप्रेत्याह इष्टिमिति । 'इष्टि' इष्टियाग 'कृत्वा' तत्पश्चात् 'सोमयाग' — 'न' कुर्यात् — अपि त्रिष्टेः प्रागेवेत्याशयः ॥ ३ ॥

उभयोरपि क्रमयोः श्रौतत्वेन नात्र बलाबलमिति मनसि कृत्वा पूर्वोपासे सिद्धान्ते ऽरुचि प्रदर्शयन् सिद्धान्तस्य स्वरूपान्तरमाह यद्वेति । 'यद्वा' अथवा — इष्टे' पूर्वम्' 'अपि' — न तु पश्चादेव — सोम 'स्यात्' । दर्शपूर्णमासाविष्ट्वेत्यनेन इष्टे प्रागनुष्ठेयता सोमेन यद्य

माण इत्यनन च सोमस्य प्रागनुष्ठयतां—इत्युभयो क्रमयोर्विकल्प एवा  
स्थेय । दर्शपूर्णमासाविष्ट्वेति वाक्येनेष्टेरनन्तरमेव सोमस्य कर्तव्यत्व  
मुच्यते—किन्तु तदेव नैकान्तिकम्—वाक्यान्तरेण इष्टे पूर्वमपि सोम  
कर्तव्यो भवत्येव । अत ऐच्छिको विकल्प एवात्रेति ॥ ४ ॥

(५) ५४।१०-१४ एतो पक्षौ क्षत्रविड्ब्राह्मणानाम्

(१) पूर्वाधिकरणशेष ।

(२) पूर्वोदाहृत एवात्र विषय । इष्टिसोमयो क्रमे ऽनियम इति  
स्थितम् ।

(३) तत्र सन्देहान्तरम्—इष्टिसोमयो क्रमे योऽनियम उक्त स  
किं त्रयाणामपि वर्णानामुत द्वयोरेव न ब्राह्मणस्येति ।

(४) पूर्वपक्ष —विद्वत्त्रिययोरेवानियम । ब्राह्मणस्य तु सोमपूर्व  
त्वमेव नियतम्, उत्कषप्रवणात्—‘आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया—स  
सोमेनेष्टाऽग्नीषोमीयो भवति—यदेवाद पौर्णमास हवि तत् तर्ह्यनुनि-  
र्वपेत्—तर्ह्युभयदेवतो भवति’ इति । अत्र दर्शपूर्णमासयो सोमादूर्ध्व  
मुत्कर्ष उच्यते ब्राह्मणविषये । तस्माद् ब्राह्मणस्य सोमपूर्वत्वमेव  
नियतमिति ।

(५) सिद्धान्त —आग्नेय इत्यादिवाक्ये दर्शपूर्णमासयागो नोक्तो  
नाम्ना । एकमेव हविरत्रोच्यते—तेन चाग्नीषोमीयपुरोडाशमात्रे ब्राह्म  
णस्य सोमपूर्वत्वमनेन वाक्येनोच्यते । तस्मात्पूर्वाधिकरणन्यायस्य वर्ण  
त्रयसाधारण्ये स्थिते वर्णत्रयेऽप्यनियम एव क्रमस्येति ।

एतदभिप्रेत्याह—‘इतो पक्षौ’ यौ द्वौ सिद्धान्तौ पूर्वाधिकरणे उक्तौ  
तौ—‘क्षत्रविड्ब्राह्मणानाम्’ वैश्यक्षत्रियब्राह्मणाना त्रयाणामेव वर्णा-  
नाम्—न विद्वत्त्रिययोरेव । वृत्तानुरोधात् जात्यभिधाने क्रमव्य  
तिक्रमः ॥ ५ ॥

(६) ५।४।१५-१८ सोमाधाने सोमकालस्य बाधः ।

(१) क्रमे विचारविशेष ।

(२) ‘य सोमेन यद्यमाणोऽग्निमादधीत नर्तुं स प्रतीक्षेत न नक्ष-  
त्रम्’ इति ऋतुनक्षत्रपरीक्षण निषिद्धम् ।

(३) तत्र सन्देह —अथ कालविशेषबाध किमाधानस्योत  
सोमस्येति ।

(४) पूर्वपक्ष —आधानस्यैव कालबाध । आधानकालविधौवेवो-  
क्तम् ‘वसन्तेऽग्नीनादधीत—कृत्तिकास्वस्निमादधीत’ इति ऋतुनक्षत्रावेक्ष-

एम् । अङ्गञ्चाधानम् । तस्मात् तस्यैव कालबाधो न्याय्यो न तु प्रधानस्य सोमस्येति ।

( ५ ) सिद्धान्त —सोमसम्बन्धिन आधानस्य विषये वसन्तकृत्ति-  
‘काद्युपलक्षित काल शास्त्रान्तरेणैव बाधितपूर्व । ‘यदैवैन यज्ञमुपनमेद  
थादधीत’ इति सोमयागचिकीर्षया आधानस्य काल उपदिष्ट ऋतुन  
क्षत्रादिनिरपेक्ष एव । तस्मादुद्गाह्यतवाक्ये य ऋतुनक्षत्रपरीक्षणनिषेध  
स्तेन सोमकालस्यैव बाध इति ।

एतदभिप्रेत्याह—सोमाधान इति । ‘सोमाधाने’ सोमयागचिकीर्षया  
य आधान क्रियते तस्मिन्—यद्ऋतुनक्षत्रेण निषेधनं तेन—‘सोमकालस्य’  
एव ‘बाध’ न त्वाधानस्येति शेष ॥ ६ ॥

( ७ ) ५।४।१६-२१ उत्क्रष्टव्यः स्यात् पुरोडाश एव

( १ ) क्रमविशेषविचार ।

( २ ) ‘आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया’ इत्यादिना चतुर्थाधिकरणविचार-  
प्रस्तावे उद्धृतेन वाक्येन अग्नीषोमीयस्य पुरोडाशस्य सोमादूर्ध्वमुत्कर्ष  
उक्त । भवति चाग्नीषोमीयस्याज्यमपि ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किम्पुरोडाशवदाज्यस्याप्युत्कर्षो न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अग्नीषोमीयसम्बन्धस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् पु-  
रोडाशवदाज्यस्याप्युत्कर्ष इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —मिश्रदेवत हि आज्यम्—अग्नीषोमीय प्राजापत्य  
वैष्णव चेति । पुरोडाशस्त्वेकदेवत अग्नीषोमीय एव । उदाहृते च  
वाक्ये एकदेवतस्याभिधानम् । यथा चैन्द्राग्र द्रव्य न शक्यते आग्नेयमि-  
ति वदितुं तथा त्रिदेवतमाज्यं न शक्यते अग्नीषोमीयमिति वदितुम् ।  
तस्मादुक्तवाक्येन सोमात् प्राक् अग्नीषोमीयस्यैवाकर्तव्यत्वमुच्यते—  
अग्नीषोमीयत्वं च पुरोडाशस्यैव । आज्येन प्राजापते विष्णोर्वा यजनं न  
निषिध्यते । तस्मात् सोमात् प्रागप्याज्येन यजितुं शक्यम् । ततश्च  
नाज्यस्य सोमादूर्ध्वमुत्कर्ष इति ।

एतदभिप्रेत्याह—उत्क्रष्टव्य इति । अग्नीषोमीय ‘पुरोडाश’ एव  
‘उत्क्रष्टव्य’—सोमादूर्ध्वमिति शेष.—न त्वाज्यमप्युत्क्रष्टव्यमिति भावः ॥ ७ ॥

( ८ ) ५।४।२२-२४ द्वैदिन्यं स्यान्नेष्टिधर्मो विकारे ।

( १ ) क्रमे विचारविशेष —

( २ ) ‘ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्’ ‘सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मव-  
र्चसक्रामे’ इति इष्टिविकारा । इष्टिप्रकृतिश्च ब्रह्मकाल—‘पूर्वेद्युरग्नि-  
गृह्णाति उत्तरमहर्देवता यजेत’ इति स्पष्टविधानात् ।

(३) तत्र सन्देह — किं वैकृतानामपि द्वयहकालतोतैकाहकालतेति ।

(४) पूर्वपक्ष — प्रकृतौ द्वयहकालत्व दृष्टम् । प्रकृतिधर्माणां च विकृतावतिदेश । तस्माद् वैकृतानामपि द्वयहकालतेति ।

(५) सिद्धान्त — एकाहकालत्व स्पष्टमुक्तं श्रुत्या — 'इष्ट्या पशुना सोमेन वा यद्व्यमाणं पौर्णमास्याममावास्याया वा यजेत' इति । अत्र साङ्गस्य पौर्णमासीयागस्यैकाहनिर्वर्त्यत्वमुच्यते । अनेन चोक्तं वैकृता नामैकाहकालताऽतिदिष्टद्वयहकालता बाधते इति ।

एतदभिप्रेत्याह — द्वैदिन्यमिति । 'इष्टिधर्म' इष्टिप्रकृतिगतो धर्म — 'द्वैदिन्यम्' द्वयहकालत्वम् — 'विकारे' विकृतियागे — 'न' 'स्यात्' अतिदिष्टतया न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

(९) ५।४।२५ सोमोर्ध्वं सान्नाय्यधर्मा विकारः

(१) क्रमविचारविशेषः ।

(२) 'वैश्वदेव्यामिक्षा' इत्यादि सान्नाय्यविकार — 'अग्नीषोमीयमेकादशकपालम्' इत्यादिरग्नीषोमीयपुरोडाशविकारः ।

(३) तत्र सन्देह — किमेते विकारा सोमादूर्ध्वमेवात प्रागूर्ध्वं चेति ।

(४) पूर्वपक्ष — सोमात्प्रागूर्ध्वं वा यथेच्छमनुष्ठानं विकाराणाम्-विशेषनियामकस्याभावादिति ।

(५) सिद्धान्त — 'नासोमयाजी सन्नयेत्' इति निषेधेन सान्नाय्य नियमेन सोमादूर्ध्वमुत्कृष्यते । अग्नीषोमीयपुरोडाशस्य चोत्कर्षं पूर्वमेव चतुर्थाधिकरणे दर्शितः । तस्मात् सान्नाय्याग्नीषोमीययोर्विकारा अपि सोमादूर्ध्वमेवानुष्ठेया इति ।

एतदभिप्रेत्याह — सोमोर्ध्वमिति । 'सान्नाय्यधर्मा' सान्नाय्यस्य धर्म इव धर्मो यस्य स एवम्भूत — 'विकार' सान्नाय्यविकार इति यावत् — 'सोमाद्' 'ऊर्ध्वम्' एव अनुष्ठेय इति शेषः — न कदाचिदपि प्रागित्याशयः ॥ ९ ॥

(१०) ५।४।२६ इष्टे पश्चात् सोमधर्मा विकारः ।

(१) क्रमविचारो वर्तते ।

(२) 'गवा यजेत' इत्यादिना गवादिनामका सोमविकारा एकाहा आम्नाताः ।

(३) तत्र सन्देह — इष्टिसोमयो पौर्वापर्यविकल्पः स्थितस्तृतीयेऽधिकरणे । अयमेव विकल्पः किं सोमविकारेष्वपि उत भवति तत्र नियम इति ।

(४) पूर्वपक्ष — प्रकृतिवद्विकृतिरिति न्यायेन-यथा सोमस्य इष्टिपूर्वत्वे विकल्पस्तथैव सोमविकाराणामपीति ।

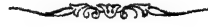
(५) सिद्धान्त — इष्टे पूर्व यत्सोमानुष्ठान प्राप्नोति तन्न साक्षादुक्तमपि स्वर्थाक्षिप्तम् । तस्मात्तन्न शक्यते विकारेष्वतिदेशेऽपि । इष्टे पश्चात्कर्तव्यत्वा तु सोमस्य साक्षादुक्त 'दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत' इत्यत्र । अस्यैव चेष्ट्युत्तरकालीनताधमस्यातिदेशो विकारेषु । तस्मात् सोमविकारा इष्टे पश्चादेवानुष्ठेया इति नियम इति ।

एतदभिप्रेत्याह इष्टेरिति । 'सोमधर्मा' 'विकार' सोमस्य विकारगवाद्याग — 'इष्टे' 'पश्चात्'—एव अनुष्ठेय इति शेषः ॥ १० ॥

पादे तुर्ये पञ्चमस्येह सम्यक्  
प्रोक्ता न्याया न्यायविद्भिर्देशैव ।

स्पष्टम् ।

इति पञ्चमस्य चतुर्थ ।



समाप्तः पञ्चमोऽध्यायः ।

## अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

अथ षष्ठस्य प्रथम पादः ।

[ अधिकारिविचारात्मकः ]

(१) ६।१।१-३ स्वर्गादिफलमिज्यादेः

(१) अनुष्ठानक्रमो निरूपित । कोऽनुष्ठानातेत्यधिकार इदानीं कर्मसु विचार्यते । अधिकारश्च कर्मसु तत्फलभोक्तृतयेवेति कर्मणा सफलत्वमेवादौ परीक्ष्यते । ( अधिकारन्याय )

(२) 'दर्शपूर्णमासाभ्या स्वर्गकामो यजेत' इत्यत्र यागस्वर्गकामयो सम्बन्धोऽवगम्यते ।

(३) तत्र सन्देह — किमत्र प्रधान-यागो वा स्वर्गो वा-अर्थात् किमत्र याग साधनत्वेन सम्बध्यते उत साध्यत्वेनेति प्रधानं साध्यम् । तन्मूलत्वेन चापरं सन्देह-स्वर्गं किद्रव्यविशेष उत सुखविशेष । यदि स्वर्गो द्रव्यविशेषस्तर्हि स एव प्रधान यागो गुणः ।

यागस्य प्राधान्यपक्षे स एव साध्यतयाऽन्वेति-ततश्च स्वर्गकामस्य पुरुषस्याधिकारोऽनेन वाक्येन नैवोच्यते-इत्येव स्यात् ।

(४) पूर्वपक्ष — स्वर्गो द्रव्यविशेष लोके सुखसाधनद्रव्यपरत्वेन स्वर्गशब्दस्य प्रयोगदर्शनात् । अतः स्वर्गोऽयं गुण साधनम्, याग प्रधान साध्यम् । तथा स्वर्गरूपेण द्रव्येण याग साधयेद्भित्यर्थो वाक्यस्य पर्यवसितः । एव च वाक्ये फलानभिधानेन तद्भोगाभावात् यजमानस्य यागे कर्तृत्वमेव, न त्वधिकार-फलभोक्तृतया स्वामित्वमेव ह्यधिका रशब्दार्थ इति ।

(५) सिद्धान्त — स्वर्गशब्दः सुखविशेषे रूढ द्रव्ये तु लाक्षणिक एव । यजेतेति पदमात्स्यातत्वाकारेण भावनामाचष्टे विधित्वाकारेण च पुरुषं प्रवर्तयति । पुरुषश्च स्वाभिमतफलमन्तरेण न प्रवर्तते इति तदपेक्षितं स्वर्गमेव भाव्यतया उपादीयते । एव च सुखविशेषस्य भाव्यत्वविधिश्रुत्या सिद्धम् । कामशब्दयोगादपि स्वर्गस्यैव भाव्यत्वम् । तस्मात् स्वर्गरूपफलसम्भोगस्य सम्भाव्यमानत्वाद्स्त्येवात्र वाक्येऽधिकारप्रदर्शनं यजमानस्येति ।

एतदभिप्रेत्याह स्वर्गादीति । 'इज्यादे' यागादे कर्मण साधनम्

तस्य 'फल' साध्यम्—'स्वर्गादि' स्वर्गपञ्चिन्द्रियादि-भवतीति स्वर्गादिकामस्यैव यजमानस्य तत्तत्कर्मण्यधिकार इति ॥ १ ॥

(२) ६।१।४-५ मनुष्योऽत्राधिकारभाक् ।

(१) अधिकारविचार ।

(२) 'दर्शपूर्णमासाभ्या स्वर्गकामो यजेत' इत्युक्तम् ।

(३) तत्र सन्देह —अत्र विहिते कर्मणि कोऽधिकारी-य कश्चन चेतनो जीव स सर्व उत केवल स एव य समर्थ इति ।

(४) पूर्वपक्ष —स्वर्गकामोऽत्राधिकारीति स्थितम् । स्वर्गश्च सुख विशेष सुखविशेषकामना च सर्वेषा जीवानां भवति । तस्मात् सर्वेषा जीवानामत्राधिकार इति ।

(५) सिद्धान्त —दर्शपूर्णमासयागे भवन्ति बह्व्यङ्गानि । तेषामननुष्ठानेऽङ्गविकलत्वात् यागो न फल साधयेत् । एव य कश्चित् सकलमङ्गजात सम्पादयितुं शक्नुयात् तेनैव याग सम्पद्येत फल च साधयेत् । न च मनुष्यातिरिक्तानां जीवानामस्ति शक्ति कर्मानुष्ठाने । तस्मात् साङ्ग कर्मानुष्ठानसमर्थस्य पुरुषस्यैवात्राधिकार इति ।

एतदभिप्रेत्याह मनुष्य इति । 'अत्र' स्वर्गादिफलके यागादौ—'मनुष्य' न तु तिर्यगादय —'अधिकारभाक्' अधिकारी भवतीति शेष ॥२॥

(३) ६।१।६-१६ पत्नीनां चाधिकारोऽत्र

(१) अधिकारविचार ।

(२) 'दर्शपूर्णमासाभ्या स्वर्गकामो यजेत' इत्युक्तम् ।

(३) तत्र सन्देह —अत्र विहिते कर्मणि किं पुंसामेवाधिकार उत स्त्रीणामपीति ।

(४) पूर्वपक्ष —स्वर्गकाम इत्यत्र पुल्लिङ्गनिर्देशात् कर्मजन्यफलभोक्तृत्वरूपोऽधिकार पुंस एवेति ।

(५) सिद्धान्त —लिङ्गस्य प्रकृत्यर्थत्वाभावात् उद्देशगतत्वेनाविहितत्वम् । तथा च स्वर्गकामपदबोधिताधिकार स्त्रीपुरुषसाधारणः । तस्मात् स्त्रीणामप्यत्राधिकार इति ।

एतदभिप्रेत्याह पत्नीनामिति । 'अत्र' विधिवोधितकर्मणि—'पत्नीनां स्त्रीणाम्—'च'—न केवल पुंसाम्—'अधिकार' फलभोक्तृत्वमनुष्ठातृत्व च भवतीति शेष ॥ ३ ॥

(४) ६।१।१७-२१ दम्पत्योश्च यजिः सह ।

(१) पूर्वाधिकरणशेषभूतो विचार ।



(२) पुरुषवत् स्त्रियोऽपि यागानुष्ठानेऽधिकार इति स्थितम् ।

(३) तत्र सन्देह — किं पृथक् पत्नी यजेत पृथक् च तस्या पति उतोभावपि सहैव यजेयातामिति ।

(४) पूर्वपक्ष — 'यजेत' इत्यत्रैकवचनस्य विवक्षितत्वात् एकैकस्य पृथगधिकार । तस्मात् दम्पतीभ्यां पृथक् पृथगेव कर्मानुष्ठेयमिति ।

(५) सिद्धान्त — कर्मणि तत्र तत्र यजमानकर्तृकं तत्पत्नीकर्तृकं चाङ्गं चात विहितमुपलभ्यते । यथैकत्र पत्न्यवेक्षणमन्यत्र यजमानावेक्षणम् । यदि पृथक् कर्मानुष्ठेयं तर्हि यजमानकर्तृके यागे पत्नीकर्तृकमङ्गं लुप्येत पत्नीकर्तृके च यागे यजमानकर्तृकं लुप्येत । एव च कर्म विगुणं स्यात् । कर्मणो वैगुण्ये च फलं न सिध्यति । तस्मात् सहैवाधिकारो दम्पत्योः । न चैकवचनं विरुद्धम् । दम्पत्योरेकस्यैव कर्तृत्वस्याङ्गीकारात् इति ।

एतदभिप्रेत्याह दम्पत्योरिति । 'दम्पत्योः' स्त्रीपुंसो — 'च' 'यजि' याग 'सह' सहैवानुष्ठेय इति शेषः ॥ ४ ॥

(५) ६।१।२२-२३ वसानौ दम्पती प्रोक्तौ

(१) पूर्वाधिकरणशेषो विचारः ।

(२) अस्त्याधानम् 'य एव विद्वानग्निमाधत्त' इति । तत्रोक्तम् 'क्षौमे वसानावग्निमादधीयाताम्' इति ।

(३) तत्र सन्देह — किमेकेन पुरुषेणेदमाधानं कार्यमुत द्वाभ्यामिति ।

(४) पूर्वपक्ष — वसानावित्यत्र पुल्लिङ्गद्विवचनोपलम्भात् द्वयोः पुरुषयोरत्राधिकारो नैकस्येति ।

(५) सिद्धान्त — क्षौमस्यैवात्र विधेयत्वात् पुन्द्रित्वमत्र न विधीयते । अपि तु दम्पत्योः सहाधिकारेण प्राप्तं द्वित्वमनूयते । तस्मादाधानेऽधिकारिणः पुरुषस्यैकत्वमेवेति ।

एतदभिप्रेत्याह — वसानाविति । 'दम्पती' सहाधिकारिणौ एव 'वसानौ' क्षौमे वसानौ इति 'प्रोक्तौ' — क्षौमे वसानाविति दम्पती उद्दिश्यैव प्रोक्तम् — न पुरुषद्वयमुद्दिश्य — ततश्चैकस्यैव पुरुषभ्याधिकार इत्याशयः ॥ ५ ॥

(६) ६।१।२४ यावदुक्ताः स्त्रियः क्रियाः ।

(१) दम्पत्योः सहाधिकारं विचारविशेषः ।

(२) 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिविहितेषु यागेषु दम्पत्योः सहाधिकार इति स्थितम् ।

(३) तत्र सन्देह — किं यागान्तर्गतं सर्वं यजमानकर्तृकं कर्म स्त्रिया पुरुषेण च कर्तव्यमुत कानिचिदेव स्त्रिया कार्याण्यन्यानि सर्वाणि पुरुषेणैवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — उभयो. सहाधिकाराद् यथा पुरुषो यजमानस्तथा स्त्री अपि यजमाना—तथाच याजमानं सर्वं स्त्रियाऽपि कार्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — यावदेव कर्म साक्षाच्छ्रुत्या पत्नीकर्तृत्वेनोभयकर्तृत्वेन वाऽऽम्नात तावन्मात्रे एव स्त्रिया कर्तृत्वमन्यत्र तु पुरुषस्यैवेति ।

एतदभिप्रेत्याह—यावदिति । ‘यावदुक्ता’ यावन्ति कर्माणि स्त्रीकर्तृत्वेन स्पष्टमाम्नातानि तान्येव—‘क्रिया’ कर्माणि—‘स्त्रियः’ स्त्रिया कार्या इति भावः ॥ ६ ॥

( ७ ) ६।१।२५-३८ शूद्राधिकारी नेज्यादो

( १ ) अधिकारविचारः ।

( २ ) सन्त्यग्निहोत्रादीनि कर्माणि ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किमेतेषु कर्मसु चतुर्णामपि वर्णानामधिकार उत शूद्रवर्ज त्रयाणामेवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — ‘स्वर्गकामो यजेत’ इति साधारण्येन विधानम् । स्वर्गस्य च कमनीयत्वचतुर्वर्णसाधारणम् । तस्माच्चतुर्णामेवाधिकार इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — यागानुष्ठाने या विद्याऽपेक्षिता सा त्रैवर्णिकस्यैव न शूद्रस्य । तस्मादपेक्षितविद्याभावात् न शूद्रस्य यागादावधिकार इति ।

एतदभिप्रेत्याह—शूद्रेति । ‘इज्यादो’ यागादौ कर्माणि—‘शूद्राधिकार’ शूद्रस्य विद्यारहितस्य—‘अधिकार’ ‘न’ अस्तीति शेषः ॥ ७ ॥

( ८ ) ६।१।३९-४० अद्रव्योऽप्यधिकारवान् ।

( १ ) अधिकारविचारो वर्तते ।

( २ ) सन्त्यग्निहोत्रादीनि कर्माणि ।

( ३ ) तत्र सन्देह — एतेषु कर्मसु निर्धनस्याधिकारो भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — यथा विद्याऽधिकारेऽपेक्षिता तथा धनमपि । तस्मात् उपयुक्तधनवत एव कर्मण्यधिकारो न निर्धनस्येति ।

( ५ ) सिद्धान्त — विद्याध्ययनविधिरिव धनाजनविधिर्नास्ति । एव भोजनादिकर्मवत् यागस्यापि धनसम्पादनीयत्वात् धनार्जनमपेक्ष्यते । तस्मान्निर्धनोऽपि धनमर्जयित्वा भवत्येव यागेष्वधिकारी—इति ।

एतदभिप्रेत्याह—अद्रव्य इति । ‘अद्रव्य’ द्रव्यरहित निर्धन—‘अपि’ न केवल धनी एव—‘अधिकारवान्’ अधिकारी—यागानुष्ठाने इति शेषः ॥ ८ ॥

( ९ ) ६।१।४१ अङ्गहीनोऽप्यधिकृतः

( १ ) अधिकारविचार ।

( २ ) अग्निहोत्रादीनि कर्माणि ।

( ३ ) तेषु सन्देह — एतेषु कर्मसु अङ्गहीनोऽधिक्रियते न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — नेत्रहीन आज्यावेक्षण कर्तुमसमर्थ खञ्ज पादर हितो विष्णुक्रममनुष्ठातुमसमर्थ । अतोऽङ्गहीनो न कर्मस्वधिकारी इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — यथा धनहीनो धनमर्जयित्वाऽधिकारवान् भवति तथैव विकलाङ्गोपि चिकित्सया विकलमङ्ग समाधायधिकारवान् भवति । तस्मादङ्गहीनत्वमात्र नाधिकारविरोधीति ।

एतदभिप्रेत्याह—अङ्गेति । ‘अङ्गहीन’ विकलाङ्ग —‘अपि’—‘अधिकृत’ अधिकारी भवति कर्मस्विति शेष ॥ ९ ॥

( १० ) ६।१।४२ न त्वत्यन्ताङ्गहीनक ।

( १ ) पूर्वाधिकरणपवाद ।

( २ ) पूर्वोदाहृतान्येन कर्माण्यत्रापि ।

( ३ ) सन्देह — यस्याङ्गवैकल्यमप्रतिसमाधेयमेव सर्वथा स भवत्यधिकारी न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पूर्वाधिकरणन्यायेन तस्याप्यधिकार इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — अङ्गवैकल्य चिकित्सादिना प्रतिसमाधायधिकार सम्पाद्यत इत्येव स्थितम् । यस्य त्वङ्गवैकल्यादिक सर्वथाऽचिकित्स्यमेव—यथा जात्यन्धादौ— तस्याधिकारोऽसम्भव एव ।

एतदभिप्रेत्याह—न त्विति । ‘अत्यन्ताङ्गहीनक’ यस्याङ्गवैकल्यमप्रतिसमाधेय स —‘तु’—‘न’—‘अधिकृत’ इत्यनुषज्यते ।

[ काम्येष्वेवानधिकारोय न नित्येष्विति नव्या माधवाद्य. ] ॥१०॥

( ११ ) ६।१।४३ विधिस्त्र्यार्षेयवरणे

( १ ) अधिकारविचार ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयो ‘आर्षेय वृणीते’ इति विधाय इदमाज्ञातम्—एक वृणीते द्वौ वृणीते—त्रीन् वृणीते—न चतुरो वृणीते—न पञ्चापि वृणीते’ इति । गोत्रप्रवर्तक ऋषि ‘आर्षेय’ तस्योच्चारणमत्र विहितम् । ‘एकस्य ऋषेर्नामोत्प्लेख — द्वयो — त्रयाणाम्—न चतुर्णाम्—नापि पञ्चाधिका-नाम्’ इत्युक्तवाक्यस्यार्थ ॥

( ३ ) तत्र सन्देह — य ज्यार्षेयो न भवति तस्याधिकारो न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — ‘आर्षेय वृणीते’ इति सामान्याभिधानात् एकार्षेयस्य ज्यार्षेयस्य ज्यार्षेयस्येति सत्वेना तुल्योऽधिकार तथाच ‘एक वृणीते’ इत्यादि त्रीण्यपि विधिवाक्यान्वेति ।

( ५ ) सिद्धान्त — यो न ज्याषयस्तस्य नैवाधिकार । तथा च 'त्रीन् वृणीते' इत्यस्यैवैकस्य विधित्वम् । 'एक वृणीते—द्वौ वृणीते' इति वाक्यद्वयान्तु त्रिवरणस्य स्तावकमेव । तथैव च चतु पञ्चाधिकवरण-निषेधवाक्यद्वयमपि । तस्मात् कर्मस्वधिकुर्वन् यजमान त्रीनेवार्षेयानुच्चारयेत्, न न्यून नाप्यधिकमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—विधिरिति । 'ज्याषेयस्य' गोत्रत्रयस्यैव 'वरणे' उच्चारणे—'विधि' त्रीन् वृणीते इत्येवरूप—अन्यच्च वाक्यजात स्तावकमेवेति भावः ॥ ११ ॥

( १२ ) ६।१।४४-५० त्रिवर्णो रथकृन्न हि ।

( १ ) अधिकारविचारः ।

( २ ) आधाने श्रूयते—'वर्षासु रथकार आदधीत' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह—किं त्रैवर्णिकानामन्यतमोऽत्र रथकार उतात्रैवर्णिक इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—रथ करोतीति व्युत्पत्त्या त्रैवर्णिकानामेव यः कश्चिद् रथ करोति स एवात्राधिक्रियत इति ।

( ५ ) सिद्धान्त—रथ करोति यः सोऽत्र रथकारो न विवक्षितः—अपि तु वैश्याया क्षत्रियादुत्पन्नो माहिष्य—शूद्राया वैश्यादुत्पन्ना करिणी—करिण्याम्माहिष्यादुत्पन्ना सङ्कीर्णजातिविशेषो रथकार एवात्र विवक्षितः । तस्यैवाधानकालो वर्षर्तुरत्र विधीयते न त्रैवर्णिकस्येति ।

एतदभिप्रेत्याह—त्रिवर्ण इति । 'त्रिवर्ण' त्रैवर्णिक—'न हि' 'रथकृत्' रथकारपदेन विवक्षित—अपि त्वत्रैवर्णिकोऽशूद्रश्च कश्चित् सङ्कीर्णजातिविशेष इत्याशयः ॥ १२ ॥

( १३ ) ६।१।५१-५२ स्थपतिस्तु निषादः स्यात्

( १ ) अधिकारविचारः ।

( २ ) 'वास्तुमय रौद्र चरु निर्वपेत्, इति प्रकृत्य श्रूयते—'एतया निषादस्थपति याजयेत्' इति ।

( १ ) तत्र किमधिकृतानां त्रैवर्णिकरथकाराणाम्मध्य एवैकतमो निषादस्थपतिरुत तेभ्योऽन्य एव कश्चिदिति ।

( ५ ) पूर्वपक्ष—अधिकृतानामेवान्यतमोऽयम् । तेषामेव विद्वत्त्वात् अग्निमत्त्वाच्च । तदन्ये तु न विद्यावन्तो नाप्यग्निमन्तस्तस्मान्नैते-ऽधिकृता कर्मस्विति निषादानां स्थपतिर्त्रैवर्णिको भवितुमर्हत्येवेति ।

( ६ ) सिद्धान्त—निषादश्चासौ स्थपतिश्चेति कर्मधारयसमासस्यैव मुख्यता । निषादश्च सङ्कीर्णजातिविशेषः । विद्याहीनोऽपि स तात्कालि

काचार्योपदेशादिना विद्या सम्पाद्य एकस्मिन् यागविशेषे वचनबुद्ध्या  
दधिक्रियते । तस्मात् त्रैवर्णिकरथकारेभ्योऽन्य एव निषादस्थपतिरिति ।

एतदभिप्रेत्याह—स्थपतिरिति । निषादस्थपतिरित्यत्र य 'स्थपति'-  
यागेऽधिकृत स निषाद सङ्कीर्णजातिविशेष एव—न तु त्रैवर्णिकरथका  
राणामन्यतम इति भावः ॥ १३ ॥

न्यायाः पाठे त्रयोदश ।

स्पष्टम् ।

इति षष्ठस्य प्रथमः ।

## षष्ठस्य द्वितीयः पादः ।

। अधिकारिधर्मविचारात्मकः ।

(१) ६।२।१-२ एकैकशः सत्रफल समग्रम्

( १ ) अधिकारिणो विचारानन्तरं तस्य धर्मा विचार्यन्ते । तत्रादौ  
तस्य कामनाया विचारः ।

( २ ) 'श्राद्धकामा उपेयुः' 'सप्तदशावरा सप्तविशपरमा सत्र  
मासीरन्' इत्यनेककर्तृक सत्रमाप्नोतम् ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—सत्रस्य फल समग्रं किमैकैकस्य कर्तुं सप्त  
दायस्येति—तथा च किं फलाशकामिन एवाधिकार उत समग्रफल  
कामिन एवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—सत्रस्य कर्ता नैक पुरुष अपि तु अनेकपुरुषस-  
मुदायः । कर्तुरेव च फलेनाभिसम्बन्धः । तस्मात् समुदायस्यैव फलम्  
पुरुषाणां प्रत्येकं तु फलाश एवेति । तस्माच्च फलाशमात्रकामिनोऽप्य-  
धिकार इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—एकैकस्यापि पुरुषस्य समुदायान्तर्गतत्वेनास्त्येव  
कर्तृत्वम् । एवमेव 'सत्रमासीरन्' इति बहुवचनमुपपद्यते कर्तृणां बहुत्वे ।  
तस्मात् एकैकस्य कर्तुं सकलफलाभिसम्बन्धात् समस्तफलकामिना  
मेवाधिकारो नाशमात्रकामिनामिति ।

एतदभिप्रेत्याह—एकेति । 'समग्र' सकल—'सत्रफल'—'एकैकशः'  
सत्रकर्तृणां सप्तदशपुरुषाणां प्रत्येकं—अभिसम्बध्यते इति शेषः ॥ १ ॥

(२) ६।२।३-१२ दर्शादियागे यजमान एकः ।

( १ ) अधिकारिणो धर्मभूता सत्या विचार्यते ।

( २ ) 'दर्शपूर्णमासाभ्या स्वर्गकामो यजेत' इति श्रुतम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह — नमित्र यागे यजमान एक एव स्यादुत एको द्वौ बहवो वेत्यनियम इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — स्वर्गकाम इत्यत्रैकत्वसख्या उद्देश्यगतत्वादविवक्षिता ग्रहैकत्ववत् । तस्मात् दर्शपूर्णमासयागे एको द्वौ बहवो वा यजमाना भवितुमर्हन्तीति ।

( ५ ) सिद्धान्त — स्वर्गकामगतैकत्वस्याविवक्षितत्वेऽपि यजेतेश्च आर्यातगतमेकत्व तद्विधेयगतम् । क्रियाद्वारा च कर्ताऽपि विधेय एव । अतो विधेयकर्तृगता यैकत्वसत्या सा विवक्षितैव । ततश्चैक एव यजमान कर्तेति नियम्यते—इति ।

एतदभिप्रेत्याह दर्शेति । 'दर्शादियागे' 'एकः' एव—'यजमान' कर्तेति नियम एवेत्याशय ॥ २ ॥

( ३ ) ६।२।१३-१५ अवश्यमारब्धसमापन स्यात्

( १ ) अधिकारिणोऽधिकारस्य कदा निवृत्तिरिति विचार्यते ।

( २ ) 'कारीया वृष्टिकामो यजेत, 'क्षित्रया यजेत पशुकाम' इत्यादीनि काम्यानि कर्माणि । कदाचिदेव भवति यदुक्तकामेन प्रेरित पुरुष कर्म-प्रारभते तदनन्तर कर्मसमापनात् प्रागेव वृष्ट्यादिरूप फल लभ्यते ।

( ३ ) तत्र सन्देह — एतस्यामवस्थाया कि प्रक्रान्त कर्म नियोगत समापनीयमुत फलप्राप्त्यनन्तरम् हेयमपि इच्छया भवतीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — फलप्राप्त्या तत्कामो निवर्तते । ततश्च तत्काममूल कोऽधिकारोऽपैति । तस्मात् फलप्राप्त्यनन्तर प्रयोजनाभावात् कर्म न समापनीयमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — प्रक्रान्तस्यासमाप्तौ निन्दा प्रायश्चित्त च श्रयते—'देवताभ्यो वा एव आवृश्च्यते यो यदय इत्युक्त्वा न यजते—त्रैधातवी-येन यजेत' इति । प्रक्रान्तमसमाप्य च लोकेऽपि शिष्टविगर्हितो भवति । तस्मात् प्रक्रान्त कर्म समापनीयमेवेति ।

एतदभिप्रेत्याह—अवश्यमिति । 'आरब्धस्य' प्रक्रान्तस्य कर्मण — 'समापनम्'—'अवश्यम्' नियमेन कर्तव्यमेव—'स्यात्' इति सम्बन्ध ॥ ३ ॥

( ४ ) ६।२।१६-१८ न लौकिकानां नियमः समाप्तौ ।

( १ ) पूर्वाधिकरणापवादः ।

( २ ) लौकिकानि कर्माण्युदाहरणानि—गृहकरणं रथकरणमुपक्रान्तम्—ततस्तस्येच्छा विगताऽथवाऽन्यत प्राप्तो गेहो रथो वा ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किं प्रक्रान्त समापनीयमेवोत ऐच्छिकमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पूर्वाधिकरणन्यायेन फलप्राप्तावपि समापनीयमेवेति ।

( ५ ) सिद्धान्त — लौकिककर्मविषये निन्दा प्रायश्चित्त वा न श्रूयते । दृष्टमेव तत्र प्रयोजन — तस्य सिद्धौ सति नास्ति प्रयोजनमायासस्य । तस्मान्नास्ति लौकिके समापननियम इति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'लौकिकानां कर्मणां' — 'समाप्तौ' समापने — 'नियम' अवश्यकर्तव्यत्वम् — 'न' भवति । तत्त्वैच्छिकमेवेत्याशयः ॥४॥

( ५ ) ६।२।१६-२० निषेधमात्रं लशुनाशनादौ

( १ ) निषिद्धे अधिकारस्य विचारः । कलञ्जन्याय ।

( २ ) 'न कलञ्जं भक्षयेत्' — न लशुनं — न गृञ्जनम्' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किमेवजातीयक निषिद्ध फलकामेन न भक्षयितव्यम्, निष्कामेन तु भक्षयितव्यम् — अथवा नियोगत केनापि न भक्षयितव्यमेवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — यथा नेक्षेतोद्यन्तमादित्यमित्यादि व्रतरूपेण विहितं तथैवात्रापि कलञ्जादिभक्षणवर्जनं व्रतरूपेणैवोपदिश्यते । फलकामस्यैव च व्रतानुष्ठाने प्रवृत्तिः । विश्वजिन्यायेन च स्वर्गं फलमत्र कल्प्यते । तस्मात् यः स्वर्गकामः स एव कलञ्जादिभक्षणं वर्जयेत् तत्फलाकामस्य तु ऐच्छिकमिति । स्वर्गकामस्यैवात्र व्रतेऽधिकार इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — अत्र वाक्ये रागप्राप्ता भक्षणप्रवृत्तिमनूद्य निषेधो विधेयः । निषेधश्च नरकपातनिवारकः । तस्माद् भक्षणवर्जनेऽधिकारो नरकभीतस्य न तु स्वर्गार्थिनः । नरकभयं च सर्वेषां साधारणम् । तस्मात् नियोगत एव कलञ्जादि न भक्षयितव्यम् — यथा 'न सर्पायाङ्गुलिं दद्यात्' इति निषेधे सर्वे पुरुषैर्नियोगत एवाङ्गुलिं सर्पाय न दीयते तथैवेति ।

एतदभिप्रेत्याह — निषेधेति । 'लशुनाशनादौ' लशुनाद्यभक्ष्यभक्षणविषये — 'निषेधमात्रम्' वर्जनमात्रमनुष्ठेयम् — न तु किमपि फलान्तरमस्तीति मात्रपदेन सूचितम् ॥ ५ ॥

( ६ ) ६।२।२१-२२ स्मार्ताश्च धर्मा उपनीतकार्याः ।

( १ ) अधिकारविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) इह स्मार्ता धर्मा उदाहरणम् — 'प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत' 'गुरुरनुगन्तव्योऽभिवादयितव्यश्च' इत्यादि ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किं जातमात्रस्यैते कर्तव्या उतोपनीतस्यैवातः ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — एतेषु कर्मसु श्रौताग्न्याद्यपेक्षा नास्ति । तस्मात् उपनयनस्य नास्त्यावश्यकताऽत्राधिकारे । अतो जातमात्रेणैते कर्तव्या इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — श्रौतस्याध्ययनादिनियम उपनयनानन्तरमेव प्राप्नोति । एव च वेदमूलस्मृतिगम्योऽपि नियमस्तस्मिन्नेव काले प्राप्त । अत एवोच्यते—‘उपनयनादिनियम’ ‘प्रागुपनयात् कामचारत्वादभक्ष’ इत्यादि । तस्मादुपनयनानन्तरमेव कार्या उक्ता स्मार्ता धर्मा इति ।

एतदभिप्रेत्याह—स्मार्ता इति । ‘स्मार्ता’ स्मृतिषु उक्ता—‘धर्मा’ गुर्वनुगमनादय—‘उपनीतेन’ ‘कार्याः’ अनुष्ठेया—नोपनयनात् प्रागिति शेष ॥ ६ ॥

( ७ ) ६।२।२३-२६ दर्शादियागः सततत्र कार्यः

( १ ) अधिकारस्य निर्वाहकालो विचार्यते ।

( २ ) ‘यावज्जीव दर्शपूर्णमासाभ्या यजेत’—‘यावज्जीवमग्निहोत्र जुहुयात्’ इत्यादि श्रूयते ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किमेतादृश यावज्जीवकर्तव्यत्वेन विहित कर्म सातत्येनानवरत कर्तव्यमुत न सातत्येनापि तु नियमित एव काले—इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — जीवनमत्र निमित्तत्वेनोपन्यस्तम् । सति च निमित्ते नैमित्तिकमवश्यम्भावि । अतो जीवतो मनुष्यस्य सातत्येनैवैतत् कर्तव्यत्वेन प्राप्तम्—इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — अमावास्या पौर्णमासी च दर्शपूर्णमासयो कालौ विहितौ । अनयोश्च विहितयो कालयो जीवनरूपनिमित्तसङ्गो चकत्वेनान्वय सम्भवति । अन्यथा विधिद्वयस्यासामञ्जस्यम् । तथा च सत्युक्तकालविशिष्टमेव निमित्तमत्र । तस्मान्न सातत्यमपि तु स्वकाल एवानुष्ठानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह दर्शेति । ‘दर्शादियाग’ यावज्जीवकर्तव्यत्वेनोपदिष्ट —‘सततम्’ सातत्येनानवरतम्—‘न कार्य’—अपि तु स्वकाल एवेत्याशय ॥ ७ ॥

( ८ ) ६।२।२७-२८ दर्शादिकाले च पुनः पुनः स्यात् ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेषो विचार ।

( २ ) ‘पौर्णमास्या पौर्णमासेन यजेत अमावस्यायाममावास्येन’ इत्युक्तम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किं सकृदेव पौर्णमास्या पौर्णमासयागोऽनुष्ठेयः सकृदेव चामावास्यायान्दर्शयागः—उत यदा यदा पौर्णमासी



अमावास्या चापतति तदा तदा आवर्तितव्य इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —सकृदेवानुष्ठानेन विधिशालस्य चरितार्थत्वात् सकृदेवानुष्ठानत्र वारम्बारमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —कालविशिष्ट जीवन दर्शपूर्णमासकर्मणो निमित्तमिति स्थितम् । एव च सति यदा यदा कालविशिष्ट जीवन तदा तदा कर्मण आवृत्ति । तस्मात् प्रतिपौर्णमासि पौर्णमासयाग प्रत्यमावास्या च दर्शयागोऽनुष्ठेय इति ।

एतदभिप्रेत्याह—दर्शेति । 'दर्शादिकाले' अमावास्या पौर्णमासी चेत्यनयो कालयो प्राप्तौ—'पुन पुन' आवृत्ति—'स्यात्'—तत्कालविहितकर्मण इति शेष ॥ ८ ॥

( ६ ) ६।२।२६ भिन्नादिहोमोऽपि पुनर्निमित्ते

( १ ) पूर्वाधिकरणप्रसङ्गेनैवावृत्तिविचार ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—'भिन्ने जुहोति—स्कन्ने जुहोति' इति भेदादिनिमित्तको होम ।

( ३ ) तत्र सन्देह—किं सकृत् भिन्ने होम कृत्वा कृतार्थता उत यदा यदा पात्रादिभेदस्तदा तदा होमस्य आवृत्तिरिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —पात्रादिभेद निमित्तोक्त्य होम आम्नात । स च होम सकृदेव कार्य—तेनैव क्रतूपकारस्य सिद्धत्वादिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —भेदरूपस्य निमित्तस्यावृत्तौ होमरूपस्य नैमित्तिकस्याप्यावृत्तिरवश्य कर्तव्येति ।

एतदभिप्रेत्याह—भिन्नेति । 'भिन्नादिहोम' भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोतीत्येव भेदादिनिमित्तको विहितो होम—'अपि' दर्शादियागवत् 'निमित्ते' भेदादिरूपनिमित्तस्य प्राप्तौ 'पुन' वारम्बार अनुष्ठेय इति शेषः ॥ ९ ॥

( १० ) ६।२।३० ऽभ्यासो निमित्ते गुरुवन्दनादेः ।

( १ ) पूर्वविचारसदृशो विचार ।

( २ ) 'गुरुरनुगन्तव्योऽभिषादयितव्यश्च' इत्यादि विहितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किं सकृदेव गुर्वनुगमनैव कृतार्थता उत यदा यदा गुरुरागच्छेत् तदा तदाऽनुगमनमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष.—गुर्वनुगमनादे गुरो प्रीतिरेव दृष्ट कलम् । तस्य च सकृदेवानुगमनेन निष्पन्नत्वात्—न पुन पुन कर्तव्यता । यदि कदा-ञ्चिदेकेनानुगमनेन प्रीतिर्न सम्पादिता तदा पुन कर्तव्यमित्यैच्छिकमेवेति ।

( ५ ) सिद्धान्त —दृष्टार्थेष्वपि विहितेषु नियमादृष्टसम्भवात् सकृद

यदा गुरोरागमनरूप निमित्तमापतति तदा तदा नैमित्तिकमनुगमनमप्यनुष्ठेयमेवेति ।

एतदभिप्रेत्याह—अभ्यास इति । 'निमित्ते' गुरोरागमनादिरूपे प्राप्ते सति यदा यदा तन्निमित्तम्प्राप्नोति तदा तदा—'गुरुवन्दनादे' नैमित्तिकस्य—'अभ्यास' आवृत्ति—कर्त्तव्य एवेति शेष ॥ १० ॥

(११) ६।२।३१ यज्ञ प्रजा चाध्ययन च नित्यम्

( १ ) अधिकारविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) 'सोमेन यजेत'—'प्रजामुत्पादयेत्'—'स्वाध्यायमधीयीत' इति यागप्रजोत्पादनाध्ययनानि विहितानि ।

( ३ ) तत्र सशय —किमेतानि सकामेनैव कार्याणि कम्प्यान्युत सर्वे कार्याणि नित्यानीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इति स्पष्ट काम्यत्व सोमयागस्य । प्रजोत्पादनेऽध्ययने च विश्वजिन्यायेन स्वर्गफलम् । तस्मात् तत्तत्फलकामस्यैवैतैश्चधिकार इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' इति वीप्सयोक्तत्वात् ज्योतिष्टोमस्य नित्यता । अध्ययनस्य दृष्टमेव कर्त्तव्यविज्ञानम्प्रयोजनम् । कर्त्तव्यानुष्ठानस्य नित्यत्वाद्ध्ययनस्यापि नित्यता । 'अनुत्पाद्य सुतान्न लोकं गच्छति' इति स्मृतेर्लोकसिद्धयर्थमपत्योत्पादनस्यापि नित्यता । तस्मात् त्रयोऽप्येते नित्या एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह—यज्ञ इति । 'यज्ञ' सोमादियागानुष्ठानम्—'प्रजा' अपत्योत्पादनम्—'अध्ययनम्' वेदादेरिति—एतत् सर्वमपि—'नित्यम्' अत सर्वेषामत्राधिकारो, न सकामस्यैवेत्याशय ॥ ११ ॥

(१२) ६।२।३१ वर्णत्रये नित्यमिदं त्रयं स्यात् ।

( १ ) पूर्वविचारशेष । एकत्रिंशसूत्रभाष्ये 'अन्योऽर्थ' इत्युपक्रम्याधिकरणान्तरमिदमुपन्यस्तम् ।

( २ ) यज्ञप्रजाध्ययनान्युदाहरणम् । एतानि नित्यानीति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किमेतानि ब्राह्मणमात्रस्य नित्यान्युत सर्वेषां त्रैवर्णिकानामिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —एव हि ब्राह्मणमात्रमुद्दिश्य श्रूयते—'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते' इति । अत्रोक्तस्य च ऋणत्रयस्यापाकरणाय अध्ययनप्रजोत्पादनयागानुष्ठानानि विहितानि । तस्माद् ब्राह्मणस्यैवैतानि नित्यानीति ॥

( ५ ) सिद्धान्त — अविशेषेणैवैषा कर्मणा विधानात् सर्वेषा त्रैवर्णि-  
'कानामेतानि नित्यानीति ।

एतदभिप्रेत्याह—वर्णंति । 'वर्णत्रये' ब्राह्मणक्षत्रियवैश्येषु त्रिष्वेव  
'इदं त्रयं' याग प्रजोत्पादनमध्ययन चेति—'स्यात्'—नित्यकर्तव्य-  
मिति शेष ॥ १२ ॥

षष्ठस्य पादे कथिता द्वितीये

न्याया इह द्वादश नीतिर्विद्भिः ॥

स्पष्टम् ।

इति षष्ठस्य द्वितीय ।

## षष्ठस्य तृतीयः पादः

[ प्रातिनिध्यविचारात्मक ]

( १ ) ६।३।१-७ यावच्छक्ति क्रिया नित्ये

( १ ) अधिकारप्रसङ्गेन सामर्थ्यविचार ।

( २ ) 'यावज्जीवमग्निहोत्र जुहोति' इत्यादीनि नित्यानि कर्मा-  
ण्याम्नायन्ते ।

( ३ ) तत्र सन्देह — यस्य सकलानि साङ्गानि नित्यानि कर्माणि कर्तुं  
सामर्थ्यं किं तस्यैवैतेष्वधिकार तेनैवैतानि कर्तव्यानि—उत यो यथाक-  
थञ्चिदपि कर्तुं शक्नोति तस्यापीति ॥

( ४ ) पूर्वपक्ष — सर्वाण्यङ्गान्युपसङ्गह्यैव कर्माणि कर्तव्यानि ।  
तस्मात् यः साङ्गं कर्तुं शक्नोति तेनैव नित्यमप्यग्निहोत्रादिकं कर्तव्यम् ।  
साङ्गस्यैव कर्मणोऽग्निहोत्रमिति नाम । योऽङ्गहीनः तत् करोति नैव क-  
रोति सोऽग्निहोत्रमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — प्रधानमेव कर्म अग्निहोत्रपदवाच्यम् । तदेव या-  
वज्जीववाक्ये उक्तम् । अङ्गजातं तु वाक्यान्तरेषु प्राप्तम् । एव च जीवने  
निमित्ते नैमित्तिकस्य प्रधानस्य कर्मणोऽनुष्ठानमावश्यकम् । तस्मात्  
वाक्यान्तरेभ्योऽवगतेष्वङ्गेषु यदि किञ्चिदनुष्ठातुं न शक्यते तदा तत्प-  
रित्यज्यापि अनुष्ठातुं शक्यैरेवाङ्गैस्समेतं प्रधानमनुष्ठेयमेवेति ।

एतदभिप्रेत्याह यावदिति । 'नित्ये' नित्यकर्मविषये—'यावच्छ्रुति' स्वशक्यनुसारमेव—'क्रिया' अनुष्ठानम् । नित्यानि कर्माणि स्वशक्यनुसारेणाङ्गहीनान्यपि कर्तव्यानि न परित्याज्यानीत्याशय ॥ १ ॥

(२) ६।३।८-१० काम्ये सर्वाङ्गसङ्ग्रहः ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेषो विचार -अपवादरूप ।

( २ ) सन्ति काम्यानि—'सौर्यं चरु निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकाम' इत्यादीनि ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किमत्रापि नित्यवत् अङ्गविहीनमपि यथाशक्येव कर्तव्यमुत सकलाङ्गोपसङ्गहीतमेवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —पूर्वाधिकरणन्यायेन यदि सकलमङ्गजात क्तु न शक्यते तर्हि यावच्छ्रुत्ये तावद्भिरेवाङ्गैर्युतं कर्म कर्तव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —काम्येषु फलप्राप्तिरिष्टा । फलं च साङ्गेनैव कर्मणा सम्पादयितुं शक्यम्, न विगुणेन । तस्मात् अङ्गहीनेऽनुष्ठिते फलप्राप्तिर्न स्यात् । अतो व्यर्थमेवानुष्ठानं स्यात् । नित्ये तु अकरणे य प्रत्यवायस्तद्वर्जनमेव फलं तत्त्वङ्गहीनानुष्ठानेऽपि भवत्येव । इह तु न तथा । अतो नात्र पूर्वाधिकरणन्यायावतारः । तस्मात् नित्येष्वङ्गलोपेऽपि काम्येष्वङ्गलोपो न सोढुं शक्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह—काम्य इति । 'काम्ये' काम्यानां कर्मणां विषये—'सर्वेषां' 'अङ्गानां' 'सङ्ग्रह' साकल्येनानुष्ठानम्—कर्तव्य इति शेषः ॥२॥

(३) ६।३।११-१२ कर्म नान्यत् प्रतिनिधौ

( १ ) अधिकारविचारे सामर्थ्यविचारविशेषः ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयागे पुरोडाशो द्रव्यम् । 'स च ब्रीहिमय' कर्तव्य इत्याम्नातम् । यदि कदाचिद् ब्रीहयो नोपलभ्यन्ते तर्हि नीवारा गृह्यन्ते ।

( ३ ) तत्र सन्देह —नीवारैरनुष्ठितो यागो दर्शपूर्णमासो भवत्युत तस्मादन्यदेव कर्म तदिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —तत्कर्मन्तरं स्यात् । ब्रीह्याश्रयो हि दर्शपूर्णमासयागः —अयं तु नीवाराश्रयः । तस्मात् भिन्नरूपत्वाद् भिन्नमेव कर्मेति ।

( ५ ) सिद्धान्त —द्रव्यभेदेऽपि न कर्मभेदः । ईषद्भेदेऽपि नात्यन्तरूपपरिवृत्तिः । तस्मात् प्रतिनिधिद्रव्येणानुष्ठितोऽपि दर्शपूर्णमासयागो न कर्मन्तरमिति ।

एतदभिप्रेत्याह कर्मेति । 'प्रतिनिधौ' विहितद्रव्यालाभे प्रतिनिधिभूतेन द्रव्यान्तरेण कृते यागे—'अन्यत्' भिन्न—'कर्म' यागो 'न' भवति । द्रव्यमात्रभेदेन न कर्मभेद इत्याशयः ॥ ३ ॥

(४) ६।३।१३-१७ मुख्याभावे तमानयेत् ।

(१) पूर्वाधिकरणशेषो विचार ।

(२) कर्मसु विहितानि द्रव्याणि । सम्भवति च तेषामलाभो-  
ऽपचारो वा ।

(३) तत्र सन्देह —विहितस्य द्रव्यस्यालामेऽपचारे वा किं कर्मा-  
नुष्ठानं त्यक्तव्यमुत द्रव्यान्तरमुपादाय प्रयोग समापनीय इति ।

(४) पूर्वपक्ष —द्रव्यापचारे द्रव्यान्तरमुपादेयमिति कुत्रापि न वि-  
हितम् । अतो मानाभावान्नोपादेय प्रतिनिधि —अनुष्ठानमेव  
त्यक्तव्यमिति ।

(५) सिद्धान्त —कर्मचोदना द्रव्यमन्तरेणानुपपन्ना द्रव्यसामान्य  
माक्षिपति । यत्र कचन द्रव्यविशेषो विहितस्तत्र स द्रव्यविशेष उक्तस्य  
द्रव्यसामान्यस्य नियामकत्वेन गृह्यते । एव यदा स द्रव्यविशेषो नोपल-  
भ्यते तदा नियामक नास्ति । एव च नियामकाभावे द्रव्यसामान्यप्रा-  
प्तिसम्भवे यत्र कचित् विशेषे पर्यवसानं भवति । तस्मात् मुख्याभावे  
प्रतिनिध्यापादानमुचितमेव—न तु कर्मलोपः कार्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह मुख्येति । 'मुख्यस्य' साक्षाद्विहितस्य द्रव्यस्य—  
'अभावे' अलामे अपचारे वा—'तम्' प्रतिनिधिम्—'अनयेत्' प्रयोजयेत्—  
न तु कर्म त्यजेदित्याशयः ॥ ४ ॥

(५) ६।३।१८-१९ न मन्त्रादौ प्रतिनिधिः

(१) पूर्वाधिकरणपवादः ।

(२) आग्नेयोऽष्टाकपाल 'सौर्यं चरुम्' इत्यादौ उक्ता अग्निसूर्या-  
दयो देवा, 'आहवनीये जुहोति' इति आहवनीयादयोऽग्नयः, 'वर्हिर्देवस-  
दनं दामि' इत्यादयो मन्त्रा, 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इति प्रोक्षणादयः क्रियाः ।

(३) तत्र सन्देह —किमेतेषां मन्त्रादीनामपचारेऽपि प्रतिनिधि-  
प्राप्त्युत कर्म त्यक्तव्यमिति ।

(४) पूर्वपक्ष —यथा द्रव्यापचारे प्रतिनिधिगृह्यते तथैव मन्त्रादी-  
नामप्यपचारे प्रतिनिधिरुपादेय इति ।

(५) सिद्धान्त —नात्र पूर्वाधिकरणन्यायावतार-वैषम्यम् ।  
यागेऽपेक्षितस्य पुरोडाशस्य निष्पादनं व्रीह्यभावे नीवारादिनाऽपि  
भवति । ततो व्रीह्यपचारे भवति नीवाराणां ग्रहणम् । मन्त्रदेवताका-  
र्यन्तु नार्थेन सम्पद्यते । न ह्याग्नेययागो विष्णुना सम्पन्नो भवति—नापि  
'वर्हिर्देवसदनं दामि' इति मन्त्रस्याध्यमर्थप्रकाशनं मन्त्रान्तरेण सम्भवति—

नाप्याहवनीयकार्यमसंस्कृतेऽग्नौ सम्भवति । तस्मान्नास्ति मन्त्रदेवता-  
दीना प्रतिनिधिरिति ।

एतदभिप्रेत्याह—नेति । ‘मन्त्रादौ’ मन्त्रे देवतायामग्नौ वा—‘प्रतिनिधि’  
‘न’ उपादेय इति शेष ॥ ५ ॥

(६) ६।३।२० प्रतिषिद्धं गृह्यते ।

( १ ) प्रतिनिधिविषये विचार ।

( २ ) द्रव्यापचारे प्रतिनिधिरुपादेय इति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह —प्रतिनिधिमुपादिस्मानो किं यत्किञ्चिद्द्रव्य-  
मुपादद्यात्—यानि द्रव्याणि प्रत्यक्षप्रतिषिद्धानि तान्यपि—उत प्रतिषिद्धानि  
नैव ग्राह्याणीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —‘मौद्ग चरु निर्वपेच्छ्रीकाम’ इति विहितस्य मुद्र-  
स्यापचारे माषा अपि गृहीतव्या । चरुनिष्पत्तिर्यथा मुद्गैर्भवति त-  
थैव माषैरपीति ।

( ५ ) सिद्धान्त —‘अयज्ञिया वै माषाश्चणका कोद्रवाश्च’ इति माषा-  
दीना प्रतिपदनिषेधात् यज्ञानुष्ठाने नैतानि प्रवेशमर्हन्ति । तेषामयज्ञिय-  
त्वाद् । सामान्यतश्चरुनिष्पादकत्वेऽपि न भवति यज्ञोपयोगिचरुनिष्पाद-  
कत्वम् । तस्मात् प्रतिषिद्धानां द्रव्याणां प्रतिनिधित्वेन नोपादानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह प्रतिषिद्धमिति । ‘प्रतिषिद्धम्’ स्पष्टरूपेण निषिद्धं द्रव्य  
‘न’ ‘गृह्यते’ प्रतिनिधित्वेनेति शेष ॥ ६ ॥

(७) ६।३।२१ न स्वामिनः प्रतिनिधिः

( १ ) पञ्चमाधिकरणशेषो विचार ।

( २ ) सन्त्यग्निहोत्रादीनि कर्माणि ।

( ३ ) तत्र सन्देह —स्वामिनोऽपचारे भवति प्रतिनिधिर्न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —यथा द्रव्यापचारे प्रतिनिधिरुपादीयते तथा स्वा-  
मिनोऽप्यपचारे प्रतिनिधि करणीय इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —द्रव्यादावपचरिते यजमान प्रतिनिधि गृह्णाति—  
यजमानेऽपचरिते क प्रतिनिधि गृह्णीयात् । फलित्वं च यजमानस्य कार्यम् ।  
तच्च नान्यस्य सम्भवति । यदि सम्भवेत् तर्हि स यजमान एव स्यात्,  
न यजमानस्य प्रतिनिधिरिति ।

एतदभिप्रेत्याह—नेति । ‘स्वामिन’ यजमानस्य—‘प्रतिनिधि’ ‘न’—  
स्यादिति शेष ॥ ७ ॥

(८) ७।३।२२ सत्रेऽसौ स्वामिनो भवेत् ।

( १ ) पूर्वाधिकरणपवाद — सन्न्याय ।

( २ ) सत्राणि उदाहरणम् । सत्रे च भवन्ति सप्तदश यजमाना ।

( ३ ) तत्र सन्देह — सप्तदशानां सत्रे यजमानानामेकतमस्यापचारे तस्य प्रतिनिधि करणीय उत कर्म एव त्याज्यमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पूर्वाधिकरणन्यायेन यजमानस्य प्रतिनिधिर्न ग्राह्य इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — अस्ति सत्रस्य यागान्तरेभ्यो ऽय विशेषो यत् सत्रे य एव यजमानास्त एव त्विजोपि । एव च सत्रे स्वामिन कार्यद्वयम्- फलभोक्तृत्वं कार्यकर्तृत्वं च । तत्र च यत्रापि प्रतिनिधे फलोपभोक्तृत्वं न भवति तथाऽपि भवत्येव तस्य कार्यकर्तृत्वम् । तस्मात् यजमानत्वेन प्रति निध्यभावेऽपि ऋत्विक्त्वेन प्रतिनिधेरवश्यम्भावाद् भवत्येव सत्रे स्वा- मिन प्रतिनिधिरिति ।

एतदभिप्रेत्याह सत्र इति । 'सत्रे' सप्तदशस्वामिके यज्ञे—'स्वामिन' यजमानस्य अपि—'असौ' प्रतिनिधि —'भवेत्' इति सम्बन्ध ॥ ८ ॥

( ६ ) ६।३।२३-२५ न त्वसौ फलभागी स्यात्

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) सत्रे भवति स्वामिन प्रतिनिधिरिति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह — य स्वामिन प्रतिनिधिर्गृह्यते 'स' सत्रफल- भागी भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — य स्वामिन प्रतिनिधित्वेन गृह्यते स स्वामिनो धर्मानादत्ते । फलभागित्वं च स्वामिनो धर्म । तस्मात् स्वामिप्रति- निधिर्भवति फलभागीति ।

( ५ ) सिद्धान्त — आरम्भप्रभृतिसमाप्तिपर्यन्त कर्मानुतिष्ठत फल युक्तम्, प्रतिनिधिस्तु नारब्धवान् । अतो नास्त्यस्य फलभागित्वम् । ऋत्विक्त्वेन तु कार्यकर्तृत्वमात्रमस्ति । श्रूयते च सत्रस्वामिनो ऽनुष्ठा नमध्ये मृतस्यापि फलभोग — 'यो दीक्षितानां प्रमीयेत अपि तस्य फलम्' इति । तस्मात् फलभागित्वमपचरितस्यैव स्वामिनो न तस्य प्रतिनिधेरिति ।

एतदभिप्रेत्याह न त्विति । 'असौ' सत्रिण प्रतिनिधि — 'फलस्य' 'भागी' भोक्ता—'तु' 'न' 'स्यात्' । यद्यपि कार्यकर्ता स्यात्तथाऽपि न फलभागीति तुना सूचितम् ॥ ९ ॥

( १० ) ६।३।२६ स्वामिधर्मा त्वसौ भवेत् ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) सत्राण्येवोदाहरणम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह —कर्म यदा ब्रीहिणा आरब्धं तदा किञ्चित्काला-  
नन्तर तस्यापचारो जातस्तर्हि तस्य स्थाने किं वैकल्पिको यवो ग्राह्य  
उत अन्यत् किमपि ब्रीहिसदृशमेव द्रव्यमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —यवस्य ब्रीहिवद् विहितत्वात् मुख्यत्वम् । अतः  
स एव ग्राह्य । मुख्यस्य लाभेऽन्यस्य ग्रहणमन्याय्यम् इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —येन द्रव्येणोपक्रान्त तस्यापचारे तत्सदृशमेव प्रति-  
निधातव्यम् न वैकल्पिकम् । ब्रीहियवयोर्विकल्पितत्वेऽपि यदा ब्रीहिणा  
आरब्धं तदा तस्मिन् कर्मणि यवस्य विहितत्वमपेतम् । पूर्वाधिकरण-  
न्यायेन चापचरितसदृशमेव प्रतिनिधातव्यम् । तस्मान्न यवग्रहणमिति ।

एतदभिप्रेत्याह ग्राह्य इति । 'वैकल्पिक' मुख्यस्य विकल्पत्वेन विहित  
पदार्थ —'तु' 'न ग्राह्य' प्रतिनिधित्वेनेति शेष ॥ १२ ॥

( १३ ) ६।३।३१ पुतीकास्तु नियम्यन्ते

( १ ) प्रतिनिधिविचार ।

( २ ) 'यदि सोमं न विन्देत् पुतीकामभिषुणुयात्' इति श्रुतम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किं सोमस्याभावे पुतीका ग्राह्या इति पुती-  
काया विधिरयम् उत सोमस्य प्रतिनिधित्वेन पुतीका ग्राह्या इति प्रति-  
निधिनियम इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अभिषुणुयादित्यत्र विधे स्पष्टत्वाद् विधिरेवायं  
पुतीकाया सोमाभावनिमित्तक इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —सदृशतया प्रतिनिधित्वेन प्राप्तेषु पुतीकादिद्रव्येष्वने-  
केषु नियममात्रविधिरयम् । तस्मात् पुतीकैव प्रतिनिधित्वेन नियम्यत इति ।

एतदभिप्रेत्याह पुतीका इति । 'पुतीका' 'नियम्यन्ते' —सोमस्य प्रतिनि-  
धित्वेन —न तु सोमाभावनिमित्तमुपलक्ष्य विधीयन्त इत्याशय ॥ १३ ॥

( १४ ) ६।३।३२ मुख्यदृक् सदृशग्रहः ।

( १ ) प्रातिनिध्यविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) श्रुतद्रव्यापचारे प्रतिनिधिर्गृहीत । स प्रतिनिधिरपि नष्ट ।

( ३ ) तदा सन्देह —प्रतिनिध्यपचारे यदन्यत् गृह्येत तत् किं प्रति-  
निधे —सदृशमुत श्रुतस्य मुख्यस्य सदृशमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —द्रव्यापचारे तत्सदृश, प्रतिनिधिर्ग्राह्य इति एकाद-  
शाधिकरणे स्थितम् । तथा च यदा प्रतिनिधिरपचरितस्तदा प्रतिनिधि-  
सदृशमेवान्यत् पुनः प्रतिनिधातव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —यद् द्रव्यं कार्यार्थमुपादीयते तत् श्रुतस्यैव मु-  
ख्यस्य प्रतिनिधित्वेन —न तु प्रतिनिधेः प्रतिनिधिग्रहणे किमपि प्रयोज-



नम् । तस्यापि प्रथमस्य प्रतिनिधेरपचारे यो द्वितीय प्रतिनिधिर्गृह्यते सोऽपि श्रुतस्य मुख्यस्यैव सदृश स्यादिति ।

एतदभिप्रेत्याह मुख्यद्रुगिति । 'सदृशग्रह' मुख्यापचारनिमित्तक-प्रथमप्रतिनिध्यपचारे य प्रतिनिधिर्द्वितीय एकादशाधिकरणन्यायेन स दृशतया ग्राह्य स—'मुख्यद्रुक्' मुख्यस्य श्रुतस्य एव सदृश स्यात्—न प्रथमस्य प्रतिनिधेरित्याशय ॥ १४ ॥

(१५) ६।३।३३-३४ श्रुते प्रतिनिधौ चैवम्

(१) पूर्वाधिकरणशेष ।

(२) प्रतिनिधेरपचारे मुख्यसदृशमेव प्रतिनिधातव्यमिति स्थितम् ।

(३) तत्र सन्देह —यस्मिन् स्थले प्रतिनिधिरपि श्रुत एव—यथा सोमस्य स्थाने पुतीका—तत्रापि किम्प्रतिनिध्यपचारे मुख्यसदृशमेव प्रतिनिध्यन्तरमुत प्रतिनिधिसदृशमेवेति ।

(४) पूर्वपक्ष —यदा सोमप्रतिनिधे पुतीकाया अपचारस्तदा पुतीकासदृशमेव प्रतिनिध्यन्तर गृहीतव्यम् । पुतीकाया अपि श्रुतत्वान्मुख्यत्वमेवेति न पूर्वाधिकरणन्यायावतारोऽत्रेति । तस्मात् श्रुतस्य प्रतिनिधेरपचारे प्रतिनिधिसदृशमेव प्रतिनिध्यन्तरमुपादेयमिति ।

(५) सिद्धान्त —नास्ति पुतीकाया विधि । नियमनार्थमेव तस्या वचनमिति स्थितम् । तस्मात् श्रुतस्यापि प्रतिनिधे पुतीकाया अपचारे मुख्यस्यैव सोमस्य सदृश प्रतिनिध्यन्तरमुपादेयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह श्रुत इति । 'श्रुते' श्रुत्युक्तेऽपि—'प्रतिनिधौ च' यत्र प्रतिनिधि विहितत्वेनैव परिगृहीतो न मुख्यसदृशत्वेन तत्रापि—'एवम्' पूर्वाधिकरणन्याय एव प्रवर्तते—तथा च मुख्यस्यैव सदृश प्रतिनिध्यन्तरमुपादेयम्, नापचरितप्रतिनिधिसदृशमित्याशय ॥ १५ ॥

(१६) ६।३।३५ मुख्यप्राप्तौ तदानयेत् ।

(१) प्रतिनिध्यविचार ।

(२) मुख्य द्रव्य विनष्टम्—तत्सदृशमन्वेष्टम्प्रस्थितस्तदेव पुन प्राप्नोति ।

(३) तत्र सन्देह —कि पुन प्राप्तमेव गृहीत्वा कर्म समापनीयमुत तत् त्यक्त्वा तत्सदृशमेव द्रव्यान्तरमुपादायेति ।

(४) पूर्वपक्ष —मुख्यापचारे तत्सदृश प्रतिनिधातव्यमिति स्थितम् । एव च तत्सदृशमेव मृग्यम् न पुनर्मुख्यमेवोपादेयमिति ।

(५) सिद्धान्त —मुख्यालाभे एव प्रतिनिधे प्राप्तिः । मुख्यस्य लाभे तु निमित्तस्याभावे नमित्तकस्य प्रतिनिधिकरण नैव प्राप्तम् ।

तस्मात् मुख्येनैव कर्म समापनीयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह मुख्येति । 'मुख्यस्य' श्रुतस्य द्रव्यस्य—'प्राप्तौ' पूर्वं सङ्गृहीतस्यापचारे पुनर्यदि तदेव लभ्यते तदा—'तत्' मुख्यमेव—'आनयेत्' उपाददीत—नान्य प्रतिनिधिर्मुख्य इत्याशय ॥ १६ ॥

(१७) ६।३।३६-३७ प्रवृत्ते न पुनर्मुख्यम्

( १ ) पूर्वाधिकरणपवाद ।

( २ ) यदा मुख्यस्यापचारे प्रतिनिधिमुपादाय केचित्तत्संस्कारा कृता तदनन्तर यदि पुनर्मुख्य लभ्यते—

( ३ ) तत्र सन्देह —किं प्रतिनिधिद्वारैवावशिष्ट कर्म समापनीयं न तत् त्यक्त्वा पुनर्मुख्यद्वारैव कार्यमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —प्रतिनिधिद्वारा प्रवृत्तेऽपि कार्यं मुख्यलाभे मुख्यमेवोपादेयम्—मुख्यलाभे हि प्रतिनिधौ प्राप्तिरेव नास्तीति ।

( ५ ) सिद्धान्त —कार्यार्थमेव द्रव्योपादानम् । कार्यं च यदा प्रतिनिधिद्वारा प्रवृत्तमेव तदा मुख्यस्य लाभेऽपि किन्तेन प्रयोजनम् । प्रत्युत तस्योपादाने प्रतिनिधौ कृता संस्कारा व्यर्था भवेयुः । तस्मात् मुख्यो नवोपादेय इति ।

एतदभिप्रेत्याह प्रवृत्त इति । 'प्रवृत्ते' प्रतिनिधिद्वारा कार्यं आरब्धे पुनर्मुख्यस्य लाभेऽपि—'न' 'मुख्य' उपादेयम्—अपि तु प्रतिनिधिद्वारैव कार्यं समापनीयमित्याशय ॥

एतदधिकरणे अधिकरणद्वयम्पठित न्यायमालायाम् । तच्च न भाष्यसम्मतमिण्युपेक्षितम् ॥ १७ ॥

(१८) ६।३।३८ ग्राह्यं न्यूनमपि श्रुतम् ।

( १ ) प्रातिनिध्यविचार ।

( २ ) 'खादिरो यूपो भवती'त्यत्र खदिर श्रुतः । कर्मकाले तु यत् खदिरकाष्ठमुपलब्धं तत् सम्यक् संस्कारयोग्यं नास्ति—अस्ति तु तद्योग्यमपरं काष्ठं खदिरसदृशं तत्प्रातिनिध्ययोग्यम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किं न्यूनगुणं खदिर उपादेयं उत सगुणं काष्ठान्तरमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —तक्षणसंस्कारादिबहुगुणलोपो माभूदित्यत्र प्रतिनिधिभूतं काष्ठान्तरमेवोपादेयमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —मुख्यसिद्धये गुणलोपः सद्यः । तस्मान्निर्गुणोऽपि मुख्य एवोपादेय इति ।

एतदभिप्रेत्याह ग्राह्यमिति । 'न्यूनमपि' प्रतिनिध्यपेक्षयाऽऽपगुणमपि—'श्रुतम्' मुख्यमेव—'ग्राह्यम्' उपादेयमिति ॥ १८ ॥

(१६) ६।३।३६ कार्यहानेस्तद्ग्राह्यम्

( १ ) पूर्वविचारशेष ।

( २ ) मुख्य श्रुतं यदा कार्ययोग्य नास्ति—

(३) तदा भवति सन्देह—किं मुख्यमेवोपादेयमुत प्रतिनिधातव्यमिति ।

(४) पूर्वपक्ष—पूर्वाधिकरणन्यायेन निर्गुणमपि मुख्यमेवोपादेयमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त—कार्यसिद्धिरेव सर्वथाऽपेक्षिता । यदि मुख्य कार्यायाक्षमं तदा तदुपादानं व्यथम् । अतस्तत् परित्यज्य कार्यक्षमं प्रतिनिधिरेवोपादेय इति ।

एतदभिप्रेत्याह कार्येति । 'कार्यहाने'—यदि मुख्यग्रहणे 'कार्यस्य' कर्मण 'हानि' नाश भवेत् तर्हि तस्मादेव कारणात्—'तत्' श्रुतमुच्यम्—'अग्राह्यम्' नैवोपादेयम्—अपि तु प्रतिनिधिद्वारैव कार्यं सम्पादनीयमित्यर्थः ॥ १९ ॥

(२०) ६।३।४०-४१ ग्राह्यं तन्मुख्यमात्रकृत् ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) सन्ति मुख्या ब्रीह्य प्रधानद्वयदानमात्रपर्याप्ता—सन्ति तु नीवारा सकलकार्यपर्याप्ता ।

( ३ ) तत्र सन्देह—किमत्रोपादेयम्—ब्रीह्य उत नीवारा इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—कार्यसिद्धेरेवापेक्षितत्वात् यै सम्पूर्णं कार्यं जातं सम्पन्नम् भवेत् ते एव उपादेया । तस्मादत्रापर्याप्तं ब्रीहि परित्यज्य नीवार एवोपादेय इति ।

( ५ ) सिद्धान्त—यदि मुख्यं ब्रीहिद्रव्यं प्रधानकार्यमात्रायापि पर्याप्तं लभ्यते तर्हि तावन्मात्रं तेनैव कार्यम् । प्रधानसिद्धौ च यदि शेषकार्याणि लुप्येरन् लुप्यन्तु नाम तानि । तस्मादल्पा अपि ब्रीह्य एवोपादेया इति ।

एतदभिप्रेत्याह ग्राह्यमिति । 'मुख्यमात्रकृत्' प्रधानकार्यमात्रसम्पादनयोग्यमल्पपरिमाणमपि—'तत्' श्रुतं मुख्यं द्वयमेव—'ग्राह्यम्' उपादेयमिति सस्बन्धः ॥ २० ॥

पादेऽस्मिन् विंशतिन्याया

भाष्यकारेण वर्णिताः ।

स्पष्टार्थम् ॥

इति षष्ठस्य तृतीयः ।

( ५ ) सिद्धान्त —स्विष्टकृदवदानानन्तर य शेष शिष्यते तस्या न्यथोपयोगो विहित । एव च पुनरवदानाय शेषो नास्त्येव । तस्मात्पूर्वावदाननाशे द्रव्यस्याभावात् लोप एव भवति कर्मण इति ।

एतदभिप्रेत्याह शेषेति । 'शेषस्य' स्विष्टकृदर्थमवत्तस्य 'नाशे' सति-  
'शेषक्रिया' स्विष्टकृद्धोमरूप शेषप्रतिपत्तिमूल कृत्यम्—'न' 'अस्ति'—  
कर्तव्येति शेष ॥ २ ॥

( ३ ) ६।४।४-६ शेषस्य भक्षः प्रकृतत्विजा स्यात् ।

( १ ) शेषविषयो विचार ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयो इडाभक्षण प्राशिन्नादिशेषभक्षण चाम्नातम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह —इदं प्राशिन्नादिशेषभक्षण किं प्रकृतकर्मव्यापृतै र्ऋत्विग्भिः कार्यमुत तेभ्योन्यैरिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —'यजमानपञ्चमा इडा भक्षयन्ति' इत्यत्र यजमा नसहिताना चतुर्णामृत्विजामिडामात्रभक्षणे विहिते तदितरभक्षणमन्यै कर्तव्यमिति स्पष्ट सूचितम् । तस्माद्ऋत्विग्भ्योऽन्य एव प्राशिन्नादिभक्षण कुर्युरिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —यजमानपञ्चमा इति चाक्येनान्यतोऽप्राप्त यज-  
मानकर्तृक भक्षण विधीयते, न त्वेतस्येदं तात्पर्यं यदिडामात्र यजमाना ऋत्विजश्च भक्षयेयुः । तस्माद्ऋत्विग्भिर्भक्षणस्यानेनापरिसङ्ख्याते तस्य परित्यागे मानाभावादृत्विग्भिरेव प्राशिन्नादिशेषभक्षण कार्यमेवेति ।

एतदभिप्रेत्याह—शेषस्येति । 'शेषस्य' प्राशिन्नादिशेषस्य—'भक्ष' भक्षण—'प्रकृतानां' प्रकृतकर्मणि व्यापृतानामेव—'ऋत्विजा' ऋत्विग्भिः करणीयम्—'स्यात्'—इति सम्बन्ध ॥ ३ ॥

( ४ ) ६।४।१०-१६ भिन्नैकदेशेऽपि भवेज्जुहोतिः ।

( १ ) द्रव्यनाशनिमित्तकप्रायश्चित्तविचार ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयो श्रूयते—'भिन्ने जुहोति'—इति कपाल भेदे होम ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किं कृत्स्ने एव कपाले भिन्ने सत्यथ प्राय-  
श्चित्तहोम नैकदेशे भिन्ने—उत एकदेशे एव भिन्ने न कृत्स्ने भिन्ने—उत कृत्स्नेऽपि भिन्ने एकदेशेऽपि भिन्ने इत्युभयथापीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अथ होम कपालस्य सस्काररूप । अत्यन्त-  
भिन्ने कपाले सस्कार्य कपालो नष्ट इति होमस्य नास्ति प्रयोजनम् ।  
तस्मादीषद्भङ्गे एव होमो नात्यन्तभङ्गे इति ।

## अथ षष्ठस्य चतुर्थः पादः

[ अर्थलोपविचारात्मक ]

(१) ६।४।१-२ नष्टेऽवदाने हविरन्तरं स्यात्

( १ ) प्रारब्धकर्मसु अर्थलोपनिमित्तकप्रायश्चित्तादिप्रतीकारा-  
श्चिन्त्यन्ते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयो पुरोडाशादवदानानि भवन्ति—‘मध्यादव-  
यति पूर्वार्धादवयति’ इत्यादि । कदाचिदेव भवति यत् पुरोडाशादवदत्त  
द्वयवदान नष्टम्भवति ।

( ३ ) तत्र भवति सन्देह —द्वयवदाने नष्टे किम्पुन पुरोडा-  
शशेषादवदानद्वयं कर्तव्यमुत समग्र पुरोडाशस्त्याज्यो हविरन्तर-  
मुपादेयमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —पुरोडाशशेषेऽपि मध्यपूर्वभागौ सम्भवत । अत-  
स्तयोर्भागयोः पुनरवदानद्वयं कर्तव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —कृत्स्नस्य पुरोडाशस्य भागौ मध्यपूर्वशब्दाभ्या-  
मुक्तौ न पुनं पुरोडाशशेष । ततो मुख्यस्य हविषो नाशादन्यदेव  
हवि प्रतिनिधातव्यम् । स च प्रतिनिधिराज्यमेव । तथा हि श्रूयते—‘यस्य  
सर्वाणि हवींषि नश्येयुर्दुष्येयुरपहरेयुर्वा आज्येन ता देवता परिस-  
ह्वयाय यजेत’ इति । एव च विहितस्य द्वयवदानस्य नाशे हविरन्तरेण  
कर्म समापनीयम् इति ।

एतदभिप्रेत्याह नष्ट इति । ‘अवदाने’ पुरोडाशस्य विहिते खण्डे—  
‘नष्टे’ सति—‘हविरन्तर’ अन्यदेव द्रव्यम्—‘स्यात्’ ग्राह्यमिति शेष ।  
नत्ववशिष्टात् पुरोडाशात्पुनरवदानं कर्तव्यमित्याशय ॥ १ ॥

(२) ६।४।३ शेषक्रिया नास्ति तु शेषनाशे ।

( १ ) अर्थलोपविचार ।

( २ ) होमान्ते द्रव्यशेषेण भवति स्विष्टकृद्धोम । कदाचित्तदर्थ  
स्थापितस्य शेषावदानस्य नाश स्यात् ।

( ३ ) तद्वा भवति सन्देह —किं शेषात् पुनरवदानं कर्तव्यमुत शेष-  
होम एव परित्याज्य इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —स्विष्टकृद्धोमार्थं शेषादवदात्तमिति विहितम् ।  
तस्माच्छेषाद् यद्येकमवदानं नष्टम् तदाऽवशिष्टाच्छेषात् पुनरवदानं  
कर्तव्यमेव—अन्यथा कर्मलोप एव स्यादिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — भिन्ने जुहोतीत्यत्र भिन्नशब्दो निमित्तमात्रप्रतिपादक । ततश्च कपालभेदनिमित्तकोऽयं होम इति स्थितो वाक्यार्थः । अशतो भिन्नोऽपि कपालो भिन्न एव—अत्यन्तभिन्नस्तु सुतराम् । तस्मादत्यन्तभिन्ने अशतोपि भिन्ने—उभयथापि भवत्येव होम इति ।

एतदभिप्रेत्याह भिन्नेति । ‘भिन्न’ ‘एकदेश’ अशमात्र यस्य कपालस्य तस्मिन्नेव स्मृते—‘अपि’ कपाले—‘जुहोति’ होम —‘भवेत्’ । न केवलमत्यन्तभिन्ने इत्यपि ना बोध्यते ॥ ४ ॥

( ५ ) ६।४।१७-२१ क्षामेऽत्र कृत्स्ने यजतेर्विधानम्

( १ ) पूर्वाधिकरणपवाद — क्षामेष्टिन्याय ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयो श्रूयते—‘अथ यस्य पुरोडाशौ क्षाययत्—त यज्ञ वरुणो गृह्णाति—यदा तद्वि सन्तिष्ठेत् अथ स तदेव हविर्निर्वपेत्—यज्ञो ह यज्ञस्य प्रायश्चित्ति’ इति । अस्यार्थः—यस्य यज्ञस्य पुरोडाशौ आग्नेयाग्नीषोमीयौ दग्धौ त यज्ञ वरुणो गृह्णाति—नाय यज्ञो यजमानस्य फल ददाति—यदि तादृशहविष्को यज्ञ आसमाप्तेरनुष्ठीयेत तदा तत्प्रत्यवायपरिहाराय पुनस्तदेव हविर्निरूप्य यजमानो यज्ञमनुतिष्ठेत्’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किमत्यन्तक्षामेऽयं प्रायश्चित्तहोम उताशतोऽपि क्षामे इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पूर्वाधिरणन्यायेनात्यन्तदाहे ऽनत्यन्तदाहे इत्युभयथाऽपि होम इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — तत्पक्षे कपालेषु यदा पुरोडाश स्थाप्यते तदा सूक्ष्माशदाहोऽवश्यम्भावी । एव च यदि सूक्ष्माशदाहेऽपि प्रायश्चित्तस्यात्तदा सर्वत्र स्यात् । तथाच प्रायश्चित्तस्य नित्यत्वन्न नैमित्तिकत्वम् । सर्वदाहस्तु कादाचित्को भवति प्रायश्चित्तस्य निमित्तम् । तस्मात् सर्वदाहे एव प्रायश्चित्तहोम इति ।

एतदभिप्रेत्याह क्षाम इति । ‘अत्र’ यागे—‘कृत्स्ने’ सर्वस्मिन्—‘क्षामे’ दग्धे—‘यजते’ यज्ञस्य—‘विधानम्’ कर्तव्यताविधिरिति सम्बन्धः ॥५॥

( ६ ) ६।४।२२-२३ आर्ते हविष्येकतरेऽपि यागः ।

( १ ) द्वयनाशनिमित्तकप्रायश्चित्तविषयो विचारः ।

( २ ) दशपूर्णमासयो श्रूयते—‘अस्योभय हविरार्तिमाच्छेत् ऐन्द्रपञ्चशरावमौदन निवपेत्’ इति । हविर्द्वयनाशनिमित्तकं प्रायश्चित्तमत्र विहितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किमुभयनाशे प्रायश्चित्तमुतैकतरनाशे इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — प्रायश्चित्तमिदं द्वयोरपि हविषोर्नाशे सति कर्तव्यम् नैकहविर्नाशे—उभयशब्दस्य श्रुतत्वात् इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — उभयशब्दार्थोऽत्र न विवक्षितः, हविः शब्दार्थमात्रेण निमित्तस्य पर्यवसितत्वात् । तस्मात् द्वयोर्नाशे एकतरनाशे चेत्युभयथापि प्रायश्चित्तमनुष्ठेयमेवेति ।

एतदभिप्रेत्याह—आर्ते इति । ‘एकतरेऽपि’—‘हविषि’ हविर्द्रव्ये—‘आर्ते’ नष्टे सति—‘यागः’ प्रायश्चित्तरूप-भवेदिति शेषः । एकतरस्य नाशे द्वयोश्च नाशे प्रायश्चित्तमनुष्ठेयमिति अपिना सूचितम् ॥ ६ ॥

( ७ ) ६।४।२४-२५ होतुस्तु भक्षोऽभिषवे सहोमे

( १ ) नैमित्तिकप्रायश्चित्तविचारप्रसङ्गेनान्यदपि निमित्तनैमित्तिकभावादिकं परीक्ष्यते ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—‘हविर्धाने ग्रावभिरभिषुत्य आहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्च परेत्य सदसि भक्षात् भक्षयन्ति’ इति । अभिषवे होमे च कृते तत्कर्तुर्भिर्भक्षणमत्र विहितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—किं यो होमाभिषवयोरुभयोरपि कर्ता तस्यैव भक्षणमुत एकतरस्यापि कर्तुरिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — अभिषवहोमयोरेकैकं भक्षणनिमित्तम् । अभिषवहोमौ भक्षणनिमित्तत्वेनात्र श्रुतौ । न चानयोस्साहित्यविधायकं किं मप्यस्ति । तस्मादेकस्यापि कर्तुर्भवति भक्षणमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — नात्राभिषवहोमयोर्निमित्तत्वं विधीयते । अपि तु होमाभिषवयोः कर्तुर्भक्षणं प्रति तयोरङ्गत्वमेव विधीयते । तस्मात् स्पष्टप्रतीयमानमनयो साहित्यं विवक्षितमेव । तस्मात् सहितयोरेवाभिषवहोमयोः कर्तुर्भक्षणं नैकैकस्येति ।

एतदभिप्रेत्याह होतुरिति । ‘सहोमे’ होमसहिते एव ‘अभिषवे’—यदा अभिषवो होमश्च सहैवैकेनैव कर्त्रा क्रियते तदैव—‘होतुः’ होमकर्तुः—‘भक्षः’ भक्षणम् । यदा होताऽभिषवसहितं होमं करोति तदैव तस्य भक्षणं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

( ८ ) ६।४।२६-२७ द्वयोर्विनाशे पुनरादधातिः ।

( १ ) इदमपरं निमित्तनैमित्तिकत्वम् ।

( २ ) अग्निहोत्रे श्रूयते ‘यस्योभावग्नी अनुगतावभिम्लोचेत सूर्यो वाऽभ्युदियात् पुनराधेयं तस्य प्रायश्चित्तिः’ इति । अस्यार्थः—‘आहवनीयगार्हपत्यौ उभावग्नी यदा नष्टौ भवत तदा यदि सूर्यास्त सूर्योदयो वा भवेत् तर्हि पुनराधानं कर्तव्यम्’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किमन्यतरस्य नाशे प्रायश्चित्तमुतोभयोरिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — षष्ठाधिकरणे यथा एकहविर्नाशोऽपि प्रायश्चित्तस्य निमित्तं तथाऽत्रापि एकवह्निनाशोऽपि प्रायश्चित्तस्य निमित्तमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त 'अग्नी आदधोत' इति पुनराधानविधि । तत्र च द्वित्वविशिष्टस्याग्नेरुत्पादनं विहितम् । न चैकस्य नाशे द्वयोरुत्पादनं सम्भवति । तस्मात् नैमित्तिकं यत् पुनराधानं तत्र द्वित्वस्योपपत्तये निमित्तेऽपि वह्निनाशे द्वित्वं विवक्षितव्यम् । तस्मात् सूर्यास्तमयकाले उदयकाले बोभयाग्निनाश पुनराधाननिमित्तमिति ।

एतदभिप्रेत्याह द्वयोरिति । 'द्वयो' एवाग्नयो — 'विनाशे' सति — 'पुनरादधाति' पुनराधानरूपं प्रायश्चित्तं कर्तव्यं — न त्वेकतरस्य विनाशे इति भावः ॥ ८ ॥

( ६ ) ६।४।२८-२९ कर्मान्तरं पञ्चशरावयागः

( १ ) प्रतिनिध्यविचारोऽनुवर्तते नैमित्तिकविचारप्रसङ्गेन ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते — 'यस्योभयं हविरार्तिमाहोत् ऐन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत्' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — हविषि नष्टे पञ्चशरावौदनस्य प्रतिनिधि उत निमित्ते सति कर्मान्तरमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पूर्वस्मिन्नेव कर्मणि हविर्द्वयेऽपचरिते द्रव्ये तत्प्रतिनिधिरेव पञ्चशरावौदनोऽत्र विहितः । हविर्द्रव्ये नष्टेऽपेक्ष्यते द्रव्यान्तरं दर्शयागे इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — पञ्चशराव ऐन्द्र इति पदद्वयेन द्रव्यदेवतासम्बन्धाभिधायिना यागान्तरमेव स्पष्टं विधीयते । द्रव्यदेवताभ्यां विशिष्टमिदं कर्म दर्शयागात् भिन्नमेवेति ।

एतदभिप्रेत्याह कर्मेति । 'पञ्चशरावयाग' इन्द्रदेवताकं पञ्चशरावौदननिर्वाप — 'कर्मान्तरम्' दर्शयागात् पृथगेव कर्मेति ॥ ९ ॥

( १० ) ६।४।३०-३१ दर्शस्य नैमित्तिकमङ्गमेषः ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेषः ।

( २ ) पञ्चशरावौदननिर्वाप कर्मान्तरमिति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किमिदं कर्म दर्शयागस्य प्रतिनिधिरुत तस्यैवाङ्गमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — हविर्द्वयनाशेव दर्शयागस्य निवृत्तत्वात् तस्यैवाङ्गमिति प्रतिनिधिरास्नात् ऐन्द्रं पञ्चशरावौदन इति ।



( ५ ) सिद्धान्त — आदौ सम्पादितस्य हविर्द्रव्यस्य नाशेऽपि पुन रासादितेन हविषा दर्शयाग सुसम्पाद । एव च न दर्शयागस्य सर्व था निवृत्ति । किन्तु दर्शेऽनुष्ठीयमाने यद्विनाशरूप वैगुण्यमापतित तत्परिहाराय पञ्चशरावोदननिर्वापरूप कर्म दर्शयागमुपकुर्वत्तस्यैवा ङ्ग भवतीति ।

एतदभिप्रेत्याह— दर्शस्येति । ‘एष’ पञ्चशरावोदननिर्वाप — ‘दर्श स्य’ दर्शयागस्यैव— ‘नैमित्तिकम्’ हविर्द्रव्यनाशनिमित्तकम् ‘अङ्गम्’—न तु तस्य प्रतिनिधिरिति भाव ॥ १० ॥

( ११ ) ६।४।३२-३३ सत्रोद्यमे विश्वजिदप्रवृत्तौ

( १ ) निमित्तनैमित्तिकविचार ।

( २ ) ‘य सत्राय आगुरते विश्वजिता यजेत’ इति सत्रसङ्कल्पे निमित्ते विश्वजित् श्रूयते ।

( ३ ) तत्र सन्देह —य कश्चित् सत्राय सङ्कल्प करोति स सर्वोऽपि विश्वजितमनुतिष्ठेत्—उत केवल स एव य सङ्कल्प कृत्वा तस्यानुष्ठाने न प्रवर्तते—इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —सङ्कल्पमात्र विश्वजिदनुष्ठाने निमित्त श्रूयते । अतो य कोऽपि सङ्कल्प करोति तेन विश्वजिद्यागोऽनुष्ठेय । सत्रप्रयोगे स प्रवर्तते न वैत्यकिञ्चित्करमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — कर्तव्याननुष्ठानस्य प्रायश्चित्तरूप एव विश्वजि द्याग इति स्पष्ट प्रतीयते । एव च सङ्कल्पमात्र न निमित्तमपि तु स ङ्कल्पाननुष्ठानम् । तस्मात् सङ्कल्प्य सत्रेऽप्रवृत्तेनैव विश्वजिदनु ष्ठानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—सत्रेति । ‘सत्रोद्यमे’ सत्राय उद्यम सङ्कल्प कृ त्वा—‘अप्रवृत्तौ’ सत्रस्यानुष्ठाने यदि तस्य अप्रवृत्ति स्यात् तदैव ‘विश्वजित्’ विश्वजिद्यागोऽनुष्ठेय —न तु सङ्कल्पमात्रे—इत्याशय ॥११॥

( १२ ) ६।४।३४-४० वत्सेन कालं कलयेद् वृतस्य ।

( १ ) निमित्तनैमित्तिकपरीक्षाया विशेष ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयो श्रूयते—‘वत्सैरमावास्याया व्रतमुपैति’ । ए तद्व्रत च—‘अमाषममास बहुसपिष्क व्रतयति’ इत्येतद्रूपो भोजनविशेष ॥

( ३ ) सन्देह —वत्सशब्देन किं व्रतसाधनमुच्यते उत व्रतस्य कालो विधीयते—इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —वत्सैरिति तृतीयया साधनत्वमुच्यते । तस्मात् वत्ससाधनकं व्रतमत्र विधीयत—इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —न योग्यो वत्सो व्रतस्य साधन भवितुम् । वत्सशब्देनात्र वत्सापाकरणकाल उच्यते । तस्माद्वाक्येनानेन व्रताय वत्सापाकरणकालो विधीयते—इति ।

एतदभिप्रेत्याह वत्सेनेति । 'वत्सेन' वत्सपदेन वत्सापाकरणसूच केन—'व्रतस्य' 'काल' 'कलयेत्' उपलक्ष्येदित्यर्थ ॥ १२ ॥

( १३ ) ६।४।४१-४२ असन्नयत्स्वप्नयमेव कालः

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) वत्सशब्देन व्रतस्य कालो लक्ष्यते इति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह —अयं व्रतकाल किं यस्य सान्नाय्यमस्ति तस्यैव उत यस्य सान्नाय्यमस्ति यस्य च नास्त्युभयोरपीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —वत्सापाकरण कालस्य लक्षणम् । यस्त्वमावास्याया सान्नाय्यं न करोति—किन्तु ऐन्द्राग्रपुरोडाशं करोति—तस्य वत्सापाकरणं नास्त्येव । तस्मात् यस्य सान्नाय्यं तस्यैवायं व्रतकाल इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —यत्रापि नास्ति वत्सापाकरणं तत्रापि तदुपलक्षितकालोऽस्त्येव । तस्मात् स काल सर्वस्य—यस्य सान्नाय्यमस्ति यस्य च तन्नास्ति—इति ।

एतदभिप्रेत्याह असन्नयत्स्विति । 'अयम्' वत्सापाकरणोपलक्षित 'एव'—नान्य — 'काल'—'असन्नयत्सु' सान्नाय्यरहितेषु अपि कर्तव्यं स्यात् । सान्नाय्यासान्नाय्योभयसम्बन्धी काल इत्यपिना सूचितम् ॥ १३ ॥

( १४ ) ६।४।४३-४७ शाखां क्षिपेत् प्रस्तरहोमकाले ।

( १ ) निमित्तनैमित्तिकविचार ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—'सह शाखाया प्रस्तरं प्रहरति' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किमत्र विधीयते—किं शाखा प्रस्तरस्याङ्गभूतेति उत प्रस्तरप्रहरणकाले शाखा प्रहर्तव्येति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —प्रस्तरप्रहरणं प्रति शाखाया अङ्गत्वं स्पष्टमत्र विहितं प्रतिभासते ।

( ५ ) सिद्धान्त —वत्सापाकरणादौ शाखाया उपयोगः । उपयुक्तस्य चोपयोगान्तरमन्याय्यम् । तस्मात्प्रहरणं प्रत्यस्या अङ्गत्वं न सम्भवति । उपयुक्ता च शाखा प्रतिपत्तिमपेक्षते । प्रक्षेप एव चास्या प्रतिपत्तिः । तस्मात् प्रस्तरप्रहरणेन शाखाप्रक्षेपकालो लभ्यते । तस्मात् प्रस्तरप्रहरणकाले एव शाखाप्रक्षेपः कर्तव्य इत्येव विध्यर्थ इति ।

एतदभिप्रेत्याह शाखासिति । 'प्रस्तरहोमकाले' यस्मिन् काले प्रस्त-

रहोम क्रियते तस्मिन्नेव काले-‘शाखा’ पत्सापाकरणे कृतोपयोगाम्-  
‘निपेत्’ प्रतिपत्तिरूपेण, न तु शाखा प्रस्तरहोमस्याङ्गमिति भावः ॥१४॥

षष्ठस्य पादे कथिताश्चतुर्थे

न्यायाः समीक्ष्यात्र चतुर्दशैव ।

स्पष्टम् ।

इति षष्ठस्य चतुर्थः ।

### अथ षष्ठस्य पञ्चमः पादः

दीक्षाविचारबहुलः ।

(१) ६।५।१-७ देवताऽभ्युदयेऽन्या स्यात्

(१) निमित्तनैमित्तिकविचारोऽनुवर्तते पूर्वपादगतदशमाधिकरण  
विचारात् ।

(२) दर्शपूर्णमासयो अयते-‘यस्य हविर्निरुत पुरस्ताच्चन्द्रमा  
अभ्युदेति त्रेधा तण्डुलान् विभजेत्—ये मध्यमा स्युस्तान्गनये दात्रे  
पुरोडाशमष्टाकपाल कुर्यात्—ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे चरुम्—  
येऽणिष्ठास्तान् विष्णवे शिपिविष्टाय चरुम्’ । इति । अस्यायमर्थः—  
दर्शभ्रान्त्या केनचिद् चतुर्दश्या हविर्निरुत—ततः पूर्वस्या दिशि प्र-  
त्युषे चन्द्रेऽभ्युदिते चतुर्दश्यामेव भ्रान्त्या निर्वपन कृतमिति चन्द्रद-  
र्शनेन निश्चित्य निरुतास्तण्डुलास्त्रेधा विभजनीया-अखण्डिता ईषत्ख-  
ण्डिता अतिसूक्ष्मकणाश्चेति-त एते इन्द्रादिदेवताभ्यो प्रदातव्याः इति ।

(३) तत्र सन्देहः—किमत्र कालापराधे यागान्तर विधीयते—उत  
कालव्यत्यास निमित्तीकृत्य दर्शपूर्णमासस्यैव देवतान्तरसयोरूप प्र-  
कारभेद उपदिश्यते इति ।

(४) पूर्वपक्षः—प्रक्रान्तदर्शपूर्णमासादन्यदेवेदं कर्म—कालापरा-  
धप्रायश्चित्तार्थं द्रव्यदेवतान्तरविशिष्टस्य कर्मणः स्पष्टं विधीयमानत्वात् ।  
तस्मादिदं कर्मान्तरं प्रायश्चित्तरूपमनुष्ठाय परेषु दर्शपूर्णमासोऽनुष्ठेय इति ।

(५) सिद्धान्तः—हविर्निरुतमिति प्रकृतं यद् दूर्शकर्म तत् परि-  
त्यज्य कर्मान्तरकल्पने प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये प्रसज्येताम् । अतः प्रकृते  
एव दर्शकर्मणि कालव्यत्यासदोषं निमित्तीकृत्य निरुतस्य हविषः द-  
र्शदेवताभ्योऽपनीय देवतान्तरेभ्यः प्रदानं कर्तव्यमिति दर्शस्यैव प्रयोग-

प्रकारभेद । एव च दर्शस्यैवाय नैमित्तिक प्रयोग न तु काललोपप्रायश्चित्तम् । ततश्च कालव्यत्यासनिमित्तक देवतान्तरसयोगिदर्शप्रयोगमेवानुष्ठाय पश्चात् स्वकाले नित्योऽपि दर्शप्रयोगोऽनुष्ठेय इति ।

एतदभिप्रेत्याह—देवतेति । ‘अभ्युदये’ दर्शयाभ्युदितेष्टौ—‘देवता’ एव केवलम्—‘अन्या’ दर्शयदेवताभ्योऽतिरिक्ता—‘स्यात्’—अन्यत् तु सर्व दर्शेति कर्तव्यतानुसार्येव, न तु कर्मान्तरमित्याशय ॥ १ ॥

(२) ६।५।१०-११ उपाशुस्तत्र हीयते ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेषो विचार ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोर्यथा पुरोडाशहविष्को होमस्तथाज्यहविष्कोऽपि उपाशुयागरूपो भवति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —पूर्वाधिकरणवाक्येन यथा पुरोडाशसम्बन्धे देवतान्तरसयोग स्थितस्तथैव किमुपाशुयागोऽपि भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —यथैव पुरोडाशे हविषि दर्शयदेवतात्यागस्तथैवोपाशुयागहविषि आज्येऽपि पूर्वदेवता त्यक्त्वा प्रयोगान्तर कर्तव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —पुरोडाशविषये उदाहृतवाक्ये देवतान्तर विहितम् । आज्यविषये तु न तथा । तस्मात् अत्र कालव्यत्यासनिमित्तके दर्शस्य प्रयोगान्तरे यदि उपाशुयागोऽनुष्ठीयेत तर्हि पूर्वदेवताना त्यक्त्वा देवतान्तरस्य चाश्रवणात् उपाशुयागस्य लोप एव स्यादिति । [वस्तुतस्तु उपाशुयागस्य पौर्णमासान्तर्गतत्वात् दर्शे प्रसक्तिरेव नास्ति । तस्मात् कृत्वा चिन्तारूपोऽयं विचार । अत एवोक्तं यद्युपाशुयागोऽनुष्ठीयेतेति] ।

उक्तसिद्धान्तमभिप्रेत्याह उपाशुरिति । ‘तत्र’ कालव्यत्यासनिमित्तके दर्शस्य प्रयोगान्तरे—‘उपाशु’ उपाशुयाग —‘हीयते’ लुप्यते नैवानुष्ठीयत इत्यर्थ ॥ २ ॥

(३) ६।५।१२-१५ अनिरुद्भोदये ऽपीज्या

( १ ) प्रथमाधिकरणशेषो विचार ।

( २ ) कालव्यत्यासनिमित्तकाऽभ्युदयेष्टिरूप दर्शस्य प्रयोगान्तर कर्तव्यमिति स्थितम् ।

( ३ ) तत्रैव सन्देहान्तरम्—‘किं हविषो निर्वापानन्तरं यदा चन्द्रोदयस्तदैवाभ्युदयेष्टि कर्तव्या—उत यदा निर्वापात् प्रागपि चन्द्रोदयस्तदाऽपीति ॥

( ५ ) पूर्वपक्ष —‘यस्य हविर्निरुतम्’ इति स्पष्टमभिधानात् हविषि निरुते एव यदि चन्द्रोदयस्तदैवाभ्युदयेष्टिरिति निर्विवादमिति ।

८(५) सिद्धान्त — हविर्मात्रस्य चन्द्रोदयसम्बन्धोऽभ्युदयेष्टिनिमित्तत्वेनोच्यते—न तु निर्वापविशिष्टस्य हविष । एव च दर्शानुष्ठानप्रारम्भमात्रे तात्पर्यम् । तस्मात् प्रारब्धमात्रे दर्शानुष्ठाने यदि चन्द्र उदेति तर्हि निरुप्तेऽनिरुप्ते वा हविषि सम्पादितमात्रे अभ्युदयेष्टिरनुष्ठेयेति ।

एतदभिप्रेत्याह अनिरुप्तेति । अनिरुतोदये' हविषि अनिरुप्ते, हविर्निर्वापात् प्राक्, 'उदये' चन्द्रोदये सति—'अपि'—'इज्या' अभ्युदयेष्टि—अनुष्ठेयेति शेष ॥ ३ ॥

(४) ६।५।१६-१७ तत्रोद्वापो हविर्ग्रहे ।

(१) पूर्वाधिकरणशेषो विचार ।

(२) दर्शानुष्ठानस्याकाले प्रारम्भमात्र निमित्तमभ्युदयेष्टेरिति स्थितम् ।

(३) तत्र सन्देह —हविर्निर्वापात् प्रागेव यदा चन्द्रोदयस्तदा चन्द्रोदयानन्तरमभ्युदयेष्टौ प्रक्रान्ताया हविषो निर्वाप काभ्यो देवताभ्य स्यात्—किं प्राकृताभ्यो दर्शपूर्णमासीयाभ्य उत वैकृताभ्य 'यस्य हविरि'त्यादिवाक्योक्ताभ्य एवेति ।

(४) पूर्वपक्ष —तण्डुलान् विभजेदिति वाक्ये तण्डुलभूतस्य हविष सम्बन्धेन वैकृतदेवतान्तरविधानं दृश्यते तण्डुलविभागस्तु अतण्डुलभूतानां न सम्भवति । तस्मात् अनिरुप्ते हविषि तण्डुलाभावात् प्राकृतदेवतापनये प्रमाणाभावात् चन्द्रोदयानन्तरं कृतो निर्वाप प्राकृताभ्य एव देवताभ्य स्यादिति ।

(५) सिद्धान्त —उदाहृतवाक्ये तण्डुलशब्दो हविर्मात्रस्योपलक्षकः । अन्यथा दधिपयसोर्देवतापनयो न स्यात् । एव च तण्डुलशब्देन हविर्मात्रविवक्षायां ब्रीहीणामपि हविष्ट्वात् प्राकृतदेवतासम्बन्धमपनीय देवतान्तरसम्बन्धं कर्तव्यम् । तस्माद् वैकृताभ्य एव देवताभ्यो निर्वाप इति ।

एतदभिप्रेत्याह—तत्रेति । 'तत्र' अभ्युदयेष्टौ—'हविर्ग्रहे' हविर्मात्रग्रहणे 'उद्वाप' अपनय—प्राकृतदेवताया स्यादेवेति शेष ॥ ४ ॥

(५) ६।५।१८—२० अर्थोऽर्धग्रहस्तूष्णीम्

(१) पूर्वाधिकरणशेष ।

(२) अस्त्यभ्युदितेष्टि । तत्र हविष्यनिरुप्ते यदि चन्द्र उदेति तदा निर्वापो वैकृताभ्य एव देवताभ्यो भवतीति स्थितम् ।

(३) तत्र सन्देह—यदा हविषोऽर्धं निरुप्तमर्धमनिरुप्तं तदा यदि च-

न्द्रोदय—तर्हि किं कर्तव्यम्—किं यदनिरुप्तं तद्वैकृतीभ्यो निर्वसव्यमुत प्राकृतीभ्य आहोस्वित् तूष्णीमेवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अवशिष्टोऽशः प्राकृतीभ्य एव निर्वसव्य —तासां मेव प्रवृत्तत्वात् ॥ अथवा चन्द्रोदये निमिरो सति नैमित्तिकस्य प्राकृतदेवतासम्बन्धापनयस्य प्रथमाधिकरणन्यायेनावश्यम्भावित्वात् वैकृतीभ्य एवावशिष्टाशनिर्वाप इति पूर्वपक्षद्वयम् ।

( ५ ) सिद्धान्त —अस्ति प्राकृतदेवतापनयः प्रथमाधिकरणन्यायेन । अन्यदेवतासम्बन्धस्तु न प्राप्नोति । एव च प्राकृतीनामपनयात् वैकृतीनां च सम्बन्धाभावात् अवशिष्टाशस्य तूष्णीमेव निर्वाप इति ।

एतदभिप्रेत्याह अर्थेति । ‘अर्थेति’ हविष ‘अर्थ’ अशमात्रं यदा निरुप्तमवशिष्टं त्वनिरुप्तं तस्मिन्नभ्यन्तरे यदि चन्द्रोदयस्तर्हि—‘अर्थस्य’ अवशिष्टस्य हविरशस्य ‘ग्रह’ ग्रहणं निर्वाप —‘तूष्णीम्’ देवतासम्बन्धरहित एव भवतीति शेषः ॥ ५ ॥

( ६ ) ६।५।२१-२४ असान्नाय्येऽप्ययं यजिः ।

( १ ) अभ्युदयेष्टिविषयको विचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) अभ्युदयेष्टौ श्रूयते—‘दधनि चरुम्, शृते चरुम्’ इति प्रायश्चित्तम् ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—किमिदं प्रायश्चित्तं सान्नाय्यिन एवोत सान्नाय्यसन्नाय्युभयोरिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —सान्नाय्यरहितस्य दधिपयसी न वर्तते । तदभावे च ‘दधनि चरुम्—शृते चरुम्’ इति विधानं न सङ्गच्छते । तस्मात् सान्नाय्यिन एवैषेष्टिरिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः अभ्युदयेष्टिविधौ—‘यस्य हविर्निरुप्तमित्यादौ—अप्राप्ता देवता एव विधीयन्ते । न च तण्डुलवद् दधिपयसी अनूद्य एतद्विधानम् । चरुश्रपणं चोदकेऽपि सम्भवति । तस्मान्नात्रापि दधिपयसोरवश्यसयोगः । तस्मात् सान्नाय्यिवदसान्नाय्यिनोऽपि भवतीष्टिरिति ।

एतदभिप्रेत्याह असान्नाय्य इति । ‘असान्नाय्ये’ यथा सान्नाय्ययुक्ते तथा सान्नाय्यरहितेऽपि—‘अयं यजि’ अभ्युदयेष्टिरनुष्ठेया भवतीति शेषः ६॥

( ७ ) ६।५।२५-२७ साभ्युत्थानोऽक्रयेऽपि स्यात्

( १ ) अधिकारविचारे निमित्तनैमित्तिकविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) इदमात्मनायते—‘यदि सत्राय दीक्षितानां साभ्युत्तिष्ठासेत्, सोमं विभज्य विश्वजितां यजेत्’ । अस्यार्थः—सप्तदशानां सत्रिणाम्मध्ये

यद्वि कोऽपि सत्रैकदेशमनुष्ठाय सत्र परित्यज्य गन्तुमिच्छेत्, तदा स्व  
कीय सोम विभज्य तेन सोमेन विश्वजिद्याग कुर्यादिति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —अय विश्वजिद्याग कि सोमक्रयानन्तरमुत्था  
तुमिच्छतो भवत्युत तस्मात् पूर्वमपि इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —उच्यमानस्य सोमविभजनस्य सोमक्रयात् पूर्व  
मसम्भवात् सोमक्रयानन्तरमेवोत्थातुमिच्छतोऽय विश्वजिद्याग इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —नात्र सोमविभागोऽङ्गत्वेन विधीयते । सोमग्रहण  
तु प्रदर्शनार्थमेव । उत्थानेच्छा निमित्तीकृत्य विश्वजिदनुष्ठानमात्रमत्र  
विधीयते । तस्मात् प्रागपि सोमक्रयणादुत्थातुमिच्छतो भवति याग इति ।

एतदभिप्रेत्याह साभ्युत्थान इति । 'अक्रये' सोमक्रयणात् प्राक्  
'अपि'—सत्रे प्रवृत्तमात्र —'साभ्युत्थान' अभ्युत्थानेन सहित अभ्युत्था  
नमिच्छन्—'स्यात्' विश्वजित्यधिकृत इति शेष । तस्मात् सत्रे प्रवृत्त-  
मात्र सोमक्रयणात् प्रागूर्ध्व वा उत्थातुमिच्छन् विश्वजिद्याग कुर्यादि-  
त्याशय ॥ ७ ॥

( ८ ) ६।५।२८ दीक्षामानं विकल्पतः ।

( १ ) दीक्षाविचार प्रस्तूयते ।

( २ ) ज्योतिष्टोमप्रकरणे दीक्षाकल्पा श्रूयन्ते—'एका दीक्षा तिस्रो  
वा दीक्षा चतस्रो दीक्षा द्वादश दीक्षा' इति । दीक्षणीयेष्ट्या स-  
म्पन्न सस्कारो दीक्षा । सा चैकस्मिन्दिनेऽनुष्ठिता एका । एवं त्रिषु  
चतुर्षु द्वादशसु वा दिनेषु दीक्षाधर्मा वाङ्नियमादयोऽनुवर्तनीया —  
इत्यस्य वाक्यस्यार्थः ।

( ३ ) तत्र सन्देह —कि ज्योतिष्टोमे द्वादशदीक्षाकल्प उपादेय उत  
दीक्षासङ्ख्यायामनियम इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —द्वादशैव दीक्षा । 'द्वादशरात्रीर्दीक्षितो भृति व-  
न्वीत' इति श्रूयते । यज्ञार्थं याज्या द्रव्यसम्पादनं भृतिवननन्—तच्च  
नित्यम् । तत्सयोगेन द्वादशत्वपक्षोऽपि नित्यः । एकादिसङ्ख्यानां च  
विकृतिषु सम्बन्ध इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —उदाहृतवाक्यस्य 'दीक्षितो भृति वन्वीत' इत्येता  
वत्येव तात्पर्यम्—द्वादशवचनं तु प्रदर्शनार्थम् । एव च सति प्रत्यक्षश्रुता  
एकत्वादिकल्पा अबाधितास्तिष्ठन्ति । तस्मात् सर्वे कल्पा ज्योतिष्टोमे  
विकल्पिता इति ।

एतदभिप्रेत्याह दीक्षेति । 'दीक्षाया' 'मानम्' परिमाणं सङ्ख्येति  
यावत्—'विकल्पत' वैकल्पिकमेव भवतीत्यर्थः, ॥ ८ ॥

[ भाष्यकारेण त्वष्टमनवमाधिकरणयो स्थाने एकमेवाधिकरण  
स्थापितम् । तत्र चाष्टमाधिकरणसिद्धान्तभूतो वैकटिकपक्ष पूर्वपक्ष ,  
नवमाधिकरणसिद्धान्तभूतो द्वादशरूप सिद्धान्त इति ज्ञेयम् ॥ अत्र धृत  
आधिकरणद्वयविभागो वार्तिककारसम्मतो मण्डनमिश्रेणापि स्वीकृत । ]

(६) ६।५।२६ द्वादशाहे द्वादशैताः

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) अस्ति दीक्षाया सह्यभाभेद । स च ज्योतिष्टोमे वैकटिक  
इति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किं सर्वासु ज्योतिष्टोमविकृतिषु विकटप एव  
उत कुत्रापि नियमोऽपीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — ज्योतिष्टोमे दीक्षापक्षेषु विकटप इति स्थितम् ।  
प्रकृतिवच्च विकृति । तस्मात् सर्वासु ज्योतिष्टोमविकृतिष्वपि विकटप एवेति ।

( ५ ) सिद्धान्त — ज्योतिष्टोमविकृतौ दीक्षासह्ययाया द्वादशत्वं एव  
नियम । 'षट्त्रिंशदहो वा एष यद् द्वादशाह' इति श्रूयते । तत्र सुत्या  
द्वादश उपसदो द्वादश इत्यविवादम् । एव सति यदि दीक्षाया अपि  
द्वादशत्वं न स्यात्तर्हि षट्त्रिंशत्सत्यापूर्तिरेव न स्यात् । तस्माद् द्वाद  
शाहे द्वादशैव दीक्षा नियता इति ।

एतदभिप्रेत्याह द्वादशाह इति । 'द्वादशाहे' द्वादशाहनामिकाया ज्यो  
तिष्टोमविकृतौ — 'एता' दीक्षा — 'द्वादश' द्वादशसह्यका एव, न न्यूना  
नाप्यधिका इति नियम एवेत्याशय ॥ ६ ॥

(१०) ६।५।३०-३७ माघीदीक्षासु पूर्णिमा ।

( १ ) दीक्षाविषयो विचार ।

( २ ) गवामयने श्रूयते — 'पुरस्तात् पौर्णमास्याश्चतुरहे दीक्षे  
रन्' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — कस्या पौर्णमास्या इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — यस्या कस्या अपि पौर्णमास्या इति । नास्ति  
नियम विशेषवचनाभावात् इति । अथवा यदि नियमस्तर्हि चैत्र्यामेव  
नियम । उदाहृतवाक्ये पौर्णमासीमुक्त्वा वाक्यशेषे चैत्री सङ्कीर्त्यते ।  
तस्मात् वाक्यशेषन्यायेन चैत्र्या नियम इति वा पूर्वपक्ष ।

( ५ ) सिद्धान्त — अस्ति नियम — स च माघ्यामेव । उदाहृते  
वाक्ये एव एकाष्टकाया कूय सम्पद्यत' इत्युक्तम् । माघ्या एव पुर  
स्तात् चतुरहे दीक्षितस्य एकाष्टकाया क्रय शक्यते कर्तुम् । न चैतत्  
चैत्र्या सम्भवति । तस्मादत्र पौर्णमासी माध्येवेति ।



एतदभिप्रेत्याह माघीति । 'दीक्षासु' विहिता—'पूर्णिमा' पौर्णमा-  
सी—'माघी' माघमासीयैव ग्राह्येति ॥ १० ॥

(११) ६।५।३८-३९ यावदीक्ष निषिद्धानि

(१) दीक्षाविचारोऽनुवर्तते निमित्तनैमित्तिकभावविचारप्रसङ्गेन ।

(२) ज्योतिष्टोमे दीक्षारम्भदिनमारभ्य पञ्चमे सप्तमेऽष्टमे वा दिने  
सुत्या भवति—तस्मिन् सुत्यादिने त्रिषु सवनेष्वनुष्ठितेष्ववभृथ कर्त-  
व्य —तस्मिन् कृते दीक्षानियमा ( दीक्षितो न ददाति न पचति न जुहो-  
तीत्येवमादय ) निवर्तन्ते । कदप्रचिदेव स्याद्यद् दैवान्मानुषाद्वा विघ्नात्  
अवभृथ कतिचिद्दिनानि विलम्ब्यते ।

(३) तत्र सन्देह —विहितकालादनन्तरं विलम्बितादवभृथानुष्ठा-  
नाच्च प्राग् यानि दिनानि तेषु किं दानपाकहोमनिवृत्तिरूपं नियमा अनु-  
ष्ठीयन्ते न वेति ।

(४) पूर्वपक्ष —तेषु दिनेषु न सन्ति नियमा —श्रुतस्य नियमावधे-  
रवभृथकालस्यभित्तिरन्तत्वात् । तस्मात् उक्तायामवस्थायामवभृथात्  
प्राक् दानपाकहोमा कर्तव्या एवेति ।

(५) सिद्धान्त —दीक्षानियमत्यागस्यावभृथो निमित्तं नावभृथ-  
काल । तस्मादवभृथकालेऽतिक्रान्तेऽपि यावदवभृथ दीक्षानियमा  
अनुवर्तन्ते । तस्मात्तेषु दिनेषु निषिद्धा दानपाकहोमा नैव कार्या इति ।

एतदभिप्रेत्याह यावदिति । 'यावद्दीक्ष' यावत्कालपर्यन्तं दीक्षा-  
ऽनुवर्तते—दीक्षावसानसूचकोऽवभृथो नानुष्ठीयते—तावत्कालपर्यन्तं—  
'निषिद्धानि' मन्तव्यानि दानपाकहोमादिकर्माणि । तस्मादवभृथोत्कर्षे  
दीक्षानियमानामप्युत्कर्ष इत्याशयः ॥ ११ ॥

(१२) ६।५।४०-४१ नात्र लोपे पुनःक्रिया ।

(१) पूर्वाधिकरणशेषो विचारः ।

(२) अवभृथोत्कर्षे दीक्षानियमानामनुवृत्तावधान्तरेषु दिनेषु पा-  
कादिकर्माभावात् अग्निहोत्रादि नानुष्ठीयते ।

(३) तत्र सन्देह —एतेषु दिनेषु नित्यस्याग्निहोत्रादेरननुष्ठाने यो  
दोषस्तत्परिहाराय य प्रतिहोमो विहितस्स कर्तव्यो न वेति ।

(४) पूर्वपक्ष—अग्निहोत्राङ्गभूतयो प्रातस्सायहोमयो पुरुषाप-  
राधादननुष्ठाने सति प्रतिहोमोऽपराधपरिहारायावश्यकर्तव्यत्वेन विहि-  
तः । प्रकृतेऽपि पुरुषापराधादेवावभृथे विलम्बं पीकादिनिवृत्त्यनुवृत्ति-  
श्च । तस्मादत्रापि दोषपरिहाराय प्रतिहोमोऽवश्यमेव कर्तव्य इति ।

(५) सिद्धान्त—अवभृथविलम्बस्य पुरुषापराधकृतत्वेऽपि दीक्षा यदा

अनुवर्तते तदा दानादे श्रुत्या प्रतिषिद्धत्वात् तदननुष्ठाने नास्ति कश्चित् पुरुषस्यापराध । अतो नैवास्ति कर्तव्यस्य त्याग । तस्मादपराधाभावे तत्परिहाराय प्रतिहोमो नैव प्राप्नोतीति ।

एतदभिप्रेत्याह—नात्रेति । 'अत्र' अवभृथोत्कर्षे दीक्षानियमानुवृत्तौ—'लोपे' पाकाद्यभावाद्धोमादीनामननुष्ठाने सति 'पुन क्रिया' होमस्य पुनरनुष्ठानम् प्रतिहोमरूपेण—'न' भवति इति शेष ॥ १२ ॥

(१३) ६।५।४२ प्रतिहोमो न चोत्कर्षे ।

( १ ) पूर्वविचारसदृशमेव विचारान्तरम् ।

( २ ) कृतेऽवभृथे तत्पश्चादुदवसानीयेष्टिर्विहिता । सेष्टिर्यदि केनापि कारणेन विलम्बिता तत्रापि तदिष्टिकरणपर्यन्तमग्निहोत्रादेर्निवृत्तिर्भवति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किं तदनुष्ठानदोषपरिहाराय प्रतिहोम कर्तव्यो न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अवभृथान्ते दीक्षानियमा निवृत्ता । तथाच पाकादिनिषेधनिवृत्ताववश्यकतव्यत्वमग्निहोत्रादे । तत् चेन्न कृतं तर्हि कर्तव्यस्य कर्मणोऽननुष्ठानात् तद्दोषपरिहाराय कर्तव्य एव प्रतिहोम इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —'एतथा पुनरावेयसम्मितयेष्टाऽग्निहोत्र जुहुयात्' इति स्पष्ट श्रुत्या उदवसानीयेष्टरनन्तरमग्निहोत्रानुष्ठानमुक्तम् । तस्मादकृतायामुदवसानीयायामिष्टौ अग्निहोत्रस्य कर्तव्यत्व नैवापतति । तथा च तदननुष्ठाने दोषाभावात् दोषपरिहाराय प्रतिहोमो नैव कार्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह प्रतिहोम इति । 'उत्कर्षे' उदवसानीयेष्टेरिति शेष — यदा केनापि कारणेनावभृथानन्तरमुदवसानीयेष्टिर्न क्रियते तदा—'च' यथा पूर्वस्मिन्नधिकरणे—'प्रतिहोम' 'न' कार्य इति शेष ॥ १३ ॥

(१४) ६।५।४३ होमाश्चेत् सायमादितः ।

( १ ) प्रतिहोमविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) प्रतिहोमो न कर्तव्य इति स्थितम् । तत्र कृत्वा चिन्तायाम्—

( ३ ) सन्देह —यदि प्रतिहोम क्रियेत तर्हि तत्र बहूना होमानाः प्राप्नोत्वात् तेषामनुष्ठाने अस्ति कोऽपि क्रमनियमो न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —युगपदेव सर्वे होमा प्राप्ता । नास्ति तत्र किञ्चिदपि क्रमनियामकम् । तस्मात् क्रमाभावे यथारुचि कर्तव्या इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —अतिपातिताना कर्मणा य क्रमस्तस्य परित्यागे मानाभावात् प्रतिहोमोऽपि स एव क्रमोऽनुष्ठेय । तत्राग्निष्टोमस्य सूर्यास्तसमयात् प्रागेव समाप्तत्वात् सायहोम एवादावतिपातितः । तस्मात् प्रतिहोमानुष्ठानकाले सायहोम एवादौ कर्तव्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह होमा इति । 'चेत्' यदि—'होमा' क्रियेरन् तर्हि—  
'सायमादित' सायहोम एव आदि प्रथम यस्मिन् तमेव क्रममवल  
म्ब्य—कतव्या इति शेष ॥ १४ ॥

(१५) ६।५।४४ प्रातराद्या षोडशिनी

( १ ) पूर्वाधिकरणपवाद ।

( २ ) अग्निष्टोमसस्थानन्तर षोडशिसस्था यदा परित्यज्यते—तन्नि  
मित्ताश्च प्रतिहोमा क्रियन्ते—

( ३ ) तत्र सन्देह —षोडशित्यागनिमित्तषु क क्रम इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —पूर्वाधिकरणन्यायेन अत्रापि सायहोमादिक्रमेणैव  
कार्या प्रतिहोमा इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —षोडशिसस्थाया राज्ञौ समाप्तिर्भवति । तस्मात्  
तत्रातिपाते प्रातर्होम एव प्रथम । तस्मात् प्रतिहोमेष्वपि प्रातर्होम  
एवादौ कर्तव्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह—प्रातरिति । 'षोडशिनी' षोडश्यतिपातनिमित्तकप्र-  
तिहोम —'प्रातराद्या' प्रातर्होमि आद्यो यस्या सा तथाभूता कार्या इति शेष ।

[ न्यायमालायामिदमप्रकरणान्तरं न गृहीतम्—पूर्वाधिकरण एवा  
न्तर्भावितम् ] ॥ १५ ॥

(१६) ६।५।४५-४७ प्रकृते स्याद् भिदाहुति' ।

( १ ) निमित्तनैमित्तिकभावविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयो श्रूयते—'भिन्ने जुहुति' इति पात्रभेदनिमि-  
त्तको होम ।

( ३ ) तत्र सन्देह —पात्रभेदनिमित्तकोऽयं होम किं दर्शपूर्णमा-  
सयोरेव उत यत्र यत्र वैदिके लोकिके वा कर्मणि पात्र भिद्यते तत्रापि ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —पात्रभेदे निमित्ते सति होम कर्तव्य इति सामा-  
न्येनैव विधि श्रुत । तस्माद् दर्शपूर्णमासयोरेव नियमने प्रमाणाभा-  
वात् सर्वत्रैव कर्मणि यदा यदा पात्र भिद्यते तदा तदा तन्निमित्तको  
होम कर्तव्य इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —सर्वत्र योजने प्रतिकर्म फल कर्तव्यं प्रसज्यते ।  
प्रकृतेनैव तु दर्शपूर्णमासकर्मणा सहैकवाक्यताया तत्फलेनैव फलवत्ता  
सिध्यति । तस्मात् दर्शपूर्णमासयोरेव पात्रभेदे सति होम कर्तव्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह प्रकृत इति । 'भिदाहुति' पात्रभेदनिमित्तको होम --  
'प्रकृते' दर्शपूर्णमासकर्मण्येव, नान्यत्र कर्मणि—'स्यात्'—कर्तव्येति  
शेष ॥ १६ ॥

(१७) ६।५।४८ व्यापन्न भोजनानर्हम्

( १ ) निमित्तनैमित्तिकविचार ।

( २ ) इदमास्नायते 'व्यापन्नमप्सु प्रहरति' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किमिदं व्यापन्नं नामेति निश्चेत शक्यते न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — निश्चायकस्य हेतोरभावान्नैव शक्यो निश्चेतु व्यापन्नशब्दार्थ इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—केशकीटादिभिर्दूषितं द्रव्यं यदार्यैर्भोक्तुमयोग्यं तदेव व्यापन्नमिति स्पष्टं निश्चेतुं शक्यत एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह व्यापन्नमिति । 'भोजनानर्हम्' आर्यैर्भोक्तुमशक्यं तदेव 'व्यापन्नम्' इति कथ्यते इति शेषः ॥ १७ ॥

(१८) ६।५।४९-५० अपच्छेदेऽपि तद्विधिः ।

( १ ) निमित्तनैमित्तिकविचार ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—'यद्युद्राताऽपच्छिद्येत अदक्षिणो यज्ञः सस्थाप्य — यदि प्रतिहर्ताऽपच्छिद्येत सर्वस्व दद्यात्' इति । अस्यार्थः — प्रातः सवने बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणा ऋत्विजः शालाया बहिः प्रसर्पन्ति । तदानीमेकस्य पृष्ठतोऽन्य इति पिपीलिकावत् पङ्क्त्याकारेण गन्तव्यम् । तत्र पुरतो गन्तुं कच्छं गृहीत्वैव पृष्ठतोऽन्यो गच्छेत् । एव सति प्रमादाद् यद्युद्राता गृहीतं कच्छं मुञ्चेत् तदा दक्षिणामदत्वा यज्ञं समापनीय — तं समाप्य पुनरपि यज्ञोऽनुष्ठेयः । यदा च प्रतिहर्ता कच्छं मुञ्चेत् तदा तस्मिन्नेव प्रयोगे सर्वस्व दद्यात्—इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — यद्युद्राता प्रतिहर्ता चोभौ युगपदेव कच्छं मुञ्चेयाता तदोक्तं प्रायश्चित्तमनुष्ठेयं न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — उद्रातुरपच्छेदं प्रतिहर्तुश्चापच्छेदं पृथक् पृथक् प्रायश्चित्तद्वयनिमित्तत्वेन श्रुतः । यत्र द्वयोरपच्छेदस्तत्र नोद्रात्रपच्छेदो नापि प्रतिहर्त्रपच्छेदः । तस्मादुभयोरपच्छेदे श्रूयमाणनिमित्तस्याभावात् प्रायश्चित्तं नानुष्ठेयमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—द्वौ ह्यत्रापच्छेदौ । तयोरेकस्यैकैक एव कर्ता— इति निमित्तस्य नास्ति विधातः । तस्मान्निमित्तविधाताभावात् अस्त्येव प्रायश्चित्तमिति ।

एतदभिप्रेत्याह द्रव्यपच्छेद इति । 'द्रव्यपच्छेदे' द्वयोः ऋत्विजो उद्रातृप्रतिहर्त्रोरपच्छेदे पङ्क्तिविधाते—'तद्विधिः' 'तस्य' अपच्छेदनिमित्तकप्रायश्चित्तस्य 'विधिः' विधानम् अनुष्ठानम् भवत्येवेति शेषः ॥१८॥

(१६) ६।५।५१-५३ नैमित्तिकविकल्पोऽत्र

(१) पूर्वाधिकरणशेष ।

(२) द्वयोरपच्छेदे प्रायश्चित्तमनुष्ठेयमिति स्थितम् ।

(३) तत्र सन्देह — द्वयोरुक्तयोः प्रायश्चित्तयोः अत्र किं समुच्चय उत विकल्प इति ।

(४) पूर्वपक्ष — प्रायश्चित्तद्वयमत्र निमित्तभेदेन श्रुतम् । तन्निमित्तद्वयसमुच्चये च प्रायश्चित्तद्वयमपि समुच्चेतव्यम् । यद्यपि अदक्षिणत्व सर्वस्वदक्षिणत्वयोर्विरोधस्तथाऽपि प्रयोगभेदेन व्यवस्था-अपच्छेदयुक्ते प्रथमप्रयोगे दक्षिणा न दातव्या उत्तरप्रयोगे च सर्वस्व दातव्यमिति ।

(५) सिद्धान्त — उत्तरप्रयोगेऽपच्छेदो नास्ति । नचासति निमित्ते प्रायश्चित्त युक्तम् । तस्मात् प्रथमप्रयोगे एव निमित्तद्वयसम्पातात् तत्रैव प्रायश्चित्तम् । एव च सत्यन्योन्यविरुद्धत्वात्तयोर्विकल्प एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह नैमित्तिकेति । 'अत्र' उक्ते द्व्यपच्छेदरूपे निमित्ते— 'नैमित्तिकयोः' प्रायश्चित्तयोः — 'विकल्प' एव न तु समुच्चय इत्यर्थः ॥१९॥

(२०) ६।५।५४ परं पूर्वस्य बाधकम् ।

(१) अपच्छेदप्रायश्चित्तविषयक एव विचारोऽनुवर्तते ।

(२) युगपदपच्छेदे प्रायश्चित्तयोर्विकल्प इति स्थितम् । यत्र तु पौर्वापर्येणापच्छेद — प्रथममुद्रातुस्ततः प्रतिहर्तुं —

(३) तत्र सन्देह — प्रायश्चित्तयोः — किं पूर्वापच्छेदकनिमित्तकमनुष्ठेयमुत्तरापच्छेदनिमित्तकमिति ।

(४) पूर्वपक्ष — पूर्वापरबलीयस्त्वन्यायेन पूर्वापच्छेदनिमित्तकेन प्रायश्चित्तेनोत्तरापच्छेदनिमित्तकप्रायश्चित्तस्य बाधे पूर्वमेव प्रथममनुष्ठेयमिति ।

(५) सिद्धान्त — इह वाक्यद्वयात् ज्ञानद्वयमन्योन्यनिरपेक्षमेवोत्पद्यते । उत्पद्यमानोत्तरज्ञान पूर्वज्ञान बाधित्वैवात्मानं लभते । एव चोत्तरकाले स्वयं बाधितं सत् नोत्तरस्य बाधकं भवितुमर्हति । न चान्यत् किञ्चिदुत्तरस्य बाधकमुपलभ्यते । तस्मादुत्तरकालीनमबाधितमेव वर्तते । तथा चोत्तरकालीनापच्छेदनिमित्तकमेव प्रायश्चित्तमनुष्ठेयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह परमिति । 'परम्' उत्तरकालीनापच्छेदनिमित्तकप्रायश्चित्त — 'पूर्वस्य' पूर्वकालीनापच्छेदनिमित्तकप्रायश्चित्तस्य — 'बाधकम्' । तस्मात् पूर्वकालीनापच्छेदकनिमित्तकमेव प्रायश्चित्तमनुष्ठेयमित्यर्थः ॥ २० ॥

(२१) ६।५।५५। सर्वं दद्यात् पुनर्यज्ञे

( १ ) पूर्वविचारणम् ।

( २ ) प्रथममुद्रातुस्तत प्रतिहर्तुरपच्छेदे प्रायश्चित्त विचारितम् । यत्र तु प्रथमम् प्रतिहर्तैवापच्छिद्यते तत उद्राता तत्रोद्गात्रपच्छेदनिमित्तकमदक्षिणयागरूप प्रायश्चित्तमनुष्ठेयमिति पूर्वाधिकरणे स्थितम् । तस्य प्रायश्चित्तस्वरूप चेत्थम्—यागस्य प्रथमप्रयोग दक्षिणारहितमनुष्ठाय द्वितीयप्रयोगोऽनुष्ठेय इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —अस्मिन् द्वितीयप्रयोगे का दक्षिणा—किं द्वादशाधिक गवा शतमुत सर्वस्वमिति ।

( ४ ) पूर्वप्रयोगे या दक्षिणा दत्तिसता सैवोत्तरप्रयोगे दातव्येति स्पष्ट श्रूयते । पूर्वप्रयोगे च ज्योतिष्टोमदक्षिणाभूत गवा द्वादशाधिक शत दत्तिसतम् । तस्मादुत्तरप्रयोगे गवा द्वादशाधिकशतरूपैव दक्षिणा देयेति ।

( ५ ) सिद्धान्त —प्रतिहर्तुं प्रथमेऽपच्छेदे प्राप्ते तन्निमित्तक सर्वस्वदान प्रायश्चित्तम् प्रथमप्रयोगे प्राप्तम् । तेन च द्वादशाधिकशतस्य बाध । तस्मात् प्रथमप्रयोगे सर्वस्वमेव दत्तिसतम् । यच्च पूर्वं दत्तिसत तदेवोत्तरप्रयोगे दातव्यमिति श्रुतम् । एव चोत्तरकालीनोद्गात्रपच्छेदनिमित्तेऽपि उत्तरप्रयोगे पूर्वकालीनप्रतिहर्त्रपच्छेदप्रयुक्त सर्वस्वमेव दातव्यमिति । एतदभिप्रेत्याह—सर्वमिति । ‘पुनर्यज्ञे’ उत्तरप्रयोगे—‘सर्व’ सर्वस्वम्—एव—‘दद्यात्’ दक्षिणारूपेणेत्यर्थ ॥ २१ ॥

(२२) ६।५।५६ पुनरेकमहर्भवेत् ।

(१) अपच्छेदनिमित्तकप्रायश्चित्तमेव विचार्यते ।

(२) द्वादशाद्यहर्गणे यदि कस्मिंश्चिदहनि उद्गात्रपच्छेदस्तन्निमित्तके प्रायश्चित्तेऽदक्षिणमेव तत्प्रयोग समाप्य पुन प्रयोग कतव्य इति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किमत्र कृत्स्नोऽप्यहर्गण पुन प्रयोक्तव्य उतैकाहमात्रमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—कृत्स्नस्याहर्गणस्यैककर्मत्वात् कृत्स्नोऽपि पुन प्रयोक्तव्य इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —महाप्रयोगस्यैकत्वेऽपि अवान्तरप्रयोगाणां परस्परभिन्नत्वात् एकाहमेवावर्तनीयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह पुनरिति । ‘पुन’ पुन पुन प्रयोगे—‘एकमेव अहर्भवेत्’ आवर्तनीयम्—न तु कृत्स्नोऽपि गण इति भाव ॥ २२ ॥

पादे द्वाविंशतिर्न्याया न्यायविद्भिः समीरिताः ॥

स्पष्टार्थम् ॥

इति षष्ठस्य पञ्चम ।

## अथ षष्ठस्य षष्ठ पादः ।

( सत्रविचारात्मक )

(१) ६।६।१-११ न भिन्नकल्पाः खलु सत्रिणः स्युः

( १ ) सत्राधिकारविषयको विचार प्रवर्तते ।

( २ ) सन्ति सत्राणि-तत्र श्रूयते 'सप्तदशावरा सत्रमासीरन्' इति । प्रयाजेषु चानुष्ठानप्रकारे भेदोऽस्ति पुरुषभेदकृत -कण्वकश्यपादिगोत्राणां नाराशंसो द्वितीय प्रयाज, इतरेषां तु तनूनपादेव । ते एते भिन्नकल्पा ।

( ३ ) तत्र सन्देह —सत्रेषु किं समानकटपानां भिन्नकल्पानां च सहाधिकार —उत समानकटपानामेवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —'सप्तदशावरा' इति निर्विशेषं सामान्यमेवोक्ता सत्रिण । न चोपलभ्यते भिन्नकल्पानां सहानुष्ठाननिषेध । तस्मात् समानकटपा भिन्नकटपाश्च सर्वेऽप्यधिकारिण सत्रेषु-इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —भिन्नकटपानां सहानुष्ठाने कम विगुण स्यात् । यस्मिन् काले कण्वगोत्रस्य सत्रिणो नाराशंस प्राप्नोति तस्मिन्नेव काले ऽपरस्य तनूनपात् प्राप्त -एव च यदि तनूनपात् कृतस्तर्हि काण्वस्य वैगुण्यम्-यदि नाराशंसस्तर्हीतरस्य वैगुण्यम् । एव च वैगुण्ये दुर्निवारे सत्रस्य फल न स्यात् । तस्मात् समानकल्पानामेव सहाधिकार इति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'भिन्नकटपा' भिन्न कटप अनुष्ठानप्रकारो येषां ते-'सत्रिण' सत्रे सहानुष्ठानाधिकारिण -'न खलु' नैव 'स्यु' -अपि तु समानकटपा एवेति भाव ॥ १ ॥

(२) ६।६।१२-१५ यजेत राजा सपुरोहितस्तु ।

( १ ) पूर्वाधिकरणपवाद ।

( २ ) कुलाययज्ञं प्रकृत्य श्रूयते-'अनेन राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम्' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —अत्र किं राज्ञ द्वौ पुरोहितौ अधिकृतौ उत पुरोहितेन सहितो राजेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —राजा क्षत्रिय पुरोहितो ब्राह्मण । तस्माद्विभिन्न-कल्पौ इमौ । अतश्च पूर्वाधिकरणन्यायेन न तयो सहाधिकार । द्वयोस्तु पुरोहितयोर्ब्राह्मणत्वादेककल्पत्वसम्भवे राज्ञो द्वौ पुरोहितावेवात्राधिकृतौ भविते ।

( ५ ) सिद्धान्त —'पुरोहित वृणीते' इति वचनेनैकस्य राज्ञ एक

एव पुरोहित । एव च द्वयोः पुरोहितयोरसम्भवे राजा च पुरोहितश्चेति द्वावत्राधिकृतौ । स्थितेऽपि पूर्वाधिकरणन्याये श्रुतिवचनबलाद्भिन्नकल्पयोरपि सहाधिकारो भवति इति ।

एतदभिप्रेत्याह—यजेतेति । 'सपुरोहित' पुरोहितेन सहित — 'राजा' तु भिन्नकटपोऽपि—'यजेत' कुलाययज्ञेनेति शेष ॥ २ ॥

(३) ६।६।१६-२३ अब्राह्मणस्याधिकृतिर्न सत्रे

(१) सत्राधिकारविचारोऽनुवर्तते ।

(२) सन्ति सत्राणि ।

(३) तत्र सन्देह —सत्रेषु किं त्रयाणां वर्णानामधिकार उत ब्राह्मणमात्रस्येति ।

(४) पूर्वपक्ष —'सप्तदशावरा ऋद्धिकामा सत्रमासीरन्' इति सामान्यतः ऋद्धिकामानामेवाधिकारस्य श्रुतत्वात् त्रयाणामेव वर्णानामधिकार इति ।

(५) सिद्धान्त —ब्राह्मणमात्रस्याविवक्षितेऽधिकार इति द्वादशे स्थित्यति । अत्र तु ये 'यजमानास्त एवविविज' इति यजमानानामेव ऋत्विक्कार्याणि । तस्माद् ब्राह्मणस्यैवाधिकार इति ।

एतदभिप्रेत्याह—अब्राह्मणस्येति । 'सत्रे' सत्रानुष्ठाने—'अब्राह्मणस्य' यो ब्राह्मणो न भवति तस्य—'अधिकृति' अधिकारो न भवतीति शेष ॥३॥

(४) ६।६।२४-२६ वासिष्ठशब्दो भवतीह गौणः ।

(१) पूर्वाधिकरणशेष ।

(२) ब्राह्मणस्यैव सत्रेऽधिकार इति स्थितम् ।

(३) तत्र सन्देह —अयमधिकार किं सर्वेषां ब्राह्मणानामुत वासिष्ठानामेव उत वैश्वामित्राणामेवेति ।

(४) पूर्वपक्ष —ऋद्धिकामत्वमेवात्राधिकारनियामकम् । तच्च सर्वेषां तुल्यम् । तस्मात् सर्वेषामधिकारः । अथवा 'वासिष्ठो ब्रह्मा भवति' इति वासिष्ठस्यैव ब्रह्मत्वविधानात् सर्वेषां सत्रिणां वासिष्ठत्वमेव प्राप्तमिति ।

(५) सिद्धान्त —'वासिष्ठो ब्रह्मा' इति न ब्रह्मणो वासिष्ठत्वविदधाति—स्तोमभागप्रशसारूपोऽयमथवा एव—ईदृशा स्तोमभागमन्त्रा यदेतानधीयानोऽवासिष्ठोऽपि ब्रह्मतमर्हतीत्यस्यार्थः । होतुस्तु वैश्वामित्रत्वं स्पष्टं विहितम्—'वैश्वामित्रो होता' इति वाक्ये । तस्मात् होतुर्वैश्वामित्रत्वे स्थिते प्रथमाधिकरणन्यायेन वैश्वामित्राणां तत्सम्मानकत्वाणामेव चाधिकारः सत्रे इति ।



एतदभिप्रेत्याह—वासिष्ठेति । 'इह' वासिष्ठो ब्रह्मेत्यत्र वाक्ये—'वा-  
सिष्ठशब्द' 'गौण' स्तावकोऽर्थवाद—'भवति'—न तु ब्रह्मणो वासि  
ष्ठत्वविधायक इति शेष । तस्मात् सत्रे न वासिष्ठादीनामपि तु वैश्वा  
मित्राणां तस्मानकल्पानां चात्राधिकार इत्याशय ॥ ४ ॥

(५) ६।६।२७-३२ सत्रेऽधिकारी न भवेन्निरग्निः

( १ ) सत्राधिकारोऽनुवर्तते ।

( २ ) सत्राण्येवात्राप्युदाहरणम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह—अत्र किं साग्नीनामेवाधिकार उतानग्नीनामपीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—सत्रिणाम्मध्ये यद्येकोऽपि साग्नि स्यात्तर्हि तस्यै  
वाग्निषु तेन सह प्रवृत्तैरनग्निकैरपि कार्यं कर्तुं शक्यत एव । तस्मात्  
सर्वे साग्निका स्युरित्यस्यावश्यकता नास्ति । तस्मात् साग्नीनामन  
ग्नीनामप्यधिकार इति ।

( ५ ) सिद्धान्त—'अग्नीनादधीत' इति विधावात्मनेपदश्रवणादाधा-  
नफलस्य कर्तृमात्रगामित्वम् । तत्फलं च कर्मानुष्ठानयोग्यता । तस्मात्  
य अग्नीनाधत्ते तस्मात्तस्यैव तत्साध्यकर्मस्वधिकार । तस्मादनग्नयो  
नाधिकारिण इति ।

एतदभिप्रेत्याह—सत्र इति । 'निरग्निः' अनाहिताग्नि—'सत्रे' सत्रा-  
नुष्ठाने—'अधिकारी' 'न भवेत्'—अपि तु साग्निरवेति भाव ॥ ५ ॥

(६) ६।६।३३-३५ जुह्वादिपात्र पृथगत्र कार्यम् ।

( १ ) सत्रविषयक एव विचार ।

( २ ) सन्ति सत्रप्रयोगे जुह्वादिपात्राण्यपेक्षितानि सत्रिभिः ।

( ३ ) तत्र सन्देह—किं यस्य कस्यापि सत्रिण तस्याग्निहोत्रस-  
म्बन्धीनि पात्राण्यासाद्य तैरेव सर्वे व्यवहरेयुरुत सत्रार्थे पृथगेव सकल-  
यजमानसाधारणानि पात्राणि सम्पादनीयानीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—पूर्वमग्निहोत्रसम्बन्धेनासादितानि पात्राणि तत्र  
स्थितान्येव । तैरेव च प्रयोग सर्वैरपि सम्भवति । तथा सति इतरेषा  
नवीनानां पात्राणां सम्पादने यत्नो वृथैव । तस्मात् यस्य कस्यापि यज  
मानस्य पात्राणि गृहीत्वा सर्वेऽपि व्यवहरेयुरिति ।

( ५ ) सिद्धान्त—साग्निकस्य मरणे तदीयानि यज्ञपात्राणि सर्वाणि  
तेन सहैव दाह्यन्ते । तथा च सत्रिणाम्मध्ये यस्यैकस्य पात्राण्यं गृही-  
तानि स यदि मध्य एव म्रियेत तर्हि पात्राण्यपि दह्येरन् पात्रदाहे  
चावशिष्टः प्रयोगो विगुणः स्यात् । तस्मात् सत्रिणां स्वस्वपात्रेभ्यः  
पृथगेव सत्रार्थं साधारणानि पात्राणि सम्पादनीयानीति ।

एतदभिप्रेत्याह जुह्विति । 'अत्र' सत्रे—'जुह्वादि' 'पात्रम्'—'पृथक्' यजमानानां स्वस्वाग्निसम्बन्धीनि यानि पात्राणि तेभ्यो भिन्नं सवयजमानसाधारणम्—'कार्यम्' सम्पादनीयमित्यर्थः ॥ ६ ॥

( ७ ) ६।६।३६-३६ भवेद् विशामेव न साप्तदश्यम्

( १ ) अधिकारविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) अध्वरकल्पादिष्विष्टविकृतिषु श्रूयते—'सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—यदेतत् सामिधेनीनां साप्तदश्यं तत्र वैश्यानामेवाधिकार उत त्रयाणां वर्णानामिति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—प्रकृतौ 'सप्तदशानुब्रूयाद्वैश्यस्य' इति वैश्यस्य पृथगभिधाय साप्तदश्यमुच्यते । तस्माद्वैश्य एवात्राधिकृतो न क्षत्रियो ब्राह्मणो वेति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—प्रकृतौ 'पञ्चदश सामिधेनीरन्वाह' इति वर्णत्रयसाधारण्येन पञ्चदश्यमुक्त्वा पश्चाद् वैश्यमात्रं निमित्तीकृत्य साप्तदश्यं विहितम् । एव च प्रकृतिसम्बन्धेन यत्साप्तदश्यमुक्तं तस्य प्रकृतावेवा न्वयो न विकृतिषु । विकृतिषु च प्रकृतिगतपञ्चदश्यवत् साप्तदश्यं वर्णत्रयसाधारण्येन विहितम् । तस्मात् वर्णत्रयस्याप्यधिकारः साप्तदश्ये तत्साध्ये चाध्वरकल्पादौ कर्मणीति ।

एतदभिप्रेत्याह भवेदिति । 'साप्तदश्य' सामिधेनीनां सप्तदशसङ्ख्यकत्वम्—'विशामेव' वैश्यानां केवलम्—'न भवेत्' अपि तु त्रयाणामेव वर्णानामित्याशयः ॥ ७ ॥

न्यायास्तु सप्तैव भवन्ति पादे ।

स्पष्टम् ।

इति षष्ठस्य षष्ठः ।

## अथ षष्ठस्य सप्तमः पादः ।

( यज्ञे किं देयं किं न देयमिति विचारः )

(१) ६७।१-२ सर्वस्वे ज्ञातया न स्युः

( १ ) देयविचारः प्रस्तूयते ।

( २ ) 'विश्वजिति सर्वस्व ददाति' इति सर्वस्वदानं विहितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देहः — यावत् किञ्चित् 'स्व'शब्देन व्यपदिश्यते — माता पितेत्येवमादि-किमेतत् सर्वमपि देयमुत यत्र प्रभुत्वयोगेन 'स्व' शब्दस्तदेवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः — पित्रादिष्वपि स्वशब्दव्यपदेशस्य तुल्यत्वात् तेषामपि दानम् धनादीनामिवेति ।

( ५ ) सिद्धान्तः — आत्मसम्बन्धत्यागपूर्वकं परकीयस्वत्वापादनं दानमित्युच्यते । दीयमाने च पितरि न भवति दातुं स्वकीयपितृत्वसम्बन्धत्यागं परकीयपितृत्वापादनं वा । स्वशब्दस्य च चत्वारोऽर्थाः — आत्मा ज्ञाति आत्मीयं धनं चेति । एतेषु चैक एवार्थः एकस्मिन् वाक्ये ग्राह्यः । प्रकृते च गवादिधनस्यैव दक्षिणात्वादिहापि तद्वाचित्वमेव स्वशब्दस्य युज्यते । तस्मात् धनस्यैव दानं न पित्रादीनां ज्ञातीनामिति ।

एतदभिप्रेत्याह सर्वस्व इति । 'सर्वस्वे' विश्वजिति देयत्वेन विहिते-  
'ज्ञातयः' पित्रादयः — 'न स्युः' — अपि तु गवादिधनमेवेत्याशयः ॥ १ ॥

(२) ६७।३ देयं भूगोलकं न तु ।

( १ ) देयविचारो वर्तते ।

( २ ) उक्ते एव सर्वस्वदाने —

( ३ ) सन्देहः — किं कृत्स्नं भूमण्डलं देयं न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः — यस्य स्वत्वं भूमण्डले तस्य समस्तं भूमण्डलं गवादीव धनमेव । तस्मात् तेन देयमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः — समस्तभूमण्डले न कस्यापि स्वत्वम् । तत्तु सकलानां प्राणिनां कर्मफलोपभोगभूमिः । अतः एव सर्वसाधारणम् । तस्मात् भूखण्डस्य देयत्वेऽपि भूगोलकस्य न देयतेति ।

एतदभिप्रेत्याह 'देयमिति' । 'भूगोलकं' समस्तं भूमण्डलम् — 'तु' 'न देयम्' — यद्यपि भूखण्डम्भवति देयमिति तुना सूचितम् ॥ २ ॥

(३) ६७।४ नाशवा देयाः पर्युदासात्

( १ ) देयविचारः ।

( २ ) उक्ते सर्वस्वदाने एव पुन —

( ३ ) सन्देह —किमश्वा देया उत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —‘न केसरिणो ददाति’ इति विश्वजिति श्रूयते, सर्वस्वदान च विहितम् । एव च वाक्यद्वयपर्यालोचनयाऽश्वस्य दान वैकल्पिकमित्यभ्युपगन्तव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —‘न केसरिणो ददाती’ति न प्रतिषेधोऽपि तु पर्युदास एव । ततश्च अश्वस्य पयुदासे सत्यश्वव्यतिरिक्तमेव सर्वस्व देयमित्येव विधिनिषेधवाक्यद्वयपर्यालोचनया लभ्यतेऽर्थः । तस्मादश्वा नैव देया इति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । ‘अश्वा ’ ‘न’ ‘देया ’—विश्वजिति—कस्मात्—‘पर्युदासात्’ केसरिणो न ददातीत्यनेन वाक्येनाश्वस्य पर्युदस्तत्वादित्यर्थः ॥ ३ ॥

( ४ ) ६।७।५ स्थितमेव च दीयते ।

( १ ) देयविचारो वर्तते ।

( २ ) सर्वस्वदाने प्राप्ते—

( ३ ) सन्देह —किं यावन्ति मनुष्यस्य भोगोपकरणानि तेषामसत्त्वे तानि सर्वाण्यर्जयित्वा देयानि—उत यान्येव आत्मनो वर्तन्ते तान्येव देयानि—नाविद्यमानान्यर्जनीयानोति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —सर्वस्वदान प्रकृत्य श्रूयते —‘पुरुषेण भोग्य शय्या सनादि यत्सर्वं तद्दातव्यम्’ इति । तस्मादेतेषु यन्नास्ति तत् सर्वमर्जयित्वापि देयमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —चोदकप्राप्तं दानमुद्दिश्यैव सर्वस्वविधानम् । सर्वस्वशब्दश्च दातुर्विद्यमानधनवाच्येव । तस्माद् यदस्ति तदेव देयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह स्थितमिति । ‘स्थितम्’ दातुर्विद्यमानं यद् धनं तत् ‘एव’ ‘च’ ‘दीयते’—न त्वपरमर्जयित्वेति भावः ॥ ४ ॥

( ५ ) ६।७।६ न धर्मोपनतो देयः

( १ ) सर्वस्वदेयविचारो वर्तते ।

( २ ) विश्वजिति देयस्य सर्वस्वस्य प्रसङ्गेन—

( ३ ) सन्देह —यः शूद्रो ब्राह्मणं धर्मज्ञानार्थम्परिचरति स परिचारकः शूद्रो देयो न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — सर्वाणि स्वानि देयानि । परिचारकोऽपि स्वम् । तस्मात् स्वेऽपि देय इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —धर्मं जिज्ञासमान एवायं ब्राह्मणं शुश्रूषते । न धैर्यरूप परिचारकः क्रीतदासवत् ब्राह्मणस्य स्वं भवति । तस्मात् स न देय इति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति—‘धर्मयि’ धर्मज्ञानसम्पादनाय ‘उपनत’ ब्राह्मण  
सेवमान — शूद्र — ‘न देय’—सर्वस्वदक्षिणायामिति शेष ॥ ५ ॥

(६) ६।७।७ तत्काल तु प्रदीयते ।

( १ ) सर्वस्वदेयविचारो वर्तते ।

( २ ) सर्वस्वे देये—

( ३ ) सन्देह — किं यद् धन दक्षिणाकाले वतते तदेव देयमुत भूत  
मनागतञ्चापीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — भूतं—वर्तमान—भावि यत् किञ्चिद् धन तत्सर्वं  
सर्वस्वपदेन विवक्षितम् । तस्मात् सर्वस्वे देये यद् भावि तदपि देयमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — भूत विनष्ट भावि च नास्त्येव । तस्माद् दान-  
काले तदुभय नास्त्येव । अविद्यमानस्य दानासम्भव । तस्माद् यद्  
दानकाले विद्यमान तन्मात्रमेव देयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह तदिति । ‘तत्काल’—‘स’ दानकाल ‘कालो’ यस्य तत्,  
दानकाले विद्यमान यद् धनम् तदेव—‘प्रदीयते’ सर्वस्वदाने—न तु भूत  
भावि वेत्याशय ॥ ६ ॥

(७) ६।७।८—१३ क्रत्वर्थनैव दातव्यम्

( १ ) सर्वस्वदेयविचारो वर्तते ।

( २ ) विश्वजिति सर्वस्व देयमिति विहितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह — दक्षिणाया यदा सर्वस्व प्रदत्त तदनन्तरमेवाव-  
शिष्टऽपीतिकर्तव्यताशे कर्म त्यक्तव्यमुतावशिष्ट कर्म समापनीय तदर्थं च  
धनमवशेषणीयमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — प्रदत्ते सर्वस्वे द्रव्याभावादेवावशिष्टकर्मानुष्ठाना  
सम्भव । तस्मादवशिष्टस्येतिकर्तव्यताशस्य त्याग एव प्राप्त इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — दक्षिणा हि माध्यन्दिनसवने दीयते । तदनन्तर  
यदि द्रव्याभावात् कर्मणो विराम एव प्राप्तस्तर्हि तदूर्ध्वभाविन तृती  
यसवनमारभ्योदवसानायान्तस्य क्रतुभागस्य विधानं सर्वथा व्यथमेव  
स्यात् । न चाङ्गभूतया दक्षिणया प्रधानस्य क्रतोर्बाधो युक्तः । तस्मात्  
साङ्गक्रतुसम्पादनाय यावद्धनमपेक्षितं तावदवस्थाप्यैव सर्वस्व दक्षि  
णाया देयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह क्रत्विति । ‘क्रत्वर्थम्’ यत् अनङ्गस्य क्रतो सम्पाद  
नापेक्षितं तत्—नैव दातव्यम् दक्षिणायामिति शेष ॥ ७ ॥

(८) ६।७।१४—१७ देय सर्वगणेऽपि तत् ।

( १ ) सर्वस्वदक्षिणाविषयको विचारो वर्तते ।

( २ ) अस्यहर्गणोऽष्टरात्र । तत्र आदौ विश्वजित्-मध्ये ज्योति-  
अन्ते अभिजित् इति कर्मानुष्ठानक्रम । एवमत्र विश्वजिदङ्गत्वेन विहितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह —अहर्गणाङ्गभूते विश्वजिति अपि कि सर्वस्व  
दक्षिणा उत द्वादशाधिकशतमेवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अहर्गणोद्वादशाहस्य विकृति —द्वादशाहश्च ज्यो-  
तिष्टोमस्य विकृति —ज्योतिष्टोमे च द्वादशाधिक शत दक्षिणा । तस्मात्  
परम्परया तद्विकृतावहर्गणोऽपि तदेव दक्षिणा । तस्मादहर्गणस्य प्रथमे  
ऽहनि कृते विश्वजित्यपि तावदेव न सर्वस्वमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —एकाहो विश्वजित् स्वतन्त्रमेव कर्म । अहर्गणा  
द्यदिनकर्तव्यस्य कर्मणोऽपि तेनैव नाम्ना विहितत्वात् तस्यैव धर्मा अ  
तिदिश्यन्ते । तस्मात् अहर्गणे प्रथमेऽहनि कृते विश्वजिति सर्वस्व  
मेव दक्षिणेति ।

एतदभिप्रेत्याह—देयमिति । 'सर्वगणे' अहर्गणेऽपि यो विश्वजित्  
क्रियते तस्मिन् 'अपि'—'तत्' सर्वस्व—'देयम्' दक्षिणात्वेनेति शेष ।

वार्तिककारमतेन तु द्वादशशत देयमित्येव सिद्धान्त ॥ ८ ॥

( ९ ) ६।७।१८-२० तद् द्वादशशतादूर्ध्वम्

( १ ) सर्वस्वदक्षिणाविचारप्रसङ्गेन तस्येयत्ताविचार ।

( २ ) विश्वजिति सर्वस्व देयमिति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह —यस्य द्वादशशतपरिमित तदल्प वा धन सर्व-  
स्व वर्तते—कि तस्यापि विश्वजित्यधिकार —उत यस्य द्वादशशता-  
दधिक तस्यैवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — सर्व धन सर्वस्वपदवाच्यम् । यस्य द्वादशशत  
तदल्प वा धन वर्तते तस्य तदेव सर्वस्वम् । तस्मात्तस्यापि विश्वजि-  
त्यधिकारोऽस्त्येवेति ।

( ५ ) सिद्धान्त —ज्योतिष्टोमप्रकरणे द्वादशशतं दक्षिणेति विधा-  
नानन्तर श्रूयते—'यद्येतावता नानमेयुरपि सर्वस्वेन' इति । तेन द्वाद-  
शशतादधिकपरिमाणमेव सर्वस्वपदेन विवक्षितमिति सूचितम् । तस्मात्  
विश्वजित्यपि तथैवाभ्युपगन्तव्यम् । एवं च यस्य द्वादशशतादधिक  
धन तस्यैव सर्वस्वदानसम्भवात् तस्यैव विश्वजित्यधिकारो नाल्प-  
धनस्येति ।

एतदभिप्रेत्याह तदिति । 'तत्' सर्वस्वपदवाच्यम्—'द्वादशशतात्'  
'ऊर्ध्वम्' अधिकमेव विवक्षितम् —न ततोऽल्पतरमित्याशय ॥ ९ ॥

(१०) ६।७।२१-२२ देय कल्पान्तर बहु ।

( १ ) विश्वजिति देय विचार्य आधाने देय विचार्यते ।

( २ ) आधाने श्रूयते—‘एका देया-षड् देया -द्वादश देया -चतुर्विंश-  
तिर्देवा -शत देयम्—सहस्रं देयम्-अपरिमित देयम्’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह -अपरिमितमित्यनेन किं विधीयते-किमेकादिस  
ङ्ख्यया यत् परिमितं तन्न दातव्यमिति प्रतिषेध -उत अपरिमितं नाम  
किञ्चित्तैस्योऽन्यत् तद् देयमिति विधिरिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष -अपरिमितशब्दगतेन नञा परिमाणं निषिध्यते ।  
तस्मात् यत् परिमितं तन्न देयमिति प्रतिषेध एव तस्यार्थ इति ।

( ५ ) सिद्धान्त -रूढ्या अपरिमितशब्दस्य बहुत्वमेवार्थः । तस्मा-  
न्नैकादिस्त्रह्यया निषिध्यतेऽपि तु तेभ्यः कल्पान्तरमेव विधीयते इति ।

एतदभिप्रेत्याह—देयमिति । ‘बहु’ अपरिमितशब्दवाच्यम्—‘दे-  
यम्’ इति ‘कल्पान्तरम्’ । यथा एका देयेति बहवः सङ्ख्याकल्पास्तथै-  
व बहु देयमित्यपि एक कल्पे ‘अपरिमितं देयम्’ इत्यनेन विहित  
इत्याशयः ॥ १० ॥

(११) ६।७।२३-२५ सहस्रादधिकं तच्च

( १ ) पूर्वाधिकरणशेषः ।

( २ ) बहु देयमिति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह -बहुपदेनात्र किं सहस्रादधिकमेव विचक्षित-  
मुत ततो न्यूनमपीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष -रूढ्या अपरिमितशब्दः सहस्रादधिके तन्न्यूनो चो-  
भयत्रापि तुल्यमेव वर्तते । तस्मात् सहस्रादधिकं ततो न्यूनमपि देय-  
त्वेनात्र विवक्षितमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त -एकादिपक्षेषूत्तरोत्तराभिवृद्धिर्दृश्यते । सहस्रप-  
क्षमुक्त्वा तदन्तरञ्च अपरिमितशब्दप्रयोगः । तस्मात् अपरिमितशब्दः  
सहस्रादधिके एव पर्यवस्यतीति ।

एतदभिप्रेत्याह—सहस्रादिति । ‘तत्’ अपरिमितशब्दवाच्य-‘च’  
‘सहस्रादधिकम्’—न ततो न्यूनमित्यर्थः ॥ ११ ॥

(१२) ६।७।२६-३० माषपाकवचः स्तुतिः ।

( १ ) अधिकारविचारः ।

( २ ) इदं श्रूयते—‘इति ह स्माह वहुर्वाणि माषानेष मस्य  
पचत’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किमय वृष्णिगोत्रोत्पन्नानां माषपाकविधि-  
तार्थवाद इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — वार्ष्णिगिरिति नामग्रहणात्-पचत इति विधिश्च-  
णाच्च वार्ष्णिनामत्र माषपाको विधीयत इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — नाय विधिरपि त्वर्थवाद एव-‘तस्मादारण्यमे-  
वाशनीयात्’ इत्यस्यारण्याशनविधे शेषत्वात्तत्तावकत्वेनैवान्वयादिति ।

एतदभिप्रेत्याह माषेति । ‘माषपाकवच’ माषान् पचतेति वाक्यम्  
‘स्तुति’ अर्थवाद-न तु विधिरिति शेषे ॥ १२ ॥

( १३ ) ६।७।३१-४० अह्नां सहस्रसङ्ख्या स्यात्

( १ ) अधिकारविचार एव ।

( २ ) अस्ति सहस्रसवत्सरसत्रम्-‘पञ्चपञ्चाशत्स्त्रिवृतः संवत्स-  
रा-पञ्चपञ्चाशत् पञ्चदशा-पञ्चपञ्चाशत् सप्तदशा-पञ्चपञ्चा-  
शदेकविंश-विंशसृजामयन सहस्रसवत्सरम्’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह-किं ये सहस्रसवत्सरायुषस्तेषामेवात्राधिकार  
उत मनुष्याणाम्-तत्र च सवत्सरशब्दस्य कोऽर्थ इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — गन्धर्वादीनां देवगणानामेवात्राधिकार-तेषामेव  
सहस्रसवत्सरायुस्सम्भवादिति । अथवा रसायनादिनां येषां मनुष्या-  
णामतिदीर्घायुरास्त तेषामेवात्राधिकार इति । अथवा सवत्सरशब्देनात्र  
मासा अभिप्रता तथा चेद् सत्र सहस्रमासव्यापि । अथवा सवत्सर-  
शब्दो द्वादशरात्रिपर — इत्येवमादयो बहवः पूर्वपक्षकल्पा ॥

( ५ ) सिद्धान्त — सवत्सरशब्देनात्र दिनमेवाभिप्रेतम् । तस्मात्  
सहस्रदिनव्यापीद सत्रमिति ।

एतदभिप्रेत्याह अह्नामिति । ‘सहस्रसङ्ख्या’ सहस्रसवत्सरमित्यत्रो-  
क्ता-‘अह्नाम्’ दिनानामेव-‘स्यात्’ न पुनर्वर्षाणामिति शेषः ॥ १३ ॥

न्यायाः पादे त्रयोदश ।

स्पष्टम् ।

इति षष्ठस्य सप्तमः ।



## अथ षष्ठ्याष्टमः ।

[ अग्निविचारात्मक ]

(१) ६।८ १-१० चातुर्होत्रेऽनग्निरेवाधिकारी

( १ ) अधिकारविचारे साग्निनिरग्निविवेक ।

( २ ) 'प्रजाकाम चातुर्होत्रा याजयेत्' इति चातुर्होत्रं विहितम् । 'इन्द्रो होता द्यौरध्वर्यु' इत्यादिको मन्त्रश्चातुर्होता—तेन प्रजाकाम याजयेदिति विध्यर्थः ।

( ३ ) तत्र सन्देह —अस्मिन् होमे किमाहिताग्निरेवाधिकृत उतानाहिताग्निरेवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अग्निहोत्रादिकृतुहोमा सस्कृत एवाग्नौ क्रियन्ते । तस्मादयमपि होमस्तत्रैव कर्तव्य इति । तस्मात्साग्नेरेवात्राधिकारः । अथवा सस्कृतेऽसस्कृते च कर्तव्य । तस्मात् साग्नेरनग्नेश्चाधिकार इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —'एषा वा अनाहिताग्नेरिष्टिर्यञ्चातुर्होतार' इति श्रुत्या स्पष्टमभिधीयते । तस्माच्छ्रुतिवचनबलादनाहिताग्नेरेवात्राधिकारः । तस्य च सस्कृताग्नेरभावात् लौकिकाग्नावेवायं होम इति ।

एतदभिप्रेत्याह चातुर्होत्र इति । 'चातुर्होत्रे' चातुर्होत्रनामके होमे—'अनग्नि' अनाहिताग्नि —'एव' 'अधिकारो'न चाहिताग्निरित्याशयः ॥१॥

(२) ६।८।५ क्रत्वर्थेऽस्मिन्नग्निमानेव कर्ता ।

[ पञ्चमसूत्रस्वरसादिदमधिकरणान्तरमत्र धृत भाष्ये न्यायमाला-  
याश्च न विद्यते ]

( १ ) पूर्वाधिकरणापवादः ।

( २ ) सन्ति चातुर्होत्रहोमा क्रतुशेषा अक्रतुशेषाश्च ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किमुभयविधौ चातुर्होत्रेऽनग्नेरेवाधिकार उत अक्रतुशेषेष्वेवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —पूर्वाधिकरणप्रदर्शितश्रुतिबलात् सर्वेषु चातुर्होत्रेषु—क्रतुशेषेष्वक्रतुशेषेषु च—अनग्नेरेवाधिकार इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —नानग्ने क्रतवः सन्ति । न च क्रत्वङ्ग क्रत्वाध्या-  
रभूतादग्नेरन्यत्र प्रयुज्यते । तस्मात् क्रतुशेषे चातुर्होत्रे साग्नेरेवाधि-  
कार इति ।

एतदभिप्रेत्याह—क्रत्विति । 'क्रत्वर्थे' क्रतुशेषे—'अस्मिन्' चातुर्होत्रे—  
'अग्निमान्' साग्नि —'एव कर्ता' कर्तृत्वेनाधिकृत इत्यर्थः ॥ २ ॥

(३) ६।८।११-१६ होम कुर्यान्नोपयन् श्रौतवह्नौ

( १ ) अधिकारविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) इदमामनन्ति—‘उपनयस्तिस्मिर्जुहुयात्’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —अयं होम किमाधानसंस्कृतेऽग्नौ—उत असंस्कृते इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —चातुर्होमवदुपनयनहोमानां लौकिकाग्नौ कर्तव्यताविधायक वचन नास्ति । तस्मात् संस्कृते एवाग्नौ अयं होम इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —विद्वानेवाधानेऽधिकारी । न चानुपनीतस्य विद्वत्ता । विद्याभावेन चाधानाभावस्ततश्च संस्कृताग्नेरभावः । तस्मात् असंस्कृत एवाग्नौ उपनयनहोम इति ।

एतदभिप्रेत्याह होममिति । ‘उपयन्’ उपनीयमान —‘श्रौते’ आधानसंस्कृते ‘वह्नौ’ अग्नौ—‘होम’—‘न कुर्यात्’—अपि त्वसंस्कृते एवेत्यर्थः ॥३॥

(४) ६।८।२०-२१ यागं कुर्याल्लौकिकेऽग्नौ निषादः ।

( १ ) अधिकारविचारः ।

( २ ) अस्ति स्थपतीष्टि —‘एतया निषादस्थपतिं याजयेत्’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —इयं इष्टि किमाधानसंस्कृतेऽग्नौ स्यात् उत लौकिके इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —इष्टिरियं इष्टिप्रकृतिवत्कर्तव्या । इष्टिप्रकृतिश्च संस्कृत एवाग्नौ भवति । तस्मादियमपीष्टिर्वैदिक एवाग्नौ कर्तव्येति ।

( ५ ) सिद्धान्त —निषादस्यात्रैवर्णिकत्वात् त्रैवर्णिकस्यैव वेदाध्ययनाधिकारात् वेदरहितस्य चाधानेऽनधिकारात् निषादस्य वैदिकाग्निर्न सम्भवति । तस्माल्लौकिकाग्नावेव स्थपतीष्टिरिति ।

एतदभिप्रेत्याह यागमिति । ‘निषाद’ स्थपति —‘लौकिके’ असंस्कृते एव—‘अग्नौ’ ‘याग’ स्थपतीष्टि—‘कुर्यात्’—न श्रौताग्नावित्याशयः ॥४॥

(५) ६।८।२२ श्रौते वह्नौ नावकीर्णाष्टिरिष्टा

( १ ) अधिकारविचारः ।

( २ ) अस्त्यवकीर्णीष्टि —‘ब्रह्मचार्यवकीर्णी नैऋत गर्दभमालभेत’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —इयमिष्टिलौकिकेऽग्नौ वुत वैदिके इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —ब्रह्मचारिणस्त्रैवर्णिकत्वात् आधानसम्भवाच्च वैदिकेऽग्नावियमिष्टिरिति ।

( ५ ) सिद्धान्त—‘जायापत्नी अग्नीनवदधीयाताम्’ इति वचनात्

ब्रह्मचारिण आधान न सम्भवति । एव च वैदिकाग्नेरभावाह्नौकिक  
एवार्गनाविष्टिरिति ।

एतदभिप्रेत्याह श्रौत इति । 'अवकीर्णीष्टिः' ब्रह्मचारिणो रेतस्सेक-  
निमित्तकप्रायश्चित्तरूपा इष्टि — 'श्रौते' वैदिके संस्कृते—'वह्नौ' अग्नौ—  
'न' 'इष्टा' उचितेत्यथ ॥ ५ ॥

(६) ६।८।२२-२४ पूर्वाह्णादौ देवकार्याणि कुर्यात् ।

( १ ) अधिकारविचारे कालविचार ।

( २ ) सन्त्युपनयनादीनि दैत्रिकानि कर्माणि ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किमेतेषां कर्मणामनुष्ठानेऽस्ति कालनि-  
यमो न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — एतत्सम्बन्धेन तिथ्यादिकालनियमस्य श्रुतिष्वश्रव-  
णात् नास्ति कालनियम । तथाच यथारुचि कार्याणीति ।

( ५ ) सिद्धान्त — श्रौतनियमाभावेऽपि स्मार्ता नियमा उपलभ्यन्ते ।  
तदनुसारेण च पूर्वाह्णे एव-शुभतिथावेव—शुक्लपक्षे एव—उत्तरायणे  
एव—दैविकानि कर्माणि कर्तव्यानीति ।

एतदभिप्रेत्याह पूर्वेति । पूर्वाह्णादौ पूर्वाह्णे शुभतिथौ इत्यादिनियमिते  
एव काले—'देवकार्याणि' उपनयनादीनि—'कुर्यात्' इति सम्बन्ध ॥ ६ ॥

(७) ६।८।२५ पित्र्यं कर्माथापराह्णादिकाले

[ एतदधिकरण न्यायमालाया नैव धृतम् । ]

( १ ) पूर्वाधिकरणपवाद ।

( २ ) सन्ति श्राद्धादीनि पैतृकाणि कार्याणि ।

( ३ ) तत्र सन्देह — अत्रास्ति कालनियमो न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — श्रुतिषु कालादिनियमानुपलम्भात् नास्ति  
नियम इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — स्मार्तनियमानुसारेणास्ति कालनियम — अपराह्णे  
एव पित्र्य कार्यम्—कृष्णपक्षे एवेत्यादिक इति ।

एतदभिप्रेत्याह पित्र्यमिति । 'अथ' किन्तु—'पित्र्य कर्म' श्राद्धा-  
दि—'अपराह्णादिकाले' अपराह्णे कृष्णपक्षे इत्यादौ नियते काले—कर्तव्य  
मिति शेष ॥ ७ ॥

(८) ६।८।२६-२७ याच्ञाक्रीती द्रव्यभावेऽपि कार्ये ।

( १ ) अधिकारे विचारविशेष ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे धनभिक्षणमाप्नातम्—'द्वादशरात्रीर्दीक्षितो भूति  
यन्वीत' इति—सोमक्रयश्चाप्नात — 'सोम क्रीणाति' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह --इदं भिक्षण क्रयण च--किं यस्य धन सोमश्च नास्ति तेनैव कर्तव्यमुत यस्यास्ति तेनापीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष --भिक्षणक्रयणे द्रव्यलाभार्थमेवाभ्यासात् । यस्यास्त्येव द्रव्य तस्य प्रयोजनाभावान्नैव कर्तव्ये भिक्षणक्रयणे इति ।

( ५ ) सिद्धान्त --उभयमप्येतत् कृत्वङ्गत्वेन नित्यवदेवाभ्यासात् । तस्मात् द्रव्यस्य सत्त्वेऽपि नित्यस्याकरणे प्रत्यवायसम्भवात् कर्तव्ये एव भिक्षणक्रयणे इति ।

एतदभिप्रेत्याह याच्येति । 'द्रव्यभावे' धनसोमरूपस्य द्रव्यस्य सत्त्वेऽपि--'याच्यक्राती'--'याच्य' धनभिक्षण 'क्रीति' 'सोमक्रयण च--'कार्ये' कर्तव्ये एवेति सम्बन्ध ॥ ८ ॥

( ६ ) ६।८।२८ भक्षप्रैषाच्छादनाद्यश्च नित्यम् ।

( १ ) अधिकारविचार पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) सन्ति विधानानि (अ) भक्षस्य (क) प्रैषस्य (च) वासस (ट) सन्नसहोमस्य (त) मन्त्रोच्चारणस्य च--यथा (अ) 'पयोव्रतं ब्राह्मणस्य' इति--(क) 'प्रोक्षणीरासादय' इति--(च) 'दर्भमय वासो भवति' इति--(ट) 'यत् पशुर्मायुकृतोर' इति--(त) 'योऽस्मान् द्वेष्टि य च वय द्विष्म' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह --(अ) किं यस्यान्यत् भोजनं न विद्यते तस्यैव पथोभक्षणम् उत सत्यपि भोजनद्रव्यान्तरे--(क) य प्रैष विना कर्तव्य नावबुध्यते तदप्रत्येव प्रैषोच्चारणमुत अवबुध्यमान प्रत्यपि--(च) यस्य सूत्रमय वासो नास्ति स एव दर्भमय परिधीत उत यस्य सूत्रमयमस्ति सोऽपि--(ट) यस्य पशुर्मायु कुर्यात् किं तस्यैव सन्नसहोम उत तद्भावेऽपि--(त) यस्यास्ति द्वेषी स एव मन्त्रमिममुच्चारयेत् उत तद्भावेऽपीत्यादि ।

( ४ ) पूर्वपक्ष --निमित्ते सत्येव नैमित्तिकस्यानुष्ठेयत्वात् सर्वत्रोक्तस्य निमित्तस्य सत्त्वे एव नैमित्तिक कर्तव्य नान्यथेति ।

( ५ ) सिद्धान्त --नह्यत्र किञ्चिन्निमित्तमुपात्तमुपलभ्यते वाक्येषु--तस्मात् नित्यवदेवैतानि कर्तव्यानीति । एव च (अ) सत्यपि भोजने पथ एव भक्षणायम्--(क) सत्यपि कार्यज्ञाने प्रैष उच्चारणीय --(च) सत्यपि वस्त्रान्तरे दर्भमय परिधातव्यम्--(ट) पशुनाऽकृतेऽपि शब्दे सन्नसहोम कर्तव्य --(ज) द्वेषिणोऽभावेऽपि योऽस्मान् द्वेष्टीति मन्त्रपाठ कर्तव्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह भक्षेति । 'भक्ष' पयोरूप, 'प्रैष' प्रोक्षणीरासादयेत्ये-

## अथ सप्तमोऽध्यायः ।

[ अतिदेशसामान्यनिरूपणपर ]

प्रथम पाद

[ प्रत्यक्षोक्त्याऽतिदेशनिरूपणपर ]

(१) ७।१।१-१२ व्यवस्था स्यात् प्रयाजादौ

( १ ) प्रमाणाद्यधिकारान्तै षड्विचारैर्निरूपिते ।

उपदेशे—ऽतिदेशोऽथ तत्सापेक्षो निरूप्यते ॥

अतिदेशश्च—

अन्यत्रैव प्रणीताया कृत्स्नाया धर्मसन्तते ।

अन्यत्र कार्यतः प्राप्तिरतिदेशोऽभिधीयते ॥

पूर्वेणाध्यायषट्केन प्रत्यक्षविहितधर्माणा कर्माणा दर्शपूर्णमासादीना मितिकर्तव्यता चिन्तिता । उत्तरेणेदानीमविहितेतिकर्तव्यताकाणामपि धर्मा सन्त्युत न-यदि सन्ति तर्हि के ते कथं च तेऽनुष्ठेया कियन्तश्च ते इति यथाक्रम सप्तमाद्यध्यायेषु चिन्त्यते । तत्रादावतिदेशस्यावश्यकत्वं विचार्यते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासप्रकरणे प्रयाजादय उपदिष्टा —ज्योतिष्टोमप्रकरणे च दीक्षणीयादय ।

( ३ ) तत्र सन्देह —एते प्रयाजादय किं यागार्था —यागो गुणवान् स्यादित्युद्देशेनैवानुष्ठेया —उत अपूर्वार्था —तज्जन्यापूर्वसम्पादनायेति । तथा च किं सकलयागान्विता सकलयागसाधारणा उत प्रकृतयागापूर्वसम्बद्धास्तन्मात्रे व्यवस्थिता इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —यागार्थत्वेनैवानुष्ठेया प्रयाजादय । तथैव तेषां यागेनान्वयात् । याग करण प्रयाजादयस्तस्येतिकर्तव्यता स्वर्गादि फलमिति एषा परस्परसम्बन्ध इत्यविवादम् । यथाऽवघातपेषणादीन्यङ्गानि यागनिष्पादकानि नापूर्वसाधकानि तथैवाङ्गत्वसामान्यात् प्रयाजादयोऽपि यागस्यैव निष्पादकानि नापूर्वस्येति [ एवं च प्रयाजादीनां न केवलं प्रकृतियागनिष्पादकत्वमपि तु यागमात्रस्य—तथाच सति विकृतियागेष्वप्येषामन्वये लब्धे तत्राप्युपदेशादेव लब्धा गुणास्ततश्च नावसरोऽतिदेशस्येति पूर्वपक्षहृदयम् । ]

( ५ ) सिद्धान्त —अत्र यागो न मुख्यः, तस्य साक्षात्फलासाधक-

त्वात्—अपूर्वमेव मुख्य तस्य साक्षात्फलसाधकत्वात् । फलवत् मुख्य-  
स्यैव कृते प्रयाजादिविधानम् । एव च करणभूतस्य यागस्य इतिकर्त-  
व्यत्वरूपस्य प्रयाजादेशोभयोरपि प्रथममपूर्वैर्गैवान्वय । पश्चात्तथो-  
परस्परं गुणप्रधानभावेनान्वय । एव च प्रयाजादयोऽपूर्वविशेषेण तत्क-  
रणभूतयागविशेषेण चान्विता यस्मिन् प्रकरणे उपदिष्टास्तत्रैव व्यवतिष्ठ-  
न्ते । एवमेव च प्रकरणमर्थवद् भवति । [एव च प्रकृतदर्शपूर्णमासयाग-  
मात्रेणान्विता प्रयाजादयो यागास्तरेषु साक्षादुपदेशेनाप्राप्ता, तैस्सम्ब-  
न्धार्थमतिदेशमपेक्षन्ते ] इति ॥

एतदभिप्रेत्याह—व्यवस्थेति । ‘प्रयाजादौ’ अङ्गजाते—‘व्यवस्था’  
‘स्यात्’—यस्य यागस्य प्रकरणे ते उपदिष्टास्तत्रैव व्यवतिष्ठन्ते—यागा-  
न्तरान्वयाय चातिदेशमपेक्षन्त इत्याशय ॥ १ ॥

(२) ७।१।१३-१६ इषौ श्येनसमो विधिः ।

( १ ) अतिदेशविशेषविचार ।

( २ ) श्येननामक इषुनामकश्च द्वावेकाहौ ज्योतिष्टोमविकारौ ।  
तस्मादुभयोरपि ज्योतिष्टोमधर्माश्चोदकेन प्राप्ता । तत्रैषौ काश्चिद्ध-  
र्मानभिधायाम्नातम्—‘समानमितरच्छुधेनेन’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किमय विधिरुतानुवाद । [ यद् विधिस्तर्हि  
श्येनधर्मानिषावतिदिशति—यद्यनुवादस्तर्हि नातिदेश ] ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अनुवाद एवाय चोदकप्राप्तस्य धर्मजातस्य । तथा  
च ‘ये धर्मा इषौ विशिष्टा उक्तास्तदतिरिक्ता श्येनगता ये प्रकृतितश्चो-  
दकप्राप्तास्त एवान्विता भवन्तीति’ वाच्यस्यार्थः । तस्मादनुवाद  
एवाय न विधिः ।

—( ५ ) सिद्धान्त —इषौ ये विशिष्टा धर्माश्चोदिता तत्सजातीया  
विशिष्टा एव धर्मा इतरशब्देन व्यपदिश्यन्ते । ते च श्येनगता विशिष्टा  
धर्मा । न चैते प्रकृतियागे वर्तन्ते—तथा च न चोदकप्राप्ता न चानुवा-  
दाहस्तस्मादेव कारणात् । तस्मात् इषौ विशिष्य विहितेभ्यो विशिष्ट-  
धर्मेभ्योऽतिरिक्ता ये विशिष्टा धर्मास्तत्रापेक्षितास्ते श्येनादेवानेतव्या इति  
विधिरेवात्र नानुवादः । एव च भवत्येवात्रातिदेशः श्येनगतविशिष्टध-  
र्माणामिति ।

एतदभिप्रेत्याह इषाविति । ‘इषौ’ इषुयागे—‘श्येनसमो विधिः’—  
समानमितरच्छुधेनेनेति यत् श्येनसमत्पमुक्तं तत् विधिरेव श्येनविशिष्ट-  
धर्माणां, न त्वनुवादश्चोदकप्राप्तधर्माणामित्याशयः ॥ २ ॥

(३) ७।१।१७ २१ अतिदेशो विधेरिष्टः

( १ ) अतिदेशविशेषोदाहरणम् ।

( २ ) चातुर्मास्येषु वैश्वदेव—वरुणप्रघास—साकमेध—सुनासी-  
रीय—नामकानि चत्वारि पर्वाणि । ( अ ) तत्र वैश्वदेवेष्टौ हवींषि वि-  
हितानि—आग्नेयमष्टाकपालमित्यादीन्यष्टौ । ( क ) तेषां हविषा चार्थ-  
वादो ब्राह्मणे—‘वार्त्रधनानि वा एतानि हवींषि’ इति । ( च ) अङ्गविधयो-  
ऽपि तत्रास्मात्ता—‘त्रेधा सन्नद्ध बर्हिर्भवति’ ‘त्रेधा सन्नद्ध इध्म’—  
इत्येवमादयः । एव वैश्वदेवे विधानम् । तदनन्तरं वरुणप्रघासेषु पूर्वोक्ता-  
नामघानां हविषा पञ्चैव विधाय पूर्वोक्तमर्थवादब्राह्मण तेषु पञ्चस्वति-  
दिष्टम्—‘यद्ब्राह्मणानीतराणि तद्ब्राह्मणान्येऽपञ्च हवींषि’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह—किमर्थवादमात्रस्यातिदेश उत सार्थवा-  
दानामङ्गविधीनामिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—अर्थवादमात्रस्यातिदेशो न्याय्य—तस्यैव हवि-  
र्विधिभिः स्तुत्यस्तावकभावेनान्वयसम्भवात् अङ्गविधीनां तदसम्भ-  
वादिति ।

( ५ ) सिद्धान्त—सम्भवति ह्यन्वयोऽङ्गविधीनामुपकार्योपकारक-  
भावेन । तस्मादर्थवादसहितानामङ्गविधीनामतदश इति ।

एतदभिप्रेत्याह अतीति । ‘विधे’ न केवलमर्थवादस्य—‘अतिदेश’—  
‘इष्ट’ बोधितुमुचित इत्यर्थः ॥ ३ ॥

(४) ७।१।२२ तद्वदेककपालके ।

( १ ) अतिदेशोदाहरणम् ।

( २ ) वैश्वदेवे वरुणप्रघासेषु च एककपाल आस्मात्—ऐन्द्राग्नौ  
द्वादशकपालस्तु वरुणप्रघासेष्वेव । साकमेधीये च एककपाल ऐन्द्रा-  
ग्नश्चेत्युभयमेवास्मात्तम् । अनयोश्च कपालयोर्ब्राह्मणातिदेश श्रुत—‘ए-  
तद्ब्राह्मण ऐन्द्राग्न एतद्ब्राह्मण एककपालो यद्ब्राह्मण इतर इतरश्च’  
इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह—किमर्थवादमात्रस्यातिदेशोऽयमुत विधेरपीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—अर्थवादमात्रस्यातिदेश इति ।

( ५ ) सिद्धान्त—पूर्वन्यायेन समस्तस्य विधिकारणस्याप्यति-  
देश इति ।

एतदभिप्रेत्याह तदिति । ‘एककपालके’ एककपालविषयकब्राह्म-  
णातिदेशवाक्येऽपि—‘तद्वत्’ पूर्वाधिकरणवत्—विधेरप्यतिदेश इष्ट इति  
भावः ॥ ४ ॥

(५) ७।१।२३ प्राघासिकातिदेशः स्यात्

(१) अतिदेशोदाहरणम् ।

(२) वैश्वदेवे द्यावापृथिव्य एककपाल वरुणप्रघासेषु काय एक-  
कपाल तयोश्च ब्राह्मण पृथक् समाम्नातम्--साकमेधेषु वैश्वकर्म्मण  
एककपाल । अस्मिन् साकमेधीयैककपाले ब्राह्मणातिदेशे प्राप्ते--

(३) सन्देह --कस्य ब्राह्मणस्यात्रातिदेश --किं वैश्वदेवैककपा-  
लब्राह्मणस्य उत वारुणप्राघासिकैककपालब्राह्मणस्येति ।

(४) पूर्वपक्ष --वैश्वदेविकमेवैककपालब्राह्मणमत्रातिदेष्टव्यम् ।  
वैश्वदेवस्य प्रकृतिभूतत्वात्तत्रैव प्राचुर्येण धर्मविशेषा उपदिष्टा । बह्व  
नुग्रहश्च न्याय्यो नाटपीयोनुग्रह इति ।

(५) सिद्धान्त--वारुणप्राघासिकस्य ब्राह्मणस्यासन्नतरत्वात्  
तस्यैवातिदेशो युक्त । ऐन्द्राग्नब्राह्मण च साकमेधीये वरुणप्रघासे  
चोभयत्र लभ्यते । तस्मादपि साहचर्यादेककपालब्राह्मणमपि वरुणप्राघा-  
सिकमेव साकमेधीयेऽतिदेष्टव्यमिति ।

एतदभिप्रेत्याह--प्राघासिकेति । 'प्राघासिकस्य' वरुणप्रघासगतैक  
कपालब्राह्मणस्य--'अतिदेश' स्यात्--'साकमेधीये' इति शेष ॥ ५ ॥

पादे पञ्च नयाः स्मृताः ।

स्पष्टम् ।

इति सप्तमस्य प्रथम ।

## अथ सप्तमस्य द्वितीय पादः ।

[ अतिदेशविशेषविचारपर ]

(१) ७।२।१-२१ गीतिरेवातिदिश्येत

(१) अतिदेशविचारविशेष ।

(२) इदमाम्नायते--'कवतीषु रथन्तर गायति' इति । 'कयान  
श्चित्रे'त्यादि ऋकत्रय 'कवती' नाम्ना प्रसिद्धम् । तास्वध्वयनप्राप्त वा-  
मदेव्य साम । तद्बाधितुमुदाहृतवाक्ये रथन्तरमितिदिष्टम् ।

(३) तत्र सन्देह --रथन्तरनाम्नाऽत्र किमितिदिश्यते--किं गीति  
मात्रमुत गीतिविशिष्टा ऋगिति ।

(४) पूर्वपक्ष--गीतिविशेषयुक्ता 'अभित्वा शूर नोऽनुम' इत्याद्या



ऋक् रथन्तरमित्युच्यतेऽध्येतुभि । तस्मात् गीतिविशिष्टेयमृगतिदिश्यत इति ।

( ५ ) सिद्धान्त --- 'अभित्वेति' ऋगक्षराणि न शक्यन्ते प्रयोक्तु 'कयानश्चित्र' इति ऋगक्षरैस्सह । न च सम्भवत्यनयोऋगक्षरसमूहयो परस्परमाधाराधेयभाव । तस्माद् ऋगक्षराणामतिदेशासम्भवाद् गीतैरेवातिदेश इति ।

एतदभिप्रेत्याह गीतिरिति । 'गीति' 'एव' 'अतिदिश्येत'---न ऋगक्षराणीति भाव । तस्माद् रथन्तरादिनाम्ना गानमेवोच्यते इति भाव १॥

मुनिना तत्त्ववेदिना ।

एकमेवाधिकरणम्

पादेऽत्र परिकीर्तितम् ॥

स्वष्टम् ।

इति सप्तमस्य द्वितीय ।

## अथ सप्तमस्य तृतीय पादः ।

[ नामातिदेशनिरूपणपर ]

( १ ) ७।३।१-४ धर्मातिदेशे पदमग्निहोत्रम्

( १ ) नामातिदेशविचार ।

( २ ) कौण्डपायिनामयने श्रूयते---'मासमग्निहोत्र जुहोति' इति । इदं च मासाग्निहोत्र नित्यादग्निहोत्रात् कर्मान्तरम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह --- अस्मिन् वाक्ये अग्निहोत्रशब्देन किं नित्यस्याग्निहोत्रस्य धर्माणामतिदेशो मासाग्निहोत्रे भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष --- अग्निहोत्रमिति नाम यथा नित्याग्निहोत्रस्य तथैव मासाग्निहोत्रस्याप्युपदिष्टम् । एव चोभयोरपि नामसम्बन्धे साधारणे नास्ति प्रमाणमेकस्य धर्माणामन्यस्मिन्नतिदेशे इति ।

( ५ ) सिद्धान्त --- अग्निहोत्रशब्दो नित्ये एवाग्निहोत्रे मुख्य --- अग्नये होत्रमस्मिन्नित्यर्थस्य तत्रैव सम्भवात् । न चोभयत्र मुख्यत्व सम्भवति --- अनेकार्थत्वस्यान्याय्यत्वात् । मुख्यस्यासम्भवेन च मासाग्निहोत्रेऽस्य नाम्न प्रवृत्तिर्गुणयोगादेव भवितुमर्हति । तस्मात् अग्निहोत्रनाम्ना मासाग्निहोत्रे नित्याग्निहोत्रस्य धर्मा अतिदिश्यन्ते इति ।

एतदभिप्रेत्याह—धर्मेति । मासमग्निहोत्रमित्यत्र वाक्ये—‘अग्निहोत्रम्’ इति ‘पदम्’ नाम—‘धर्माणाम्’ नित्याग्निहोत्रगतानाम्—‘अतिदेशो’ मासाग्निहोत्रे अतिदेशार्थ—प्रयुज्यते इति शेष ॥ १ ॥

(२) ७।३।५ न प्रायणीयेत्यतिदेष्टु नाम ।

(१) पूर्वाधिकरणापवाद ।

(२) द्वादशाहे प्रथमस्याह ‘प्रायणीयम्’ इति नाम—तथैव गवां मयनेऽपि ।

(३) तत्र सन्देह—अत्रापि नाम्ना धर्माणामतिदेशो न वेति ।

(४) पूर्वपक्ष—पूर्वाधिकरणन्यायेनात्रापि नाम्ना धर्माणामेवातिदेश इति ।

(५) सिद्धान्त—प्रायणीयशब्द प्राथम्यमभिधत्ते । प्राथम्यस्य च द्वयोरपि कर्मणोस्तुत्यत्वेनोभयत्र मुख्यत्वम् । तस्मादत्र गौणमुख्य भावाभावात् न भवति नामातिदेशकमेकस्य धर्माणामन्यतरत्रेति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । ‘प्रायणीयेति’ ‘नाम’—अतिदेष्टु धर्मातिदेशकम्—‘न’—भवतीति शेष ॥ २ ॥

(३) ७।३।६-११ स्यात् सर्वपृष्ठे षडहोक्तपृष्ठम्

(१) अतिदेशविशेषोदाहरणम् ।

(२) ‘विश्वजित् सर्वपृष्ठो भवति’ इति श्रूयते ।

(३) तत्र सन्देह—सर्वपृष्ठशब्दोऽत्र विधायकोऽतिदेशक उता-नुवाद इति ।

(४) पूर्वपक्ष—विश्वजिति ज्यौतिष्टोमिकानां चतुर्णां स्तोत्राणां प्राप्तत्वात् तेषु च पृष्ठशब्दप्रयोगात् सिद्धमेव सर्वपृष्ठत्वम्, न च सिद्धस्य विधि । तस्मान्नुवादश्चोदकप्राप्तानां चतुर्णां पृष्ठानामिति ।

(५) सिद्धान्त—सर्वपृष्ठशब्देनात्र षट्सङ्ख्यकानि पृष्ठान्यतिदिश्यन्ते । षडहे प्रतिदिनमेकैकं पृष्ठं विहितम् । तानि च षट्—रथन्तर—बृहद्—वैरूप—वैराज—शाकवर—रैवतसामभिर्निष्पाद्यानि भवन्ति । यद्यपि विश्वजित् षडहविकृतिस्तथापि उदाहृतवाक्येनैव षडहगतानां पृष्ठानां रथन्तरादीनामतिदेशो विश्वजिति सिध्यतीति ।

एतदभिप्रेत्याह स्यादिति । ‘सर्वपृष्ठे’ इति नामनि प्रयुक्ते—‘षडहे’ ‘उक्तम्’ यत् ‘पृष्ठम्’ रथन्तरादिपृष्ठषट्कम् तत्—‘स्यात्’ अतिदिष्टमिति शेष ॥ ३ ॥

(४) ७।३।१२-१५ धर्माश्च सोमावभृथात् प्रघासे ।

( १ ) अतिदेशोदाहरणम् ।

( २ ) वरुणप्रधासेषु श्रूयते—‘वारुण्या निष्कासेन तुषैश्च अवभृथ यन्ति’ इति । [ ‘निष्कास’ आमिक्षाया लेप ] । दर्शपूर्णमासयोश्च सर्वासु दिक्षु जलमुत्सिच्यते ‘प्राच्या दिशि देवा ऋत्विजो मार्जयन्ताम्’ इत्यादिमन्त्रैः ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—पूर्वस्मिन् यागे योऽवभृथशब्दस्तेन किं दार्शपूर्णमासिकोत्सेकोऽनूद्यते निष्कासद्रव्यविधानार्थम्—उत सौमिकादवभृथात् धर्मातिदेशस्ततश्च सौमिकधर्मोपेतकर्मन्तरं विधीयते अवभृथशब्देनेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —व्युत्सेक एवानूद्यते निष्कासविधानार्थम् । व्युत्सेकस्यावभृथत्व श्रुतम्—‘एष वै दर्शपूर्णमासयोर्वभृथ’ इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —सौमिके कर्मणि अवभृथशब्दो मुरय —व्युत्सेके तु जलसम्बन्धात् स शब्द उपचर्यते । तस्मात् सौमिककर्मवाचिनमवभृथशब्द वरुणप्रधासप्रकरणे प्रयुञ्जान आस्रायो मासाग्निहोत्रन्यायेन तत्र प्रधासे सौमिकधर्मानतिदिशन् तद्धर्मसयुक्त कर्मन्तरमेव विधत्ते—इत्यभ्युपगन्तव्यमिति ।

एतदभिप्रेत्याह धर्मा इति । ‘सोमावभृथात्’ सौमिकादवभृथात्—‘धर्मा’—‘प्रधासे’ वरुणप्रधासे—‘अतिदिश्यन्ते’ इति शेष ॥ ४ ॥

( ५ ) ७।३।१६ साक्षाच्छ्रुत द्रव्यमिह प्रदेयम्

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) वरुणप्रधासे सौमिकावभृथधर्मा अतिदिश्यन्ते इति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—किमय सौमिकवत् पुरोडाशद्रव्यक उत तुष-निष्कासद्रव्यक इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —सौमिकानां धर्माणामतिदेशे तदीयद्रव्यस्याप्यतिदेशः । तस्मात् पुरोडाशद्रव्यक एवायमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —अतिदेशात् पुरोडाश—साक्षादुपदेशाच्च तुषनिष्कास प्राप्त —‘वारुण्या निष्कासेन तुषैश्चावभृथ यन्ति’ इति । अतिदेशश्चोपदेशाद् दुर्बलः । तस्मात् तुषनिष्कासद्रव्यक एवायमिति ।

एतदभिप्रेत्याह साक्षादिति । ‘साक्षात् श्रुतम्’ उपदिष्टम्—‘द्रव्यम्’ तुषनिष्कासरूपम्—‘इह’ वरुणप्रधासिकावभृथे—‘प्रदेयम्’—न तु सौमिकादतिदेशात् प्राप्त पुरोडाशद्रव्यमिति शेष ॥ ५ ॥

( ६ ) ७।३।१७ न वैष्णवोक्त्यापि गुणातिदेशः ।

( १ ) अतिदेशापवादोदाहरणम् ।

( २ ) आतिथ्येष्टौ वैष्णवो नवकपालो विहित — 'वैष्णवो नवकपालो भवति' इति—तथा राजसूयेऽपि 'पूर्वस्मिन्नस्युक्ते वैष्णवस्त्रिकपाल' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — वैष्णवशब्दो राजसूयगते त्रिकपाले प्रयुक्तः किमातिथ्यधर्मानतिदिशति उत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — अग्निहोत्रन्यायेनास्त्येवातिदेश इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — 'वैष्णवशब्दे विष्णुर्देवता अस्य' इति विग्रहे—विहितस्तद्धितप्रत्ययो देवतामभिधत्ते न तु धर्मान् । तस्मात् न धर्मातिदेश इति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'वैष्णवोक्त्या' वैष्णवशब्दप्रयोगेण—'अपि' यद्यपि वैष्णवशब्द प्रयुक्तस्तथाऽपि—'गुणानाम्' आतिथ्येष्टिगतानां धर्माणाम्—'अतिदेश' राजसूये—'न' भवतीति शेष ॥ ६ ॥

( ७ ) ७।३।१८ निर्मन्थ्यशब्दोऽप्यातिदेशको न

( १ ) अतिदेशापवादोदाहरणम् ।

( २ ) अग्नीषोमीयपशौ धर्मवान् निर्मन्थ्योऽग्निराम्नात । स एव निर्मन्थ्यशब्दोऽग्निवयने इष्टकापाके प्रयुक्त 'निर्मन्थ्येनेष्टका पचन्ति' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — निर्मन्थ्यशब्देनेष्टकापाकेऽग्नीषोमीयाग्निधर्माणामतिदेशो न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — निर्मन्थ्यत्वसिद्धयर्थमावश्यकोऽतिदेश इति ।

( ५ ) सिद्धान्त—वैष्णवशब्दन्यायेन मुरयया वृत्त्या विधिसम्भवे धर्मातिदेशोऽन्याय्य । अग्निमन्थनस्य च लोकसिद्धत्वेन शास्त्रोक्तधर्माभावेऽपि लौकिकैरपि धर्मैर्निर्मन्थ्यत्व निष्पद्यत एव । तस्मान्नास्त्यतिदेश इति ।

एतदभिप्रेत्याह निर्मन्थ्येति । 'निर्मन्थ्यशब्द' 'अपि'—'अतिदेशक' धर्माणा—'न' भवतीति शेष ॥ ७ ॥

( ८ ) ७।३।१९-२० द्वयोः प्रणीतिर्न हि सौमिकी स्यात् ।

( १ ) अतिदेशापवादोदाहरणम् ।

( २ ) चातुर्मास्येषु श्रूयते—'द्वयोः प्रणयन्ति—तस्माद् द्वाभ्यामेति' इति । अस्ति च सौमिक प्रणयन धर्मवत्, दार्शपौर्णमासिक तु धर्मरहितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह — चातुर्मास्ये यद् द्वयोः प्रणयन तत्र किं सौमिकप्रणयनधर्माणामतिदेशो न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—सौमिकप्रणयनधर्माणा भवत्यतिदेशः । सोमो न भवति चातुर्मास्यस्य प्रकृतिः । तस्मात्सौमिकस्य प्रणयनस्यात्र विध्य

हता । दर्शपूर्णमासस्तु भवति चातुर्मास्यस्य प्रकृति । तस्मात् तदीयप्रणयनस्य चोदकप्राप्तत्वाच्च विध्यहता । तस्मात् प्रणयनशब्देनात्र सौमिकप्रणयनधर्मा अतिदिश्यन्ते इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — नाय प्रणयनशब्द सौमिकप्रणयनकर्मणो नामधेयम्—अपि तु निर्मन्थ्यशब्दवज्जौकिक एव । ततो न यर्मातिदेश इति ॥

एतदभिप्रेत्याह द्वयोरिति । 'द्वयो' 'प्रणीति' प्रणयनम्—'सौमिकी' सौमिकप्रणयनधर्मवती—'न हि' स्यात्—अतिदेशेनेति शेष ॥ ८ ॥

( ६ ) ७।३।२१-२५ गतिस्तुतेर्मध्यमपर्वणोः सा

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) चानुर्मास्ये 'द्वयो प्रणयन्ति' इति श्रुतम् । तत्र च चत्वारि पर्वाणि वैश्वदेव—वरुणप्रधास—साकमेध—सुनासीरीयनामकानि ।

( ३ ) तत्र सन्देह—कतरयोर्द्वयोरिदं प्रणयनमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—आद्यन्तयोर्वैश्वदेवसुनासीरीययोरिदं प्रणयनम् । 'न वैश्वदेव उत्तरवेदिमुपयन्ति न सुनासीरीये' इति प्रतिषेधस्तयोरेव प्रणयनस्य प्राप्तिं सूचयति ।

( ५ ) सिद्धान्त—'ऊरू वा एतौ यज्ञस्य यद्वरुणप्रधास, शाकमेधश्च' इति गमनसाधनत्वमूरुत्व मध्यमयोरेव पर्वणोरुक्तम् । तत्सन्निधौ 'द्वयो प्रणयन्ति' इति चोदकप्राप्तमग्निप्रणयन पुनर्विधाय 'द्वाभ्यामेति' इत्यर्थं वादेनोरुत्वकल्पनायुक्ताभ्या पर्वभ्या गमनमुपन्यस्यते । तस्मात् मध्यमयोरेव प्रणयनमिति ।

एतदभिप्रेत्याह गतीति । 'गतिस्तुते' द्वाभ्यामेतीत्यर्थवादवाक्यात्—'सा' प्रणीति, प्रणयनम्—'मध्यमपर्वणो' वरुणप्रधाससाकमेधयोरेव भवतीति शेष ॥ ९ ॥

( १० ) ७।३।२६ २७ धर्मातिदेशी स्वरसामशब्दः ।

( १ ) अतिदेशोदाहरणम् ।

( २ ) गवामयने द्वयोर्मासषट्कयोर्मध्ये वर्तमान विषुवन्नामक प्रधानभूतमेकमहर्विद्यते—तच्च दिवाकीर्त्यम् । तस्मात् प्राचीनास्त्रय स्वरसामनामका अहर्विशेषा—तथोपरिष्ठादपि त्रय स्वरसामान । तदेतन्निष्ठाद्वयमभिलक्ष्य श्रूयते—'अभितो दिवाकीर्त्य त्रय स्वरसामान' इति—तेषु च साप्तद्वय—सातत्यादयो धर्मा आम्नाता । अन्यत्र पुन श्रूयते—'षष्ठ्य षडह द्वौ स्वरसामानौ' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह—उत्तरस्मिन् वाक्ये य स्वरसामशब्द प्रयुक्तस्तेन किं गवामयनिकस्वरसामधर्मा अतिदिश्यन्ते न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — षष्ठवैष्णवाधिकरणन्यायेन नात्रातिदेश — अपि तु सामविशेषरूपगुणविधिरेवेति ।

( ५ ) सिद्धान्त — षडह प्रति श्रूयते—‘यत् तृतीय सप्तदशमह’ इति । अत्र च त्रिषु चरमेष्वहस्सु सप्तदशस्तोमनैरन्तर्यमनूयते । एतच्च नैरन्तर्यं तदैवोपपद्यते यदि स्वरसामशब्दः सप्तदशस्तोममतिदिशति—नान्यथा । तस्मात् धर्माणामतिदेशकः स्वरसामशब्दः इत्यभ्युपगन्तव्यमिति । एतदभिप्रेत्याह—धर्मेति । ‘स्वरसामशब्द’—‘धर्माणाम्’ गवामय, निकानाम्—‘अतिदेशी’ अतिदेशक इति सम्बन्धः ॥ १० ॥

( ११ ) ७।३।२८-२९ नोत्पादयेद् वस्त्रमनश्च यज्ञे

( १ ) अतिदेशापवादोदाहरणम् ।

( २ ) ‘वासो ददाति’ ‘अनो ददाति’ इति श्रूयते । वासो वानक्रियया निष्पद्यते अनश्च वर्धकिकृतदारुतक्षणक्रियया ।

( ३ ) तत्र सन्देहः — वासः शब्दः अनः शब्दश्च किं क्रियामनिमित्तौ सन्तौ क्रियामतिदिशत — उत आकृतिनिमित्तौ न क्रियातिदेशकाविति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः — यथा यूपशब्दस्य शास्त्रीयच्छेदनतक्षणादिक्रिया प्रवृत्तिनिमित्तः — तथा वासः शब्दस्य लौकिकी तन्तुवानक्रिया, अनः शब्दस्य च वर्धकिकृतदारुतक्षणादिक्रिया । तस्मात् वासः शब्दोऽनः शब्दश्च क्रियातिदेशकौ—तथाच वानक्रिया तक्षणक्रिया च कारयित्वा वह्नुः शकटं चोत्पाद्य दातव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः — गवादिशब्दवदाकृतिवाचकावेतौ वासोऽनः शब्दौ । वह्नुः शकटे च तत्तत्क्रियामनुपलभ्यापि आकृतिमात्रमुपलभ्य वासः शब्दमनः शब्दः च प्रयुज्यते । तस्माद् वासः शब्दोऽनः शब्दश्च न क्रियामतिदिशत । तस्माद्वानेन तक्षणेन च वह्नुः शकटयोरुत्पादनं दानकाले नावश्यकमिति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । वह्नुः ‘अनः’ शकट—‘च’—‘यज्ञे’ यज्ञाद्भूतदानकाले—‘न’ ‘उत्पादयेत्’ तत्कालीनवानतक्षणक्रियाभ्याम्, अपि तु यथोपलब्धे एव दातव्ये वासः शकटे इत्याशयः ॥ ११ ॥

( १२ ) ७।३।३०-३२ स्तोत्रे त्वसौ लौकिक एव बद्धिः ।

( १ ) अतिदेशापवादोदाहरणम् ।

( २ ) गर्गत्रिरात्रे आज्यदोहसामानि प्रकृत्य श्रूयते—‘अग्निमुपनिधाय स्तुवीत’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देहः — किमत्रोक्तोऽग्निर्वैदिकोऽभिप्रेतस्तथा चाधानादिक्रियामतिदिशति—उत लौकिक एवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — वैदिक एवायमग्नि — आधानाद्यग्निसंस्कारस्य सकलवैदिककर्मशेषभूतत्वात् । ततश्चाधानादिसंस्कारोतिदिश्यते इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — आहवनीयशब्दवन्नाग्निशब्द संस्कारनिमित्त-  
अपि तु जातिनिमित्तो वास शब्दवत् । तथासति लौकिकत्वान्नाधाना-  
दिसंस्कारमतिदिशति ।

एतदभिप्रेत्याह स्तोत्र इति । 'स्तोत्रे' अग्निमुपनिधाय स्तुवीतेति  
वहिते स्तवने- 'असौ' अत्रोक्त — 'वह्नि' अग्नि — 'लौकिक एव' न तु  
वैदिक — ततश्च नाधानादिसंस्कारातिदेशक इत्याशय ॥ १२ ॥

( १३ ) ७।३।३३-३४ यूपस्य नैवोपशयेऽङ्गजातम्

( १ ) अतिदेशापवादोदाहरणम् ।

( २ ) एकादशाना यूपाना समूहे दक्षिणतोऽवस्थापितो यूप 'उप-  
शय' श्रुत — 'उपशयो यूपो भवति' इति । पुन श्रूयते 'यदक्षिणत उपशय'  
इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किं यूप इति नाम उपशये परिव्याणादियूप  
संस्कारमतिदिशति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — संस्कारनिमित्तको हि यूपशब्द । प्रयुज्यते चा-  
यमुपशये । तस्मात् उपशये संस्काराणामतिदेश इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — नास्त्युपशये संस्कारस्य प्रयोजनम् । पशु नियो-  
क्तुमेव यूप संस्क्रियते । पशुश्च दशस्वेव यूपेषु नियोजितो नैकादशे उप-  
शये । तथा चोक्तम्- 'सर्वे वाऽन्ये यूपा पशुमन्त अथोपशय एवापशु'  
इति । तस्मान्न यूपशब्द संस्कारधर्मानतिदिशतीति ।

एतदभिप्रेत्याह यूपस्येति । 'उपशये' उपशयनामके एकादशे यूपे-  
'यूपस्य' परिव्याणादिसंस्कृतस्य — 'अङ्गजातम्' परिव्याणादिसंस्कार  
कलाप — 'न' — अतिदिश्यते इति शेष ॥ १३ ॥

( १४ ) ७।३।३५-३६ धर्मातिदेष्टा न च पृष्ठशब्दः ।

( १ ) अतिदेशापवादोदाहरणम् ।

( २ ) अग्निचयने श्रूयते — 'पृष्ठैरुपतिष्ठते' इति । पृष्ठशब्दश्च ज्योति-  
ष्टोमे माध्यन्दिनसवनगतस्य स्तोत्रस्य कर्मणो नामेति स्थितम् (१।४।३) ।

( ३ ) तत्र सन्देह — पृष्ठशब्दश्चयने प्रयुज्यमान किं पृष्ठधर्मानुप-  
स्थानेऽतिदिशति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — अग्निहोत्रशब्दवत् पृष्ठशब्दः पृष्ठधर्मानतिदिशतीति ।

( ५ ) सिद्धान्त — पृष्ठशब्दो मन्त्रपर, न कर्मपर । यद्यपि स्तोत्र  
वाची पृष्ठशब्दस्तथाऽप्यत्र तत्साधनभूतान् रथन्तरादिसामोपेतान् 'अग्नि

त्वा शूर' इत्यादि मन्त्रानुपलक्षयति । एव च न पृष्ठधर्मानतिदिशतीति ।  
एतदभिप्रेत्याह धर्मेति । 'पृष्ठशब्द'—'धर्माणाम्' पृष्ठधर्माणाम् 'अ  
तिदेष्टा' अतिदेशको—'न'—भवतीति शेष ॥ १४ ॥

पादे तृतीये खलु सप्तमस्य  
न्याया इहोक्तास्तु चतुर्दशैव ।

स्पष्टम् ॥

इति सप्तमस्य तृतीय ।

## अथ सप्तमस्य चतुर्थः पादः ।

[ आनुमानिकातिदेशनिरूपणपर ]

(१) ७।४।१ सौर्येऽनुमेयान्यङ्गानि

( १ ) प्रत्यनश्रुत्या नाम्ना चातिदेशे विचारिते आनुमानिकोऽति  
देशोऽधुना विचार्यते ।

( २ ) 'सौर्यं चरु निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकाम' इति श्रयते ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किमस्मिन् सौर्ये कर्मणि केऽपि धर्मा अति  
दिश्यन्ते न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —सौर्येऽवघातादयो धर्मा न प्राप्नुवन्ति—प्रापक  
प्रमाणानां श्रुतिलिङ्गादीनामभावात् इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —सौर्यो याग उपकरणापेक्षं करणत्वात् लौकिक  
कभोजनवत् वैदिकदर्शपूर्णवासवच्चेति ।

एतदभिप्रेत्याह—सौर्यं इति । 'सौर्ये' तन्नामके कर्मणि—'अङ्गानि'  
'अनुमेयानि' अनुमानेन प्रापणीयानीत्यर्थ ॥ १ ॥

(२) ७।४।२—१२ वैदिकान्येव तानि तु ।

(१) पूर्वाधिकरणशेष ।

(२) आनुमानिकान्यङ्गानि सौर्ये प्राप्तानीति स्थितम् ।

(३) तत्र सन्देह —इमानि अङ्गानि किं वैदिकानि, उत लौकिका-  
नि इति ।

(४) पूर्वपक्ष —सौर्ये चरावपेक्षितोऽङ्गकलापो लौकिक एव ग्रही-  
तव्यः । लौकिकस्यैव केनापि कर्मविशेषेण सह निबद्धत्वाभावात् । वै-



दिकस्तु प्रकरणेन तत्तत्कर्मविशेषे एव निबद्धो न तस्माद् वियोजयितुं शक्य इति ।

(५) सिद्धान्त — सौर्य कर्म वेदिकम् । वैदिके च कर्मणि वैदिकस्यैवेति कर्तव्यताकलापस्य बुद्धिसन्निकृष्टता । किञ्च 'प्रयाजे प्रयाजे कृष्णल जुहोति' इति सौर्ययागविशेषे कृष्णलहोमविधानाय सिद्धवत् प्रयाजोऽनूद्यते । इदं च वैदिकेति कर्तव्यतायाः प्रापणे लिङ्गम्भवति । तस्माद् वैदिकान्यङ्गानीति ।

एतदभिप्रेत्याह वैदिकानीति । 'तानि' सौर्येऽनुमेयान्यङ्गानि—'वैदिकानि एव' न लौकिकानीत्याशयः ॥ २ ॥

(३) ७।४।१३-२० सत्रैकाहाङ्गमेवात्र

(१) पूर्वाधिकरणपवादः ।

(२) 'प्रजाकामा गवामयनमुपेयु' इति गवामयनसत्रविधायोक्ता 'ज्योत्स्निरागु' इति त्रयो यागाः ।

(३) तत्र सन्देहः — एतेषु त्रिषु यागेषु किं द्वादशाहिकाधर्मा अनुष्ठेया — उत ऐकाहिका इति ।

(४) पूर्वपक्षः — गवामयनं हि द्वादशाहविकृतिः । अनस्तसम्बन्धित्वलिङ्गेन तदीयधर्मप्रापकश्चोदकोऽनुमीयते । तस्माद् द्वादशाहिका एव धर्मा ज्योतिरादिषु त्रिषु यागेष्विति ।

(५) सिद्धान्तः — उक्तयागत्रयाद् भिन्नास्तन्नामका एवान्ये त्रयो यागास्सन्त्येकाहाः । तेषामेवैकाहानां धर्मा विचार्यमाणयागेषु प्राप्ताः । प्रापकश्च नाम अनुमिताच्चोदकाद् बलवत्तरम्, प्रत्यक्षश्रुतत्वात् । तस्मादानुमानिकस्य द्वादशाहिकधर्मप्रापकस्य चोदकस्य बाधितत्वाद्वैकाहिकीति कर्तव्यता ग्राह्येति ।

एतदभिप्रेत्याह सत्रेति । 'अत्र' गवामयनिकज्योतिरादियागेषु—'सत्रेषु' ये 'एकाहा' तेषां यत् 'अङ्गम्' धर्मजातम् तदेव—प्राह्यमिति शेषः ॥३॥

पादेऽधिकरणत्रयम् ।

स्पष्टम् ।

इति सप्तमस्य चतुर्थः ।

इति सप्तमाध्यायः ।

## अथाष्टमोऽध्यायः ।

[ अतिदेशविशेषनिरूपणपरः ]

प्रथमः पादः ।

[ स्पष्टेन लिङ्गेनातिदेशपरः ]

(१-२) ८।१।१-२ सौर्ये चरावङ्गविशेष इष्टः

स चोदना लिङ्गसमानभावात् ।

(१) सामान्येनातिदेशो योऽनुमानात् स निरूपितः ।

विशेषेणातिदेशो यः सोऽष्टमेऽथ निरूप्यते ॥

(२) अविहितधर्मकेषु कर्मसु विहितधर्मकेभ्यो धर्मा अतिर्दिश्यन्ते इति सप्तमेऽध्याये स्थितम् । यथा दर्शपूर्णमासधर्माणां सौर्ये ।

(३) तत्रेदानीं सन्देहः — एकस्मिन् कर्मणि ये धर्मा समाप्तायन्ते ते किं सर्वं अविहितधर्मकेऽतिर्दिश्यन्ते उत केचिदेव । यथा किं सर्वेषां दर्शपूर्णमासधर्माणां सौर्येऽतिदेश उत केषाञ्चिदेवेति । [ यदि सव प्राप्तास्तर्हि अतिदेशविशेषचिन्ता नैव कार्या—यदि न सवे तर्हि विशेषचिन्ता आवश्यकी ] ।

(४) पूर्वपक्षः — सर्वेऽतिर्दिश्यन्ते—अविशेषात् । निर्वपतीति साधारणशब्दरूपेण लिङ्गेन दार्शपूर्णमासिकधर्मसम्बन्धिना सकला दर्शपूर्णमासेतिकर्तव्यता सौर्ये प्राप्नोतीति—अतिदेशविषये विशेषचिन्ता नैव कार्येति ।

(५) सिद्धान्तः — शास्त्रार्थव्यवस्थाऽस्ति नियामिका । यथा दर्शपूर्णमासधर्माणां मध्ये ये आग्नेयस्य धर्मास्ते एव समानदेवतात्वरूपेण लिङ्गविशेषेण सौर्येऽतिर्दिश्यन्ते—नान्ये दर्शपूर्णमासधर्माः । एव सति अस्त्येव प्रयोजनमतिदेशविशेषचिन्ताया इति ।

एतदौपोद्घातिकाधिकरणमभिप्रेत्याह सौर्य इति । 'सौर्ये चरौ' सौर्यचरुनिर्वारूपे कर्मणि—'अङ्गविशेष' दर्शपूर्णमासाङ्गानाम्मध्ये कतिपयान्येवाङ्गानि, न सर्वाणि—'इष्ट' अतिदेष्टुमिति शेषः । यथा त्वैव तथा प्रतिदृष्टान्तमतिदेशे विशेषचिन्ता कर्तव्येत्याशयः ॥ १ ॥

उक्ते सिद्धान्ते पूर्वपक्षिण आक्षेपः — आग्नेययागसम्बन्धीनि यानि

लिङ्गानि तेषा धर्मातिदेशं नियन्तु सामर्थ्यञ्नास्ति—तेषामशब्दरूपत्वेन शब्दैकसमधिगम्येऽर्थे प्रामाण्यायोगादिति ॥ अस्याक्षेपस्योत्तरमाह स चोदनेति । अङ्गविशेषस्यैवातिदेश इति यो नियम 'स'—'चोदना' श्रुति प्रमाणक एव—कस्मात्—'लिङ्गसमानभावात्' 'लिङ्गस्य' श्रुत्या 'समाद-भावात्' तुल्यप्रामाण्यात्, साक्षाच्छ्रुत्यभावदशाया लिङ्गस्य श्रुतौ प्रवेशादित्यर्थ ॥ २ ॥

[अत्राधिकरणद्वयस्वरूप यद्यपि भाष्यादिभृतस्वरूपाद् भिन्नमिव प्र तिभाति तथापि तात्पर्यतो नास्ति भेद इत्यवधेयम् ।]

(३) ८।१।३-१० न सोमयागो भवतीष्टिधर्मा

(१) अतिदेशविशेषविचार प्रस्तूयते ।

(२) 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इति श्रूयते ।

(३) तत्र सन्देह —अस्मिन् यज्ञे के धर्मा-किमैष्टिका एव उत स्व तन्त्रा इति ।

(४) पूर्वपक्ष —सोमयागे प्रधानयागात् प्राक् चतस्र इष्टय-दीक्ष णीया आतिथ्या प्रायणीया पशुश्चेति । एतासु सर्वासु इष्टिषु इष्टिप्रकृ तेर्दर्शपूर्णमासस्य धर्मा अनुष्ठीयन्ते । तदनन्तर च कर्तव्ये सोमयागे ते एव धर्मा सान्निध्येनोपस्थिता । तस्मात् सोमयागेऽपि ऐष्टिका एव धर्मा ।

(५) सिद्धान्त —सोमयागस्य सकलोऽङ्गकलाप प्रत्यक्षाभिरेव श्रुति मिरुपदिष्ट । तेनैव च निराकाङ्क्षत्वाद् यागस्य नात्रैष्टिकधर्मातिदेश स्यावसर इति ।

एतदभिप्रेत्याह नैति । 'सोमयाग'—'इष्टिधर्मा' इष्टेर्धर्मा एव धर्मा यस्य स तथाभूत —'न भवति'—अपि तु स्वतन्त्रा एवास्योपदिष्टा धर्मा इत्याशय ॥ ३ ॥

(४) ८।१।११ दर्शेष्टिधर्मः सकलेष्टिगामी ।

(१) अतिदेशविशेषविचार ।

(२) इष्टय उदाहरणम् ।

(३) तत्र सन्देह —इष्टिषु किं दार्शपौर्णमासिका एव धर्मा इति नि यम —उत दार्शपौर्णमासिका सौमिका वेति अनियम इति ।

(४) पूर्वपक्ष —दार्शपौर्णमासिकसौमिकयोरन्यत्रो ग्राह्य । उभयो-रप्यतिदेशमहत्वादिति ।

(५) सिद्धान्त —कपालनिर्वापादिभिर्लिङ्गैर्दार्शपौर्णिकानामेव धर्मा-णामतिदेश इति नियम एवेति ।

एतदभिप्रत्याह दर्शेति । 'दशष्टिधर्म' दार्शपौणमासिकैष्टिको यो धर्म स एव—'सकलासु' सर्वासु 'इष्टिषु' गच्छति प्राप्नोत्यतिदेशेनेति भावः ॥ ३ ॥

(५) ८।१।१२ इष्टेर्भवेद् दैक्षपशुर्विकारः

- (१) अतिदेशविशेषविचारः ।
- (२) अस्त्यग्नीषोमीय पशुः ।
- (३) तत्र सन्देहः —अत्र किमैष्टिका धर्मा उत सौमिका इति ।
- (४) पूर्वपक्षः—पूर्ववदत्र निर्वापादिलिङ्गाभावात् नातिदेश ऐष्टिकाना धर्माणामिति ।

(५) सिद्धान्तः—'आग्नेयमष्टाकपालम्' इत्यत्रोत्पत्तिवाक्ये यथा द्रव्यदेवते सुव्यक्तमुपदिष्टे तथैव 'अग्नीषोमीय पशुम्' इत्यत्रापि । तदेव व्यक्तद्रव्यदेवतत्वमेकं लिङ्गम् । 'एकादश प्रयाजान् यजति' इति प्रयाजवत्त्वं द्वितीयं लिङ्गम् । एव बहूनां लिङ्गानां सद्भावात् ऐष्टिकधर्माणामतिदेशः पश्चादिति ।

एतदभिप्रेत्याह इष्टेरिति । 'दैक्षपशु' अग्नीषोमीय पशु—'इष्ट' 'विकार' विकृतिः—'भवेत्'—तथाच प्रकृतिधर्माणां विकृतौ प्राप्तत्वात्—भवति ऐष्टिकधर्माणां पशौ प्राप्तिरित्याशयः ॥ ५ ॥

(६) दैक्षस्य चान्ये पशवो विकाराः ।

- (१) अतिदेशविशेषविचारः ।
- (२) सन्ति सवनीयादयः पशुबन्धाः ।
- (३) तत्र सन्देहः—तेषु दर्शपूर्णमासस्य धर्मा उत दैक्षस्याग्नीषोमीयस्येति ।
- (४) पूर्वपक्षः—दर्शपूर्णमासधर्मा एवात्र निविशन्ते । दर्श एव ह्येतेषां प्रकृतिः । अग्नीषोमीयस्तु न प्रकृतिः । तस्मात्तस्य धर्मा नातिदेशार्हा इति ।

(५) सिद्धान्तः—आलम्भनमग्नीषोमीयपशोर्लिङ्गम्—तच्च सवनीयादिष्वप्यस्ति । तथा प्रातःसवनीयादिषु वपाप्रचारोऽपरं लिङ्गम् । दर्शमप्रति विकृतित्वेऽप्यग्नीषोमीयस्यान्यत्र सवनीयादौ प्रकृतित्वं न विरुध्यते । तस्मादुक्तैर्लिङ्गैरग्नीषोमीयस्य दैक्षस्यैव धर्मा सवनीयादिष्वतिदिश्यन्ते इति ।

एतदभिप्रत्याह—दैक्षस्येति । 'अन्ये पशवः' सवनीयानुबन्ध्यनिरूढादिपशुयागा—'दैक्षस्य' अग्नीषोमीयस्य—'विकाराः' विकृतयः—अतोऽग्नीषोमीयस्यैव धर्मान् गृह्णन्तीत्याशयः ॥ ६ ॥

(७) ८।१।१४ सौत्यस्य चैकादशिनेषु धर्माः

( १ ) अतिदेशविशेष ।

( २ ) सन्त्येकादशिना पशव —‘आग्नेय कृष्णग्रीव —सारस्वती मेधी-वभ्रु सौम्य —पौष्ण श्याम —शितिपृष्ठो बार्हस्पत्य —शिल्पो वैश्वदेव -ऐन्द्रोऽरुण —मारुत कल्माष -ऐन्द्राग्न सहित -अधोराम सावित्र -वारुण कृष्ण ’-इति-अश्वमेधप्रकरणे पठिता विहिताश्च ज्योतिष्ठोमप्रकरणेऽपि ।

( ३ ) तत्र सन्देह —एतेषु कुतस्त्या धर्मा —किमग्नीषोमीयस्योत्सवनीयस्येति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अग्नीषोमीय पशूनाम्प्रकृतिरिति पूर्वाधिकरणे स्थितम् । तस्माद् पशुविकृतिभतेष्वैकादशिनेषु तस्यैव धर्मा अतिदिश्यन्त इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —सवनीयपशो रशनाद्वयम्-तथैवैकादशिनेष्वपीत्येक लिङ्गम् । सुत्याकालीनत्व च यथा सवनीयस्य तथैकादशिना चेति द्वितीयम् । एव लिङ्गद्वयेन सवनीयस्यैव धर्मा एकादशिनेष्विति दिश्यन्त इति ।

एतदभिप्रेत्याह सौत्यस्येति । ‘एकादशिनेषु’ पशुयागेषु-‘सौत्यस्य’ सुत्याकालीनस्य सवनीयस्यैव पशो-‘धर्मा’-अतिदिश्यन्ते इति शेष ॥७॥

( ८ ) ८।१।१५ गणेषु चैकादशिनस्य धर्माः ।

( १ ) अतिदेशविशेष ।

( २ ) काम्यपशुगणा श्रूयन्ते—‘वसन्ते ललामास्त्रीन् वृषभानालभेत’ इत्यादयः ।

( ३ ) तत्र सन्देह —एतेषु गणेषु किमग्नीषोमीयस्य धर्मा उत्तैकादशिनानामिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —नात्र रशनाद्वयादि लिङ्गमुपलभ्यते । प्रकृतिश्च पशूनामग्नीषोमीयः । तस्मादग्नीषोमीयस्यैव धर्मा पशुगणेष्विति दिश्यन्त इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —अस्ति गणत्व लिङ्ग पशुगणेषु एकादशिनेषु च । तस्मान्निङ्गात् एकादशिना गणप्रकृतय इति सिद्धम् । तस्मात् पशुगणेष्वैकादशिनानामेव धर्मा अतिदिश्यन्ते इति ।

एतदभिप्रेत्याह गणेष्विति । ‘गणेषु —‘च’—‘एकादशिनस्य’ ‘धर्मा’ अतिदिश्यन्त इति शेष —न त्वग्नीषोमीयस्येत्याशयः ॥ ८ ॥

(६) ८।१।१६ अव्यक्तयागेषु तु सोमधर्माः

( १ ) अतिदेशविशेष ।

( २ ) 'विश्वजिता यजेत'—'अभिजिता यजेत'—'द्वादशाहेन यजेत'—इत्येवञ्चातीयका अकथितद्रव्यदेवताका अव्यक्ता यागा ।

( ३ ) तेषु सन्देह —अत्र के धर्माः—ऐष्टिका एव उत सौमिका एव उत विकल्प इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —नियमे प्रमाणाभावादैच्छिको विकल्प इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —अस्ति सोमसाम्यमव्यक्तलिङ्गत्वेन । 'ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्यत्र सोमस्योत्पत्तिवाक्ये यथा द्रव्यदेवते नोक्ते तथैव विश्वजितादावपि । अनेन च साम्येन सौमिका एव धर्मा अत्रातिदिश्यन्ते इति ।

एतदभिप्रेत्याह—अव्यक्तेषु । 'अव्यक्तेषु' अकथितद्रव्यदेवतेषु—'तु'—'सोमस्य' सोमयागस्य—'धर्मा'—अतिदिश्यन्ते इति शेष ॥ ६ ॥

( १० ) ८।१।१७ स्याद् द्वादशाहोक्तमहर्गणेषु ।

( १ ) अतिदेशविशेष ।

( २ ) सन्त्यहर्गणाः द्विरात्रादयः शतरात्रपर्यन्ता ।

( ३ ) तत्र सन्देह —अत्र सौमिका धर्मा उत द्वादशाहिक इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —पूर्ववदव्यक्तत्वलिङ्गेन सौमिकानामेवात्रातिदेश इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —द्विरात्रपदान्तर्गतो रात्रिशब्द षष्ठिघटिकात्मककालपर —तादृश एव द्वादशाहपदान्तर्गतोऽहःशब्द । इदमेक विशेषलिङ्गम्—अहस्सङ्ख्यत्वं द्वितीयम्—द्वादशदीक्षत्वं तृतीयम् । एभिर्लिङ्गैर्द्वादशाहधर्माणामेवातिदेशोऽहर्गणेषु इति ।

एतदभिप्रेत्याह स्यादिति । 'अहर्गणेषु' द्विरात्रादिषु—'द्वादशाहोक्तम्' द्वादशाहसम्बद्धमेव धर्मजात—'स्यात्' अतिदिष्टमिति शेष ॥ १० ॥

( ११ ) ८।१।१८ गव्यस्य सांवत्सरिका विकाराः

( १ ) अतिदेशविशेष ।

( २ ) सन्ति संवत्सरसंज्ञाणि—आदित्यानामयन तपस्विनामयनमित्यादीनि ।

( ३ ) तत्र सन्देह —अत्र किं गवामयनिका धर्मा उत द्वादशाहिका इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—अहर्गणत्वादिलिङ्गेन द्वादशाहधर्मा एवात्र प्राप्ता इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —अस्त्यत्र विशेषलिङ्गम्-सवत्सरसाध्यत्व गदाम यनेषु सवत्सरसत्रेषु चेत्येकम् । 'यतय उपगायन्ति' इति महाव्रतिकस्यो भयत्र दर्शनमित्यपरम् । अनेन च लिङ्गद्वयेन गवामयनिकानामेव धर्माणां त्रातिदेश इति ।

एतदभिप्रेत्याह गव्यस्येति । 'सावत्सरिका' सवत्सरसत्रयागा — 'गव्यस्य' गवामयनस्य—'विकारा' विकृतय—तस्मात्तस्यैव धर्मान् गृह्णन्तीत्याशय ॥ ११ ॥

( १२ ) ८।१।१६ निकायिनां पूर्ववदुत्तरेषु ।

( १ ) अतिदेशविशेष ।

( २ ) साद्यस्का इत्येकनामका एकसङ्घवर्तिन बहवो यागा श्रुता । एतेषु प्रथम साद्यस्को धर्मसयुक्त आम्नात इतरे तु धर्मरहिता एव ।

( ३ ) तत्र सन्देह —एतेषु धर्मरहितेषु के धर्मा —किं सौमिका उत प्रथमसाद्यस्कोक्ता इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अव्यक्तत्वसाम्यात् सौमिका इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —एकनामत्वमेकसङ्घवर्तित्वमिति लिङ्गद्वयेन प्रथमसाद्यस्कगता एव धर्मा द्वितीयादिषु साद्यस्केष्वतिदिश्यन्ते इति ।

एतदभिप्रेत्याह निकायिनामिति । 'निकायिना'—'निकाय' सङ्घ सोऽस्ति येषां ते 'निकायिन' एकसङ्घवर्तिना यागा, साद्यस्का साहस्रा इत्यादय, तेषां मध्ये—'उत्तरेषु' द्वितीयादिषु—'पूर्ववत्'—'पूर्व' प्रथमो यागस्तदनुसारी एव—'धर्म' इति शेष ॥ १२ ॥

( १३ ) ८।१।२०-२२ फलादयोऽप्यत्र न चातिदेश्याः

( १ ) अतिदेशापवाद ।

( २ ) दर्शपूर्णमासेष्टौ फल ( स्वर्ग )—नियम ( यावज्जीवकत्वम् )—कर्ता ( स्वर्गकाम )—सङ्घ ( आग्नेयादीनां षण्णां साहित्यम् ) इति चत्वार ॥ सन्ति च सौर्यादय इष्टिविकृतय ।

( ३ ) तत्र सन्देह —सौर्यादिषु विकृतिषु एते फलादयोऽप्यतिदिश्यन्ते न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —यथा प्रयाजादिधर्मा सौर्यादिष्वतिदिश्यन्ते तथा फलादयोऽप्यतिदेष्टव्या इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —कर्मसु भवति विध्यादि विध्यन्तश्च । कर्म तस्मिन्निधौ फलादिकं च 'विध्यादिः' इतिकर्तव्यतादिधर्माश्च 'विध्यन्तः' । सौर्यस्य 'विध्यादि' प्रत्यक्षश्रुतं 'सौर्यं चरुं निर्वपेदि'त्यत्र । अतो विध्यादेर्नास्त्याकाङ्क्षा सौर्ये । धर्माणामन्वनुक्तत्वात् विध्यन्ताकाङ्क्षाऽ-

स्त्येष । तस्मादाकाङ्क्षितस्य धर्ममात्रस्यातिदेशो नानाकाङ्क्षितस्य कर्मणस्तत्सम्बन्धिफलादेर्वा इति ।

एतदभिप्रेत्याह फलेति । 'अत्र' सौर्यादौ विकृतियागे—'फलादय' 'न अतिदेश्या'—प्रकृतिगता फलादयो विकृतौ नातिदेष्टव्या—अनाकाङ्क्षितत्वादित्याशय ॥ १३ ॥

(१४) ८।१।२३-२५ न चातिदेश्यो गुणकाम इष्टः ।

(१) पूर्वाधिकरणशेष ।

(२) दर्शपूर्णमासयो श्रूयते 'गुणकाम—चमसेनाप प्रणयेत्—गोदोहनेन पशुकामस्य' इति । एवमन्यत्रापि गुणकामा ।

(३) तत्र सन्देह—अत्र श्रुतो गुणकामो गोदोहनरूप किं विकृतौ सौर्ये अतिदिश्यते न वेति ।

(४) पूर्वपक्ष—अस्त्यतिदेशो गोदोहनस्य—तदाश्रयस्याप प्रणयनस्य सौर्ये सद्भावादिति ।

(५) सिद्धान्त—बाढमस्त्यप प्रणयनम् । किन्तु तत्प्रणयनसाधनतया प्रकृतिगतं क्रत्वर्थश्चमस एव सौर्येऽपेक्षित—न तु पुरुषार्थो गुणकामो गोदोहनरूपः । तस्मान्नास्ति गुणकामस्यातिदेश इति ।

एतदभिप्रेत्याह न चेति । 'गुणकामः' काम्या गुणा—'अतिदेश्यो न इष्ट'—गुणकामाना न भवत्यतिदेश इति भाव ॥ १४ ॥

(१५) ८।१।२६ सौर्ये विकल्पादभिमर्शमन्त्राः

(१) अतिदेशविशेष ।

(२) 'सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकाम' इति श्रूयते । अस्ति च तत्प्रकृतौ दर्शपूर्णमासयागेऽभिमर्शनद्वयम्—'चतुर्होत्रा पौर्णमासीमिमिश्रेत्—पञ्चहोत्राऽमावास्याम्' इति । तदेतदभिमर्शनद्वयं चोदकबलेन सौर्ये प्राप्नोति ।

(३) तत्र सन्देह—किं सौर्यो यदा पौर्णमास्या प्रयुज्यते तदा चतुर्होत्राऽभिमर्शनम्, यदाऽमावस्याया तदा पञ्चहोत्रा इति नियम—उत उभयत्र विकल्प इति ।

(४) पूर्वपक्ष—कालभेदेन नियम एव—प्रकृतौ तथैव व्यवस्थितत्वात् इति ।

(५) सिद्धान्त—एकैवैषा चोदना 'सौर्यं चरुं निर्वपेत्' इति । तत्रोभे अप्यभिमर्शने प्राप्येते । तयोरेकार्थत्वात् समुच्चयो न सम्भवति । तस्माद् विकल्पः । प्रकृते च यो नियमः स न कालकृतोऽपि तु समुदायः—न च सौर्ये समुदायः इति ।



एतदभिप्रेत्याह—सौर्य इति । ‘सौर्ये’ यागे—‘अभिमर्शमन्त्राः’ पौर्ण-  
मासिकाश्चतुर्होतृनामका पृथिवीहोतेत्यादिका , तथा च दार्शिका पञ्च-  
होतृसङ्गका अग्निहोतेत्यादिका मन्त्रा —‘विकल्पात्’ विकल्पमाश्रित्य—  
प्रयोज्या इति शेष ॥ १६ ॥

(१६) ८।१।२७-३१ आग्नेयविध्यन्तमुपैति सौर्यः ।

( १ ) अतिदेशविशेष ।

( २ ) सौर्ये दर्शपूर्णमासधर्माणामतिदेश इति स्थितं चतुर्थेऽधिक-  
रणे । सन्ति तु दर्शपूर्णमासयागे अनेकानि कर्माण्याग्नेयादीनि ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किं दार्शपौर्णमासिकस्य यस्य कस्यचित् कर्म-  
णो धर्मा सौर्येऽतिदिश्यन्ते उत आग्नेयस्यैवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष.—यस्य कस्यापि धर्मा सौर्ये कर्तव्या —विशेषनि-  
यामकस्याभावादिति ।

( ५ ) सिद्धान्त.—अस्ति देवतैक्य नियामकम् । यथा आग्नेये सूर्यो  
देवता तथैव सौर्येऽपीति ‘अमुमेवादित्यम्’ इत्यर्थवादेन सूचितम् । तस्मा  
दाग्नेयस्यैव धर्मा सौर्ये इति ।

एतदभिप्रेत्याह आग्नेयेति । ‘सौर्य’ याग —‘आग्नेयस्य’ यागस्य  
‘विध्यन्त’ धर्मजातम्—‘उपैति’ प्राप्नोति । इतिकर्तव्यतादिधर्मा विध्य-  
न्तशब्देन व्यपदिश्यन्ते, कर्म स्वयं तु विध्यादिशब्देनेति ध्येयम् ॥ १६ ॥

(१७) ८।१।३२-३४ भवेद्बलीयो हविषः सदृक्त्वम्

( १ , अतिदेशे बलावलम् ।

( २ ) अस्त्यैन्द्र —‘ऐन्द्रमेकादशकपालं निर्वपेत्’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —ऐन्द्रे किं देवतासाम्येन साक्षाद्यधर्मोऽतिदि-  
श्यते—उत हविस्साम्येन पुरोडाशधर्म इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —प्रथमोपात्तत्वात् मुख्यभूतो देव एव बली । तथाच  
देवतासाम्येन साक्षाद्यस्यैव धर्मोऽतिदिश्यते इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —यागो हि त्यागरूपः । तत्र च त्यज्यमानतया  
हविरेव अन्तरङ्गम् । देवता तु मनसैवोद्दिश्यमानतया त्यागक्रियाया  
बहिरङ्गम् । तस्मात् अन्तरङ्गत्वेन हविस्सामान्यस्यैव बलवत्त्वात् पुरो-  
डाशधर्मस्यैवातिदेश इति ।

एतदभिप्रेत्याह भवेदिति । ‘हविष’ त्यज्यमानस्य द्रव्यस्य—‘सदृ-  
क्त्वम्’ सामान्यम्—‘बलीय’ बलवत्तरम्—‘भवेत्’—देवतासामान्या-  
पेक्षयेति भावः ॥ १७ ॥

(१८) ८।१।३५-३६ चरौ हिरण्ये विधिरौषधः स्यात् ।

( १ ) अतिदेशविशेष ।

( २ ) 'प्राजापत्य घृते चरु निर्वपेच्छ्रुतकृष्णलमायु काम' इति कृष्णलं श्रुतम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह —अस्मिन् कृष्णले किमाज्यस्य धर्मा उत व्रीहेरिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —घृतस्यैव धर्मा कृष्णले अतिदिश्यन्ते—तेजस्वि - त्वसाम्यादिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —ब्रीहिकृष्णलयोर्यादृश वैशद्यसाम्यं न तादृश घृतकृष्णलयो । अथ च चरुशब्द औषधद्रव्यविशेष कृष्णलेषु प्रयुज्यमान औषधधर्मानेवातिदिशति । तस्माद् ब्रीहिधर्मा एव कृष्णले कर्तव्या इति ।

एतदभिप्रेत्याह चराविति । 'हिरण्ये' कृष्णले 'चरौ'—'औषध' ब्रीहिसम्बन्धी—'विधि' धर्म 'स्यात्'—न त्वाज्यस्येति शेष ॥ १८ ॥

(१९) ८।१।४०-४३ आज्यस्य धर्मो मधुनीरयोः स्यात्

( १ ) अतिदेशविशेष ।

( २ ) चित्रायामिष्टौ श्रूयते—'दधि मधु घृत घाना उदकं तरुडुला, तत्ससृष्ट प्राजापत्यं भवति' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —अत्र मधुनि उदके च किं पयसो धर्मा उत आज्यस्येति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —द्रवत्वसामान्यात् पयस एव धर्मा ग्राह्या इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —आज्येऽपि वह्निसयोगाद् द्रवत्वं भवत्येव । मधु उदकं च घृतेन समानवर्णं । आज्यधर्माश्च उत्पवनादय बहवः शक्यन्ते मधूदकयोः कर्तुम्, न तु पयोधर्मा दोहनादयः । तस्मात् आज्यस्यैव धर्मा ग्राह्या इति ।

एतदभिप्रेत्याह आज्यस्येति । 'मधुनीरयोः' मधुनि उदके च—'आज्यस्य' घृतस्य—'धर्म' 'स्यात्' न तु पयस इत्याशयः ॥ १९ ॥

न्यायास्तु पादे नव वै दक्षापि ॥

स्पष्टम् ॥

इत्यष्टमस्य प्रथम ।

## अथाष्टमस्य द्वितीयः पादः ।

[ अस्पष्टलिङ्गैरतिदेशः । ]

(१) ८।२।१-९ न वाजिने सोमधर्मः

( १ ) अतिदेशविशेषविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) चातुर्मास्येषु वाजिनेज्या श्रुता —‘वाजिभ्यो वाजिनम्’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किं वाजिने सौमिको विध्यन्त उतैष्टिक इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —‘सोमो वै वाजिनम्’ इति वाजिने सोमशब्द प्रयुक्तः । सोमशब्दश्चाग्निहोत्रशब्दवत् धर्मानतिदिशति । तस्मात् सौमिका एव धर्मा वाजिने इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —वाजिनः सान्नाय्यविकृतम् । एव च वाजिने ऐष्टिकहविस्साम्यम् । तस्मादैष्टिक एव विध्यन्त इति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । ‘वाजिने’ यागे—‘सोमधर्म’ सौमिको विध्यन्त —‘न’ अतिदिश्यते इति शेषः ॥ १ ॥

(२) ८।२।१०-१४ पशुः सान्नाय्यधर्मकः ।

( १ ) अतिदेशविशेषः ।

( २ ) अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः—‘अग्नीषोमीयः पशुमालभेत’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —अस्मिन् पशौ किम्पुरोडाशस्य धर्मा उत सान्नाय्यस्येति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अग्नीषोमीये पशौ अग्नीषोमीयपुरोडाशस्य धर्मा कार्याः । देवतैक्यात् इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —सान्नाय्यः पशोरुत्पद्यते, पशुरपि पशोरुत्पद्यते । देवतासाम्यापेक्षया हविस्साम्यं बलीय इति स्थितं प्रथमपादीयसप्तदशाधिकरणे । तस्मात् सान्नाय्यस्यैव धर्मा इति ।

एतदभिप्रेत्याह । पशुरिति । ‘पशुः’ अग्नीषोमीयः—‘सान्नाय्यधर्मकः’ सान्नाय्यस्य धर्मा एव धर्मा यस्य स एवभूत इति ॥ २ ॥

(३) ८।२।१५-१८ पयोधर्माः स तु भवेत्

( १ ) पूर्वाधिकरणशेषः ।

( २ ) अग्नीषोमीयः पशुः सान्नाय्यधर्मकः इति स्थितम् ।

( ३ ) तत्रापि सन्देह —पशौ किं दध्नो धर्मा उत पयस इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —मूर्तत्वघनत्वसामान्यात् दध्न एव धर्मा पशविति ।

( ५ ) सिद्धान्त -- 'द्रवति गच्छति' इत्यस्मिन् अर्थे द्रवत्व पशौ अस्ति । पयसि च द्रवत्व स्पष्टम् । साक्षात्पशुप्रभवत्वाच्च पय प्रत्या सन्नतरम्--दधि तु पयसा व्यवहितम् । एकाहकालीने च पशुपयसी, ब्रह्मकालीन तु दधि । तस्मादुक्तैर्लिङ्गैः पयस एव धर्मा पशावतिदि श्यन्ते इति ।

एतदभिप्रेत्याह पय इति । 'स' पशु -- 'पयोधर्मा' पयसो धर्मा एव धर्मा यस्य स एवभूत -- 'भवेत्' ॥ ३ ॥

( ४ ) ८।२।१६-२३ आमिक्षायां पयोगताः ।

( १ ) अतिदेशविशेष ।

( २ ) भवति वैश्वदेवी आमिक्षा -- 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह -- आमिक्षाया किं दधिपयसोरुभयोर्धर्मा उत्तै-  
कस्य -- यद्येकस्य तर्हि कस्येति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष -- साक्षाद्यगतयोर्दधिपयसोरुभयोरपि जन्यते आ-  
मिक्षा । तस्मादुभयोर्धर्मास्तस्यामिति । अथवा घनत्वसाम्यात् दधि  
मात्रस्येति ।

( ५ ) सिद्धान्त -- पयसि आमिक्षामुत्पादयितुमेव दध्यानीयते ।  
तस्मात् पयस एव मुख्यमामिक्षाजनकत्वम् । तस्मात् पयस एव धर्मा  
आमिक्षायामिति ।

एतदभिप्रेत्याह आमिक्षायामिति । 'आमिक्षायाम्' 'पयोगताः' पय-  
सि वर्तमाना एव -- 'धर्मा अतिदिश्यन्ते' इति शेष ॥ ४ ॥

( ५ ) धर्मो व्यवस्थयाऽङ्गां स्यात्

( १ ) अतिदेशविशेष ।

( २ ) भवति प्रायणीयाद्यहर्गणो द्वादशाह । स द्विविध सत्रम् अही-  
नश्चेति । द्वयोश्चानयो पृथग् धर्मा आम्नाता 'एको द्वौ बहवो वाऽही-  
नेन यजेरन्' -- 'गृहपतिसप्तदशा स्वयमृत्विजो ब्राह्मणा सत्रमुपेयु' इति ।

( ४ ) तत्र सन्देह -- द्वादशाहे किं द्वयोरपि सत्राहीनयोर्विध्यन्तो-  
ऽव्यवस्थया प्राप्त उत क्वचिद्दहीनस्य क्वचित्सत्रस्येति व्यवस्थेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष -- द्वादशाहस्य द्विविधो विध्यन्त -- सत्रस्य अही-  
नस्य च । द्वादशाहोऽहर्गणानां प्रकृति -- अहर्गणेषु च केचित् अहीना  
केचित् सत्राणि । तस्माद् व्यवस्थापकप्रमाणाभावादुभयोरप्यति-  
देश इति ।

( ५ ) सिद्धान्त -- उपलभ्यते च व्यवस्थापकं तत्तल्लिङ्गम् । तथाहि-

‘आसीरन्’ ‘उपेयु’ इति चोदनास्वरूपम्—यजमानबहुत्वनियम—ऋत्विग्यजमानैक्य चेत्त्येतानि सत्रलिङ्गम् । ‘यजति’ इति चोदनास्वरूपम्—यजमानबहुत्वविकटप—ऋत्विग्यजमानभेदश्चेत्त्येतानि अहीनस्य लिङ्गम् । [इति दशमीयषष्ठपादीयषोडशाधिकरणे स्पष्टम् भविष्यति] । उपलभ्यते चोभयमप्येतलिङ्गं द्वादशाहे—‘द्वादशाहेन प्रजाकाम याजयेत्’ ‘द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयु’ ‘द्वादशाहमृद्धिकामा आसीरन्’ इति च । द्विरात्रादिषु तु अहीनलिङ्गं यजतिचोदनैव—‘द्विरात्रेण यजेत’ इत्यादि । त्रयोदशरात्रादिषु च सत्रलिङ्गमेव—‘त्रयोदशरात्रमृद्धिकामा उपेयु’ ‘चतुर्दशरात्रेण प्रतिष्ठाकामा आसीरन्’ इति । तस्मात् यथालिङ्गं धर्मव्यवस्थेति ।

एतदभिप्रेत्याह धर्म इति । ‘अह्ना’ अहर्गणस्य—‘धर्म’—‘व्यवस्थया’ ‘स्यात्’—यथालिङ्गं व्यवस्थितमेव स्यादिति ॥ ५ ॥

(६अ) ८।२।२६-३२ सत्र पञ्चदशाहकः ।

(१) अतिदेशविशेषः ।

(२) अस्ति पञ्चदशरात्र एवविध—‘अग्निष्टोमस्त्रिरात्रो—दशरात्र—उदयनीय—अतिरात्र’ इति ।

(३) तत्र सन्देह—किमयमहीन उत सत्रमिति ।

(४) पूर्वपक्ष—अहीन एवायम् । सत्रे आदावन्ते चातिरात्र, अत्र च अन्त एव अतिरात्र । एकत्रातिरात्रत्व चाहीनलिङ्गं दर्शितम्—‘यदन्यतरतोऽतिरात्रस्तेनाहीन’ इति । एवं च सत्रलिङ्गस्योभयतोऽतिरात्रत्वस्याभावात् अहीनलिङ्गस्य चैकतोऽतिरात्रत्वस्य सत्त्वादहीन एवायमिति ।

(५) सिद्धान्त—‘उपेयु’ इति चोदनास्वरूपं सत्रलिङ्गम् । तच्चोपलभ्यते पञ्चदशरात्रविधौ—‘पञ्चदशरात्रमुपेयु’ इति । एतच्च लिङ्गं विधिवाक्यगतत्वात् प्रबलम् । तस्मात् सत्रमेव पञ्चदशरात्रस्ततश्चास्मिन् सत्रधर्मा एवातिदिश्यन्ते इति ।

एतदभिप्रेत्याह सत्रमिति । ‘पञ्चदशाहक’ पञ्चदशरात्रो याग—‘सत्रम्’ एव—न त्वहीन—तस्मादत्र सत्रधर्मा एव अतिदेष्टव्या इत्याशयः ॥ ६ ॥

पादेऽस्मिन् भाष्यकारेण

षण्ण्यायाः समुदीरिताः ।

स्पष्टम् ।

इत्यष्टमस्य द्वितीयः ।

## अथाष्टमस्य तृतीयः पादः ।

[ प्रबलेन लिङ्गेनातिदेश ]

(१) ८।३।१-२ हविर्गणे देवतया अतिदेशः

( १ ) अतिदेशविशेषविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) अस्ति हविर्गणद्वयम्—‘अग्नावैष्णवमेकादशपाल निर्वपेत्’ इत्यादि प्रथमो हविर्गण —‘अग्नये शुचयेऽष्टाकपालम्’ इति द्वितीय । प्रकृतियागे चास्ति प्रथम आग्नेयो द्वितीयश्चाग्नीषोमीय इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —द्वयोर्हविर्गणयो कुत्र कस्य विध्यन्त —किमग्नावैष्णवे आग्नेयस्य—शुचिदैवते चाग्नीषोमीयस्य—उत विपर्यय इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —यथा हविर्गणयोरग्नावैष्णव प्रथमस्तथा प्रकृतावाग्नेयः प्रथम । तस्मात् स्थानप्रामाण्यदग्नावैष्णवे आग्नेयस्य विध्यन्तः । एवमेव द्वितीये शुचिदैवते प्रकृतियागे द्वितीयस्थानस्थितस्याग्नीषोमीयस्य विध्यन्त इति ।

( ५ ) सिद्धांतः—अग्नावैष्णवाग्नीषोमीययोरस्ति श्रयमाण साम्यद्विदेवत्वरूपम् । तथा च शुचिदैवताग्नेययोरेकदेवतत्व साम्यम् । एवमनेन श्रयमाणेन साम्येन द्विदेवते अग्नावैष्णवे द्विदेवतस्याग्नीषोमीयस्य एकदेवते च शुचिदेवते कर्मण्येकदेवतस्याग्नेयस्य धर्मा अतिदिश्यन्ते । कर्मचोदनाया साक्षाच्छ्रुता देवता अर्थाक्षितात् स्थानात् बलवत्तरा । तस्मात् देवताप्रामाण्य मुख्यम् स्थानप्रामाण्यं च जघन्यमिति ।

एतदभिप्रेत्याह हविर्गण इति । ‘हविर्गणे’—धर्माणाम् ‘अतिदेश’—‘देवतया’ श्रूयमाणदेवतालङ्गेन भवति—न तु कमलिङ्गेनेत्याशयः ॥ १ ॥

(२) ८।३।३-५ नानाहिकानां विहिता त्रिवृत्ता ।

( १ ) अतिदेशविशेषः ।

( २ ) जनकसत्तरात्रे श्रूयते—‘चत्वारि त्रिवृन्ति अहानि भवन्ति’—पुनश्च ‘नव त्रिवृन्ति अहानि भवन्ति’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —यद् द्वितीयवाक्ये श्रूयते तत् किं प्रथमवाक्योपात्तस्यैवाभ्यासेन सम्पाद्यते—उत नानाह्वा द्वादशाहिकानां तद् विधीयते । एवं च किं तस्मिन् प्रथमोपात्तस्य धर्माणामतिदेश उत द्वादशाहिकानामिति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—त्रिवृत्सोमविशिष्टं यत् प्रथममुक्तं तस्यैव धर्मा-  
स्त्रिष्वहसु अभ्यसनीया—पूर्वाधिकरणन्यायेन त्रिवृत्त्वसामान्यस्य  
श्रूयमाणत्वादिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—चतुर्णामह्ना पृथग्भूतानां सङ्घात एव 'चत्वारि'-  
पदेन विवक्षितः । न चैकस्यैवावृत्त्या चतुस्सङ्घातः सम्पद्यते । सन्ति तु  
एवभूता सङ्घाता द्वादशाहे । तस्माद् द्वादशाहस्यैव धर्मा अत्रा-  
तिदेशव्या इति ।

एतदभिप्रेत्याह नानेति । 'नानाहिकानां द्वादशाहिकादीनि यानि चत्वारि  
अहानि तेषां—तान्येवानूद्य—'त्रिवृत्ता' त्रिवृत्त्व—'विहिता' इति सम्बन्धः ॥२॥

( ३ ) ८।३।६-७ अभ्यस्य धर्मः षडहस्य कार्यः

( १ ) अतिदेशविशेषः । पूर्वाधिकरणपवादः ।

( २ ) षट्त्रिंशद्वात्रे श्रूयते—'षडहा भवन्ति चत्वारो भवन्ति' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—किमत्र द्वादशाहिकानां धर्मणामतिदेश उत  
षडहस्येति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—अहं सङ्गकानां सोमयागानां सङ्ख्याविशेषः षड-  
हशब्दान्तर्गतेन षट्शब्देनाभिधीयते । सा च सङ्ख्या पुनश्चतुस्सङ्ख्याया  
'विशिष्यमाणा चतुर्विंशतिसङ्ख्याकानामह्ना सङ्ख्ये' पर्यवस्यति । अहं सङ्ख्यास्य  
च प्रकृतिर्द्वादशाहः । अतस्तस्मिन् सङ्ख्यात्वस्य दर्शनात् द्वादशाहस्यैव  
धर्मा प्रवर्तन्ते । द्वादशाहस्य च द्विरावृत्त्या चतुर्विंशतिसङ्ख्या पूर्यते इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—षड्भिरहोभिर्निष्पाद्य कर्म षडहशब्दवाच्यम् ।  
ते च कर्मविशेषाश्चत्वार इत्युदाहृतवाक्ये उक्तम् । एवञ्च चतुर्षु षडह-  
यागेषु षडहस्यैव धर्मा प्राप्नुवन्ति । यदि च चत्वारः षडहा परस्पर-  
विलक्षणा न स्युस्तर्ह्येक एव चतुर्वारमभ्यसनीयः । एवं च षडहत्व-  
विशेषलिङ्गेन षडहस्यैव धर्मा अतिदेश्या इति ।

एतदभिप्रेत्याह—अभ्यस्येति । 'षडहस्य' षडहयागस्यैव—'धर्मः'—  
'अभ्यस्य' चतुर्वारमावर्त्य—'कार्यः' अनुष्ठेयः—'षट्त्रिंशद्वात्रनामके  
कर्मविशेषे' इति शेषः ॥ ३ ॥

( ४ ) ८।३।८-९ सस्थादिनानां ग्रहणं दिनेभ्यः ।

( १ ) अतिदेशविशेषः ।

( २ ) भवन्ति सस्थागणा—'अग्निष्टोम—पञ्चोक्थ्य—शता-  
ग्निष्टोम भवति—अतातिरात्र भवति' इत्येवमादयः ।

( ३ ) तत्र सन्देह — एतेषु किं ज्योतिष्टोमस्य धर्मा उत द्वादशाहस्येति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — ‘उक्थ्य — षोडशी — अतिरात्र. — अग्निष्टोम’ इत्यादीनि भवन्ति ज्योतिष्टोमस्य नामानि । तस्मात् नामसाम्यलिङ्गेन सस्थागणेषु ज्योतिष्टोमस्यैव धर्मा अतिदेष्टव्या इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — सस्थागण सङ्घात्मक । सङ्घात्मना च कर्मणा द्वादशाह एव प्रकृति । तस्मात् सङ्घत्वसाम्येन द्वादशाहस्यैव धर्मा अतिदेष्टव्या । उक्थ्यादीनि च स्तोत्रनामानि । तथा च यस्य यस्य कर्मण समाप्तिर्येन स्तोत्रेण क्रियते तस्मिन् कर्मणि उक्थ्यादिशब्दो वर्तते । एवं च द्वादशगणेष्वपि अहं सु उक्थ्यादिसम्भव । तथा सति उक्थ्यादिन केवलं ज्योतिष्टोमस्यैव नामापि तु तत्तत्संस्थाविशिष्टस्य कर्मण इति ।

एतदभिप्रेत्याह — सस्थेति । ‘सस्थादिनानां’ गणचोदनया प्राप्तानां संस्थाविशिष्टानां दिनानां — ‘ग्रहण’ प्राप्तिरतिदेश — ‘दिनेभ्यः’ द्वादशाहेभ्यो भवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

( ५ ) ८।३।१०-११ अहर्गणान्नोपचयो विधेयः

( १ ) पूर्वाधिकरणशेषः ।

( २ ) पूर्वोक्तेषु शतोक्थ्यशतातिरात्रादिषु कर्मसु स्तोत्रवृद्धिरपेक्ष्यते ।

( ३ ) तत्र सन्देह — इयं स्तोत्रवृद्धिः किं द्वादशाहादुत ज्योतिष्टोमादिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — शतोक्थ्यादीनि सङ्घात्मकानि । सङ्घात्मकानां च द्वादशाह प्रकृति । तस्मात् द्वादशाहादेव स्तोत्रवृद्धिरिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — उक्थ्यादिस्तोत्राणि एकाहज्योतिष्टोमे उत्पद्यन्ते । तस्मादेव च द्वादशाहेऽतिदिश्यन्ते । यथा च द्वादशाहे एकाहज्योतिष्टोमादेवातिदिश्यन्ते तथैव शतोक्थ्यादिष्वपि तस्मादेवातिदेष्टव्यानि — इति ।

एतदभिप्रेत्याह — अहर्गणेति । ‘उपचय’ स्तोत्रवृद्धिः — यं शतोक्थ्यादिषु अपेक्ष्यते स — ‘अहर्गणात्’ द्वादशाहात् — ‘न विधेय’ अतिदेष्टव्य — अपि तु एकाहज्योतिष्टोमादेवेति शेषः ॥ ५ ॥

( ६ ) ८।३।१२-३६ गायत्रता नाक्षरलोपने स्यात् ।

( १ ) अतिदेशविशेषः । उपचयश्चिन्तितः । अपचय इदानीं चिन्त्यते ।

( २ ) इदं श्रूयते — ‘वाजपेयेनेष्टा बृहस्पतिसवेन यजेत’ इति । तच्चेदसमाप्नातम् — ‘गायत्रमेतदहर्भवति’ इति ।



( ३ ) तत्र सन्देह — किं प्रकृतिभूतज्योतिष्टोमीयानां त्रिष्टुब्जमत्या-  
दीनामक्षरलोपनेन गायत्रत्व सम्पादनीयम्—उत उत्पत्त्यैव गायत्रीणां  
दाशतयीभ्य आगम कृत्वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — एकाहे बृहस्पतिसवे ज्योतिष्टोमान्तानां छन्दासि  
त्रिष्टुबादीन्यतिदिष्टानि । तेष्वविकाक्षराणि विलोप्य चतुर्विंशत्यक्षरा-  
णि परिशेष्य गायत्रीत्व सम्पादनीयमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — वेदाक्षरविलोपनमन्याय्यम् । तस्मात् दाशत  
य्यामुत्पन्नास्वेव चतुर्विंशत्यक्षरास्तु ऋध्रु वर्तमान य कश्चिदवान्तरजा  
तिविशेषस्तद्द्वारैव गायत्रता । एव च तासामेव ऋचामागम  
कर्तव्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह—गायत्रतेति । ‘अक्षरलोपने’ ज्योतिष्टोमीयत्रिष्टु-  
बादिछन्दसामक्षरविलोपने सति, तन्निमित्तका—‘गायत्रता’ ‘न  
स्यात्’—अपि तु उत्पत्त्यैव गायत्रीणामागमेन गायत्रता सम्पादनी  
येत्याशय ॥ ६ ॥

पादे तृतीये ध्रुवमष्टमस्य

न्यायाः षडेवात्र सुधीभिरुक्ताः ।

स्पष्टम् ।

इत्यष्टमस्य तृतीयः ।

## अथाष्टमस्य चतुर्थः पादः ।

[ अतिदेशापवादनिरूपणपर ]

( १ ) ८।४।१;५-९ दर्विहोमपदत्रयम्

( १ ) दर्विहोमेऽतिदेशापवादे प्रदर्शयिष्यमाणे दर्विहोमस्वरूपमेवा  
दौ चिन्त्यते ।

( २ ) इदमाग्नायते—‘यदेकया जुहुयाद् दर्विहोम कुर्यात्’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — अत्र किं दर्विरूपस्य होमगुणस्य विधिरुत  
दर्विहोम इति कर्मनामेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — ‘दर्व्या होमः’ इति व्युत्पत्त्या होमानुवादेन दर्व्या  
ह्यो गुणो विधीयत इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —लौकिके स्थालीपाकाष्टकादिहोमे शिष्टाचारात् होमस्य साधनान्तरमेव प्राप्तम् । तथाच तत्र नावकाशो दर्विरूपसाधनस्य विधेः । वैदिके चाग्निहोत्रादो जुह्वादेरेव होमसाधनस्य विहितत्वात् तत्रापि दर्वी विधातु न शक्यते । तस्मान्नाय दर्विहोमशब्दो गुणविधिरपि तु कर्मनामधेयमेवेति ।

एतदभिप्रेत्याह—दर्वीति । ‘दर्विहोम’ इति ‘पदम्’—‘नाम’ कर्मणो नामधेयम्—न तु गुणविधिरिति शेषः ॥

[ दर्विहोमवाक्य न गुणविधिरित्यधिकरणान्तरमेव भाष्ये पञ्चममारभ्य नवमसूत्रपर्यन्तं धृतम् । एतच्च प्रथमाधिकरणान्तर्गतमेवात्र न्यायमालायाञ्च ] ॥ १ ॥

( २ ) ८।४।२-३ लौकिके वैदिके च तन् ।

( १ ) दर्विहोमस्वरूपविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) दर्विहोमपदन्नामेति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किमय शब्दो लौकिकानां स्मार्तानामष्टकादीनां नाम उत सर्वेषां वैदिकानां लौकिकानाञ्चेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —‘अम्बष्ठानां दार्विहोमिको ब्राह्मण’ इति स्मृतौ अम्बष्ठस्वामिके स्मार्तहोमे दर्विहोमशब्दस्य प्रयोगो दृश्यते । तस्मात् लौकिकस्यैव कर्मणः नामाय शब्द इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —‘दर्व्यां होमो दर्विहोमः’ इति प्रवृत्तिनिमित्तं लौकिकवैदिकोभयसाधारणम् । तस्मात् सर्वस्यैव कर्मणो नामेदमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—लौकिक इति । ‘तत्’ दर्विहोम इति नाम ‘लौकिके’ ‘वैदिके’ ‘च’ कर्मणि प्रवर्तते इति शेषः ॥ २ ॥

( ३ ) ८।४।४ जुहोतेरेव नामैतत्

( १ ) पूर्वाधिकरणशेषः ।

( २ ) लौकिकस्य वैदिकस्य च कर्मणो नाम दर्विहोमशब्द इति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किं यजतेर्जुहोतेश्च सर्वेषां नामधेयमिदमुत जुहोतेरेव केवलमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —सर्वेषां भवितुमर्हति—विशेषाश्रवणात् इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —जुहोतावेव होमशब्दो मुख्यः । यजतेश्च तन्नामत्वं लक्षणस्यैव स्यात् । तस्मात् जुहोतेरेवेदन्नामेति ।

एतदभिप्रेत्याह—जुहोतेरिति । ‘एतत्’ दर्विहोम—‘नाम’—‘जुहोते’ होमशब्दवाच्यस्यैव कर्मणः—न यजतिशब्दवाच्यस्येत्याशयः ॥ ३ ॥

(४) ८।४।१०-२८ दर्विहोमास्त्वपूर्वकाः ।

( १ ) दर्विहोमे प्रकृतो विचार प्रस्तूयते ।

( २ ) दर्विहोमनामक कर्म स्थितम् ।

( ३ ) किमेते दर्विहोमा अपूर्वा उत कस्माच्चित्कर्मान्तराद् धर्मग्राहिण इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —दर्विहोमेषूपपत्तिवाक्ये देवताया अश्रवणात् अव्यक्तिलिङ्गेन सोमधर्मा एवातिदेशव्या अष्टमाध्यायप्रथमपादनवमाधिकरणन्यायेनेति ।

( ५ ) सिद्धान्त —सोमे श्रुत यजतिलिङ्गमत्र नास्ति । किञ्च 'पृथिव्यै स्वाहा' इति दर्विहोममन्त्रेषु स्वाहाकार आम्नात । स च सौमिक धर्मातिदेशे विरुध्येत सोमे स्वाहाकारविरोधिनो वषट्कारस्य श्रवणात् । उक्तमन्त्रेषु च पृथिव्यादिदेवतानाम्प्राप्तत्वान्नास्ति देवताया अभाव । तस्माद् दर्विहोमा अपूर्वकर्माणि न कुतश्चिदतिदेशेन धर्मान् गृह्णन्तीति ॥ ४ ॥

(५) ८।४।२८ (अन्त्यभागः) वाक्याद् धर्मातिदेशः स्यात्

( १ ) पूर्वविचारशेष ।

( २ ) दर्विहोमेषु नातिदेश इति स्थितम् ।

( ३ ) एवसति सन्देह —कि सर्वत्रैवमेवातिदेशाभाव एव उत नेति ।

( ५ ) पूर्वपक्ष —पूर्वाधिकरणन्यायेन सर्वत्रैवमेवातिदेशाभाव इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —यत्र साक्षाद् वचन श्रूयते तत्र भवत्येवातिदेशो धर्मस्य ।

एतदभिप्रेत्याह—वाक्यादिति । 'वाक्यात्' प्रत्यक्षश्रुतिबलात्—'धर्माणाम्' 'अतिदेश' एवेति सम्बन्ध ॥

[ नेदमधिकरण धृत न्यायमालायाम् । नापि भाष्ये । अष्टाविंशतिसूत्रस्य भाष्यस्य अन्ते तु अस्य विषयो व्याख्यातो वर्तते । तन्मूलकतयैवात्र मण्डनेनाधिकरणान्तरमेव कृतमिति ध्येयम् ] ॥ ५ ॥

न्यायाः पञ्चात्र कीर्तिता ।

स्पष्टम् ।

इत्यष्टमस्य चतुर्थः ।

इत्यष्टमोऽध्याय ।

## अथ नवमाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

( ऊहारम्भपर )

(१) ९।१।१ धर्मास्त्वपूर्वेण खलु प्रयुक्ताः

( १ ) अतिदेशोऽष्टमेऽध्याये समाप्तो-नवमे पुन ।

अतिदिष्टपदार्थानामूहानूहविचारणा ॥

ऊहश्च—

प्राकृतस्थानपतितपदार्थान्तरकार्यत ।

ऊह प्रयोगो विकृते ऊह्यमानतयोदितः ॥ इति ।

अतिदिष्टपदार्थस्य कार्यवशाद् रूपान्तरकरणमूहनमित्यर्थः । ऊहश्च त्रिविध —मन्त्रोह सामोह सस्कारोहश्च । स इहाध्याये प्राधान्यतो वक्ष्यते--अन्यदपि किञ्चिदुपोद्धातेन प्रसङ्गेन च लक्षणसिद्ध्यर्थमुच्यते ॥

( २ ) अग्निहोत्र ज्योतिष्टोमदर्शपूर्णमासौ चात्रोदाहरणम् । तत्र पृथक् धर्मा आम्नाता ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किमेते धर्मा अपूर्वप्रयुक्ता उत यजिप्रयुक्ता इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —सप्तमाध्यायस्य प्रथमाधिकरणे य पूर्वपक्ष' स ' इहानुसन्धेय ।

( ५ ) सिद्धान्त —सप्तमाद्याधिकरणसिद्धान्त एवात्रानुसन्धेय ।

एतत्सर्वमभिप्रेत्याह धर्मा इति । 'धर्मा' 'अपूर्वेण' एव 'प्रयुक्ता' —न यजिनेति भाव ।

[ यद्यपूर्वप्रयुक्तास्तर्हि ऊह सिध्यति—यदि यजिप्रयुक्तास्तर्हि ऊहो न सिध्यति—सङ्करो हि तथासति स्यात् । सर्वाणि कर्माणि प्रायशो यजतावन्तर्भूतानि । एवसति यदि यजतिप्रयुक्ता धर्मास्तदा सर्वत्र स्यु । अपूर्वप्रयुक्तत्वे तु तदीयविशेषे एव प्राप्ता न सर्वत्र । ततश्चोह, सिध्यति । अतिदिष्टपदार्थे एवोह । अतोऽतिदेशारम्भे यो विचार सप्तमादौ कृतः स एवात्रोहारम्भकाले स्मार्यते ] ॥ १ ॥

(२) ९।१।२-३ न प्रोक्षण हन्ति पिषिप्रयुक्तम् ।

( १ ) सामान्यतो धर्माणामपूर्वप्रयुक्तत्वं स्थितम् । तस्यैव विशेषश्चिन्त्यन्ते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयो श्रयते—'प्रोक्षिताभ्यामुलूखलमुसलाभ्यामव हन्ति--दूषदुपलाभ्या पिनष्टि' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किं प्रोक्ष्ण अवहननपेषणाभ्यामप्रयुक्तमुत्तापूर्वप्रयुक्तमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —उलुखलमुसलद्वारा प्रोक्ष्णमवहनपेषणार्थम्—वाक्येन तच्छेषताप्रतीतेरिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —पूर्वपक्षे यत्रैवावघात पेषणं वा तत्रच प्रोक्ष्ण स्यात् । तथाच सति यत्र नखेन तुषविमोक आम्नायते—यथा नैऋत चरौ 'कृष्णानां ब्रीहीणां नखनिर्भिन्नान्धम्' इति—तत्र प्रोक्ष्ण नोह्येत—तथा सस्कारो हीयेत । तस्मात् अपूर्वप्रयुक्तत्वमेव प्रोक्ष्णस्य । तथैव हि प्रकरणेन सिध्यति । एव च नैऋतचरावपि भवत्येवोहोऽपूर्वसिद्ध्यर्थमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—'प्रोक्ष्ण'—'हन्ति' अवघात 'पिपि' पेषण-ताभ्याम् 'प्रयुक्त' न भवति—अपि त्वपूर्वप्रयुक्तमेवेति शेष ॥ २ ॥

( ३ ) ६।१।३ ( वर्णकान्तरेण ) वाचां स्वरस्त्वङ्गविधिप्रयुक्तः ।

( १ ) ऊहनिर्णायकप्रयोज्यप्रयोजकभावविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—'यावत्या वाचा कामयेत तावत्या दीक्षणीयायामनुब्रूयात्—मन्द प्रायणीयायाम्—मन्दतरमप्तिथ्यायाम्—उपाशू पसत्सु—उच्चैरेग्नीषोमीय' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किं ज्योतिष्टोमापूर्वप्रयुक्ता स्वरस्योच्चत्वादि धर्मा—उत दीक्षणीयाद्यवान्तरापूर्वप्रयुक्ता इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष.—उच्चैस्त्वादयो धर्मा परमापूर्वप्रयुक्ता—तस्यैव फलसाधनत्वादिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —अवान्तरापूर्वेष्वप्यस्त्येव फलसाधनत्वम्—परमा पूर्वद्वारा । एव च समाने फलसाधनत्वे सन्निकृष्टलक्षणया निर्णय कार्य । तथाहि दीक्षणीयादिशब्दः अङ्गकमवाचिन—उच्चैस्त्वादिधर्माणां च न कर्मप्रयुक्तत्वमपि त्वपूर्वप्रयुक्तत्वमेवेति निर्णीतम्प्रथमेऽधिकरणे । तत्र वाक्यगतमवान्तरमपूर्वं प्रकरणगतपरमापूर्वापेक्षया सन्निकृष्टतरम् । तस्मादवान्तरापूर्वप्रयुक्ता एवैते धर्मा ।

एतदभिप्रेत्याह वाचामिति । 'वाचा' शब्दाना—'स्वर' मन्दत्वादि—'अङ्गविधिप्रयुक्त' अङ्गापूर्वप्रयुक्त—न परमापूर्वप्रयुक्त इति भावः ।

अनेन सिद्धान्तेनाश्वमेधगतत्रैधातवीयायामूहाभावः । तथाहि—अश्वमेधे •समाम्नायते—'त्रैधातवीया दीक्षणीया भवति' इति । यद्येवञ्जातीयको धर्मः परमापूर्वप्रयुक्तः, तर्हि तस्योपकारविशेषे निबद्ध—इति तत्कार्यपन्नाया त्रैधातवीयायामूहो भविष्यति । अथाग्नावैष्णवाद्यङ्गापूर्व-

प्रयुक्तस्तर्हि त्रैधातवीयायामेतदपूर्वं न भवत्यपि त्वन्यदेवेति न भवत्यूह  
इति ध्येयम् ॥ ३ ॥

(४) ९।१।४-५ स्वर्गस्तथाऽग्निश्च न हि प्रयोक्ता ।

( १ ) ऊहनिर्णायकप्रयोज्यप्रयोजकभावविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) स्तो दर्शपूर्णमासौ । तत्र मन्त्ररूपो धर्म फलसम्बद्ध श्रूयते-  
यथा 'अग्नम् स्व स ज्योतिषा भूमा' इति--देवतासम्बद्धश्च--यथा 'अ  
ग्नेरहमुज्जितिमनूजेषम्' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह --स्वर्गरूपफलसम्बद्धस्य धर्मस्य स्वर्ग एव प्रयो  
जक --अग्न्यादिदेवतासम्बद्धस्य च अग्न्यादिदेवता एव-उतोभयत्रा  
पूर्वमेव प्रयोजकमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष --फलसम्बद्धस्य फल देवतासम्बद्धस्य च देवतैव  
प्रयोजकम् । तथैव मन्त्रलिङ्गात् । अग्नम् इत्यादिमन्त्रो हि स्वर्गान्यादीना  
वाचकः--तस्मात् फलदेवतमेव धर्माणाम्प्रयोजकमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त --अपूर्वं यच्चोदित तस्यैव फलवत्त्वेनानुष्ठेयतया  
भवतीतिकर्तव्यताकाङ्क्षा । तथा सति अपूर्वमेव प्रयोजकमन्वयोरिति ।

एतदभिप्रेत्याह स्वर्ग इति । 'स्वर्ग' --दर्शपूर्णमासफलरूप अग्नम्  
स्वरित्यादिमन्त्रोक्त --'अग्नि' देवतारूप अग्नेरहमित्यादिमन्त्रोक्त --  
'प्रयोक्त' प्रयोजको मन्त्ररूपस्य धर्मस्य --'न' भवत इति शेष --अपि त्व-  
पूर्वमेव प्रयोजकमित्याशय ।

अत्र च पूर्वपक्षे 'सौर्यं चरु निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकाम' इत्यत्र विकृति  
यागे स्वर्गस्याग्नेश्चाभावान्न भवेदूह--सिद्धान्ते तु मन्त्रयोरपूर्वस्य प्र-  
योजकत्वात् तस्य च विकृतावपि सत्त्वात् भवत्येवोह । तथाच सति सौर्यं  
अग्नम्स्वरित्यस्य स्थाने अग्नम् ब्रह्मवर्चसमित्यूहनीयम्--'अग्नेरह-  
मुज्जितिमि'त्यस्य च स्थाने सूर्यस्याहमुज्जितिमिति ॥ ४ ॥

(५) ६।१।६-१० न देवता कर्मणि तु प्रधानम्

( १ ) पूर्वाधिकरणे यो विचारविशेषस्तस्यैव सामान्यन्तोभावपरो  
विचारो वर्तते ।

( २ ) 'आग्नेयोऽष्टाकपाल' इत्यादीनि कर्माणि ।

( ३ ) तत्र सन्देह--एतेषु कर्मसु धर्माणाम्प्रयोजक किं दैवतमुता  
पूर्वमिति ।

( ४ ) अग्न्यादि दैवतमेवात्र प्रयोजकम् । यागेन तोषिता देवता  
एव फल ददाति । मन्त्रार्थवादादिभ्यो देवताया विग्रहादिपञ्चक श्रूयते  
विग्रह हविःस्वीकार हविर्भोजनम् तृप्ति प्रसादश्चेति । तद्यथा--'सह-

स्नातो गोत्रभिद् वज्रबाहुरिति' विग्रह -- 'अग्निरिद् हविरजुप्तेति' हवि स्वीकार -- 'अद्धीन्द्र पिबस्वेति' हविर्मौजनम् -- 'तृप्त एवैनमिन्द्र प्रजया पशुभिस्तर्पयतीति' तृप्तिप्रसादौ । एवम्भूतायाश्च देवताया फल-प्रदत्वं सिध्यति । फलप्रदत्वाच्च प्राधान्याद्देवताया सैव प्रयोजिका धर्माणामिति ।

( ५ ) सिद्धान्त -- देवताया फलप्रदत्वरूप प्राधान्यं न शब्दाद् गम्यते नापि वस्तुसामर्थ्यात् सिद्ध्यति । तत्त्वतस्तु विधेयं प्रति यथा द्रव्यस्य गुणत्व तथैव देवताया अपि । देवताया विग्रहादिपञ्चकप्रतिपादकानाम्मन्त्रार्थवादानां न स्वार्थं तात्पर्यम् । तथा सति 'वनस्पतिभ्य स्वाहेत्यादौ मन्त्रे वनस्पत्यादीनामपि विग्रहादिपञ्चकं कल्पयेत् -- तच्च प्रत्यक्षविरुद्धम् । ततो न देवताया फलप्रदत्वं सम्भवति । देवताविग्रहा दिवाद्यपि विना कर्मणा फलसिद्धिर्नाभ्युपैति । तस्मादुभयवाद्यभिमत यागादिकर्मैव फलप्रदम्भ्युपगन्तव्यम् । कर्मणा चापूर्वमेव साक्षात्फलप्रदम् । तस्मादपूर्वमेव फलप्रदम् -- फलप्रदत्वेन च धर्माणामप्रयोजकमिति ।

एतदभिप्रेत्याह न देवतेति । 'कर्मणि' यागादौ -- 'तु' -- 'देवता' 'न प्रधानम्' फलप्रदं धर्मप्रयोजकं च न भवतीति शेषः ॥

अत्र पूर्वपक्षे -- सौर्यादावग्नेरभावात् अग्निदेवताप्रयुक्ता धर्मा नैवा तिदिष्टा भवेयुस्तथा चोहस्य नैव स्यादवसरः । सिद्धान्ते तु अग्नेरभावेऽपि अपूर्वप्रयुक्तधर्माणामतिदेशो भवति -- ततश्चोहस्याप्यवसर इति ध्येयम् ॥ ५ ॥

( ६ ) ९।१।११-१६ न द्रव्यसङ्ख्यादिरपि प्रयोक्ता ।

( १ ) प्रयोज्यप्रयोजकभावविचार एव वर्तते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोरामनन्ति -- (अ) 'व्रीहीन् प्रोक्षतीति' द्रव्यम् -- (क) 'त्रीन् परिधीनिति' सङ्ख्याम् -- (च) 'चतुर्होत्रा पौर्णमासीमिति' समुदायम् -- (ट) चातुर्मास्ये च सूर्येण जुहोति तेन ह्यन्नं क्रियते' इति हेतुम् ।

( ३ ) तत्र सन्देहः -- अत्रोक्ता प्रोक्षणादयो धर्मा किं द्रव्यसङ्ख्या समुदायहेतुभिः प्रयुक्ता -- उत अपूर्वेष्वेति ।

( ४ ) द्वितीयादिश्रुत्या द्रव्याद्येव प्रोक्षणादेः प्रयोजकमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः -- फलवत्त्वेन कर्तव्यतया चोदितस्यापूर्वस्य इतिकर्तव्यतायामाकाङ्क्षा भवति । व्रीह्यादिस्वरूपं तु सिद्धत्वाच्च कर्तव्यतया चोद्यते -- किन्तु गुणत्वेन -- ततो द्रव्यस्वरूपस्य नेतिकर्तव्यताकाङ्क्षा । तस्मात् प्रकरणवत्त्वेनापूर्वस्यैव प्रयोजकत्वमेष्टव्यमिति ।

प्रतदभिप्रेत्याह नेति । 'द्रव्य-सङ्ख्यादि' द्रव्य सङ्ख्या समुदायो हेतुरिति--'अपि' 'प्रयोक्ता' धर्माणां प्रयोजको--'न' भवतीति शेष ॥

इह यथा न पुनरुक्तिस्तथा न्यायमालाविस्तरेऽनुसन्धेयम् ॥ ६ ॥

(७) ९।१।२०-२५ उपाशुता प्राच्ययजिप्रयुक्ता

( १ ) प्रयोजकताविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे श्रूयते--'त्सरा वा एषा यज्ञस्य--तस्माद् यत् किञ्चित् प्राचीनमग्नीषोमीयात् तेनोपाशु चरन्ति' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह --किं प्राग्ग्नीषोमीयात् यानि अङ्गापूर्वाणि तत्प्रयुक्तमुपाशुत्वमुत परमापूर्वप्रयुक्तमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष --यज्ञस्य सम्बन्धि यत्किञ्चिदग्नीषोमीयात् प्राचीनम् आरादुपकारक प्रधानहविस्संस्कारक च तस्य सर्वस्योपाशुत्व विधीयते । यज्ञश्च नाम परमापूर्वम् । तथाच परमापूर्वसाधनायैवोपाशुत्वमनुष्ठीयते । तस्मात् परमापूर्वप्रयुक्तमेवोपाशुत्वमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त --'अग्नीषोमीयात् यत्किञ्चित् प्राचीनम्' इत्यत्र मर्यादया देशलक्षिता ये पदार्थास्ते एव श्रूयमाणेन वाक्येनोपाशुत्वसम्बद्धा प्रतीयन्ते । तस्मात् मर्यादावच्छिन्नपदार्थजन्यावान्तरापूर्वप्रयुक्तमेवोपाशुत्वमिति ।

एतदभिप्रेत्याह उपाशुतेति । 'उपाशुता' उपाशुत्वरूपो धर्म --'प्राच्या' अग्नीषोमीयात् प्राचीना या 'यजि' अङ्गकर्म--तया तज्जन्यावान्तरापूर्वेण--'प्रयुक्ता' इति ।

अत्र पूर्वपक्षेण कुण्डपायिनामयनेऽप्यग्नीषोमीयपशो प्राचीनेषूपपाशुत्वस्योह । सिद्धान्तेन तु न तत्रोह इति ध्येयम् ॥ ७ ॥

(८) ६।१।२६-२८ द्रव्यैकभावात् सकृदग्निधर्माः ।

( १ ) प्रयोजकविचार ।

( २ ) अस्त्यग्नि --'अग्निं चिनुते' इति । तत्रैव समाप्तायते--'हिरण्यशकलसहस्रेणाग्निं प्रोक्षति--दधिना मधुमिश्रेणाग्निं प्रोक्षति--वेतसशाखयाऽवकाभिश्चाग्निं विप्रकर्षति-मण्डूकेनाग्निं विप्रकर्षति' इति । शाखाया मण्डूक बद्धा तेन विप्रकर्षतीत्यर्थः ।

( ३ ) तत्र सशय --अत्रोक्तेऽग्रे प्रोक्षणविकर्षणे किं प्रतीष्टकमभ्यसनीये उत सकृदेव कार्ये इति । प्रोक्षणविकर्षणयोः किमिष्टका प्रयोजिका उताग्निरिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष --प्रतीष्टक कर्तव्ये । अग्निं प्रोक्षतीत्यादेरुक्तत्वात्--इष्टकाव्यतिरिक्तस्य च कस्यचिदग्निपदार्थस्याभावात् इति ।



( ५ ) सिद्धान्त -- उपहिताभिरिष्टकाभि सयुक्त प्रदेश अत्राव्ययि  
द्रव्यमिष्टिकाभ्यो व्यतिरिक्तम् । स एव प्रदेशोऽन्याधारत्वाद्वाग्निश  
ब्दार्थः । अग्निश्चैक एव । तस्मात् तस्य प्रोक्षणदिक सकृदेव कार्यमिति ।

एतदभिप्रेत्याह -- द्रव्येति । 'द्रव्यस्य' अग्निरूपस्य -- 'एकभावात्'  
एकत्वात् -- 'अग्ने' 'धर्मा' 'प्रोक्षण विकर्षणमित्येवमादय -- 'सकृत्' एकवा-  
रमेवानुष्ठेया इत्यर्थः ॥ ८ ॥

( ६ ) ६।१।२६-३२ नान्त्ये हि पत्नीयजनान्तसस्था-

( १ ) प्रयोजकविचारः ।

( २ ) द्वादशाहे -- 'पत्नीसयाजान्तान्यहानि सन्तिष्ठन्ते' इति पत्नीस-  
याजान्तत्व श्रयते ।

( ३ ) तत्र सशय -- किमिदं पत्नीसयाजान्तत्व सर्वेषामहामुतोत्त  
मादहो यान्यहानि तेषामेवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष -- द्वादशसङ्ख्याकेषु सर्वेष्वहस्सु पत्नीसयाजान्तत्वम् ।  
'एतेषु पत्नीसयाजेन परिसमाप्तिर्नैतरेषु' इति नियामकाभावात् सर्वेषु  
पत्नीसयाजान्त कर्मानुष्ठाय तदनन्तरभावीनि हारियोजनादीनि त्या-  
ज्यानीति ।

( ५ ) सिद्धान्त -- 'पत्नीसयाजान्तान्यहानि सन्तिष्ठन्ते' इत्यस्य विधे  
शेषे श्रयते 'न बर्हिर्नुप्रहरति असस्थितो हि तर्हि यज्ञ' इति । यदि पत्नी  
सयाजेनैव परिसमाप्तिः सर्वेषामह्ना स्यात्तर्हि अत्रोक्तस्यासस्थितत्वस्य  
असमाप्तत्वस्य उक्तिर्व्याहन्येत । अस्मिंश्च वाक्ये यस्मिन्नहनि असस्थितो  
यज्ञस्तस्मिन्नेवाहनि पत्नीसयाजान्तता दृश्यते । यज्ञस्य असस्थिति ( स  
माप्ति ) च चरमेऽह्नि । तस्मात् चरमाद् अह्न प्रागेव यानि अहानि  
तेष्वेव पत्नीसयाजान्तता । एव च प्रथममहं पत्नीसयाजान्तमनुष्ठाय  
हारियोजनादिक बर्हिं प्रहरणान्तमकृत्वा कर्तव्यत्वेन त्ववस्थाप्य द्वितीय  
महं प्रक्रमेत । एव द्वितीयादिष्वपि । अवशेषित तु कर्मजात हारियोज  
नादि बर्हिं प्रहरणान्त चरमेऽहन्यनुष्ठायव्यमिति ।

एतदभिप्रेत्याह नान्त्ये इति । 'पत्नीयजनान्तसस्था' पत्नीसयाजान्त  
मेव कर्मजातमिति नियमः -- 'अन्त्ये' चरमेऽहनि -- 'न' -- अपि तु चरमात्  
प्राग यान्यहानि तेष्वेवेत्यर्थः ॥ ९ ॥

( १० ) ९।१।३३ ऽभ्यासक्रिया स्यात् प्रथमोत्तमान्ते ।

( १ ) प्रयोजकविचारः ।

एतदभिप्रेत्याह आरम्भणीयेति । 'आरम्भणीया' इष्टि -- 'सकृत्' एकवारमेव -- 'स्यात्' अनुष्ठितेति शेष । तच्चानुष्ठानम् 'आदित' दर्शपूर्णमासस्य आद्य पवारम्भे स्यादिति ॥ ११ ॥

(१२) ९।१।३६-३७ नोहः सवित्रादिपदेषु कार्यः।

( १ ) ऊहविचार प्रवर्तते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोर्निर्वापमन्त्र आम्नात -- 'देवस्य त्वा सवितु प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्या पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्ट निर्वपामि' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह -- सौर्यादिरूपाया विकृतौ यदाऽयम्मन्त्र प्रयुज्यते तदा किं सवित्रशिवपूषशब्दानामूह कर्तव्य उत नेति । तथाच एते शब्दा किं कर्मसमवेतमर्थमभिदधति उतासमवेतम् [यदि समवेततदोहः यद्यसमवेत तदा नोहः] ।

( ४ ) पूर्वपक्ष -- एतद्धि मन्त्रपदानां दृष्ट प्रयोजनं यत् कर्मसमवेतमर्थं प्रकाशयन्तीति । अग्निश्च प्रकृतिकर्मसमवेता देवता । तत्र सवित्रादिशब्दा अपि कयाचिद् व्युत्पत्त्याऽग्नेरेवाभिधायका इति कल्पनीयम् । एव च सति यदाऽयम्मन्त्रो विकृतावतिदिश्यते तदा सवित्रादिशब्दस्थाने विकृतियागगतदेवतावाचकानां पदानामूह कर्तव्य इति ।

( ५ ) सिद्धान्त -- प्रकृतौ सवित्रादिदेवत कर्म किमपि न चोदितम् । याश्च देवतास्तत्र चोदिता अग्न्यादयस्तेषामर्थे सवित्रादिशब्दा न प्रसिद्धा । तस्मान्न सवित्रादिशब्दा कर्मसमवेतार्थप्रकाशका । अथ च अविकृतस्यैव मन्त्रस्य निर्वापशेषत्वेनान्वयः । तस्मान्नास्त्यूह इति ।

एतदभिप्रेत्याह नोह इति । 'सवित्रादिपदेषु' सवित्रशिवपूषशब्देषु विकृत्यतिदिष्टमन्त्रस्थितेषु -- 'ऊह' विकृतौ प्रयोगकाले त्रिकृतदेवतानाम् प्रवेशनरूप -- 'न कार्य' अपि तु यथाश्रुताविकृत एव मन्त्र प्रयोक्तव्य इत्याशयः ॥ १२ ॥

(१३) ९।१।३८-३९ अग्न्यादिशब्दो ध्रुवमुहितव्यः

( १ ) पूर्वाधिकरणशेषस्तदपवादरूपः ।

( २ ) उदाहृतस्यैव वाक्यस्यान्ते 'अग्नये जुष्ट निर्वपामी'ति श्रूयते ।

( ३ ) तत्र सशय -- विकृतावग्निशब्दे ऊहः कर्तव्यो न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष -- पूर्वाधिकरणन्यायेनोहो न कार्य इति ।

( ५ ) सिद्धान्त -- नात्र पूर्वाधिकरणन्यायः प्रवर्तते । तत्र सवित्रादिशब्दानां कर्मसमवेतार्थप्रकाशका । इह तु अग्निर्देवता प्रकृतावस्थ-तोऽग्निशब्दस्य कर्मसमवेतार्थस्मारकत्वमस्ति । तस्मात् विकृतौ सौर्ये

यदाऽयम्मन्त्रोऽतिदिश्यते तदा तस्य सूर्यदैवतत्वात् अग्निस्थाने सूर्य ऊहनीय इति ।

एतदभिप्रेत्याह--अग्नीति । 'अग्न्यादिशब्द' कर्मसमवेतार्थवाचको यो भवति शब्द स --'ध्रुवम्' अवश्यम्--'ऊहनीय' इति ॥ १३ ॥

(१४) ६।१।३८-३९(वर्णकान्तरेण)ऊह व्रजेद् धान्यमसीति वाक्यम्।

(१) पूर्वाधिकरणे देवतावाचकशब्दस्योह प्रदर्शित । अत्र द्रव्य वाचकशब्दस्योहश्चिन्त्यते ।

(२) दर्शपूर्णमासयोर्दृष्टदि पेपणाय तरडुलावापे मन्त्रो विहित -- 'धान्यमसि धिनुहि देवान्' इति ।

(३) तत्र सन्देह --धान्यमसीति स्थाने विकृतौ शाकानामयने षट्त्रिंशत्सवत्सरे ऊह कार्या न वेति

(४) पूर्वपक्ष --द्वादशाधिकरणन्यायेन नात्रोह-इति ।

(५) सिद्धान्त --धान्यशब्दोऽत्र कर्मसमवेतस्यैव तरडुलस्य प्रकाशक । तस्मात् विकृतौ-यत्र तरडुलस्थाने मृगतस्मया पुरोडाशा द्रव्यत्वेन विहिता --धान्यशब्दस्य स्थाने मासशब्दोऽवश्यमूहनीय इति

एतदभिप्रेत्याह ऊहमिति । 'धान्यमसि इति' मन्त्रस्थ-'वाक्यम्'--'ऊह व्रजेत्' विकृतिगतद्रव्यानुसारेण परिवर्तनीय भवेत्--धान्यमसीत्यस्य स्थाने मासमसीति प्रयोक्तव्यमित्याशय ॥ १४ ॥

(१५) ६।१।४० नहि व्रजेद् यज्ञपतिस्त्विडायाम्

(१) देवताद्रव्योहो विचारित --यजमानोह इदानीं चिन्त्यते ।

(२) अस्ति दर्शपूर्णमासयोरिडानिगद --'इडोपहृता' इत्येवमादि । तत्रेदमाप्नायते--'दैव्या अध्वर्यव उपहृता उपहृता मनुष्या, इम यज्ञमवान्, ये च यज्ञपतिं वर्धन्' इति । अस्यार्थ --ये दैव्या अध्वर्यवो यज्ञमवन्ति, ये च मनुष्या यज्ञपतिं वर्धयन्ति, ते सर्वेऽप्यत्रोपहृता इति ।

(३) तत्र सशय --बहुयजमानके यज्ञे किं यज्ञपतिमिति शब्दे ऊह कार्यो न वेति ।

(४) पूर्वपक्ष --अत्र मन्त्रे यज्ञपतेरभिवृद्धिकथनेनोत्साहजननेन कर्मसमवेतोऽर्थं प्रतीयते । ततोऽयम्मन्त्राश इडोपाह्वानात् पृथक् कृत्या भिवृद्धयर्थे जपे लिङ्गेन विनियोगार्ह । तथा सति सत्रे यजमानानां बहुत्वात् यज्ञपतिमिति शब्दो बहुवचनान्ततयोहनीय इति ।

(५) सिद्धान्त --प्रत्यक्षश्रुत्या कृत्स्नोऽयम्मन्त्र इडोपाह्वाने विनियुक्तः । एकवाक्यत्व च कृत्स्ने मन्त्रे उपलभ्यते । प्रकरण चेदमिडाया एव । एव च श्रुतिवाक्यप्रकरणानां विरोधान्न लिङ्गेन पृथक् विनियोगो युक्तः

कस्यापि मन्त्रांशस्य । तथाच यज्ञपत्यभिवृद्धिवाक्यमपि इडाप्रतिपादकेन महावाक्येनैकवाक्यतामापन्नमिडाप्रशसनपरत्वेनैव नेयम् । इदं च प्रशसनमेकवचनान्तेनापि यज्ञपतिशब्देन सिध्यति । तस्मात् सत्रेऽपि नास्ति बहुवचनोह इति ।

एतदभिप्रेत्याह—नहीति । ‘इडायाम्’ इडोपाह्वानमन्त्रे—‘यज्ञपति’ यज्ञपतिशब्द ‘ऊह’ बहुवचनान्तत्वेन ‘न व्रजेत्’—बहुयजमानकेऽपि सत्रे इति शेष ॥ १५ ॥

(१६) ६।१।४१ सूक्तोक्त ऊहो यजमानशब्दः ।

(१) यजमानोहविचारो वर्तते पूर्वाधिकरणपवादरूप ।

(२) दर्शपूर्णमासयो ‘सूक्तवाक्येन प्रस्तर प्रहरन्ति’ इति प्रस्तरप्रहरणकरणत्वेन विनियुक्ते सूक्तवाक्यमन्त्रे इदमाग्नयते—‘अयं यजमान आयुराशास्ते’ इति ।

(३) तत्र सन्देहः—बहुकर्तृके विकृतियागे यजमानशब्दे बहुवचनत्वमूहितव्यं न वेति ।

(४) पूर्वपक्ष —पूर्वाधिकरणन्यायेनोहो नैव कार्य इति ।

(५) सिद्धान्त —पूर्वाधिकरणन्यायो नात्र प्रवर्तते । सर्वत्र प्रकरणे द्विविधो मन्त्र —क्रियाप्रकाशक फलप्रकाशकश्चेति । पूर्वाधिकरणोदाहृत इडोपाह्वानरूपक्रियाप्रकाशक । सूक्तवाक्यमन्त्रस्तु फलप्रकाशक । अत्र सर्वैरप्यवान्तरवाक्यै फलप्रकाशनमेव क्रियते । तस्मादनेन मन्त्रेण विवक्षित फलम् । सत्रे च सर्वे यजमाना फलिन । तत सर्वेषा फलसिद्ध्य यजमानशब्दो बहुवचनान्तत्वेन सर्वेषु सत्रेषूहनीय इति ।

एतदभिप्रेत्याह सूक्तोक्त इति । ‘सूक्तोक्त’ सूक्तवाक्यसम्बन्धेन उक्त —‘यजमानशब्द’—‘ऊह’ बहुवचनान्तत्वेन सत्रेष्विति भाव ॥ १६ ॥

(१७) ६।१।४२-४४ नोहस्तु कार्यो हरिवत्पदादौ

(१) ऊहविचारो वर्तते ।

(२) ज्योतिष्टोमे सुब्रह्मण्याह्वानार्थं निगदे पठ्यते—‘इन्द्र आगच्छ हरिवत् आगच्छ अहत्यायै जार’ इति । सोऽयं निगदो विकृतावशिष्टुति चोदकेनातिदिष्ट । तत्र त्वशिष्टुति ‘आग्नेयी सुब्रह्मण्या भवति’ इत्यग्नि सम्बन्धाग्निरिति इन्द्रशब्द परित्यज्य तस्य स्थाने अग्निशब्द ऊहित ।

(३) एवकृते भवति सशय —इन्द्रशब्दे परित्यक्ते किमिन्द्रस्य या वन्ति विशेषणानि निगदे श्रयन्ते हरिवदादीनि तेषामपि स्थानेऽग्निविशेषणान्यूहितव्यानि न वेति ।

(४) पूर्वपक्ष —विशेष्ये ऊहिते विशेषणान्यूहनीयानि । यानि वि

शेषूणान्युपात्तानि तानि इन्द्रे एवान्वितानि भवन्ति नाग्नावन्वेतु योग्यानि । तस्मात्तोषा स्थाने अग्नेरुक्तानि विशेषणान्यूहनीयानीति ।

( ५ ) सिद्धान्त — इन्द्रशब्दस्य कर्मसमवेतदेवताप्रकाशकत्वान्न स्तावकत्वमिति तस्योह उचित । हरिवदादिशब्दास्तु ब्राह्मणव्याख्यात गुणाभिधानद्वारेणेन्द्रस्य स्तावका । स्तुतिश्चाविद्यमानेनापि कर्तुं युज्यते । तस्मादग्नाववर्तमाना अपि गुणास्तस्य स्तुतौ युज्यन्ते वर्णयितुम् । तस्मादग्नावप्यन्वयसम्भवान्नोहनीयानि विशेषणानीति ।

एतदभिप्रेत्याह नोह इति । 'हरिवत्पदादौ' इन्द्रविशेषणत्वेन उक्ते— 'ऊह' अग्निपरकतया परिवर्तन—'न कार्य' अग्निदेवताकायामग्निष्ठुतीति शेष ॥ १७ ॥

( १८ ) ६।१।४२-४४ (वर्णकान्तरेण) तस्यै-श्रुतादौ न भवेत्तथोहः।

( १ ) ऊहविचार ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे सोमक्रयण्या एकहायन्या मन्त्र आम्नायते—'इय गौ सोमक्रयणी, तथा ते क्रीणामि-तस्यै श्रुतम्-तस्यै शर-तस्यै दधि तस्यै वाजिनम्' इति । ज्योतिष्टोमविकृतौ साद्यस्के च एवाम्नात — 'त्रिवत्स सारण्ड सोमक्रयण' इति । एतस्मिन् च कारणे पूर्वोक्ते मन्त्रश्रोदकेनातिदिष्टः । तत्र च मन्त्रपूर्वभागस्य कर्मसमवेतद्रव्यप्रकाशकत्वात् अस्त्यूह — 'अय सारण्ड सोमक्रयण तेन ते क्रीणामी'ति ।

( ३ ) अवशिष्टे तु मन्त्रभागे तस्यै श्रुतमित्यादावस्ति सशय — किमत्राप्यूहो न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — यथैकहायनी कालान्तरेण वृषभससर्गाद् वत्समुत्पाद्य दुग्धवती भूत्वा श्रुतादिसम्बन्धयोग्या भवति तथैव वत्सोऽपि कालान्तरेण गोससर्गद्वारा वत्सोत्पादन दुग्धोत्पादन च कृत्वा भवत्येव श्रुतादिसम्बन्धयोग्य । तस्मादुत्तरभागेऽपि कर्मसमवेतार्थस्योक्तत्वात् तत्राप्यूह कर्तव्य — स्त्रीलिङ्गस्थाने पुल्लिङ्गस्येति ।

( ५ ) सिद्धान्त — एकहायन्यामपि कर्मकाले श्रुतादिसम्बन्धस्याभावात् न भवति मुख्यया वृत्त्या कर्मसमवेतार्थत्वमन्त्रोत्तरभागस्य । तथा च स्तावकत्वे सिद्धे तत्रोहो नैव प्राप्नोतीति ।

एतदभिप्रेत्याह तस्यै इति । 'तथा'—यथा पूर्वोक्ते हरिवत्पदादौ तथैव—'तस्यै-श्रुतादौ' मन्त्रस्योत्तरभागे—'ऊह' स्त्रीलिङ्गस्य पुल्लिङ्गे परिवर्तनरूप — 'न भवेत्'—साद्यस्के वत्सेन सोमक्रयणे इति शेष ॥ १८ ॥

( १९ ) ६।१।४५-४६ सामानविध्येऽग्निगुड् न मेषी

( १ ) ऊहविचार ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे पशवः समाभ्नाता -- 'आग्नेयः पशुरग्निष्टोमे आ-  
लब्धव्यः'—ऐन्द्राग्नः पशुरुक्थे—ऐन्द्रावृष्णि षोडशिनि—सारस्वती मेघी  
अतिरात्रे' इति । भवति चात्र 'अग्निगु'नामा शमिता । तस्य च अग्नीषो  
मीये प्रैषमन्त्र — 'दैव्या, शमितार आरभध्वम् प्रास्मा अग्नि  
भरता' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किमयः अग्निगुप्रैषः सारस्वत्याम्मेष्यामपि  
प्रयोक्तव्यो न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः — पशुधर्मविधेः सर्वपशुसाधारण्येनाग्नीषोमीयपशा-  
विवः सारस्वत्याम्मेष्यामपि तस्य सम्बन्धः इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः — पशुशब्दो मन्त्रे नोपलभ्यते—उपलभ्यते तु 'अ-  
स्मै' इतिशब्दः । स च पुरोवर्तिनीमेव व्यक्तिमाचष्टे । व्यक्तिविशेषश्च  
पुमात्मकोऽग्नीषोमीये । तस्माद्विज्ञेयस्य विवक्षितत्वान्न सम्बन्धो मन्त्रस्य  
मेष्यामिति ।

एतदमिप्रेत्याह सामानेति । 'सामानविधेः' पशूनां सामानविधानत्वे  
ऽपि—'मेघी' सारस्वती पशुभूता—'अग्निगुयुक्' अग्निगुप्रैषमन्त्रान्वयिनी—  
'न' भवति—तस्मात्तस्याः स मन्त्रो नैव प्रयोक्तव्यः—तथासति 'अस्मै'  
स्थाने 'अस्यै' इत्यस्योहस्यावसर एव न भवतीत्याशयः ॥ १९ ॥

( २० ) ९।१।५०-५३ प्रयोज्यता नित्यमिरापदस्य ।

( १ ) ऊहविचारः ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—'यज्ञायज्ञीयेन स्तुवीत' इति । 'यज्ञायज्ञं'  
इत्यनेन शब्देन युक्तायामृचि उत्पन्नः साम यज्ञायज्ञीयम् । तस्यामृचि  
'गिरा'शब्दः पठ्यते—'यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे' इति ।  
तत्र सामगा योनिगानमधीयानाः सदैव गकारयुक्तम् 'गिरा'इत्येवरूप  
मेव गायन्ति । ब्राह्मणे तु गकारलोपपूर्वकं गानं विधीयते—'ऐरः कृत्वो-  
द्गोयम्' इति । [ गिराशब्दे गकारलोपे इराशब्दो भवति—इरायाश्च स-  
म्बन्धिगानम् 'ऐरम्' इति ] ।

( ३ ) एवमसति सन्देहः — किमत्र प्रयोगे गिरापदेशापदयोर्विकल्पः उत  
इरापदमेव प्रयोक्तव्यमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—योनिगानब्राह्मणयोः सामानबलत्वेन विशेषकाभा-  
वाद् विकल्पेन प्रयोगः इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः — गिराशब्दगाने निषेधः श्रूयते—'न गिरागिरेति  
ब्रूयात्—यद् गिरागिरेति ब्रूयात् आत्मानमेव तदुद्गाता गिरेत्' इति ।

तदनन्तर च साक्षाद् विधीयते इरापदप्रयोग । तस्मात् इरापदमेव -  
सर्वत्र प्रयोक्तव्यमिति नियम इति ।

एतदभिप्रेत्याह प्रयोज्यतेति । 'नित्य' सर्वत्र—'इरापदस्य'—गिरा  
पदस्थाने—'प्रयोज्यता'—सर्वत्र इरापदमेव प्रयोक्तव्य गाने इत्यर्थ ॥२०॥

(२१) ६।१।५४-५८ गीत्या समेतं तदिरापदं स्यात्

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे यज्ञायज्ञीयसामनि गिरापदस्य स्थाने इरापद  
कर्तव्यमिति समधिगतम् ।

( ३ ) तत्र पुन सन्देह —किमिदमिरापद गातव्यमुत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —ब्राह्मणविधौ 'ऐर कृत्वा' इति पठ्यते । ऐरमित्यस्य  
च इरापदोपेतमित्येतावानेयार्थ । यदि इरापदस्य गानं विवक्षितमभ  
विष्यत्तर्हि 'आयीरा' इति पञ्चवर्णनिष्पन्न गेयस्वरूपमेवापठिष्यत् । तथाच  
'आयीरीय कृत्वा' इत्येव विधिस्वरूपमभविष्यत् । तस्याभावात् न गेय  
मिरापदमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —गीयमानस्यैव स्थाने इरापद विधीयते इति निषे  
धवाक्येन स्पष्टम् । निषिध्यते च गिरापदमेव, न गानम् । ऐरमित्यत्र च  
छुप्रत्यय सामत्वादेव प्राप्त । सामत्व च गीतिसाध्यम् । तस्मात् इरा-  
पद गेयमेवेति ।

एतदभिप्रेत्याह गीत्येति । 'तत्' पूर्वाधिकरणोक्तम्—'इरापद'—'गी  
त्या' गानेन—'समेत' सयुक्तमेव—'स्यात्' प्रयोज्यमिति शेष ॥ २१ ॥

न्यायाः स्थिरा विंशतिरेकयुक्ताः

एकविंशतिन्याया अस्मिन् पादे इत्यर्थ ।

इति नवमस्य प्रथम ।



## अथ नवमस्य द्वितीयः पादः ।

[ सपरिकरसामोहसंस्कारोहविचारपर । ]

(१) ६।२।१-२ गीतिमात्रं भवेत् साम

( १ ) सामोहविचारप्रस्तावे सामस्वरूपमादौ स्मार्थते ।

( २ ) सन्ति सामानि—'रथन्तर-बृहत्-वैरूपं-वैराज-शाकवर-रैव  
तम्' इति 'अभि त्वा शूर नो नुम' इत्यादिमन्त्रसम्बन्धीनि ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किं प्रगीता एते मन्त्रा सामानि-उत गीति मन्त्र सामेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — प्रगीता मन्त्रा एव सामानि इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — गीतिमात्र सामेति ।

एतदभिप्रेत्याह—गीतीति । 'गीतिमात्रम्'-न तु गीतियुक्तो मन्त्र - 'साम' सामनामधेयो-'भवेत्' ।

यद्यप्ययमर्थः सप्तमेऽध्याये द्वितीयपादे सिद्धस्तथाऽप्यत्र वक्ष्यमाण विचारोपयोगितया स्मार्यते-इति ध्येयम् ॥ १ ॥

( २ ) ६।२।१-२(वर्णकान्तरेण) सामोहः क्रियते नृभिः ।

( १ ) सामोहविचारः प्रस्तूयते ।

( २ ) सामोह उदाहरणम् । यस्मिन् ग्रन्थे सामगास्तृचे तृचे साम एकैकं गायन्ति सोऽयं सामोहग्रन्थः ।

( ३ ) तत्र सशयं किं सामोहग्रन्थं आपो नित्यं उत पौरुषेयोऽनित्य इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — नित्य एवोहग्रन्थो न पौरुषेय-अनध्यायवर्जनेन कर्तुरस्मरणेन अध्यापकानां वेदत्वप्रसिद्ध्या च सामवेदनामकयोनिग्रन्थसदृशत्वात् इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — श्रूयते हि विधि- 'यद्योन्या तदुत्तरयोर्गायति' इति । अस्य चार्थः — अपौरुषेयत्वेन सम्प्रतिपन्ने सामवेदग्रन्थे सामना योनिभूते 'क्यानश्चित्र' इति मन्त्रे यद् वामदेव्यं सामोपदिष्टं तदेव साम उत्तरयोः चो ('कस्त्वा सत्यो मदानामिति' 'अभीषुण सखीनामि'त्यनयो ) द्वितीयतृतीययोर्गातव्यम्' इति ॥ ऊहग्रन्थस्य वेदत्वे अयं विधि-व्यर्थः स्यात् सामवेदवदध्ययनादेव तत्सिद्धये । उपरितने ऋग्वेदे सामोहस्य पौरुषेयत्वेऽपि तदाधारभूतानामृचा वेदत्वादनध्याया वर्जनीया । कर्तुरस्मरणं च चिरकालव्यवधानादुपपन्नम् । तस्मात् सामोहः पौरुषेयोऽनित्यश्चेति ।

एतदभिप्रेत्याह सामेति । 'सामोहः' 'नृभिः' पुरुषैः - 'क्रियते' - तस्मात् पौरुषेयो न नित्य इत्यर्थः ॥ २ ॥

( ३ ) ६।२।३-१२ ऋचः सस्कारकं साम

( १ ) सामोहविचारो वर्तते ।

( २ ) गीति सामशब्देनोच्यते इति समधिगतम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह — सा गीति किमृचः प्रति प्रधानभूता उत गुणभूतेति ।



( ४ ) पूर्वपक्ष — यागप्रयोगाद् बहिरपि अध्ययनकाले गानमनुष्ठीयते । यागाङ्गत्वे तु त्रीहिप्रोक्षणवद् यागानुष्ठानमध्य एवानुष्ठीयेत । न हिर्गानस्य च विश्वजिन्म्यायेन फल कल्पनीयम् । यागमध्यकालीनगानं च प्रयाजादिवदारादुपकारक भविष्यति । तस्माद् गानमृच प्रति मुख्यमेवेति ।

( ५ ) सिद्धान्त — न तावद्बहिरनुष्ठानम्प्रधानकर्मत्वं कल्पयितुं शक्नोति । यागकालीनप्रयोगपाटवसम्पादनायैव बहिरनुष्ठानम्भवति गानस्य । तत्त्वतस्तु ऋगक्षराणि गानेन सस्क्रियन्ते । सस्कारश्च स्वरविशिष्टाकाराभिव्यक्तिरूपो दृष्टम्प्रयोजनम् । तथाच नादृष्टफल कल्पनीयं भवति । तस्मात् ऋच सस्कारक गुणकमैव गानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह ऋच इति । 'साम' गीति.—'ऋच' ऋगक्षराणा-  
'सस्कारकम्' अत एव तम्प्रति गुणभूतमित्यर्थः ॥ ३ ॥

( ४ ) ९।२।१३-२० प्रत्यृच साम पूरयेत् ।

( १ ) गानविषयो विचारः ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—'तस्मादेकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रीयम्' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देहः — किं त्रेधा विभक्तेषु सामाशेषु एकैकोश एकैकस्यामृचि गातव्यं—उत कृत्स्नं साम प्रत्यृच पूर्णतया गातव्यमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — साम त्रेधा विभजनीयम्—एकौश एकस्यामृचि द्वितीयाया द्वितीयस्तृतीयस्तृतीयायामेवमेकं साम व्यासज्य तिसृषु ऋक्षु समापनीयम् । तिसृभिः ऋग्भिरेकस्य साम्नः समापनं कर्तव्यमित्यस्मिन्नेवार्थे उदाहृतवाक्यस्य तात्पर्यात् इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — स्तोत्रीयमिति नाम्ना कृत्स्नस्य साम्नः स्तुतिर्निष्पादकत्वं विधीयते न तु सामाशानाम् । स्तुतिर्नाम गुणकथनपरमेकवाक्यम् । तच्च वाक्यमेकस्यामृचि सम्पूर्णम् । कृत्स्नेन च साम्ना तद्वाक्यं सस्करणीयम्भवति । तस्मात् प्रत्यृचमेव कृत्स्नं सामाभ्यसनीयम् । एव च प्रत्यृच कृत्स्नं समापनीयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह प्रतीतिः । 'प्रत्यृच' तिसृषु एकैकाम् ऋचं प्रति—'साम' गानं 'पूरयेत्' सम्पूर्णं गातव्यम्—नाशत इति भावः ॥ ४ ॥

( ५ ) ९।२।२१-२२ समासु गानं कर्तव्यम्

( १ ) गानविचारः पूर्वाधिकरणशेषः ।

( २ ) प्रत्यृचं साम समापनीयमिति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र पुनः सशयः — गानं किं समच्छन्दस्कास्वेव तिसृषु ऋक्षु नेयमुत विषमच्छन्दस्कास्वेव—उत अनियम इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — इत्थमेव गेयमिति नियामकस्याभावादनियम इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — यद्यधिकच्छन्दस्काया योनिभूतायामृच्युत्पन्न साम न्यूनछन्दस्कयोरुत्तरयोगीयेत् तदा सामस्याशमात्रेण तत्पूर्तेरवशिष्ट सामाश आश्रयाभावाद् विनश्येत् । यदि च योनिभूताया ऋचोऽधिकच्छन्दस्कयोरुत्तरयोगीयेत् तदा साम्नोऽल्पीयस्त्वात् अवशिष्ट ऋग्भाग सा मरहित एव स्यात् । तस्मादेतदोषवर्जनाय समच्छन्दस्कास्वेव गेयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह समास्विति । 'गान्' साम्न — 'समासु' समच्छन्दस्कास्वेव ऋक्षु- 'कर्तव्यम्' - न विषमच्छन्दस्कास्वित्यर्थ ॥ ५ ॥

( ६ ) ६।२।२३-२४ उत्तराग्रन्थगोचरा ।

( १ ) गानविशेषविचार पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) सामगाना ऋक्पाठाय द्वौ ग्रन्थौ-छन्द उत्तरा चेति । तत्र छन्दोनामके ग्रन्थे नानाविधाना साम्ना योनिभूता एव ऋच पठिता । उत्तराग्रन्थे तृचात्मकानि सूक्तानि पठितानि । एकस्मिन् तृचे छन्दोगता योनिभूता ऋक् प्रथमा, इतरे द्वे 'उत्तरे' । एव स्थिते साम्नायते 'रथन्तरमुत्तरयोगीयति-यद् योन्या तदुत्तरयोगीयति' इति । अत्र च 'उत्तरा'सङ्गेके ऋचौ द्वे सम्भाविते । रथन्तरस्य छन्दोग्रन्थे 'अभि त्वा शूर नो नुम' इतीय ऋक् योनित्वेन पठिता । तदनन्तर छन्दोग्रन्थे अन्येषां साम्ना योनिभूता ऋच 'त्वामिद्धि हवामहे' इत्याद्या पठिता [ अनेन च अभि त्वा शूरैत्यस्या ऋच समनन्तर ये द्वे ऋचौ सामान्तरयोनी पठिते ते रथन्तरस्य 'उत्तरे' भवतः ] । अथ च उत्तराग्रन्थे 'अभि त्वा शूर' इति सूक्ते तस्या ऋचोऽनन्तर 'न त्वा वो अन्ये' इत्येषा ऋक् पठिता तदनन्तरमन्या [ अनेन च उत्तराग्रन्थानुसारेण न त्वेत्यादि ऋचौ रथन्तरस्य 'उत्तरे' भवतः ] ।

( ३ ) एव स्थिते 'रथन्तरमुत्तरयोगीयति' इत्यत्र सन्देह — सम्भावितयोर्द्वयोरुत्तरयो कस्यामुत्तरायामृचि रथन्तर गेयमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — नियामकशास्त्राभावात् ययो कयोश्चिदुत्तरयोगान् कर्तव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — तृचे प्रथमापेक्षया द्वितीयतृतीययोरुत्तरात्व सङ्गया वर्तते । अतस्तयोरेव गानम् । एवमेव च समासु गेयमिति पूर्वाधिकरणन्यायोऽनुगृहीतो भवति । तस्मात् उत्तराग्रन्थस्थयोस्तु-चगतयोर्द्वितीयतृतीययोगान्मूहनीयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह उत्तरेति । या ऋक् 'उत्तराग्रन्थगा' उत्तराग्रन्थे तृचे पश्चात् पठिता सा एव 'उत्तरा' रथन्तरमुत्तरयोगीयतीत्यत्र

वर्तमानोत्तराशब्देन विवक्षिता—न तु च्छन्दोग्रन्थवर्तिनीति भाव ॥ ६ ॥

(७) ९।२।२१-२४ (वर्णकान्तरेण) अभ्यासे नातिजगती

(१) पञ्चमाधिकरणपवाद ।

(२) द्वादशाहे चतुर्थेऽहनि त्रैशोकनामक साम विहितम् । तच्च 'विश्वा' पृतना' इत्येतस्यामतिजगत्यामुत्पन्नम् । तस्मिंश्च तृचे तस्या योनिभूताया ऋच उत्तरे बृहत्यौ—'नेमिं नमन्ति' इति, 'समीं रेभासो अस्वदन्' इत्याम्नाते ।

(३) तत्र सन्देह —आचार्यामतिजगत्या गान कृत्वा किमन्ये द्वे अतिजगत्यौ एव उपादाय आद्यसमच्छन्दस्कयोस्तयोगान् कर्तव्यमुत यथोक्ते विषमच्छन्दस्के एवोपादाय विषमास्वेव गेयमिति ।

(४) पूर्वपक्ष —पञ्चमाधिकरणन्यायेन समास्वेव गेयमिति कृत्वा अतिजगती एव द्वे उपादाय समच्छन्दस्कास्वेव गेयमिति । 'अतिजगतीषु स्तुवन्ति' इत्यपि श्रूयते । इदं चातिजगतीबहुत्वमतिजगतीद्वयमन्यत उपा दयैव सम्भवतीति ।

(५) उत्तरयोग्यमिति विधावुक्तस्य उत्तराशब्दस्य उत्तराग्रन्थे पठितयोरेव ऋचोर्मुख्यत्वम् । बृहत्यावेव चात्र पठिते । अतिश्च 'समा-सु गेयमिति' न्यायाद् बलीयसी । तस्माद् बृहत्योरेवोत्तरयोग्यमिति । यच्चातिजगत्या बहुत्वमुक्तम्—तद्बृहत्योरुपादानेऽपि सम्भवति । एकवि-शतिस्तोमस्यात्र विहितत्वेन तत्सिद्धये प्रथमोपात्ताया अतिजगत्या सप्तकृत्व आवर्तनीयत्वात् । तस्मात् त्रैशोक साम बृहत्योरेवोहनीयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह अभ्यास इति । 'अतिजगती' योनिभूता अतिजगती च्छन्दस्का ऋक्—'अभ्यासे' 'न' उपादीयते—द्वितीयतृतीयस्थानेऽपि अतिजगतीद्वयमन्यतो नोपादातव्यमित्यर्थः । अथवा 'अतिजगती' अतिजग-तीगत यद् बहुत्वमाप्नात तत् आद्या एव ऋच 'अभ्यासेन' सम्पद्यते इत्यर्थः । द्वयोरप्यर्थयो सम्मेलनेन सिद्धान्तः तद्वत्तदोषपरिहारश्चेत्युभय सिद्ध भवति ॥ ७ ॥

(८) ६।२।२५-२८ प्रग्रन्थेनोत्तरा ककुप् ।

(१) सामोहविचारः ।

(२) इदमाप्नायते—'न वे बृहद्रथन्तरमेकच्छन्द—यत् तयो पूर्वा बृहती ककुभावुत्तरे' इति । अस्यार्थः—बृहत् रथन्तरम् इति सामद्वय इतरसामवत् एकच्छन्दस्कं न भवति । यस्मात् कारणात् तयो साम्नोरा श्रयभूतासु ऋक्षु पूर्वा बृहतीच्छन्दस्का उत्तरे तु द्वे ऋचौ ककुप्छन्दस्के । इतरेषा वामदेव्यादिसाम्नामाश्रये तृचेऽवस्थितास्तिस्र ऋच एकच्छन्द-

स्का उत्तराग्रन्थे आम्नाता 'समासु गायेत्' इति न्यायेन निर्णीतुश्च । इह तु रथन्तरे बृहति च वाचनिकमेव विषमच्छन्दस्कासु गानम्' इति । पुनश्च रथन्तरस्याश्रयभूता तृच नोत्तराग्रन्थे समाम्नाता -किन्तिहि प्रगाथ एव तदाश्रयत्वेनाम्नात । प्रगाथश्च द्वाभ्यामेव ऋग्भ्या निष्पन्नत्वात् तृचे न भवति । प्रगाथे च द्वयोर्ऋचो —'अभि त्वा शूर' इत्येषा प्रथमा--सा च बृहती--'नत्वा वा अन्यो दिन्य' इति द्वितीया--सा च पङ्क्तिच्छन्दस्का ।

( ३ ) तत्र सन्देह --'ककुभावुत्तरे' इति यदुक्तम् तत्र किमुत्पत्यैव ककुपच्छन्दस्के ऋचौ अन्यतोऽवगम्य तृच सम्पाद्य गान कार्यम्-उत यासौ प्रगाथे पठिता प्रथमा बृहती द्वितीया पङ्क्तिस्तयो प्रग्रथनेन द्वे उत्तरे ककुभे सम्पाद्य तत्र गान कर्तव्यमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष --प्रगाथगता बृहतीच्छन्दस्का गृहीत्वा तदनन्तर भाविनी पङ्क्तिच्छन्दस्का परित्यज्य तस्या स्थाने दशतयीगते ङ ककुभौ गृहीत्वा तृच सम्पादनीयम् । एवमेव ऋकुवुत्तरत्वोक्तिरर्थवती स्यात् । यथाश्रुतस्यैव प्रगाथस्य ग्रहणे तु तृचो न सम्पाद्यते- नापि ककुवुत्तरत्व सिध्यति । तस्माद् रथन्तरसाम्नि आद्या बृहती (प्रगाथपठिता) अन्ये च द्वे ककुभावन्यतो गृहीतव्ये इति ।

( ५ ) सिद्धान्त --आम्नातयोरेव बृहतीपङ्क्त्यो प्रग्रथनेन ककुप् सम्पादनीया । तथाहि 'अभि त्वा शूर' इत्येषा बृहती प्रथमा स्तोत्रीया । तस्यामविकृतायामेव रथन्तर गातव्यम् । तत तस्यामेव ऋचि चतुर्थं पाद पुनरुपादाय उत्तरस्या पङ्क्ते पूर्वार्धेन सह ग्रथनेनाष्टाविंशत्यक्षरा त्रिपदा द्वितीया स्तोत्रीया कर्तव्या । इयचैका ककुप् भवति । तस्यामेव ककुभि चरम पाद पङ्क्तेरुत्तरार्धेन सह सङ्ग्रथ्य तृतीया स्तोत्रीया कर्तव्या । सा च द्वितीया ककुप । अनेन प्रग्रथनप्रकारेण प्रगाथाम्नातयोरेव द्वयोर्ऋचोस्तृचनिष्पत्तेस्सर्व समञ्जस भवति । तस्मात् आम्नातयोर्ऋचो प्रग्रथनेन द्वे उत्तरे ककुभौ सम्पाद्य-आद्यया बृहत्या सह--तृचे रथन्तर गातव्यमिति ।

एतदभिप्रेत्याह प्रग्रथनेति । 'उत्तरा' बृहत्या उत्तरवर्तिनी या ककुपच्छन्दस्का ऋक् रथन्तरे गेयत्वेनोक्ता सा--'प्रग्रथनेन' प्रगाथपठितयो बृहतीपङ्क्त्यो प्रग्रथनेन--सम्पादनीयेति शेष ॥ ८ ॥

(६) ६१२।२५-२८(द्वितीयवर्णकम्) नोत्तरोत्पत्तिबृहती

( १ ) सामोहविचार ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे श्रुत्वे--'रौरव--यौधाजये बार्हते तृचे भवत' ।

४२ मी० नु०

इति । अस्यार्थः -- 'रौरव नाम किञ्चित् साम-तथा यौधाजयनामकम-परम् । तयोर्द्वयो साम्नो बृहतीच्छन्दस्कस्तृच आश्रय' इति ॥ उत्तरा-ग्रन्थे तु तस्य सामद्वयस्याश्रय एक प्रगाथ आम्नात --तस्य प्रगाथस्य 'पुनान सोम' इत्यसावृक् प्रथमा--सा च बृहती--'दुहान ऊर्ध्वदिव्यम्' इति द्वितीया--सा च विष्टारपङ्क्ति ।

( ३ ) तत्र सन्देहः -- किमत्र प्रगाथपठिता विष्टारपङ्क्तिमपनीय तस्या स्थाने द्वे उत्पत्तिबृहती अन्यत आनीय तृच सम्पाद्य समासु गानम्--उत प्रगाथपठितयोर्बृहतीविष्टारपङ्क्त्योर्ग्रथनविशेषेण द्वे बृहत्यावेवोत्तरे सम्पाद्य तृच कृत्वा गानमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः --विष्टारपङ्क्तिमपनीय तस्या स्थाने उत्पत्तिबृहती-द्वयमन्यत आनेतव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः --उत्पत्तिबृहत्यावन्यतो नानेतव्ये--अपितु प्रगा-थपठितयोरेव बृहतीविष्टारपङ्क्त्यो प्रग्रथनविशेषेण द्वे उत्तरे बृहत्यासम्पादनीये--पूर्वाधिकरणप्रदर्शितयुक्तिभिरिति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'उत्पत्तिबृहती' विष्टारपङ्क्तिमपनीय उत्पत्ति-बृहतीच्छन्दस्का ऋगन्यत आनीय--'उत्तरा' न' कर्तव्या-अपि तु पठि तयोरेव प्रग्रथनेन बृहती सम्पादनीयेत्याशयः ॥ ९ ॥

( १० ) ९।२।२५-२८ ( तृतीयवर्णकम् ) नान्याऽनुष्टुबिहोत्तरा ।

( १ ) पूर्वविचारसदृश एव विचारः ।

( २ ) इदमाप्नायते--'पञ्चच्छन्दा आवाप आर्भवं पवमान सप्त-सामा--गायत्रसहिते गायत्रे तृचे भवत --श्यावाश्वान्धगवे आनुष्टुभे तृचे भवत --उष्णिहि शफम्--ककुभि पौष्कलम्--कावमन्य जगतीषु' इति । अस्यार्थः --"अस्ति तृतीयसवने पवमान आर्भवसङ्गः । तस्मिन् पञ्च सूक्तानि सप्त सामानि--'स्वादिष्टया मदिष्टया' इत्याद्येक सूम्--तस्मिन् गायत्र्यस्तिस्र ऋच --तासु गायत्र सहितं चेति द्वे सामनी । 'पुरोजिती वो अन्धस' इति द्वितीय सूक्तम्--तत्रैकाऽनुष्टुप् उत्तरे द्वे गायत्र्यौ--तासु श्यावाश्वम् आन्धीगव चेति द्वे सामनी । 'इन्द्रमच्छ-सुता इमे' इति तृतीय सूक्तम्--तस्मिन् उष्णिहस्तिस्र --तासु सप्त साम । 'पवस्व मधुमत्तम' इति प्रगाथश्चतुर्थः --तस्मिन् उष्णिहस्तिस्र --तत्र पौष्कल साम । 'अभिप्रियाणि पवते च नो हित' इति अन्त्यं सूक्तम्--तत्र तिस्रो जगत्य --तासु काव साम ॥ एतेषा पञ्चाना सूक्तानां मध्ये यद्यपि 'पुरोजिती' इति 'पवस्व' इति चानयो द्वे द्वे छन्दसी तथापि समासु गान सम्पादयितु प्रग्रथनेनैकैकमेव छन्द सम्पाद्यते । एव च

गायत्र्यनुष्टुबुष्णिक्कुब्जगतीभिः पञ्चछन्दाः पवमानोऽस्मिन् सुवने  
श्राद्धपनीयः ॥ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देहः —‘पुरोजिती’ इत्यस्मिन् सूक्ते समच्छन्दस्कं गानं  
सम्पादयितुं द्वे गायत्र्यौ अपनीयं द्वे उत्पत्त्यनुष्टुभौ श्रानेतव्ये—उत  
द्वयोर्गायत्र्योः प्रग्रथनेन अनुष्टुब्दस्य सम्पादनीयमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः —गायत्रीद्वयमपनीयं तत्स्थाने उत्पत्त्यनुष्टुब्दस्य मन्यत  
श्रानेतव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः —चतुर्थं पादस्फुनरादाय द्वे अनुष्टुभौ ग्रथनीये  
इति । पूर्ववद् युक्तिः ।

एतदभिप्रेत्याह नान्येति । ‘इह’ पुरोजितीये सूक्ते—‘अन्या’ अन्यत  
श्रानीता—‘अनुष्टुब्’ उत्पत्त्या अनुष्टुप्छन्दस्का ऋक्—‘उत्तरा’ ‘न’  
भवति—अपि तु गायत्रद्वयग्रथनेनैवानुष्टुब्दस्य सम्पादनीयमित्यर्थः ॥ १०

( ११ ) ६।२।२५—२८ (चतुर्थं वर्णकम्) द्वयोः प्रगाथं गातव्यम्

( १ ) पूर्वसङ्क्षेपविचारः ॥

( २ ) गवामयने ब्रह्मसामं विहितम्—‘अभवतो ब्रह्मसामं भवति’ ।  
तत् प्रकृत्य श्रूयते—‘चतुःशतमैन्द्रा बार्हता प्रगाथा’ इति । ‘चतुरधि-  
कशतसङ्ख्याका इन्द्रदेवताका बृहतीच्छन्दस्का प्रगाथा’ इत्यर्थः । ते च  
प्रगाथा ऋग्व्यात्मकाः ।

( ३ ) अत्र सन्देहः —किमेकप्रगाथगते द्वे ऋचौ द्वितीयप्रगाथगत-  
मेकमृचं च सङ्गृह्य त्वं सम्पाद्य तिसृषु ऋक्षु गानम्—उत द्वयोर्द्वयो-  
र्ऋचो प्रगाथं कृत्वा गानमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः —एकप्रगाथगते द्वे ऋचौ द्वितीयप्रगाथगतया ऋचा  
सङ्गृह्य त्वं सम्पाद्य तस्मिन् त्वे अभिवर्तनामकं सामं गातव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः —‘अन्यथा श्रूय ऋचो भवन्ति तदेव साम’ इत्य-  
स्मिन् प्रकरणे ऋचामन्यत्वं वर्ण्यते । तच्च पादग्रथनेनैव भवति—  
न ऋग्रथनेन । तस्मात् द्वयोर्ऋचो पादग्रथनेनैव त्वं सम्पाद्य  
गातव्यमिति ।

एतदभिप्रेत्याह द्वयोरिति । ‘द्वयो’ ऋचो पादग्रथनेन सम्पादिते  
‘प्रगाथे’ एव—‘गातव्यम्’ गानं कर्तव्यमित्यर्थः ॥ ११ ॥

( १२ ) ६।२।२६ गीत्युपाया विकल्पिताः ।

( १ ) गीतिप्रकारविचारः ।

( २ ) गीतिर्नामाभ्यन्तरप्रगल्भजनितस्वरविशेषाभिव्यञ्जिका साम-  
शब्दाभिलष्या । सा नियतपरिमाणायाऽस्मिन् गीयते । तत्सम्पादनार्थं

ऋक्षु अक्षरविकारो विश्लेषो विकर्षणम् अभ्यासो विराम स्तोभ इत्येवमादयः समधिगता सामान्यान्ते गीत्युपाया सहस्रशः सामवेदे ।

( ३ ) तत्र सन्देह — कर्मानुष्ठाने एतेषां गीत्युपायानां किं समुच्चयः उत विकल्प इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — समुच्चेतव्या उपाया — प्रयोगवचनेन सर्वेषां परिगृहीतत्वादिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — कैकशाखोक्तैरेवाक्षरविकारादिभिर्गीतिस्वरूपनिष्पद्यते । तन्निष्पत्तिलक्षणस्य च प्रयोजनस्यैकत्वात् प्रयोगवचनपरिगृहीता अपि अन्ये उपाया विकल्पन्ते इति ।

एतदभिप्रेत्याह गीतीति । 'गीत्युपाया' ये सहस्रश उक्तास्ते—'विकल्पिता' विकल्पेन प्रयोक्तव्या — न समुच्चेतव्या इति शेषः ॥ १२ ॥

( १३ ) ६।२।३०-३१ साम्नैव क्रियते स्तोत्रम्

( १ ) सामस्तोत्रसम्बन्धविचारः ।

( २ ) कर्मविशेषे श्रूयते—'ऋचा स्तुवते—साम्ना स्तुवते' इति ।

( ३ ) तत्र सशयः — किं स्तवनकर्मणि ऋक्साम्नो समुच्चयः उत विकल्प इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पूर्वविकरणन्यायेन विकल्प इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — वाक्यशेषे ऋचो निन्दा साम्नश्च प्रशसा श्रूयते—'यद्वा स्तुवते तदसुरा अन्ववायन्—यत् साम्ना स्तुवते तदसुरा नान्ववायन्—य एव विद्वान् साम्ना स्तुवीन्' इति । अतः ऋचं निन्दित्वा सामं प्रशस्य सामं विधीयते । तस्मात् साम्नैव स्तवनमिति ।

एतदभिप्रेत्याह साम्नेति—'स्तोत्रम्' स्तवन—'साम्ना' 'एव' 'क्रियते' कर्तव्यम्—न तु ऋचेति शेषः ॥ १३ ॥

( १४ ) ६।२।३०-३१ ( द्वितीयं वर्णकम् ) उपस्थानं प्रगीतया ।

( १ ) गानविचारः ।

( २ ) क्वचित् कर्मविशेषे श्रूयते—'अयं सहस्रमानद इत्येतया आह्वनीयमुपतिष्ठते' इति । इयं च ऋक् अप्रगीता सामान्यता साहिताग्रन्थे, प्रगीता तु गानग्रन्थे ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किमप्रगीतयैव उपस्थातव्यमुत प्रगीतयैव उत यथारुचि इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — नियामकाभावात् विकल्प इति गीतयाऽगीतया चोपस्थातव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—अस्त्येव नियमो गाने—सामवेदे गानस्यैव प्रकृत-

त्वात् । अत्र ऋचा सहितापाठो गानायैव । तस्मात् प्रगीतयैवोपस्था  
व्यमिति ।

एतदभिप्रेत्याह उपस्थानमिति । 'प्रगीतया' एव 'अय सहस्रमानद्'  
इत्यनया ऋचा-‘उपस्थानम्’ आहवनीयस्य-कर्तव्यमिति शेष ॥ १४ ॥

( १५ ) ९।२।३०-३१ ( तृतीयवर्णकम् ) कर्मस्वेकश्रुतिर्मन्त्रे ।

[ 'त्रैस्वर्याद्यविकल्पः स्यात्' इति वा पाठः । ]

( १ ) प्रसङ्गेन याज्यादयो मन्त्रा विचार्यन्ते ।

( २ ) 'अग्निमूर्ध्ना दिव' इत्यादयौ याज्यापुरोनुवाक्यादयो मन्त्रा  
कस्याञ्चिच्छाखाया त्रैस्वर्येणाधीयन्ते कस्याञ्चिच्चातु स्वर्येण [ उदा  
त्तानुदात्तस्वरितेभ्यो व्यतिरिक्तश्चतुर्थ स्वर एकश्रुतिरिति तान इति  
चाभिधीयते ] ।

( ३ ) तत्र सन्देह-प्रयोगे कि त्रैस्वर्यादीना विकटप उत समुच्चय  
उतैकश्रुतिरेव ग्राह्या इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष-प्रयोगवचनस्य सर्वाङ्गोपसहारित्वात् समुच्चय ।  
अथवा अध्ययननिवृत्तिलक्षणस्य प्रयोजनस्यैकत्वाद् विकटप इति ॥

( ५ ) सिद्धान्त-व्याकरणस्मृतावेकश्रुतिरेव विहिता । जपसा  
मव्यतिरिक्ताना मन्त्राणा यज्ञकर्मण्येकश्रुतिर्भवतीति पाणिनीयस्मृति  
( १।२।३४ ) । जपादिषु तु यथाध्ययन स्वर प्रयोक्तव्य । त्रैस्वर्या  
द्यश्चार्थविशेषज्ञापनायार्थवन्त । तस्मात् कर्मस्वेकश्रुतिरेव प्र  
योक्तव्येति ।

एतदभिप्रेत्याह कर्मस्विति । 'कर्मसु' यज्ञानुष्ठानेषु-‘मन्त्रे’ मन्त्रो  
च्चारणे जपसामादिभ्योऽन्यत्र-‘एकश्रुति’ तानाख्य उदात्तानुदा  
त्तस्वरितेभ्योऽतिरिक्त स्वर-प्रयोक्तव्य इति शेष ॥

[ त्रैस्वर्याद्यविकटप स्यादिति पाठे तु त्रैस्वर्यादिविकटपेन प्रयोगो  
नेष्ट-अपि तु तेभ्यो व्यतिरिक्त एकश्रुतिनामक एव स्वर प्रयोक्तव्य इत्ये  
व योजना ] ॥ १५ ॥

( १६ ) ९।२।३२-३३ योनिवर्णक्रमो न हि ।

( १ ) गानविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) 'यद् योन्या तदुत्तरयोर्गायति' इति श्रूयते ।

( ३ ) तत्र सन्देह-किमत्र उत्तरावर्णवशेन गातव्यमुत योनिवर्णव-  
शेनेति । [ योनौ यस्मिन् भागे 'आई' भावस्तस्मिन्नेव भागे यद्युत्तरासु  
'आइ' भाव क्रियते तदा योनिवर्णवशेन गीत भवति । यदा तु 'भागा  
न्तरे 'आई' भाव क्रियते तदा उत्तरावर्णवशेन गीत भवति ] ।



( ४ ) पूर्वपक्ष — योनिवर्णवशेनैव गीत भवति । तथाहि 'कयानश्चित्र आभुवत्' इति ऋग्योनि । तस्यामृचि 'कया' इति अक्षरद्वयमाद्यो भग्न-  
'नश्चित्र आभुवत्' इत्यक्षरषट्क द्वितीयो भाग । तस्मिन् द्वितीये भागे द्वि-  
तीयाक्षरे चकारस्योपरितनमिकार विलोप्य तस्य स्थाने 'आई' भावमा-  
भ्नाय गीतिर्निष्पादिता । उक्ताया ऋच उत्तरा ऋक् प्रथा 'कस्त्वा  
सत्यो मदानाम्' इति । तस्या योनिन्यायेन चतुर्थाक्षरे तकारस्योपरितन-  
यकारमोकार च लोपयित्वा तयो स्थाने 'आई' भाव । एव 'अभीषुण्'  
इत्यसावृक् अपरा उत्तरा । तस्यामपि चतुर्थाक्षरे णकारस्योपरितनम-  
कार लोपयित्वा तस्य स्थाने 'आई' भाव कर्तव्य । इत्थमेव योनिवर्ण-  
वशेन गीति कर्तव्येति ।

( ५ ) सिद्धान्त — उपरितना प्रक्रिया न तथ्या । नात्र योनौ एकस्य  
वर्णस्य लोपोऽन्यस्य वागम कृत — किन्तर्हि विद्यमान एव चकारस्यो  
परितन इकार सामप्रसिद्धया प्रक्रियया वृद्ध सन् एकारो भवति—  
तस्य च सन्ध्यक्षरत्वात् अकार पूर्वभाग इकार उत्तरभाग । तावुभौ  
विश्लेषेण गीयमानौ 'आ-ई' भाव प्रतिपद्येते । 'अभीषुण् सखीनाम  
विता जरितणाम्' इत्येतस्यामुत्तराया द्वादशाक्षरगतस्य रेफस्योपरितन  
इकार पूर्वदर्शितरीत्या 'आई' भवति । सोऽयमाईभाव वर्णाभिव्य-  
ञ्जकत्वात् उत्तरागतवर्णवशेन कर्तव्य । गीत्यर्थत्वाभावेन योनिक्रमे तेन  
विनाऽपि न गीतिर्विनश्यति इति ।

एतदभिप्रेत्याह—योनीति । गाने—'योनिवर्णक्रम' योनिवर्णवशेन  
'आई' भावादिक 'न' भवति—अपि तु उत्तरावर्णवशेनैवेत्याशयः ॥१६॥

( १७ ) ६।२।३४-३८ स्तोभस्य चातिदेशोऽस्ति

( १ ) गानविशेषविचार ।

( २ ) 'कवतीषु रथन्तर गार्येतीति' श्रुतम् । तत्रोत्तरावर्णवशेन  
गातव्यमिति स्थितम् ।

( ३ ) तत्रापि सन्देहः—किमत्र स्तोभा उत्तरयोरतिदिश्यन्ते उत  
नेति । [ वामदेव्यसाम्नो योनौ द्वयोरर्धयोर्मध्ये ओकारद्वयेन 'हो'शब्देन  
'होई'शब्देन च निष्पन्न स्तोभ एवमाभ्नात — 'ओ ओ हो हाई' इति ] ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — सोऽय स्तोभो नोत्तरयोरतिदिश्यते—अगीतित्वात् ।  
'यद् यो न्या तदुत्तरयोर्गायति' इत्यनेन गीतिमात्रमुत्तरयोरतिदिश्यते ।  
तत्र प्रथमाया ऋचो वर्णा यथा नातिदिश्यन्ते तथा स्तोभा अपीति ।

( ५ ) सिद्धान्त — स्वरो-वर्णविशेषो-विराम इत्येते गीत्युपयोगित

या यथाऽतिदिश्यन्ते । तथा स्तोभा अपि कालपरिच्छेदकतदा गीत्युपयो  
गित्वेन अतिदेष्टव्या इति ।

एतदभिप्रेत्याह स्तोभस्येति । 'स्तोभस्य' 'च' 'अतिदेश' उत्तरयो  
ऋचो - 'अस्ति' एवेति सम्बन्धः ॥ १७ ॥

(१८) ६।२।३९ विवर्णश्चाधिकश्च सः ।

( १ ) स्तोभलक्षणविचारः ।

( २ ) स्तोभा अतिदेष्टव्या इति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देहः - स्तोभस्य लक्षणं सम्भवति न वा - सम्भवति  
चेत् किं तदिति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः - न सम्भवति निर्दुष्टं लक्षणमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः - 'य ऋगक्षरेभ्योऽधिक, न च तै. सवर्णं स स्तोभ'  
इति निर्दुष्टं स्तोभलक्षणम्,

एतदभिप्रेत्याह विवर्ण इति । 'स' स्तोभ - 'विवर्ण' ऋगक्षरैरसमा-  
नवर्ण - 'अधिक' ऋगक्षरेभ्योऽनिरिक्तं भवति । एवं च ऋगधिकत्वे  
सति ऋग्विलक्षणवर्णत्वं स्तोभत्वमिति पर्ववसितं लक्षणमित्याशयः ॥ १८ ॥

(१९) ६।२।४० नीवारे ब्रीहिधर्माः स्युः

( १ ) पर्ववसितं सामोहविचारः, सस्कारोह इदानीं चिन्त्यते ।

( २ ) अस्ति दर्शपूर्णमासविकृतिर्वाजपेयः । तत्र प्राकृतब्रीहिस्थाने  
नैवारश्चरु श्रुतः ।

( ३ ) तत्र सन्देहः - ये ब्रीहिषु कर्तव्या सस्कारा प्रोक्षणावहननाद-  
यस्ते किं नीवारेषु भवन्ति उत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः - नीवाराणां ब्रीहिस्थानपाते प्रमाणाभावात् नैव  
कर्तव्या इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः - 'नैवार' इत्यत्र विकारार्थस्तद्धितप्रत्ययो नीवारस्य  
ब्रीहिस्थानीयत्वं प्रमाणयति । तस्मात् कर्तव्या प्रोक्षणादयो नीवा-  
रेष्विति ।

एतदभिप्रेत्याह नीवारेति । 'ब्रीहिधर्मा' प्रोक्षणावघातादयः स-  
स्कारा ये दर्शपूर्णमासे ब्रीहिषु कर्तव्यत्वेन चोदितास्ते - 'नीवारे' वि-  
कृतिषो वाजपेये चरुद्रव्यत्वेन विहिते - 'स्यु' कर्तव्या इति शेषः ॥ १९ ॥

(२०) ६।२।४१-४३ परिधिर्यूपधर्मभाक् ।

( १ ) सस्कारोहो वर्तते ।

( २ ) चातुर्मास्येषु - 'मध्यमे पर्वणि परिधौ पशु नियुजति' इति  
यूपकार्यं पशुनियोजनं परिधावाग्नातम् ।

( ३ ) तत्र सप्रत्ययः - परिधौ यूपधर्मा कर्तव्या न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—अग्निपरिधानार्थं हि परिधिरुत्पन्न । तस्य स्वयमेव धर्मान्तराणि सन्ति । तस्मात् यूपस्थानीयेऽपि तस्मिन् यूपधर्मान् कार्या इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —कार्यान्तरायोत्पन्नस्यापि परिधेर्वचनात् पशुनियोजनसाधनत्वमुपपद्यते । पशुनियोजनार्थमेव च यूपोऽपि सस्क्रियते । तथा च पशुनियोजनरूपे उपकारका यूपसस्कारा इत्यवगन्तव्यम् । एवं च सति यदा परिधिरपि तस्मिन्नेव पशुनियोजनकार्ये उपयुज्यते तदा ते सस्कारास्तत्रापि कर्तव्या एव । यद्यपि तद्गणरूपो यूपसस्कारपरिधौ न सम्भवति तथाऽप्यञ्जनादिस्स्काराणां तत्रापि सम्भवात् ते एव कर्तव्या । एव च प्रैषमन्त्रे 'यूपायज्यमानायानुब्रूहि' इत्यत्र—'परिधयेऽज्यमानाय' इत्युह कर्तव्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह परिधिरिति । 'परिधि' यदा पशुनियोजनायोपयुक्ततदा 'यूपधर्मभाक्' यूपस्य धर्मान् सस्कारान् अञ्जनादीन् भजते । परिधावप्येते धर्मा अनुष्ठेया इत्यर्थः ॥ २० ॥

- ( २१ ) ९।२।४४-४५ दधन् प्रणीताधर्माः स्युः

( १ ) सस्कारोह ।

( २ ) अभ्युदयेष्ट्या 'दधनि चरुम्' इति दधि श्रुतम् ।

( ३ ) अत्र सशय —दधनि प्रणीताधर्मा कर्तव्या उत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —हवि श्रपणार्थमुत्पन्ना उत्पवनादिधर्मसंस्कृता आप्रणीता । दधि तु श्रपणार्थं नोत्पन्नम् किन्तु हविष्ट्वेन प्रदानार्थमुत्पन्नम् । एव च प्रणीतया तस्या न किमपि साम्प्रम् । तस्मात् प्रणीताधर्मा दधनि नैव कर्तव्या इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —कार्यान्तरार्थमुत्पन्नस्यापि दधन् वचनेन चरुश्रपणार्थत्वमुक्तम् । तेन च प्रणीतस्यानत्वात् कर्तव्या एव दधनि प्रणीताधर्मा इति ।

एतदभिप्रेत्याह दधन् इति । 'दधन्' चरुश्रपणार्थं चोदितस्य—'प्रणीताधर्माः' उत्पवनादयः—'स्युः' कर्तव्या इति शेषः ॥ २१ ॥

( २२ ) ९।२।४६-४७ साम्नो धर्मा व्यवस्थिताः ।

( १ ) धर्माहो वर्तते ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे पृष्ठस्तोत्रद्वयविकल्पेन विहितम्—'बृहत् पृष्ठं भवति—रथन्तरं पृष्ठं भवति' इति । सन्ति चोभयोः पृष्ठस्तोत्रयोर्धर्मा—'बृहति स्तूयमाने मनसा समुद्रं ध्यायेत्—रथन्तरे प्रस्तूयमाने सम्मीलयेत्' इत्येवमादयः ।

( ३ ) तत्र सशय — किमेते धर्मा उभयत्र मिलिता अनुष्ठेया उत व्यवस्थया इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पृष्ठस्तोत्रसिद्धिलक्षणस्य कार्यस्योभयत्र समानत्वात् उभयत्र सङ्कीर्णा एव धर्मा इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — धर्मसङ्करे बृहदिति रथन्तरमिति च नामद्वयनिर्देशो नोपपद्यते । किञ्चोभयधर्मसाहित्य विरुद्धम् — 'उच्चैर्गेय — बलवद् गेयमिति' बृहतो धर्मा — 'नोच्चैर्गेयम् — न बलवद् गेयमिति' रथन्तरस्य । तस्मादुभयोर्धर्मा पृथक् पृथक् व्यवस्थिता एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह साम्न इति । 'साम्न' बृहत रथन्तरस्य च — 'धर्मा' समुद्रध्यानसम्मिलनादय — 'व्यवस्थिता' उभयत्र पृथक् पृथक् व्यवस्थया कार्या न मिलिता उभयत्रेति भाव ॥ २२ ॥

( २३ ) ६।२।४८ कएवरथन्तरे सर्वे

( १ ) पूर्वाधिकरणपवाद ।

( २ ) वैश्वस्तोमे 'कएवरथन्तर पृष्ठ भवति' इति कएवरथन्तर श्रुतम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह — अस्मिन् कएवरथन्तरे किमन्यतरस्य एकस्यैव — रथन्तरस्य बृहतो वा — धर्मा कर्तव्या उतोभयोरपि समुच्चेतव्या इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पूर्वाधिकरणन्यायेन रथन्तरे राथन्तरा एव धर्मा बृहति बार्हता एवेति उभयोर्धर्माणा सहानुष्ठाने प्रमाणाभावात् एकस्यैव अन्यतरस्य धर्मा अनुष्ठेया इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — अत्र हि उभयो प्राकृतयो बृहद्रथन्तरयो, स्थाने कएवरथन्तर चोदितम् । तथा चास्मिन्नुभयोर्धर्मा समुच्चेतव्या । ये विरुद्धा धर्मा उच्चैर्गेय नोच्चैर्गेयमित्यादयस्ते विकल्प्यन्ताम् — ये तु न विरुद्धा — समुद्रध्यानसम्मिलनादय — तेषा समुच्चय एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह कएवेति । 'कएवरथन्तरे' पृष्ठे — 'सर्वे' धर्मा — रथन्तरस्य बृहतश्च — समुच्चयेनानुष्ठेया इति शेष ।

[ वार्तिकमतेन त्वत्र विकल्प एवेति सिद्धान्त ] ॥ २३ ॥

( २४ ) ६।२।४९-५० व्यवस्थोभयसामके ।

( १ ) सामधर्मविचारो वर्तते ।

( २ ) 'गोसवे उभे कुर्यात्' इति गोसवादौ बृहद्रथन्तरसामद्वयसाध्य पृष्ठस्तोत्र विहितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किमुभयोर्धर्मा उभयत्र सङ्करेणानुष्ठेया उत व्यवस्थयाऽनुष्ठानमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — द्वाविशाधिकरणवदत्र पृष्ठद्वय नास्ति — अपि त्वेक

४३ मी० नु०

मेवात्र पृष्ठम् । एव च धर्मव्यवस्थाया असम्भवात् बृहत्पुण्यभयधर्मा इति सङ्करेणैवानुष्ठानम् इति ।

( ५ ) सिद्धान्त - नैते धर्मा पृष्ठस्तोत्रप्रयुक्ता येन पृष्ठस्यैकत्वात्सङ्कर स्यात्-अपि तु सामप्रयुक्ता । पृष्ठस्य चैकत्वेऽपि सामद्वयमस्त्येव । तस्मात् व्यवस्थयैव धर्मानुष्ठानम्-रथन्तरे राथन्तराणामेव बृहति च बार्हतानामेवेति ॥

एतदभिप्रेत्याह व्यवस्थेति । 'उभयसामके' बृहद्रथन्तरसामसाध्ये एकस्मिन्नपि पृष्ठे- 'व्यवस्था' एव-धर्माणा स्यादिति शेष ॥ २४ ॥

( २५ ) ६।२।५१-५६ पार्वणौ वैकृते न स्तः

( १ ) ऊहप्रसङ्गेन धर्मातिदेशविचार ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयो श्रूयते- 'स्रुवेण पार्वणौ जुहोति' इति- पार्वणहोमा ।

( ३ ) तत्र सशय - किमेतौ पार्वणहोमौ सौर्यादौ विकृतावपि कर्तव्यौ उत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष - पर्वशब्द कालविशेषवाची । ततश्च पर्वरूपकालदेवताकौ इमौ होमौ आरादुपकारकतया सौर्यादिविकृतिष्वप्यतिदेष्टव्याविति ।

( ५ ) सिद्धान्त - पर्वशब्दोऽत्र दानार्थवाचिन पृणातेर्धातोर्निष्पन्नो न कालविशेषवाची-अपि तु आग्नेयादियागत्रिकसमूहवाची । सौर्यादिविकृतिश्च न यागत्रिकसङ्घस्यापि त्वाग्नेयमात्रस्य । तस्मात् सङ्घार्थयो पार्वणहोमयोर्न प्राप्तिरस्ति सौर्यादाविति ।

एतदभिप्रेत्याह पार्वणाविति । 'पार्वणौ' दर्शपूर्णमासयोर्निहितौ पार्वणहोमौ- 'वैकृते' सौर्यादौ विकृतियागे 'न' 'स्त' - अनुष्ठेयाविति शेष ॥ २५ ॥

( २६ ) ६।२।५७-५८ पर्वणोस्तौ व्यवस्थितौ ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) पार्वणहोमविषये एव -

( ३ ) पुन सन्देह - कुत्रेतावनुष्ठेयौ - किं दर्श एव उत पूर्णमासे एव उत उभयत्रेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष - दर्शपूर्णमासप्रकरणपठितत्वात् दशऽपि पूर्णमासेऽपि होमद्वय कर्तव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त - उपकार्ययो सङ्घयोर्व्यवस्थितत्वात् उपकारकयोर्होमयोरपि व्यवस्थैव । तस्मात् पूर्णमासरूपपर्वसम्बन्धी होम पूर्णमासयागे - अमावास्यारूपपर्वसम्बन्धी होमो दर्शयागे पवेति ।

एतदभिप्रेत्याह पर्वणोरिति । 'तौ' पार्वणहोमौ—'पर्वणो' अमूवा-  
स्यायाम् पौर्णमास्या च—'व्यवस्थितौ' व्यवस्थयेव कर्तव्यौ न समुच्चये-  
नेति भावः ॥ २६ ॥

( २७ ) ६।२।५६-६० समिदादौ यजिविधिः

( १ ) सस्कारविचारे प्रासङ्गिको विचारः ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोः प्रयाजपञ्चकमाप्नातम्—'समिधो यजति'  
इत्यादिना ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—अत्र किं देवता विधीयते उत यागक्रियेति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—यथा 'विष्णु यजति' इत्यत्र द्वितीयया विष्णुर्दे-  
वता विधीयते तथैवात्रापि 'समिधो यजती'त्यत्र द्वितीयया समिद्ध-  
देवता विधीयते । अत्र यो यजि प्रोक्तस्तेन समिदादयो देवा सस्कि-  
यन्ते—इति दृष्टार्थलाभ इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—सर्वत्र चतुर्थ्या तद्वितेन वा देवता निर्दिश्यते ।  
न चात्र चतुर्थी तद्धितप्रत्ययो वा । क्वचिच्च तादर्थ्यप्रतीत्यापि देवतो-  
च्यते । न च द्वितीयया तादर्थ्यं प्रतीयते—अपि तु ईप्सिततमत्वम् ।  
तच्च समिदादीनां कर्मनामत्वं एवोपपद्यते । एवं च समिद्यागं कर्तुं  
व्य इति वाक्यार्थः पर्यवस्यति । तस्मान्नात्र देवतासस्कारविधिरपि तु  
यागविधिरेवेति ॥

एतदभिप्रेत्याह समिदिति । 'समिदादौ' समिधो यजतीत्यादिवि-  
धौ—यजे' यागक्रियाया एव 'विधि' विधानम्—न देवतासस्कारस्ये-  
ति शेषः ॥ २७ ॥

न्यायाः स्युः सप्तविंशतिः ।

स्पष्टम् ॥

इति नवमस्य द्वितीयः ।

अथ नवमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

( मन्त्रोहविचारपरः )

( १ ) ६।३।१-२ निर्वापमन्त्रे ब्रुवमूहन स्यात्

( १ ) पर्यवसितः सामोहः । मन्त्रोह इदानीं चिन्त्यते ।

( २ ) प्रकृतौ—'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' इति देवताविषयो मन्त्रः

आम्नात — 'व्रीहीणा मेधसुमनस्यमाना' इति च द्रव्यविषयको मन्त्र ।  
सन्ति च सौर्यादीनि विकृतय ।

(३) तेषु सन्देह — यदोक्तौ मन्त्रौ सूर्यदेवताके नीवारहयके  
सौर्ये प्रयुज्यते—तदा किं मन्त्रयो 'अग्नये' इत्यस्य स्थाने 'सूर्याय' इति—  
'व्रीहीणा'मित्यस्य स्थाने 'नीवाराणाम्' इत्युह कार्य उत नेति ।

(४) पूर्वपक्ष — प्रकृतिवद् विकृति कर्तव्येति चोदकेन यथाव  
स्थितस्यैव प्राकृतमन्त्रपाठस्य विकृतावतिदिष्टत्वात् ऊहो न कार्य इति ।

(५) सिद्धान्त — प्रकृतौ देवताद्रव्यलक्षणयोरर्थयोरेव विवक्षा ।  
तथासत्येव हि देवताद्रव्यप्रकाशनरूपस्य दृष्टार्थस्य लाभ । अग्निव्रीह्यक्ष  
रपाठविवक्षायां त्वदृष्टार्थो मन्त्रपाठ कल्पनीय प्रसज्येत । तस्मात् वि  
कृतिगतसूर्यनीवारलक्षणार्थप्रकाशनलाभायोह कर्तव्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह निर्वापेति । 'निर्वापमन्त्रे'— 'अग्नये जुष्ट सुमन  
स्यमाना' इत्यत्र 'ऊहनम्' विकृतौ तद्वतदेवताद्रव्यप्रकाशकशब्दोह —  
'ध्रुवम्' अवश्यम्— 'स्यात्' कर्तव्यमित्यर्थ ॥ १ ॥

(२) ६।३।३-८ ऊहस्तथा स्याद्धरितादिशब्दे ।

(१) मन्त्रोहविचारो वर्तते ।

(२) इदमामनन्ति— 'मौद्गं चह निर्वापेच्छ्रियै श्रीकाम' इति—तत्र  
'पौण्डरीकाणि बर्हीषि भवन्ति' इति पौण्डरीकवर्हिर्विधीयते । निर्वा  
पमन्त्रश्च प्रकृतौ— 'स्तृणीत बर्हि दमै स्तृणीत हरितै' इत्यादि ।  
मन्त्रे च दमैरिति जातिवाचक शब्दः हरितैरिति च गुणवाचक ।  
अयमेव च मन्त्र विकृतौ मौद्गे चरौ चोदकेन प्राप्त ।

(३) तत्र सन्देह — 'दमै स्तृणीत हरितै' इत्यत्र किं दमैरित्यस्य  
हरितैरित्यस्य चेत्युभयोरपि स्थाने वैकृतगृह्यसूत्रसारेण ऊह उत एकस्यै-  
व शब्दस्य स्थाने इति ।

(४) पूर्वपक्ष — पूर्वाधिकरणन्यायेन दर्मस्थाने पुण्डरीकस्योहो  
ऽवश्यमेव कार्य । हरितशब्दस्तु नापूर्वार्थद्रव्यवाची । तथा चासमवे-  
तार्थे यथा प्रकृतावदृष्टार्थमेव प्रयुज्यते तथा विकृतावप्यदृष्टार्थमेव य-  
थास्थितमनूहेनैव प्रयोक्तव्य इति ।

(५) सिद्धान्त — हरितशब्दस्यापि गुणिद्रव्यप्रकाशनेन दृष्टार्थला-  
भेन समवेतार्थ एव प्रयोग । तस्मात्तस्यापि स्थाने ऊह कार्य । एव  
च 'पुण्डरीकै स्तृणीत रक्तै' इत्येवमूहितो मन्त्रपाठ इति । ०

एतदभिप्रेत्याह ऊह इति । यथा द्रव्यदेवताप्रकाशकशब्दे ऊह 'तथा'—  
सुसवाचके 'हरितादिशब्दे' अपि— 'ऊहः' 'स्यात्' इति सम्बन्ध ॥ २ ॥

(३) ६।३।६ स्युलौकिके स्पर्शन एव मन्त्राः

-( १ ) प्राकृतस्य मन्त्रस्य विकृतावृह इत्येतत्प्रसङ्गेन क्वचिद् विकृतार्थमेव मन्त्रो विधीयते तादृशश्चिन्त्यते ।

( २ ) ज्योतिष्टोमेऽग्नीषोमीयपशुप्रकरणे यूपस्पर्शे प्रायश्चित्तमाप्नोतम्—‘यद्येव यूपमुपस्पृशेत् एष ते वायो इति ब्रूयात्—यदि द्वावेतौ ते वायू इति यदि बहून् एते ते वायव’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —इदं मन्त्रपादरूप प्रायश्चित्तं किमुच्छ्रयणाञ्जनादिवैदिककर्मानुष्ठानकालीनयूपस्पर्शनेऽनुष्ठातव्यमुत लौकिके यादृच्छिके स्पर्शने इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — वैदिकस्यैव कर्मणः प्रकरणे प्रायश्चित्तस्याप्नोतम् । वैदिकानुष्ठानकालीने एव स्पर्शे प्रायश्चित्तमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —‘यूपो वै यज्ञस्य दुरिष्टमामुञ्चेत्—यद् यूपमुपस्पृशेद् यज्ञस्य दुरिष्टमामुञ्चेत्—तस्माद् यूपो नोपस्पृश्य’ इति यूपस्पर्शनं प्रतिषिध्य पश्चात्प्रायश्चित्तमाप्नोतम् । प्रतिषेधश्च लौकिकस्पर्शविषय —वैदिकस्पर्शस्य कर्तव्यतया विहितत्वात् ( तद्विना विहितस्य यूपोच्छ्रयणस्य तदञ्जनस्य च कर्तुमशक्यत्वात् ) । तस्मात् लौकिके एव स्पर्शे प्रायश्चित्तमिति ।

एतदभिप्रेत्याह स्युरिति । ‘लौकिके’ वैदिककर्मानुष्ठानकालातिरिक्तकाले कृते वैकृते—‘एव’—‘स्पर्शने’ यूपस्पर्शे—‘मन्त्रा’ , ‘एष ते वायो’—‘एतौ ते वायू’ एते ते वायव’ इत्येव रूपा —‘स्यु’ प्रायश्चित्तरूपेण पठिता न तु वैदिकानुष्ठानकालीने—इति भावः ॥ ३ ॥

(४) ६।३।१०-१४ ऊर्ध्वौ विकृत्यां खलु पाशमन्त्रौ ।

( १ ) मन्त्रोहविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) अस्ति पशुरग्नीषोमीयः । तत्र पाशैकत्वाभिधायी मन्त्र —‘अदिति पाशं प्रमुमोक्त्वेतम्’ इति । तथा पाशबहुत्वाभिधायी—‘अदिति पाशान् प्रमुमोक्त्वेतान्’ इति । प्रकृतौ च द्वयोरपि विकल्पेन प्रयोगो वक्ष्यतेऽग्निसंस्पर्शे । अस्ति च द्विपशुर्विकृतिः । तत्र चोदकेन पाशाभिधायिनौ मन्त्रौ प्राप्तौ ।

( ३ ) तत्र संशय —किं बहुवचनान्तोऽविकारेण प्रयोक्तव्यः, एकवचनान्तस्याज्य —उत एकवचनान्त एव द्विवचनान्तमूहयित्वा प्रयोक्तव्यो द्विवचनान्तस्याज्य —उत बहुवचनान्तोऽविकारेण प्रयोक्तव्यः एकवचनान्तो द्विवचनान्तमूहयित्वा प्रयोक्तव्यः —उत द्वावपि द्विवचनान्तावूहयित्वा प्रयोक्तव्यौ इति ।



( ४ ) पूर्वपक्ष -- चोदकेन द्वावपि मन्त्रौ प्राप्तावतिदेष्टव्यौ भवत । तत्र एकवचनान्त प्रकृतौ समवेतार्थप्रकाशकतया विकृतावूहनीयो बहुवचनान्तस्तु यथावस्थित एव पठनीय इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — लोके वेदे च बहुवचनस्य द्वयोरर्थयोरकलृप्तशक्तित्वाद् बहुवचनान्तोऽपि द्विवचनान्तयोहनीय । एव च द्वावप्यूहनीयाविति ।

एतदभिप्रेत्याह ऊह्याविति । 'विकृत्या' द्विपशौ विकृतियागे—'पाशमन्त्रौ' एकवचनान्तो बहुवचनान्तश्चोभावपि—'ऊह्यौ' द्विवचनान्ततया ऊह्यित्वा पठनीयौ—'खलु' निश्चयेनेति सम्बन्ध ॥ ४ ॥

(५) ९।३।१५ १६ द्वौ चापि मन्त्रौ प्रकृतौ निविष्टौ

( १ ) पूर्वोदाहरणे विचारान्तरम् ।

( २ ) अग्नीषोमीये द्वौ पाशमन्त्रावाप्तावौ । तत्र विकृतौ यत् कर्तव्यं तदवगतम् । प्रकृतौ चिन्ता प्रवर्तते ।

( ३ ) तत्र सशयः—किं एकत्वाभिधायी एव प्रकृतौ निविशते बहुवचनान्तं परित्यज्यते—उत उभयोरपि प्रकृतौ निवेश इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — बहुवचनान्तं प्रकरणादुत्कृष्य यत्र पाशबहुत्वं तत्र पठनीयो न प्रकृतौ । तत्र एकस्यैव पशोः सत्त्वात् बहुवचनस्यानन्वितत्वात् । एकत्वाभिधायी मन्त्र प्रकृतौ पठनीय इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — नोत्कृष्टव्यो बहुवचनान्तः । द्वयोरप्याप्तावत्त्वाद् विकल्पेन द्वावपि पठनीयौ । एकपशुकाया प्रकृतौ बहुवचनविभक्तेरन्वयासम्भवेऽपि प्रातिपदिकस्यान्वयसम्भवात् । प्रातिपदिकविभक्त्योश्च प्रातिपदिकमेव प्रधानम्—धर्मिवाचकत्वात् । गुणभूते च बहुवचने लक्षणोऽप्याश्रयणीया भवति—पाशावयवबहुत्वाश्रया तदा बहुवचनविभक्तिर्भविष्यति, एव च प्रधानानुसारेणोभयोरपि मन्त्रयोः समानत्वाद् विकल्पोऽभ्युपगन्तव्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह द्वाविति । 'प्रकृतौ' अग्नीषोमीये पशौ—'द्वौ च' एकभिधायी बहुभिधायी चेति द्वावपि—'मन्त्रौ'—'निविष्टौ' पठनीयौ भवत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

(६) ६।३।२० पत्नीपदे सन्नहनाय नोहः ।

( १ ) ऊहविचारो वर्तते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोर्मन्त्र आम्नायते 'पत्नीं सन्नह्य' इत्यादि । सम्भवति यजमानस्यैकपत्नीकत्वं बहुपत्नीकत्वं च ।

( ३ ) तत्र सशय — बहुपत्नीकयजमानस्य यागेकि यथावस्थित एष मन्त्र पठनीय उत बहुवचनमूहयित्वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — एकपत्नीकस्य यजमानस्य प्रयोगे एकवचनान्त पत्नीशब्द समवेतार्थप्रकाशक । तस्माद् बहुपत्नीकस्य यजमानस्य प्रयोगेऽर्थवशाद्बहुवचनान्तेनोहयित्वा प्रयोक्तव्य इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — पत्नीं सन्नह्येति साधारणोऽयमुपदेश । एव च सर्वप्रयोगसमवेतार्थप्रकाशकतया पत्नीमित्यत्र प्रातिपदिक कर्मकारकवि भक्तिश्चेत्युभयमेव पाशङ्ग्यायेन विवक्षितम् — एकवचन तु न विवक्षितम् । तस्मात् पत्नीपद यथावस्थितमेव सर्वप्रयोगे पठनीयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह पत्नीपद इति — 'सन्नहनाय' पत्नीं सन्नह्येति मन्त्रे — 'पत्नीपदे' पत्नीमित्येकवचनान्ते पदे — 'न' 'ऊह' — द्विवचनान्तत्वं बहुवचनान्तत्वं वा नोहनीयमित्यर्थ ॥ ६ ॥

( ७ ) ६।३।२१ नोहः प्रयोज्यो विकृतौ च पत्न्याम्

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) प्रकृतौ पत्नीशब्दस्योहश्चिन्तित । विकृतौ द्विपत्नीकप्रयोगे चिन्त्यते ।

( ३ ) सन्देह — किं विकृतौ अनेकपत्नीकप्रयोगे पत्नीमित्यत्र ऊह उत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — ऊहो भवति । प्रकृतावर्थानुसारेण प्राप्तोऽप्यूह सर्वप्रयोगसाधारणेन मन्त्रपाठेन बाधित । विकृतौ तु बाधितस्य पाठस्याभावेन अस्मदायत्ते प्रयोगेऽर्थानुसारेणोह कर्तव्य इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — पत्नीमित्येकवचनस्याविवक्षितत्वेन प्रकृतावदृष्टार्थतया यथावस्थित पाठ इति स्थिते विकृतावप्यदृष्टार्थतया यथावस्थितमेव पठितव्यम् । तस्मान्नोह इति ।

एतदभिप्रेत्याह नोह इति । 'विकृतौ' विकृतियागस्याप्यनेकपत्नीकप्रयोगे — 'पत्न्याम्' एकवचनान्ते पत्नीशब्दे 'च' अपि 'ऊह' बहुवचनान्तोहः 'न' 'प्रयोज्य' इति सम्बन्ध ॥ ७ ॥

( ८ ) ६।१२२ नोहोऽग्निगौ तुल्यविधानपक्षे ।

( १ ) ऊहविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्निषोमीय । तत्राग्निगौ इदमाग्नायते — 'प्राक्मै अग्नि भरता' इत्यादि । सन्ति च चत्वारः सवनीया पशवः — आग्नेयोऽग्निष्टोमे — पेन्द्राश्च उक्थ्ये — पेन्द्रो वृष्णि षोडशिनि — सारस्वती मेघी अतिरात्रे इति । त एतेऽग्निषोमीयेन समानविधाना इत्यस्त्येक पक्षः ।

( ३ ) तत्र सन्देह — एव समानविधानत्वे सति किं सवनीयादिषु अग्निगौ-‘प्रास्मै’ इति एकवचनान्तस्य स्थाने बहुवचनान्तस्योह कर्तव्य उत नेति । [मेघीविषये लिङ्गस्योहो न भवतीति निर्णीतं नवमस्याद्ये पादे ।]

( ४ ) पूर्वपक्ष — उह कर्तव्य } पत्न्यधिकरणयुक्तयोऽत्राप्यनुस  
( ५ ) सिद्धान्त — नोह } न्धेया उभयत्र ।

एतदभिप्रेत्याह नोह इति । ‘तुल्यविधानपक्षे’ सवनीयपशवोऽग्नीषामीयेन यदि तुल्यविधानास्तदा-‘अग्निगौ’ प्रास्मै इत्यस्य स्थाने—‘ऊह’ द्विवचन-बहुवचनान्तादे-‘न’-कार्य इति शेषः ॥

[न्यायमालाकारमतेन तु पाणन्यायेनास्त्येव लिङ्गवचनयोरुभयोरूहः] ॥ = ॥

( ६ ) ६।३।२३—२६ न मन्त्रमहेत् प्रतिनिध्युपात्ते

( १ ) ऊहविचारो वर्तते ।

( २ ) श्रुतस्य द्रव्यस्यापचारे तत्सदृश द्रव्यान्तरं तस्य प्रतिनिधिर्भवतीति स्थितम् । तत्र व्रीहीणामपचारे नीवारास्तत्स्थाने निविशन्ते । तदेतत्सर्वं षष्ठे स्थितम् । व्रीहिसम्बन्धी च मन्त्र आम्नात ‘स्योन ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेव कल्पयामि तस्मिन् सीदाम ते प्रति तिष्ठ व्रीहीणाभ्येध सुमनस्यमाना’ इति ।

( ३ ) तत्र सशयः—व्रीहीणामपचारे यदा नीवारा उपादीयन्ते तदाऽस्मिन् मन्त्रे किं व्रीहीणामित्यस्य स्थाने नीवाराणामित्यूहनीयमुत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — अर्थानुसारादूहितव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — नैवारचरौ नीवाराणां तत्साधनत्वेन व्रीहिस्था नीयतया विहितानां भवति मन्त्रस्योहः । इह तु न नीवारा साधनत्वेन विहिता—किन्तु व्रीहिसादृश्येन केवलं प्राप्यन्ते, सादृश्यं च भूयोऽवयवसामान्यम्—एव च यथा व्रीह्यवयवानां व्रीहिशब्दवाच्यता तथैव नीवारावयवानामपीति नावसरो मन्त्रोहस्येति ।

एतदभिप्रेत्याह न मन्त्रमिति । ‘प्रतिनिध्युपात्ते’ श्रुतद्रव्यस्य प्रतिनिधिरूपेण गृहीते तादृशे द्रव्यान्तरे—‘मन्त्रम्’ ‘न’ ऊहेत् । श्रुतद्रव्यवाचकशब्दस्थाने प्रतिनिधिद्रव्यवाचकशब्दो नोहेदित्याशयः ॥ ९ ॥

( १० ) ६।३।२७—२८ नोहं विदध्यात् खलु चक्षुरादौ ।

( १ ) ऊहविचारो वर्तते ।

( २ ) अग्नीषोमीयपशौ अग्निगुणैरेव पशुसम्बन्धिनां सूर्यादिसर्ग आम्नायते ‘सूर्यं चक्षुर्गमयतात्-वातं प्राणमन्वसृजतात्-दिशं श्रोत्रम्’ इत्यादि । अस्ति च द्विपशुयाग ‘मैत्रं श्वेतमालभेत-वारुणं कृष्णम्’ इति । अत्र चोक्तो मन्त्रश्चोदकप्राप्तः ।

( ३ ) तत्र सन्देह —उक्तो मन्त्रो यदा द्विपशुयागे पठ्यते तदा किं चक्षुरित्याद्येकवचनान्तस्थाने द्विवचनान्ता ऊहनीया उत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —पशुभेदेन चक्षुरादीनि भिन्नानि । तस्मादूहनीया इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —चक्षु शब्देनात्र शरीरगत गोलक न विवक्षितम् । तद्विवक्षायामेकस्मिन्नपि पशौ चक्षुर्द्वयभावेनानन्वय एकवचनस्य स्यात् । गोलकस्य च सूर्यादिप्राप्त्यसम्भव । यद् रूपदर्शनादिसामर्थ्यलक्षणं ते जोमात्र तदेवात्र चक्षु शब्देन विवक्षितम् । तच्च पश्वनेकत्वेऽपि एकीभूयैव सूर्यमप्राप्तुं शक्नोति । तस्मान्नास्त्यूह इति ।

एतदभिप्रेत्याह—नोहमिति । ‘चक्षुरादौ’ चक्षु प्राण श्रोत्रम् इत्येक वचनान्तेषु शब्देषु—‘ऊह’ द्विवचनाद्यह—‘न’ ‘विदध्यात्’—द्विपशुयागे इति शेष ॥ १० ॥

( ११ ) ६।३।२६-३१ अभ्यासमृच्छेत् पदमेकधेति

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) पूर्वोदाहृते एवाग्निगुप्रैषे श्रूयते—‘एकधाऽस्य त्वचमाच्छ्रय तात्’ इति । इदमपि द्विपशुयागे चोदकेन प्राप्तम् ।

( ३ ) तत्र सशय —एकधेति पद द्विपशुयागेऽभ्यसितव्यमुत यथाव स्थितमेव प्रयोक्तव्यमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —यथावस्थितमेव प्रयोक्तव्यम् । एकधेत्यनेन साहित्यमात्रमुच्यते । पश्वनेकत्वेऽपि त्वगुत्पाटनस्यैककालीनत्वं बहुषु रुषकर्तृकं घटत एवेति ।

( ५ ) सिद्धान्त —प्रकृतावेकपशौ साहित्यार्थो नान्वेति । तस्मात् सकृत्त्वमेव एकधाशब्दस्यार्थः । ‘त्वक् अवयवशोऽसकृत् न छेत्तव्या अपि तु सर्वाऽपि सकृत् एकप्रयत्नेनैव छेत्तव्येति’ वाच्यस्यार्थः । य एव चार्थः प्रकृतौ स एव विकृतावप्युचितः । तत् बहुष्वपि पशुषु प्रतिपशु सकृत्त्वमभिधातुम् ‘एकधा’ इति पदमभ्यसितव्यमिति ॥

एतदभिप्रेत्याह अभ्यासमिति । ‘एकधेति’ ‘पदम्’—‘अभ्यासम्’ ‘मृच्छेत्’ प्राप्नुयात्—द्विपशुयागे इति शेष ॥ ११ ॥

( १२ ) ६।३।३२-४० स्यादूहनं मेधपतेर्विकृत्याम् ।

( १ ) ऊहविचारः ।

( २ ) अग्निगुप्रैषनिगदस्यादाविदमाप्नायते—‘दैव्या शमितार उत च मनुष्या’ आरभध्वम्—उपनयत मेध्या दुर—आशासानामेधपतिभ्या (क्वचित् मेधपतये इति पाठः) मेधम् इति । अस्यार्थः—“शमितार पशुघातिनो द्विविधा—दैव्या मानुषाश्च—तानुभयरूपान् सम्बोध्य होता

कर्तव्य निर्दिशति—आरम्भ कर्तव्य —‘मेधो’ यज्ञ —तद्योग्यान् ‘दुर’ पदार्थान् हिंसाहेतून्—इहानयत—किं कुर्वन्त —यज्ञपतिभ्या यज्ञमाशा साना ” इति ।

( ३ ) तत्र सशय —बहुपशुयुक्तासु विकृतिषु द्विवचनान्तस्य मेध पतिशब्दस्योहोऽनूहो वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अग्नीषोमीये पशौ यजमान अग्नीषोमौ चेति त्रयो मेधस्य पतय । तेष्वेकवचनस्य द्विवचनस्य वा प्रकृतौ अविव क्षितस्य विकृतावनूह इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —मेधस्य यजमानार्थत्वं नैवाशासनीयम्—तस्य असद्धत्वात् । देवतार्थत्वं त्वाशासनीयम् । ततो ‘मेधमाशासाना’ इत्येतद् देवतायामेव समवेतार्थम् । सम्प्रदानभूताया देवताया अपि मेधपतित्वम विरुद्धम् । देवताकारेण चैकत्वादग्नित्वसोमत्वाकारेण च द्वित्वात् एकवच नद्विवचने उपपन्ने । तस्माद्देवतानुसारेण मेधपतिशब्दे विकृतावनूह इति ।

एतदभिप्रेत्याह स्यादिति । ‘विकृत्याम्’ विकृतियागे—‘मेधपते’— मेधपतिशब्दस्य—‘ऊहनम्’ ऊह —‘स्यात्’ कर्तव्य —देवतानुसारेणे ति शेष ॥ १२ ॥

( १३ ) ९।३।४१-४२ एकाद्विवाची न खलूहितव्यः

( १ ) पूर्वाविकरणशेष ।

( २ ) नानापशुसम्पत्तिकामस्य बहुदैवत्य पशुराम्नात —‘य का मयेत प्रथेय पशुभि प्रप्रजया जायेय इति स पतामवि वशामादित्येभ्य कामायालमेत इति [ ‘वशा’ बन्ध्या ‘कामाय’ कामुकैभ्य ] । अत्र पूर्वं दाहृतो मन्त्रश्चोदकेन प्राप्त ।

( ३ ) तत्र सशय —किं ‘मेधपतये’ इत्येकवचनान्त ‘मेधपतिभ्या म्’ इति द्विवचनान्तो वा शब्द आदित्याना बहुत्वात् बहुवचनान्तत्वेनो हनीय उत यथास्थित एव पठनीय इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —बहुवचनान्तत्वेनोहनीय —यथा मेधपतिभ्यामित्यूह्यते—यथा वा पाश इत्येकवचनान्त ऊह्यते तद्वदेवेति ।

( ५ ) सिद्धान्त —प्रकृतावेकवचनान्त शब्दोऽग्नीषोमयोगैकत्व ब्रूते । आदित्यानामपि गणत्व समानम् । तस्मादनूह इति ।

एतदभिप्रेत्याह एकत्वेति । ‘एकाद्विवाची’ एकवचनान्त ‘मेधपतये’ इति द्विवचनान्तश्च ‘मेधपतिभ्याम्’ इति शब्द —‘न’ ‘ऊहितव्य’ बहुवचनान्तत्वेन—द्वादशादित्यदैवते पशाविति शेष ॥ १३ ॥

( १४ ) ९।३ ४३ एकादशिन्यां विकृतिस्तु तस्य ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

-( २ ) यूपैकादशिन्या अग्न्यादिदेवताका एकादश पशव आम्नाता । ते च पशव स्वनाम्ना अन्यत्राम्नाता । अत्रापि मेधपतिमन्त्र श्रोदकप्राप्त ।

( ३ ) तत्र सन्देह —अत्र बहुवचनान्तत्वेनोहो भवत्युत नेति ।

( ४ ) पूर्वाधिकरणन्यायेन नोह इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —नात्र पूर्वाधिकरणन्याय प्रवर्तते । तन्नादित्यगणस्य देवतात्वम्—अत्र तु अग्न्यादीनामेकैकस्य पृथगेव देवतात्वम् । तस्मादत्र बहुवचनान्तत्वेनोह कार्य इति ॥ १४ ॥

न्यायास्तृतीये नवमस्य पादे

चतुर्दशैवात्र सुधीभिरुक्ताः ।

स्पष्टम् ॥

इति नवमस्य तृतीय ।

## अथ नवमस्य चतुर्थः पादः ।

( मन्त्रोहप्रसङ्गपतितविचारपर )

( १ ) ६।४।१-१६ समस्य वङ्क्रयो वाच्याः

( १ ) मन्त्रोहविचारो वर्तते ।

( २ ) अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीय । तत्राग्निगुप्रैषे इदमाम्नायते—‘षड्विंशतिरस्य वङ्क्रय ता अनुष्ठ्योच्छ्यावयतात्’ इति । [ ‘वङ्क्रय’ वक्राणि पार्श्वस्थानि—तान्यस्य पशो षड्विंशतिसङ्ख्याकानि—ताश्च वङ्क्री ‘अनुष्ठ्य’ अनुष्ठाय अनुक्रमेण गणयित्वा—‘उच्छ्यावयतात्’ उद्धस्तात्—इत्यर्थ ] । सोऽयं मन्त्र चोदकैर्द्विपश्वादीन् पशुगणान् प्राप्त । एकपशुमप्रत्युक्तस्य मन्त्रस्य पशुद्वयमप्रति प्रयोगे ऊहे कर्तव्ये—

( ३ ) सशय —ऊहस्य किं स्वरूपम्—किं षड्विंशतिरिति पद द्विरभ्यसनीयमुत षड्विंशतिद्वय समस्य (मेलयित्वा) मन्त्र प्रयोक्तव्य इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —प्रकृतावेकस्य पशो षड्विंशति वङ्क्रय उक्ता । एवं च पशुद्वये प्रत्येकपशौ षड्विंशतिरिति यदि यथावस्थित एव मन्त्र प्रयुज्येत तर्हि पशुद्वयगता, सर्वा वङ्क्रयो नोक्ता स्युः । षड्विंशतिद्वय

सम्मेल्य द्विपञ्चाशदिति प्रयोगे श्रौत षड्विंशतिशब्दः परित्यक्तः स्यात् । तस्मात् षड्विंशतिशब्दोऽभ्यसनीय इति ।

( ५ ) सर्वत्र मुर्यानुसारेण पदान्तराण्युहनीयानि । सङ्ख्येयानां वक्त्रीणां चात्र मुर्यता । तस्मात्तासा इयत्ता समस्य वक्तव्या । तथा च 'द्विपञ्चाशदनयोर्वङ्क्रयः' 'अष्टसप्ततिरेषा वङ्क्रयः' इत्यादि पशुद्वित्रि त्वाद्यनुसारेण ऊहनीयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—'समस्येति । 'वङ्क्रयः' 'समस्यः' पशुसङ्ख्यानुसारेण मेलयित्वा यथायोगं सङ्ख्यामूहयित्वा 'वाच्या' प्रयोज्या —द्विपश्वा दाविति शेषः ॥ १ ॥

( २ ) ९।४।१७-२१ समासोऽश्वे विकल्पितः ।

( १ ) ऊहविचारो वर्तते ।

( २ ) अश्वमेधे सन्ति त्रयः सवनायाः पशवः —'अश्वः —तूपरः —गोमृगः —ते प्राजापत्याः' इति । तेष्वस्य चतुस्त्रिंशद्वङ्क्रयः । तथा च मन्त्रः —'चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धोर्वङ्क्रोरश्वस्य स्वधितिः समेति' इति । तूपरस्य गोमृगस्य च षड्विंशतिरेव । एव सति अग्निगुणैरेव श्रयते—'न चतुस्त्रिंशदिति ब्रूयात् —षड्विंशतिरित्येव ब्रूयात्' इति । प्रकृतौ चाग्नी-पोमीये 'षड्विंशतिवङ्क्रयः' इति वचनम् । तच्चात्र चोदकन प्राप्तम् ।

( ३ ) तत्र सशयः —अश्वविषये । कथम्प्रयोगः —किं चतुस्त्रिंशदिति विशिष्य प्रयोक्तव्यम् उत तूपरगोमृगाभ्यां समस्य त्रिगुणा षड्विंशतिर्वक्तव्येति ( षड्विंशतिरित्येव ब्रूयात् चतुस्त्रिंशदिति वाक्यानुसारेणाश्वस्यापि वङ्क्रोणा षड्विंशतिरेव सङ्ख्येति कृत्वा ) इति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः —'न चतुस्त्रिंशतः' इति निषेधात् तत्प्रयोगोऽन्याथ्यः । तस्मात् 'षड्विंशतिरित्येव ब्रूयात्' इति वचनस्यानुसारेण षड्विंशतिमश्वस्यापि सङ्ख्या धृत्वा षड्विंशतिसङ्ख्या समस्य त्रिगुणीकर्तव्येति । अथवा 'चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धोरिति' वचनबलात् अश्वविषयं विशिष्य 'चतुस्त्रिंशतः' इत्येव वक्तव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः —चतुस्त्रिंशत्सङ्ख्याग्रहणं अश्ववङ्क्रोणां तत्सङ्ख्यकत्वेन 'चतुस्त्रिंशद्वाजिनः' इत्यादि मन्त्रबलेन च प्राप्तम् । तन्निषेधपुरस्सरं षड्विंशतिसङ्ख्याग्रहणञ्च 'न चतुस्त्रिंशदिति ब्रूयात् षड्विंशतिरित्येव ब्रूयात्' इति वाक्येन प्राप्तम् । एवमनयोस्तुल्यबलत्वाद् विकल्पः —अश्वविषये 'चतुस्त्रिंशत्' तूपरगोमृगयोस्तु प्रत्येकं षड्विंशतिरित्येव वक्तव्यम्—इत्येकं कल्पः । ( २ ) त्रिष्वपि षड्विंशतिरेवेति षड्विंशतित्रयसमस्य 'अष्टसप्ततिरित्येव वक्तव्यमित्यपरं कल्पः इति ।

एतदभिप्रेत्याह समास इति । 'अश्वे'—'समास' षड्विंशतित्रय समस्य प्रयोग—'विकल्पित'—विकल्पेन प्रयोक्तव्य । षड्विंशति त्रय समस्य वचनमित्येक कल्प—अश्वे चतुस्त्रिंशदेव वक्तव्यमित्य पर इति भाव ॥

[ न्यायमालायामत्राधिकरणद्वय कृतम् । भाष्यपुस्तकेऽपि तदनुसा रेणैव पार्थक्य दृश्यते । न तु भाष्ये तस्य प्रमाण लभ्यते । भाष्ये च चरम सिद्धान्त एवमुक्त—'तस्मात् समस्य वचन कर्तव्यम्—ऋचश्च विध्यन्तरेण विहितत्वात् वैशेषिक वचनम्' इति । इदं चाधिकरणसिद्धा न्तोपन्यसन मण्डनोक्तमेवाधिकरणस्वरूपमुपोद्वलयति ] ॥ २ ॥

(३) ६।४।२२ वनिष्टुभावो नोलुके

( १ ) ऊहे प्रासङ्गिको विचार ।

( २ ) ज्योतिष्टोमीयाष्टोमीये पशौ अधिगुप्रैषे वचनम्—'वनिष्टुम् अस्य मा राविष्ट—उरुक मन्यमाना' इति ।

( ३ ) तत्र सशय उरुकशब्दोऽत्र किमुलुकवचन उत वपावचन इति [ यदि उलुकवचनस्तर्हि अनेकपशावपि विकृतौ यथास्थित एव प्रयोग । यदि तु वपावचनस्तर्हि पशुसङ्ख्यानुसारिणी वपासङ्ख्येति उरुकमित्यत्र 'उरुके' 'उरुकाणि' इति यथायोगमूहनीयमभवति ] ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—रलयोरभेदादुच्चारणे उरुकशब्द उलुकवचन एव ग्राह्य । पशोर्वपासमीपवर्ती कश्चिदङ्गविशेष 'वनिष्टु' इति कथ्यते । तस्य उलुकसदृशकारत्वात्तत्रोलुकभ्रम सङ्गच्छते । तथाच 'तदुलुकमिति म न्यमाना वनिष्टुम् मा राविष्ट—तस्य लवन मा कुरुत' इति प्रैषस्यार्थ समीचीन इति ।

( ५ ) सिद्धान्त—पशो शरीरे वनिष्टुसन्निधाने वपा वर्तते । अतो वपाभ्रमेण वनिष्टोर्लवन सम्भवति—नोलुकपक्षिण । सम्भवत एव भ्रा न्त्या लवन निषिध्यते । तथा च वपालवनकाले तदुभान्त्या वनिष्टुमपि मा लावी इत्यर्थं प्रैषस्य । एवमेव च प्रैषस्य भ्रमनिवारणरूपदृष्टार्थता सम्पद्यते । तस्मादु वपावचन एव उरुकशब्द । तथाऽनेकपशुषु यथा योग 'उरुके' 'उरुकानि' इत्युहनीयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह वनिष्ट्रिति । 'उलुके' पक्षिणि—'वनिष्टुभावः' वनि ष्टुत्वभ्रम—'न' सम्भवति—तस्मादुरुकशब्दो नोलुकपक्षिवचनोऽपि तु वनिष्टुसन्निहितवपावचन एवेत्यर्थ ॥ ३ ॥

(४) ९।४।२३-२४ प्रशसा बाहुसस्तुतिः ।

( १ ) ऊह प्रासङ्गिको विचार ।



( २ ) अधिगुप्रैवे वाक्यान्तरम्—‘प्रशसा बाहू कृणुतात् ( कर्तयेत् )’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —प्रशसाशब्दस्य कोऽर्थ —किमत्र ‘प्रशस्’ इति सान्तप्रातिपदिकस्य तृतीयान्त रूपम्—‘प्रशस्’ च खड्गवाचकम्—उत ‘प्रशस’ इत्यकारान्तप्रातिपदिकस्य द्विवचनान्त छान्दस रूपम्—तथा च प्रशस्तौ बाहू इत्यर्थ इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —‘असि वा शास्त्र इत्याचक्षते’ इति ब्राह्मणवाक्यबलात् प्रशसाशब्द असिमेव वक्ति । एव च असिना बाहू कर्तनीयावित्येवार्थ सम्यक् । एव च दृष्टार्थस्थ लाभात् असिरेव प्रशसाशब्दस्यार्थ इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —शसु स्तुतावित्यस्माद्धतो प्रशसाशब्द उत्पन्न । तत्र प्रशसशब्दस्य च द्विवचनान्त छान्दस रूप प्रशसा इति । तेन प्रशस्तौ इत्यस्यार्थो लभ्यते । प्रकृते च कात्स्न्यमेव बाह्वो प्राशस्त्यम् । एव च ‘प्रशसा बाहू कृणुतात्’ इत्यस्य ‘नि शेषेण बाहू उद्धर्तव्यौ’ इतीदृशो दृष्टार्थो लभ्यते । न चात्र असे कर्तनसाधनत्व युक्तम्—स्वधितेरेव तस्सा धनत्वेन विहितत्वात् इति ।

एतदभिप्रेत्याह प्रशसेति । ‘प्रशसा’ इति शब्द —‘वाहो ’ ‘सस्तुति ’ प्रशसेत्यर्थ । तथाच पश्वनेकत्वे बाहू इत्यस्य स्थाने बहुवचनान्तवा-  
द्यूहनीयमिति भाव ॥ ४ ॥

(५) ६।४।२५-२७ कृत्स्नोद्धृतौ श्येनवचः ।

( १ ) ऊहप्रसङ्गविचार ।

( २ ) अधिगुप्रैवेऽपर वचनम्—‘श्येनमस्य वक्ष कृणुतात्’ इति ।

( ३ ) तत्र अस्य —श्येनशब्दस्यात्र कोऽर्थ — श्येनपक्षिवाचकोऽय-  
मुत कात्स्न्यवाचक इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —‘अस्य पशो वक्ष श्येन कुर्यात्’ इत्यत्र कर्तनाद्यु-  
पायेन पक्षचञ्चवाद्याकार सम्पाद्य श्येनपक्षिनादृश्य पशुवक्षसि कर्तव्य  
तथा प्रतीयते—तथासति पशुबहुत्वे श्येनानीति बहुवचनान्तमूहनीयमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —वक्षसि श्येनसादृश्य स्वभावेनैवास्ति । तस्मात्  
‘यथा स श्येनाकारो न नश्येत् तथा साकल्येनोद्धरणीयम्’ इति साकल्य-  
विवक्षयैव श्येनशब्द प्रयुज्यते । तथासति हविरविकल भवति । एव च स  
ति पशुबहुत्वेऽपि नोह साकल्यस्य साधारण्यादिति ।

एतदभिप्रेत्याह कृत्स्नेति । कृत्स्नोद्धृतौ सकलस्य वक्षस उद्धरण  
यथा स्यात् तथा कर्तयमित्यस्मिन्नेवार्थ—‘श्येनवच ’ श्येनशब्दप्रयोग  
इत्यर्थ ॥ ५ ॥

(६) ६।४।२८ ऽ[अ]ग्निहोत्रार्थोद्धृतं यजिः ।

-( १ ) प्रासङ्गिको विचार ।

( २ ) अग्निहोत्रप्रकरणे ज्योतिष्मतीष्टिरूप प्रायश्चित्तमग्निशमननिमित्तकमास्नायते-अग्नये ज्योतिष्मने पुरोडाशमष्टाकपाल निर्वपेत्-यस्याग्निरुद्धृतोऽहुनेऽग्निहोत्रे उद्धायेत् इति । प्रतिदिनमग्निहोत्रं होतुं गार्हपत्यादुद्धृत्याग्निराहवनीये प्रक्षिप्यते-सोऽयमुद्धृतोऽग्निः कदाचिदग्निहोत्रहवनात् प्रागेव यदि शाम्येत् तदानीमियमिष्टिं प्रायश्चित्तम् इत्यस्यार्थः ।

( ३ ) तत्र सशय —दर्शयागार्थं गार्हपत्याद् उद्धृतोऽग्निर्यदि शाम्येत्तदाऽपीयमिष्टिं कर्तव्योत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अग्न्युद्धानमेव प्रायश्चित्तस्य निमित्तम् । तस्य अत्रापि सत्त्वात् कर्तव्येयमिष्टिरिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —अग्निहोत्रोद्धृतस्यैवाग्नेरुद्धानं प्रायश्चित्तस्य निमित्तमिति प्रकरणादवगम्यते । अनया चेष्टया योऽग्निरुत्पाद्यते सोऽग्निहोत्रायैव भवति । तथासत्यग्निहोत्रस्यैवेयमिष्टिं सामवायिकमङ्गमभवति । अतोऽग्निहोत्रार्थमुद्धृतस्यैवाग्नेरुद्धानस्य प्रायश्चित्तनिमित्तस्याभावात् दर्शार्थोद्धृतस्योद्धाने न प्राप्नोतीयमिष्टिरिति ।

एतदभिप्रेत्याह अग्नीति । ‘अग्निहोत्रार्थोद्धृतं’ अग्निहोत्रार्थमुद्धृतो योऽग्निस्तस्यैव उद्धाने-‘यजि’ ज्योतिष्मतीष्टि-कर्तव्या-न तु दर्शार्थमुद्धृतस्याग्नेरुद्धाने इत्याशयः ॥ ६ ॥

(७) ६।४।२९-३० नेष्टिर्धायान्निशमने ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेषः ।

( २ ) इदमास्नायते—‘धार्यो गतश्रिय आहवनीयः इति । गतश्रीशब्दश्चोक्त-‘त्रयो ह वै गतश्रिय-ब्राह्मण शुश्रुवान्, ग्रामणीः, राजन्यः’ इति । एतेष्वन्यतमेनाहवनीयोऽग्निर्धार्य इति वाक्यार्थः ।

( ३ ) तत्र सशय —गतश्रीभिर्धार्यमाणस्याग्नेर्यदोद्धानं तदा ज्योतिष्मतीष्टिर्निर्वपनीयोत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —गतश्रीधार्यमाण आहवनीयोऽग्निः-सर्वकर्मार्थः । एवं च सोग्निहोत्रार्थोऽपि भवेदेव । तस्मात् तस्योद्धाने पूर्वाधिकरणन्यायेन प्रायश्चित्तेष्टिं प्राप्तेति ।

( ५ ) सिद्धान्त—न ह्याहवनीयस्य धारणेऽग्निहोत्रं निमित्तम् । एवधार्यमाणस्याग्नेः सर्वकर्मार्थताऽपि न शक्यतेऽध्यवसितुम् । तथा चास्योद्धानं न प्रायश्चित्तस्य निमित्तमभवति । केवलमग्निहोत्रार्थमुद्धृतस्योद्धानं तन्निमित्तमिति स्थितम् । नचात्र तदस्ति । तस्मात् निमित्ताभावात्

नास्ति प्रायश्चित्तेष्टिर्धार्माण्युपशमे इति ।

एतदभिप्रेत्याह-नेष्टिरिति । 'धार्मस्य' गतश्रीभिर्धार्माणस्य अग्ने - 'गमने' उद्धाने- 'इष्टि' प्रायश्चित्तरूपा ज्योतिष्मतीष्टि — 'न'—कर्तव्येति शेष ॥ ७ ॥

(८) ६।४।३१ मन्त्रो दर्शोद्धृते न च ।

( १ ) प्रासङ्गिको विचार ।

( २ ) अग्निहोत्रे अग्न्युद्धरणमन्त्र आम्नात — 'वाचा त्वा होत्रा, प्राणेनोद्गात्रा, चक्षुषाऽध्वर्युणा, मनसा ब्रह्मणा, श्रोत्रेणाग्नीध्रा-एतैस्त्वा पञ्चभिर्देवैर्ऋत्विग्भिरुद्धरामि' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — यदा दर्शार्थमग्निरुद्ध्रियते तदाऽप्यय मन्त्र पठनीय उत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — दर्शपूर्णमासार्थं योऽग्निरुद्ध्रियते तस्मिन्नग्नौ दर्श-दिने साय प्रतिपदि प्रातश्चाग्निहोत्रमनुष्ठीयते । एव च तस्याप्यग्निहो-त्रार्थता । तथाच तत्रापि मन्त्रपाठ प्राप्त एवेति ।

( ५ ) सिद्धान्त — दर्शदिनेऽपि प्रातरग्निहोत्रहवनानन्तरमेव दर्शार्थ-मग्न्युद्धरणमन्वाधानं च क्रियते । अतो दर्शार्थोद्धरणकाले अग्निहोत्रार्थोद्धरणरूपनिमित्तस्याभावात् नास्ति नैमित्तिको मन्त्रपाठ इति ।

एतदभिप्रेत्याह मन्त्र इति । 'दर्शोद्धृते' दर्शार्थमग्न्युद्धरणे- 'मन्त्र' 'च' 'न' पठनीय । यथा तदुद्धाने प्रायश्चित्तेष्टिर्न भवति तथैव तदुद्धरणे मन्त्रपाठोऽपि न भवतीति चकारार्थ ॥ ८ ॥

(९) ६।४।३२-४० नादित्ये पयसो धर्माः ।

( १ ) प्रासङ्गिको विचार ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे श्रूयते- 'आदित्य प्रायणीय पयसि चरु' इति ।

( ३ ) तत्र सशय — प्रदेयद्रव्यस्य ये धर्मा समन्त्रकत्वादयस्ते यथा चरौ तथा पयस्यपि-उत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — यथा चरोस्तथा पयसोऽप्यस्ति देवतासम्बन्ध । ततश्च उभयोरपि प्रदेयद्रव्यत्व समानम् । तस्माद् यथा चरौ निर्वापावघातादयः समन्त्रका प्रदेयधर्मा अनुष्ठीयन्ते तथैव पयस्यप्यनुष्ठेया इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — उदाहृते वाक्ये पयसीत्यत्र सप्तम्या पयः श्रपणा-धाररूपेणोक्तम् न प्रदेयरूपेण । तस्मान्न तत्र प्रदेयधर्मा ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'आदित्ये' आदित्यदैवते चरौ निरुप्तव्ये- 'पयस' चरुश्रपणार्थं यत् पयः तस्मिन्- 'धर्माः' प्रदेयद्रव्यधर्मा — 'न'—अनुष्ठेया इति शेष ॥ ९ ॥

(१०) ६।४।४१-४२ ते स्युरभ्युदये पुनः ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) अस्त्यभ्युदयेष्टि । तत्रोक्तम्—‘ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय दधनि चरुम्—येऽणिष्ठा तान् विष्णवे श्रुते चरुम्’ इति [अधिकञ्चास्या इष्टे स्व रूप षष्ठीयपञ्चमपादप्रथमाधिकरणे द्रष्टव्यम्] ।

( ३ ) तत्र सन्देह —अत्रोक्तयोर्दधिश्रुतयो प्रदेयद्रव्यधर्मा अनुष्ठेया उत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अत्राप्युभयत्र सप्तमीनिर्देशात् पूर्वाधिकरणन्यायेन नैवानुष्ठेया धर्मा इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —पूर्वाधिकरणवाक्ये पयसः प्रदेयत्वन्न श्रुतमपि त्वाधारत्वमेव । अत्र तु यथा तण्डुलानां प्रदेयत्व तथैव दधिश्रुतयोरपि श्रूयते । तस्मात् प्रवृत्तयोरनयो प्रदेयधर्मा कर्तव्या इति ।

एतदभिप्रेत्याह—‘अभ्युदये’ अभ्युदयेष्टौ—‘पुन’ तु—‘ते’ प्रदेयद्रव्य धर्मा —‘स्यु’—अनुष्ठेया इति शेष ॥ १० ॥

(११) ६।४।४३-४४ न ते स्युः पशुकामेष्टौ

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) अस्ति पशुकामेष्टि —‘य पशुकाम स्यात् सोऽमावास्या मिष्ट्वा वत्सानपाकुर्यात्’ इति । तत्रैव पुनरास्नातम्—‘ये मध्यमा स्यु तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपाल कुर्यात्—ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधनि चरुम्—येऽअणिष्ठा तान् विष्णवे शिपिविष्टाय श्रुते चरुम्’ इति ।

( ३ ) तत्र सशय —अत्र दधिश्रुतयोर्देयधर्मा अनुष्ठेया उत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —पूर्वाधिकरणन्यायेन अनुष्ठेया इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —नास्त्यत्राभ्युदयेष्टिसाम्यम्—पाठसाम्येऽप्यपूर्वक मत्वादर्थसाम्याभावात् । तस्माद् दशमाधिकरणन्यायोऽत्र प्रवर्तते । तथाच श्रयणाधारत्वाद् दधिश्रुतयोस्तत्र नैवानुष्ठेया देयधर्मा इति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । ‘ते’ देयधर्मा —‘पशुकामेष्टौ’—‘न’ ‘स्यु’—अनुष्ठेया इति ॥ ११ ॥

(१२) ६।४।४५-५० श्रयणं स्यादधर्मकम् ।

( १ ) प्रासङ्गिको विचारो वर्तते ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे पयःप्रभृतिभिर्द्रव्यैर्ग्रहपात्रनिष्ठस्य सोमस्य मिश्रणमास्नातम्—‘पयसा मैत्रावरुण श्रोणाति—सक्तुभिर्मन्थिनम्—

धानाभिर्हारियोजनम्--हिरण्येन शुक्तम्--आज्येन पात्नीवतम् इति ।  
[ 'श्रयण' मिश्रणम् ] ।

( ३ ) तत्र सशय --अत्रोक्तश्रयणार्थं पयआदौ देयधर्मा अनुष्ठेया उत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष --यदत्र सोमेन मिश्रण तत् सहप्रदानार्थमेव । तस्मात् प्रदेये सोमे ये क्रयादयो धर्मा अनुष्ठीयन्ते ते पय प्रभृतिषु कर्तव्या इति ।

( ५ ) सिद्धान्त --मिश्रण हि सोमसस्कारार्थम् । मैत्रावरुणमि त्यादौ सोमस्य प्राधान्य गम्यते--पयसेत्यादौ च पय प्रभृतीनां तदर्थ त्वम् । सस्कारकद्रव्यस्य च न प्रदेयता । तस्मात् प्रदेयधर्मास्तत्र नानु स्तेया इति ।

एतदभिप्रेत्याह श्रयणमिति । 'श्रयण' पय प्रभृतिभिः सोमस्य मिश्र णम्--'अधर्मकम्' पय प्रभृतिषु देयधर्मानुष्ठानवर्जितम्--'स्यात्' इति सम्बन्ध ॥ १२ ॥

( १३ ) ६।४।५१-५५ शेषो निषिद्ध उत्सर्ग

( १ ) प्रासङ्गिको विचार ।

( २ ) अश्रवमेधे श्रूयते--'ईशानाय परस्वत आलम्भे' इति--['पर स्वत' आरण्यानित्यर्थ]--तत्प्रकृत्य पुन श्रूयते--'पर्यग्निकृतानारण्यान उत्सृजन्ति' इति ।

( ३ ) तत्र सशय --किं परस्वताम् ( आरण्यानाम् ) आलम्भ उत्सर्गार्थ एव--अनुष्ठेय कर्म च द्रव्योत्सर्गमात्रम्--उत कर्मशेषप्रतिषे धार्थं वाक्य--पर्यग्निसंस्कृता उत्सृष्टव्या इतरे आलम्भनीया ( यागे प्रदेया ) इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष --पर्यग्निकृतानामपशूनामुत्सर्गविधानात् उत्सर्गार्थ एवालम्भ । तथा चालम्भोऽत्र स्पर्शमात्रम् । इतरथा उत्सर्गास म्भव इति ।

( ५ ) सिद्धान्त --'ईशानाय' इति देवताविशेषनिर्देश श्रूयते--'परस्वत' इति च द्रव्यस्य । न च यागे प्रदानमन्तरेण द्रव्यदेवतयो सम्बन्ध सम्भवति । पर्यग्निकृतानामेव चोत्सर्गो विधीयते न सर्वेषाम् । तस्मात् पर्यग्निसंस्कृतानुत्सृज्य इतरेषामालम्भन कर्तव्यम्, आलम्भ नेन चात्र यागे प्रदानमेव विवक्षितमिति ।

एतदभिप्रेत्याह शेष इति । 'उत्सर्ग' पर्यग्निकृतानुत्सृजतीत्यनेन वा क्येन विहिते--'शेष' ईशानाय प्रदाय तदनन्तर ये पशवोऽवशिष्यन्ते तेषु परिशिष्टानामङ्गानामनुष्ठानम् 'निषिद्ध' प्रतिषिद्ध । तथा च

ईशानाय प्रदाय अवशिष्टा पशव उत्सृष्ट्या इति सङ्कलितोऽर्थः पर्य  
वस्यति ॥ १३ ॥

(१४) ९।४।५६-६० संस्थाज्येन पृथग् यजिः ।

(१) प्रासङ्गिको विचार पूर्वविचारसदृश ।

(२) 'त्वाष्ट्रम् पात्नीवतमालभेत' इति प्रकृत्य 'पर्यश्रितु पात्नी  
वतमुत्सृजति' इति श्रुतम्—तत्र पुन श्रूयते—'आज्येन शेष संस्था  
पयति' इति ।

(३) तत्र सशय—किमाज्य पूर्वस्मिन् कर्मण्येवोपात्तस्य पशुद्रव्य  
स्य प्रतिनिधीभूतम् उत पूर्वस्मात् कर्मणो भिन्नमेव कर्म आज्यद्रव्यक  
विधीयते इति ।

(४) पूर्वपक्ष—पशुद्रव्यस्य प्रतिनिधिराज्यम् । उत्सर्गशेषसंस्था  
पनशब्दैरेवमेवावगमात् । पर्यग्निकरणादूर्ध्व त्यागमभिधाय—आज्येने  
ति द्रव्यान्तर पशुस्थानीयमुपदिश्य—उत्तरकालीनमङ्गजात तेनैव द्रव्येण  
समापनीयमिति विध्यर्थ इति ।

(५) सिद्धान्त—पूर्वाधिकरणन्यायेन अङ्गरीत्या पात्नीवत पशु  
समाप्त । एव च पशुद्रव्यके यागे मुख्येनैव पशुना समापिते नास्ति प्रति  
निधुपादानस्यावसर । तस्मादाज्यवाक्येन कर्मान्तरमेव विधीयते—  
तस्य देवता च पात्नीवतशब्दस्यानुवृत्त्या लभ्यते । 'शेषम्' इति च  
कर्मान्तस्य शेषत्व यदुक्त तत्सादृश्यात् समनन्तरभावित्वाच्चोपचर्यते  
कर्मान्तरेऽपि । तस्मात् आज्यद्रव्यक पात्नीवतदेवताक पशुयागसमन  
न्तरभाविकर्मान्तर विधीयते इति ।

एतदभिप्रेत्याह—सस्थेति । 'संस्थाज्येन' आज्येन शेष संस्थापय  
तीत्यत्र विहितेन आज्येन—यो 'यजि' याग कर्तव्यतया विधीयते स—  
'पृथक्'—पात्नीवतात् पशुयागाद् भिन्न एवेत्यर्थ ॥ १४ ॥

पादे चतुर्दश न्याया भाष्यकारेण वर्णिताः ।

स्पष्टम् ॥

इति नवमस्य चतुर्थ ।

इति नवमाध्यायः ।

( ५ ) सिद्धान्त —वितुषीकरणमेवावघातस्य प्रयोजनम् । कृष्ण-  
लेषु तुषस्याभावात् नास्ति प्रयोजनमवघातस्य । तस्मात्पूर्वाधिकरण  
न्यायेन लुप्तार्थोऽवघातो विकृतौ न कर्तव्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'कृष्णले' सुवर्णखण्डे—'अवघातकर्म' प्राकृतो  
धर्मोऽवहननरूपश्चोदकप्राप्त —'न स्यात्'—अनुष्ठेयमिति शेष ॥२॥

( ३ ) १०।१।१-३ (तृतीयवर्णकम्) नावाहनं कार्यमुरुक्रमस्य

( १ ) बाधविशेषोदाहरणं वर्तते ।

( २ ) काम्येष्टिषु श्रूयते—'वैश्वदेव चरुं निर्वपेद् आतृष्यवान्—त  
वर्हिषदं कृत्वा शम्यया स्फयेन व्यूहेत्—इदमहममु चामु च व्यूहामि  
इति—य द्विष्यात् त ध्यायन्—यदधो विमृज्येद् यच्च स्फये आश्लिष्येत्  
तदविष्णवे उरुक्रमाय अवघेत्' इति । वैश्वदेविकतन्त्रमध्ये च सामि  
वेनीप्रयाजयोर्मध्ये वैश्वदेवरूपदेवताह्वानाय निगदं पठ्यते । यद् हविषो  
भूमितलाश्लेषरूपं विष्णुयागस्य निमित्तं प्रोक्तं तत् तस्मिन् काले न  
प्राप्तम् । तस्य तदानीं सम्भविष्यमाणत्वात् । एव सति—

( ३ ) सशय —प्राकृतं देवताह्वानमत्र कर्तव्यमुक्तं नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —चोदकेन प्राप्तस्य देवताह्वानस्य परित्यागे माना  
भावात् कर्तव्यमनुष्ठानम् । आवाहनं विना देवतया हवि स्वीकारस्यास  
म्भवात् कालविशेषेऽप्रसक्तोऽपि विष्णुराह्वयितव्य इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —अकाले कृतमकृतमिति न्यायेन निमित्ताभावे  
नैमित्तिकानुष्ठानमन्याय्यम् । विष्णोराह्वानानन्तरं यदि उक्तं भूमिपतना  
श्लेषादिनिमित्तं नापतति तदा विष्णुयागो नानुष्ठीयते । एवमवस्थाया  
विष्णोराह्वानं वृथैव कृतं स्यात्—देवता चातृष्य क्रुष्येत् । यदि विनाप्या  
वाहनं यागं क्रियेत—न काऽपि हानिः । तस्मान्न कर्तव्यं विष्णोरा  
वाहनम् इति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'उरुक्रमस्य' विष्णो —'आवाहनम्' प्रकृतिप्रा  
प्तम्—'न कार्यम्' इति ॥ ३ ॥

( ४ ) १०।१।४ नारम्भणीयेति च दीक्षणीये ।

( १ ) बाधोदाहरणम् ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोरारम्भस्यमानपुरुषसंस्कारकतया आरम्भणीये  
ष्टिरास्नात्ता—'अग्रावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेद् दर्शपूर्णमासावार  
प्स्यमान' इति । सन्ति च दीक्षणीयादयो दर्शपूर्णमासविकृतनयः सौम  
यागस्याङ्गानि ।

( ३ ) तत्र सशय — दीक्षणीयादयो यदा सोमयागाङ्गतयाऽनुष्ठीयन्ते तदा आरम्भणीयेष्टिरनुष्ठेया उत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — चोदकप्राप्तस्य प्राकृतस्य धर्मस्य विकृतिषु परि त्यागे मानाभावात् सोमयागाङ्गभूतास्वपि दीक्षणीयाद्यास्वनुष्ठेया आरम्भणीयेष्टिरिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — सोमयागसम्बन्धेन क्रियमाणा आरम्भणीयेष्टि कस्य सस्कार स्थात् — किं सोमयागमारप्स्यमानस्य उत दीक्षणीयाद्यारप्स्यमानस्य । नाद्य सोमयागस्य दर्शपूर्णमासविकृतत्वाभावेन सोमयागमारप्स्यमानस्य चोदकेनारम्भणीया नैव प्राप्ता । नापि दीक्षणीयाद्यारप्स्यमानस्य, अङ्गानां पृथगारम्भासम्भवात् । तस्मात् आरम्भाख्यद्वारलोपात् आरम्भणीयाऽपि लुप्यत एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'दीक्षणीये' सोमयागाङ्गभूतदीक्षणीयायागे — 'आरम्भणीया इति' आरम्भणीयानाम्नाट्याता या इष्टि सा — 'न' — कारयति शेष ॥ ४ ॥

( ५ ) १०।१।५ न राजसूयेष्टिषु सा च कार्या

( १ ) बाधोदाहरणम् ।

( २ ) राजसूयेऽपि दर्शपूर्णमासविकृतयोऽनुमत्यादय इष्टयो विहिता — 'अनुमत्यै पुरोडाशमष्टाकपाल निर्वपति' इत्यादिना ।

( ३ ) तत्र सशय — एतासु अनुमत्याद्यासु आरम्भणीया भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — अनुमत्यादयो न कस्याप्यङ्गत्वेनाम्नाता । तथाच तेषां स्वतन्त्रारम्भसम्भवे नास्ति दीक्षणीयादिवद् बाधक किञ्चित् । तस्मादस्त्यारम्भणीयेति ।

( ५ ) सिद्धान्त — यद्यप्यङ्गिभूता अनुमत्यादयस्तथाऽपि एकैकस्या इष्टे पृथगारम्भो नास्ति । तस्मादारम्भरूपद्वारस्य लोपात् नास्त्या रम्भणीयेति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'राजसूयेष्टिषु' राजसूयसम्बन्धेन वा अनुमत्यादय इष्टय क्रियन्ते तासु — 'च' 'सा' आरम्भणीयेष्टि — 'न कार्या' इति सम्बन्ध ॥ ५ ॥

( ६ ) १०।१।६ — स्वारम्भकाले न च ताम्प्रकुर्यात् ।

( १ ) बाधोदाहरणम् ।

( २ ) येयमारम्भणीयेष्टि साऽपि दर्शपूर्णमासविकृति ।



( ३ ) तत्र सशय, — दर्शपूर्णमासयोरिव तस्यामप्यारण्यमानपुरुष  
सस्काराय आरम्भणीयाऽनुष्ठेया न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — चोदकप्राप्तस्य परित्यागे मानाभावादारम्भणीया  
या आरम्भेऽन्या आरम्भणीया अनुष्ठेयेति ।

( ५ ) सिद्धान्त — अङ्गभूता हि आरम्भणीया दर्शपूर्णमासयो ।  
अङ्गस्य च प्रधानारम्भेनैवारम्भसिद्धिः । तस्मादारम्भणीयायामन्या आ-  
रम्भणीया नास्तीति ।

एतदभिप्रेत्याह स्वेति । 'स्वस्य' आरम्भणीयाया 'आरम्भकाले'—  
'च' ताम् आरम्भणीयाम् अन्याम्—'न कुर्यात्' इति सम्बन्धः ॥ ६ ॥

( ७ ) १०।१।६ यूपाहुतिर्नास्ति खलस्य मेदौ

( १ ) बाधोदाहरणम् ।

( २ ) अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः । तत्र यूपाहुतिरस्ति ।  
अस्ति च ज्योतिष्टोमविकृतिः साद्यस्वयाग — तत्रापि पशवः साद्य-  
स्का — तत्र समाप्नायते—'खलेवाली यूपो भवति' इति [ 'खले' बली  
वर्द्धबन्धनाय निखातो मेदि 'खलेवाली' ] ।

( ३ ) तत्र सशय — साद्यस्के खलेवाद्या यूपाहुतिः कार्या न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — प्रकृतितश्चोदकेन प्राप्ता यूपाहुतिः यूपस्थानीयाया  
खलेवाद्या कर्तव्येति ।

( ५ ) सिद्धान्त — यूपे यो होमः क्रियते स काष्ठविशेषः शास्त्रीयच्छे-  
दनादिभिर्यूपीकर्तुं मेव शास्त्रीयच्छेदनयोग्यतायै अनुष्ठीयते । न च खले  
वाद्या शास्त्रीयः छेदनमस्ति — पूर्वमेव छिन्नस्य काष्ठस्य खले निखात-  
त्वात् । तस्माच्छेदनरूपद्वारलोपात् नास्ति यूपाहुतिरिति ।

एतदभिप्रेत्याह यूपेति । 'खलस्य' शस्यानामेकत्रीकरणोत्पवनादि-  
कर्तुं यत् स्थलं सम्पाद्यते तस्य — 'मेदौ' निखाते काष्ठदण्डे खलेवालीना-  
म्ना प्रसिद्धे — 'यूपाहुतिः' यूपकाष्ठसस्कारार्थं ज्योतिष्टोमे या क्रियते  
सा — 'नास्ति' — अनुष्ठेयेति शेषः ॥ ७ ॥

( ८ ) १०।१।१०—१३ स्थाणवाहुतिश्चापि न तत्र कार्या ।

( १ ) बाधोदाहरणम् ।

( २ ) अग्नीषोमीययूपप्रकरणेऽस्ति स्थाणवाहुतिः । यूपकाष्ठे छिन्ने  
सत्यवशिष्टो यो वृक्षमूलभागः स एव 'स्थाणुः' तस्मिन् आहुतिवि-  
शेषः श्रुतः ।

( ३ ) तत्र सशय — इयं स्थाणवाहुतिः खलेवाद्या भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — स्थाणुमुपजीव्य स्थाणवाहुतिर्विहिता । खलेवात्या अपि स्थाणुवात् तस्या सा आहुति कार्येति ।

( ५ ) सिद्धान्त — स्थाणवाहुतिवाक्ये 'आव्रश्चने जुहोति' इति श्रूयते । तेन व्रश्चनानन्तर योऽवशिष्टो भागस्तत्रैव स्थाणुभूते आहुतिर्विधीयते—न तु स्थाणुमात्रे । ततश्चेयमाहुतिर्यूपसस्काराय भवति । एव च यूपसस्कारार्थेयमाहुति अयूपात्मिकाया खलेवात्या नैव क्रियत इति ।

एतदभिप्रेत्याह—स्थाण्विति । 'तत्र' खलेवात्याम्—'स्थाणवाहुति च अपि' 'न कार्या' नानुष्ठेयेति सम्बन्ध ॥ ८ ॥

( ६ ) १०।१।१४-१५ सस्कारकर्मोत्तमकः प्रयाजः

( १ ) बाधविचारशेषभूता चिन्ता ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोरुत्तम प्रयाज आम्नायते—'स्वाहाकार यजति' इति ।

( ३ ) तत्र सशय — किमय प्रयाज इष्टेरारादुपकारक — उत आज्यभागादिषु यज्यमाणानामग्न्यादिदेवताना सस्कारक इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — स्वाहाकारशब्देन देवतोच्यते यजत्योक्तस्य यागस्य तदाकाङ्क्षणात् । एव च स्वाहाकारारयदेवतायै अनुष्ठितोऽयं प्रयाज इष्टरेवारादुपकारक इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — चतुर्थ्या तद्धितेन वा प्राय सर्वत्र देवता विधीयते । न चात्र तौ विद्येते । न चेद् वाक्य याग देवता च विधत्ते—तथा सति वाक्यभेदः स्यात् । न च देवताविशिष्ट यागम्—गौरवप्रसङ्गात् । न च देवतामात्रम्—अप्राप्तस्य यागस्यानुवाद्यन्वासम्भवात् । तस्माद् यागमात्रमत्र विधीयते इत्येव स्वीकार्यम् । एव च स्वाहाकारमिति पदं कर्मनामधेयमेव । एतन्नामकं च कर्म उत्तमप्रयाजरूप आज्यभागादिदेवतानामग्न्यादीना सस्कारकम् इत्यभ्युपेयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह सस्कारेति । 'उत्तमक' पञ्चम — 'प्रयाज' — 'सस्कारकर्म' आज्यभागादिदेवताना सस्कारक कर्मेति भावः । एव च सति विप्रतिपन्नदेवताकासु सौर्यादिविकृतिषु उत्तमप्रयाजमन्त्रे प्राकृतदेवतावाचिनाम् अग्न्यादिपदाना बाधो भवतीति ध्येयम् ॥ ६ ॥

( १० ) १०।१।१६-१८ न देवतासस्करणाय यागः ।

[ 'न त्वाज्यभाग स्मरणाय याग' इति पाठान्तरम् । ]

( १ ) बाधापवादः ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोराम्नायते—'आज्यभागौ अग्नीषोमाभ्या यजति' इति । तत्र प्रथम आग्नेयो द्वितीय सौम्यः ।

( ३ ) तत्र सन्देह — योऽयमग्नये आज्यभाग स किं पुरोडाशदेव-  
ताभूतस्य अग्ने सस्कारक — उत दर्शपूर्णमासेष्टेरारादुपकारक इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पूर्वाधिकरणन्धायेन प्रधानदेवतासस्कारक एवेति ।

( ५ ) सिद्धान्त — आज्यभागविधौ हि अग्नीषोमरूप देवताद्वय  
समस्तेनैकेन पदेनोच्यते । एव च सोमस्येवाग्नेरपि यागगुणत्वम् ।  
ततश्च न सस्कार्यत्वम् — प्रधानस्यैव सस्कारसम्भवात् । तस्मात् सस्का-  
रकत्वाभावात् प्रथमाज्यभाग इष्टेरारादुपकारक इत्येवाभ्युपगन्तव्यमिति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । ‘याग’ आज्यभागरूप — ‘देवताया’ प्रधा-  
नदेवताया अग्ने — ‘सस्करणाय’ — न क्रियते इति शेष — अपि तु प्रधानया-  
गस्यारारादुपकारकतयैवेत्याशयः । एव च सति सौर्ययागेऽपि प्रथमाज्य  
भागे न भवत्यग्नेर्बाध इति ध्येयम् ॥

पाठान्तरे त्वेव योजनीयम् — ‘आज्यभाग’ ‘याग’ ‘न’ ‘स्मरणाय’  
सस्कार्यत्वेन देवता स्मारयितुं न प्रभवतीति ॥ १० ॥

( ११ ) १०।१।१६-३३ पशोः पुरोडाश उपस्करोति

( १ ) बाधोदाहरणम् ।

( २ ) ज्योतिष्टोमाङ्गभूताग्नीषोमीयपशौ श्रूयते — ‘अग्नीषोमीयस्य वप-  
या प्रचर्याग्नीषोमीय पशुपुरोडाशमेकादशकपाल निर्वपति’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — पशावुक्त पुरोडाश किम्पशोरारादुपकारक —  
उत पशुदेवतासस्कारक इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — ‘अग्नीषोमीय पशुमालभेत’ इत्यत्र पशुविधौ तद्धि-  
तेनाग्नीषोमदेवता यथा गुणत्वेन पशौ विधीयते — तथा पशुपुरोडाशेऽपि ।  
तथा सति विधिभेदेन विधेयदेवताभेदात् सस्कारो न युक्तः । तस्मात्  
पशोरारादुपकारक पुरोडाश इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — पशुवाक्ये गुणत्वेन प्रतीयमानाऽपि देवता पुरो-  
डाशवाक्ये प्रधानत्वेनावगम्यते । प्रधानस्य च सस्कार्यत्वमविरुद्धम् ।  
तस्मात् पशुदेवतासस्कारक पुरोडाश इति ॥

एतदभिप्रेत्याह पशाविति । ‘पुरोडाश’ एकादशकपाल — ‘पशो’  
पशुदेवताया — ‘उपस्करोति’ सस्करोतीति सम्बन्धः । एव च सति  
अग्नीषोमीयपशुविकृतौ वायव्यपशौ अग्नीषोमीयदेवताया बाधिताया तदी-  
यपशुपुरोडाशेऽपि स बाधिता भवतीति ध्येयम् ॥ ११ ॥

( १२ ) १०।१।३४-४४ सौर्यं हविः स्याच्चरुोदनस्तु ।

( १ ) बाधे प्रासङ्गिको विचारः ।

( २ ) ‘सौर्यं चरुं निर्वपेत्’ इत्यादौ —

४६ मी० नु०

( ३ ) सशय —चरुशब्द कि स्थालीं वक्ति उत ओदनमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —सर्वत्र देशे चरुशब्द ताम्रादिमये पाकपात्रे प्रयुज्यते । हविर्विकृतित्वाभावे स्थात्या कपालविकृतित्वमस्त्येव । तस्मात् चरुशब्द स्थालीमेव वक्तीति ।

( ५ ) सिद्धान्त —अन्नमेव चरुशब्देनोच्यते । ‘आदित्य प्रायणी यश्चरु’ इति तद्राक्यशेषे श्रूयते—‘अदितिमोदनेन’ इत्यत्र श्रुतौ ओदनशब्देन चरुनूद्यते । विद्वासश्च उष्णपक्वे तण्डुले विशदसिद्धे ओदने एव चरुशब्द प्रयुज्यते । ओदनवचित्वे सत्येव च सौर्यमित्यत्र तद्धितोऽप्युपपद्यते । तस्मात् चरुशब्द ओदनवाचीति ।

एतदभिप्रेत्याह सौर्य इति । ‘सौर्ये’ सौर्ययागे-यत् ‘हवि’ ‘चरु’ इति नाम्ना उक्तम् तत्-‘ओदन’—न तु स्थालीवाचकश्चरुशब्द इत्याशयः । ओदने च पेषणाद्यसम्भवात् पेषणादीना बाध इति ध्ययम् ॥१२॥

( १३ ) १०।१।४५-४८ स्थाल्यां चरोः पाकविधिं प्रकुर्यात्

( १ ) बाधे चिन्ता ।

( २ ) अस्ति चरो पाक ।

( ३ ) तत्र सशय —चरु कि स्थात्यामेव पच्यते उत कपाले उत यत्र कुत्राप्युदकधारणयोग्ये पात्रे इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —यथा प्रकृतौ पुरोडाशस्य कपाले पाकस्तथैवात्र विकृतौ चरोरपि कपाले एव पाक इति । अथवा अनूपस्य चरो कपाले पाकासम्भवात् यत्र कुत्रापि पात्रे पाक इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —निरुक्तानां मुष्टिचतुष्टयपरिमितानां तण्डुलानाम् तपेनैव पात्रेण पक्तुं योग्यत्वात् चरो स्थात्यामेव पाक इति ॥

एतदभिप्रेत्याह स्थात्यामिति । ‘चरो’ ‘पाकविधि’ पचनक्रियाम्-‘स्थाल्याम्’ एव-‘प्रकुर्यात्’-इति नियम इत्याशयः । तथा च सति प्राकृतस्य कपालस्यात्र बाध इत्याशयः ॥ १३ ॥

( १४ ) १०।१।४२-५० न पेषणं चोदकतश्चरौ स्यात् ।

( १ ) बाधोदाहरणम् ।

( २ ) अस्ति चरुओदन पक्कव्यम् ।

( ३ ) तत्रौदने सशय —किं चरौ पेषणं कर्तव्यं न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —शक्यते हि तण्डुलषु पेषणं कर्तुम् । तस्माद् भवति पेषणमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —यद्यपि शक्यते ओदने पेषणं कर्तुम्-तथापि न क्रियते । अपूपो हि पेषणेन विना न सम्पद्यते । तस्मात् प्रकृतौ पुरो-

डाशे भवति पेषणम् । ओदनस्तु विनैव पेषण सम्पद्यते-प्रत्युत पेषणेन व्याहन्यते एवौदनत्वम् । तस्माच्चरौ पेषणस्य बाधः ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'चरौ' ओदने-पेषण 'चोदकत' चोदकेन-'न स्यात्'-अतिदिष्टमिति शेषः ॥ १४ ॥

(१५) १०।१।५१ तथा चरौ संयवन न कार्यम्

( १ ) बाधोदाहरणम् ।

( २ ) प्रकृतौ श्रूयते संयवन हविषः-'प्रणीताभिर्हवीषि सयौति' इति । विकृतौ चास्ति हविश्चरुः ।

( ३ ) तत्र सन्देहः किं चरावपि संयवनं भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—प्राकृतस्य धर्मस्य चोदकप्राप्तस्य त्यागे मानाभावाद् भवति संयवनमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—पिण्डीकरणार्थं च संयवनम् । तच्चापूपेऽपेक्षितं न चरौ । तस्मान्न चरौ संयवनमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—तथेति । 'तथा' यथा पेषणं तथैव 'संयवनम्' पिष्टे उदकमिश्रणम् 'चरौ' 'न कार्यम्' । तस्मात् प्राकृतस्य संयवनस्य बाध इत्यर्थः ॥ १५ ॥

(१६) १०।१।५२ ततश्चरौ संयवनञ्च न स्यात् ।

( १ ) बाधोदाहरणम् ।

( २ ) प्रकृतौ श्रूयते—'एन देवताभिः संयपति'-उदकमिश्रणाय पिष्टं पात्रे प्रक्षिपतीत्यर्थः ।

( ३ ) तत्र सशयः—वैकृते चरौ संयवनं कर्तव्यमुत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—चोदकानुग्रहाय कर्तव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—प्रकृतौ हि संयवनार्थमेव संयवनं क्रियते । चरौ संयवनस्य नास्ति प्रयोजनम् । तस्माच्च संयवनमपि न भवतीति ।

एतदभिप्रेत्याह तत इति । 'तत' यतः संयवनं न भवति तस्मादेव कारणात्-'संयवनं' 'च' अपि-'न स्यात्' चराविति शेषः । तस्मात् संयवनस्य बाध इत्याशयः ॥ १६ ॥

(१७) १०।१।५३ सन्तापनञ्चेह तथार्थलोपात्

( १ ) बाधोदाहरणम् ।

( २ ) प्रकृतौ पुरोडाशे कपालानां सन्तापनं विहितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—वैकृते चरौ सन्तापनं भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—चोदकानुग्रहाय भवतीति ।

( ५ ) सिद्धान्त —अपूपीकरणाय हि कपालानां सन्तापनमपेक्ष्यते ।  
चरौ तस्य प्रयोजनाभावाच्च भवति सन्तापनमिति ।

एतदभिप्रेत्याह सन्तापनमिति । 'तथा' यथा सयवनादिकं न भवति  
तथैव—'इह' चरौ—'सन्तापनम्'—'अर्थलोपात्' प्रयोजनाभावात् न भव  
तीति शेष । तस्माद्बाध सन्तापनस्येत्याशयः ॥ १७ ॥

( १८ ) १०।१।५४ तथोपधानञ्च विधेयमत्र ।

( १ ) बाधोदाहरणम् ।

( २ ) प्रकृतानुपधानमग्नौ कपालानां विहितम् ।

( ३ ) वैकृते चरौ सन्देह —किमत्रोपधानं कर्तव्यं न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अथ पाकार्थमभवत्युपधानम् । चरौ तस्याभा  
वाच्चोपधानं भवतीति ।

एतदभिप्रेत्याह तथेति । 'तथा'—'अत्र' चरौ—'उपधानम्' कपालानां  
मग्नौ स्थापनम्—'न' 'विधेयम्' कर्तव्यम् । तथा चोपधानस्य बाध  
इत्याशयः ॥ १८ ॥

( १९ ) १०।१।५५ श्लक्ष्णं पृथु चापि चरुञ्च कुर्यात्

( १ ) बाधोदाहरणम् ।

( २ ) प्रकृतौ प्रथमं (कपालेषु प्रसारणम्) श्लक्ष्णीकरणं च विहितम् ।

( ३ ) वैकृते चरौ सशय —किमत्रापि प्रथमं श्लक्ष्णीकरणं च  
भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —चोदकानुग्रहाय कर्तव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —चरोरनपूपत्वात् उभयमपि निवर्तते इति ।

एतदभिप्रेत्याह—श्लक्ष्णमिति । 'चरु'—'श्लक्ष्ण' मार्जनेन चिक्कणम्—  
'पृथुम्' प्रसारितं—'च' 'न कुर्यात्'—अत्रानपेक्षितत्वाच्चयोरिति भावः ।  
तथा चानयोरत्र बाध इत्याशयः ॥ १९ ॥

( २० ) १०।१।५६ अभ्यूहनं चापि निवर्ततेऽत्र ।

( १ ) बाधोदाहरणम् ।

( २ ) प्रकृतौ पुराडाशे अभ्यूहनं विहितम् । [भस्मनाच्छादनमित्यर्थः ]

( ३ ) वैकृते चरौ सन्देह —अत्रापि अभ्यूहनं कर्तव्यं न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —चोदकानुग्रहाय कर्तव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —पुराडाशस्योपरिभागपाकार्थमिदमपेक्षितम् । चरौ  
तु तस्यानपेक्षितत्वाच्च कर्तव्यमभ्यूहनमिति ।

एतदभिप्रेत्याह अभ्यूहनमिति । 'अत्र' चरौ—'अभ्यूहनम्' भस्मना-  
च्छादनम् 'चापि'—'निवर्तते' बाधितं भवतीत्यर्थः ॥ २० ॥

(२१) १०।१।५७ दर्भैरिहावज्वलनं न कुर्यात्

( १ ) बाधोदाहरणम् ।

( २ ) प्रकृतौ पुरोडाशस्य दर्भपिञ्जलैरवज्वलन विहितम् ।

( ३ ) वैकृते चरौ सन्देह — अवज्वलन कर्तव्यन्न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — चोदकानुग्रहाय कर्तव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — पुरोडाशस्योपरिपाकार्थमिदं क्रियते । चरौ तन्नापेक्षितम् । तस्माच्चरौ नावज्वलनमिति ।

एतदभिप्रेत्याह दर्भैरिति । 'इह' चरौ—'दर्भै' दर्भपिञ्जलै—'अवज्वलनम्' प्रज्वालनम्—'न कुर्यात्'—अस्य बाध एवेत्याशयः ॥ २१ ॥

(२२) १०।१।५८ उद्धृत्य चासादनमत्र नास्ति ।

( १ ) बाधोदाहरणम् ।

( २ ) प्रकृतौ श्रूयते—'अन्तर्वेद्या हवींषि आसादयति' इति पुरोडाशस्य उद्धृत्यान्तर्वेद्यामासादनम् ।

( ३ ) वैकृते चरौ सशय — किं स्थातया उद्धृत्य चरुरासादयितव्य उत उद्धरणं न कर्तव्यमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — चोदकानुग्रहाय कर्तव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — पुरोडाशेऽपि कपालेभ्य उत्थापनं न श्रुतम् । यच्च न श्रुतं तन्न चोदकप्राप्तम् । तस्माच्चरौ नोद्धरणमिति ।

एतदभिप्रेत्याह उद्धृत्येति । 'उद्धृत्य' पात्रादुत्थाप्य—'आसादनम्' अन्तर्वेद्या स्थापनम्—'अत्र' चरौ—'नास्ति' । अत्र बाधस्तूद्धरणमात्रस्य । तथाच चरोर्युद्धृत्यासादनं न कर्तव्यमित्यर्थः ॥ २२ ॥

न्याया इहाद्ये दशमस्य पादे

द्वाविंशतिर्भाष्यकृतोपादिष्टाः ।

स्पष्टम् ।

इति दशमस्य प्रथमः ।

अथ दशमस्य द्वितीयः पादः ।

[ द्वारलोपेन बाधस्य विस्तरेणोदाहरणात्मकः ]

(१) १०।२।१-२ वचनात् कृष्णले पाकः

( १ ) बाधचिन्ता प्रवर्तते ।

( २ ) 'प्राजापत्यं चरुं निर्वपेत् घृते शतकृष्णलमायुष्काम', इति कृष्णलरूपश्चरुर्विहितः । प्रकृतौ च पुरोडाशस्य पाको विहितः ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किं कृष्णलेष्वपि पाको भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — प्रकृतौ पुरोडाशार्थं पाको विहित-पाक विना तस्यासम्भवात् । इह तु पाक विनापि कृष्णलानि कृष्णलान्येव भवन्ति-न च तेषु विकलेदनादि सम्भवति । तस्मात् पाको न कर्तव्य इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — दृष्टार्थस्य विमलेदनादेरसम्भवेऽपि अदृष्टार्थं पाक कर्तव्य । अन्यथा 'घृते श्रपयति' इति वचनस्य वैयर्थ्यापत्ति इति ।

एतदभिप्रेत्याह वचनादिति । 'वचनात्' घृते श्रपयतीति साक्षाद्विधिलेन- 'कृष्णले'- 'पाक' कर्तव्य एवेति शेष । अतो न पाकस्य बाध इत्याशय ॥ १ ॥

( २ ) १०।२।३-१२ नोपस्तृत्यभिधारणे ।

( १ ) पूर्वाधिकरणापवाद ।

( २ ) प्राकृते पुरोडाशे उपस्तरणमभिधारण चोक्तम् ।

( ३ ) कृष्णले सन्देह — किमुपस्तरणाभिधारणे भवतो न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — यथा पाकोऽनपेक्षितोऽप्यदृष्टार्थं क्रियते तथैवोपस्तरणाभिधारणे अपि कर्तव्ये इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — पाकवदत्र प्रत्यक्षविधिर्नास्ति । चोदकस्तु दृष्टद्वारमपेक्षते-प्रकृतौ चोपस्तरणाभिधारणे दृष्टार्थे-सूक्ष्माणां पुरोडाशावयवानां स्रुचि ससक्ति निवारयितुमेव ते क्रियेते । कृष्णलानां तु ससक्तिप्रसङ्ग एव नास्ति । अतस्तन्निवारणरूपद्वारस्याभावादुपस्तरणाभिधारणयोर्बाध इति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'उपस्तृति', 'अभिधारण' चेत्युभय — 'न' — 'भवत कृष्णले' इति शेष ॥ २ ॥

( ३ ) १०।२।१३-१६ भक्षोऽस्ति कृष्णलचरोः

( १ ) कृष्णले बाधचिन्ताऽनुवर्तते ।

( २ ) अस्ति प्रकृतौ पुरोडाशस्य भक्षणम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह — कृष्णलेऽपि भक्षणं भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — तृप्तिरूपस्य दृष्टद्वारस्यासम्भवान्नास्ति कृष्णलेषु भक्षणमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — उपलभ्यतेऽत्र प्रत्यक्षविधानम् — 'चुश्चुषाकारं भक्षयन्ति' इति । यथा इक्ष्वादिरस चूष्यते तथैव घृते पक्वेषु कृष्णलेषु ससक्तं घृतं चूषयन्तीत्यर्थः । एव च प्रत्यक्षवचनबलादस्ति भक्षणमिति ।

एतदभिप्रेत्याह — भक्ष इति । 'कृष्णलचरो' कृष्णलरूपस्य चरो — 'भक्ष' 'भक्षणम्' 'अस्ति' — वचनबलादित्यर्थः ॥ ३ ॥



(४) १०।२।१७ एकधेति सहार्थकम् ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) उक्ते एव कृष्णलभक्षणे श्रूयते—‘एकधा ब्रह्मण उपहरति’इति ।  
[ ‘उपहारो’ भक्षणाय समर्पणम् ] ।

( ३ ) तत्र सशय —एकधेत्यनेन किं विवक्षितम्—एकवारमिति सकृत्त्वम्—उत बहूना सहभाव इति सहत्वम् ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —नियामकाभावादुभयोर्मध्ये यत् किञ्चिदिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —प्रकृतौ इडा—प्राशिन्न—चतुर्धाकरण—सयुवाक—  
कालेषु चतुर्धाभक्षणसिद्धये चत्वार उपहारा उपदिष्टा । अत्रापि ते चो-  
दकप्राप्ता । तत्र सकृत्त्वपक्षे उपरितनास्त्रय उपहारास्तत्कालविशेषाश्च  
बाध्येरन् । सहत्वपक्षे तु कालविशेषा एव बाध्यन्ते न त्रय उपहारा ।  
एव चात्राबाधस्यैव नियामकत्वात् सहत्वमेव विवक्षितमिति ।

एतदभिप्रेत्याह एकैति । ‘एकधा’इति पद—‘सहार्थकम्’ सहत्व  
बोधकम्—न सकृत्त्वबोधकमित्याशय ॥ ४ ॥

(५) १०।२।१८-१९ ब्रह्मणे सर्वभक्षाः स्युः

( १ ) बाधविचार एव वर्तते ।

( २ ) कृष्णलभक्षणे इदमपर श्रूयते—‘सर्वं ब्रह्मणे परिहरति’ इति ।  
[ परिहार समर्पणम् ] । ब्रह्मसहितानामृत्विजामेकैकस्य चतुर्षु कालेषु  
चत्वारो भक्षभागाश्चोदकप्राप्ता ।

( ३ ) तत्र ‘सर्वम्’इति पदस्यार्थे सशय —सर्वता किं ब्रह्मसम्बन्धि  
भागचतुष्टयविषया—उत इतरसम्बन्धिभागचतुष्टयविषयाऽपि इति ।  
अर्थात् किं सर्वेषां भागा ब्रह्मणेऽर्पणीया उत ब्रह्मणो ये सर्वे भागास्ते  
तुस्मै समर्पणीया इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —एव हि वाक्य नेयम्—‘यद् ब्रह्मणे सर्वं तत्परि-  
हरति’इति—अथवा ‘यद् ब्रह्मणे परिहरति तत् सर्वम्’इति । उभयथा  
ऽपि ब्रह्मभागमात्रे विधे पर्यवसानात् चोदकप्राप्ता अन्यभागा अवा-  
प्तिता भविष्यन्ति इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —एषाऽत्र वचनव्यक्ति —‘यत् सर्वं परिहर्तव्यं त-  
द्ब्रह्मणे परिहरति’। एव च ब्रह्मभागानामितरभागानां च यत् ‘सर्वं’ तस्य  
ब्रह्मसम्बन्धे विहिते इतरभागानामपि ब्रह्मणे एव समर्पणीयत्वम् । तथाच  
अन्येषां भक्षणा बाध्यते इति ।

एतदभिप्रेत्याह ब्रह्मण इति । ‘सर्वभक्षा’—ब्रह्मण इतरेषां च सर्वेषां  
ये ‘भक्षा’ ते ‘ब्रह्मणे’ ‘स्युः’ समर्पिता इति शेषः ॥ ५ ॥

(६) १०।२।२० यथाकालन्तु भक्षणम् ।

( १ ) पूर्वाधिकरणद्वयशेष ।

( २ ) 'सर्वं भक्षणं ब्रह्मणे समर्पयेत्' इति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किं सर्व एव भागा एकस्मिन्नेव काले युगपद् भक्षणीया उत स्वस्मिन् स्वस्मिन् काले इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — समर्पणं सर्वस्य युगपदेव भवति । समर्पितस्य च भक्षणे विलम्बकारणाभावात् भक्षणमपि सर्वस्य युगपदेवेति ।

( ५ ) सिद्धान्त — प्रकृतौ भक्षाणां कालभेदः । चोदकप्राप्तस्य च तस्य परित्यागे मानाभावात् विलम्बः आवश्यकः । तस्मात् स्वस्वकाले एव भक्षणं भागानामिति ।

एतदभिप्रेत्याह यथेति । 'भक्षणं' 'तु' सर्वेषां भागानां ब्रह्मणे समर्पितानाम् — 'यथाकालं' प्रत्येकभक्षस्य चोदकप्राप्तकालमनतिक्रम्यैव — भवतीति शेषः । यद्यपि समर्पणं युगपत्तथाऽपि भक्षणं न युगपदिति तुना सूच्यते ॥ ६ ॥

(७) १०।२।२१ न कृष्णलेषु व्यादेशः

( १ ) बाधचिन्ता ।

( २ ) प्रकृतौ पुरोडाशस्य भक्षभागनिर्देशो भवति — 'इदं ब्रह्मण इदं होतु इदमध्वर्यो इदमग्नीध्रः' इति ।

( ३ ) तत्र कृष्णलपक्षे सशयः — अत्राप्ययं निर्देशो भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — चोदकप्राप्तस्य निर्देशस्य परित्यागे मानाभावाद् भवत्येव निर्देश इति ।

( ६ ) सिद्धान्त — प्रकृतौ निर्देशः भागानामसाङ्कर्यार्थ एव । अत्र तु सर्वस्य भक्षस्य ब्रह्मार्थत्वात् साङ्कर्यशङ्कैव नास्ति । ततो न निर्देशः — तस्मात्तस्य बाध इति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'कृष्णले' कृष्णभक्षे — 'व्यादेशः' इदम्ब्रह्मण इदमध्वर्योरित्यादिनिर्देशः — 'न स्यात्' — साङ्कर्यासम्भवादित्यर्थः ॥७॥

(८) १०।२।२२-२८ दक्षिणा स्यात् पारिक्रयः ।

( १ ) बाधसम्बन्धी विचारः ।

( २ ) 'ऋत्विग्भ्यो दक्षिणा ददाति' इति श्रूयते ।

( ३ ) तत्र सशयः — इदं दानं किं धर्मार्थमुत 'ऋत्विजामानत्यर्थमिति । [ धनं दत्त्वा कार्यं कर्तुं स्वीकारणम् 'आनति' ] ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — अन्नहिरण्यादीनां धर्मार्थं त्यागे दानशब्दः प्रसिद्धः । यदि भृत्यर्थं स्यात्तर्हि कार्यात्पत्वमहत्वाभ्यां दक्षिणात्पमहत्वे नि-

यमिते स्याताम् । तथा तु न दृश्यते । स्वल्पकर्मणि त्रैधातवीये सहस्र दक्षिणा—अधिककर्मणि ऋतपेये तु सोमचमसमात्रमिति । तस्मात् धर्मार्थमेव दक्षिणादानमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —दानशब्द आनत्यर्थभृत्यर्पणेऽपि प्रयुज्यते । भवति च आनतिर्द्वैप्यार्थप्रयोजन दानस्य । अल्पत्वमहत्त्वव्यतिक्रमस्तु वचन प्राप्तत्वादेव नासमञ्जस । दक्षिणाया भृतिरूपत्व परिक्रयसाधनत्व च श्रुतावप्युक्तम्—‘दीक्षितमदीक्षिता दक्षिणा परिक्रीता ऋत्विजो याजयेयु’ इति । तस्माद् दक्षिणादान ऋत्विजामानत्यर्थमिति ।

एतदभिप्रेत्याह दक्षिणेति । ‘दक्षिणा’दक्षिणादानमृत्विभ्य —‘परिक्रय’ आनतिसाधनमेव—‘स्यात्’—न तु धर्मार्थमिति । एव च सति यस्मिन् कर्मणि आनतिर्नापेक्षिता तत्र दक्षिणाया बाध । यथा सत्रे [ इत्येकादशेऽधिकरणे स्थास्यति ] ॥ ८ ॥

( ६ ) १०।२।२६-३३ परिक्रयो न भक्षः स्यात्

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) अस्ति यागेषु भक्ष ।

( ३ ) तत्र सशय —किमय भक्षो धर्मार्थ उतानत्यर्थ इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —पूर्वाधिकरणन्यायेनानत्यर्थ इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —यागदेवतायै यत् सङ्कल्पित हविस्तस्य शेषस्यैव भक्षो भवति । तस्मिन् हविषि यजमानस्य स्वत्वाभावात् तेन ऋत्विजा परिक्रयो न सम्भवति । किञ्च यजमानस्याप्यस्ति भक्ष । न च तस्य परिक्रय । तस्मात् भक्षो न परिक्रयार्थ —अपि तु प्रतिपत्त्यर्थ एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह परिक्रय इति । ‘भक्ष’ हवि शेषभक्षणम्—‘परिक्रय’ ऋत्विजामानतिसाधन—‘न स्यात्’—अपि तु प्रतिपत्त्यर्थ एव । एव च सति यत्र परिक्रयो नास्ति—यथा सत्रे—तत्रापि भक्षो न बाध्यते ॥६॥

( १० ) १०।२।३४ न सत्रे वरणम्भवेत् ।

( १ ) बाधविचारो वतते ।

( २ ) प्रकृतौ सोमे होत्रादीनामृत्विजा वरणमाप्नोताम् ।

( ३ ) विकृतौ सत्रे सशय —अत्र वरणम्भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —वरणरहितानामृत्विक्त्वाभावात् ऋत्विजामभावे च यागसम्पादनासम्भवात् वरण सत्रेऽपि कर्तव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —वरण हि भविष्यद्दानसूचनेनर्त्विजामुत्साह जनयति । सत्रे च यजमाना स्वयमेव ऋत्विक्कार्यं कुर्वन्त उत्साहजवकमन्यत् नापेक्षन्ते । ऋत्विक्त्व च यागकर्तृत्वमेव । अतोऽवृत्तानामपि याग

कर्तृणा यजमानानां सिध्यत्येव ऋत्विक्त्वम् । तस्मात् सत्रे दक्षिणावत्  
वरणस्यापि बाध एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह—नेति । ‘सत्रे’ यत्र ये यजमानास्त एवर्विजस्तत्र या  
गे—‘वरण’ ऋत्विजा—‘न भवेत्’ इति सम्बन्ध ॥ १० ॥

(११) १०।२।३५-३८ सत्रेषु दक्षिणा न स्यात्

( १ ) बाधविचार ।

( २ ) सत्रे वरण नास्ति इति स्थितम् ।

( ३ ) इदमिदानीं सन्दिह्यते—सत्रे दक्षिणादानमस्ति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —सत्र प्रकृत्य श्रूयते—‘न ह्यत्र गौर्दीयते न वासो न  
हिरण्यम्’ इति । प्रसक्ते एव दक्षिणादानेऽयं निषेध उपपद्येत । ततो यानि  
द्रव्याणि सोमे दीयन्ते तेषां दानं सत्रे प्रसक्तमित्यभ्युपगन्तव्यम् । सोमे  
देयानि च—गौ अश्व अश्वतर गदभ अश्वय व्रीहय यवा तिला मा-  
षा द्वादशशत हिरण्य चेति । एतेषु गौर्वासो हिरण्यमिति प्रतिषिद्धा-  
नि । तदतिरिक्तानां च चोदकप्राप्तानां दानमवश्यं कर्तव्यम्—इदमेव च  
दक्षिणेति ।

( ५ ) सिद्धान्त—‘न ह्यत्र गौर्दीयते’ इत्यस्मात् पूर्वमेवमास्नातम्—  
‘अदक्षिणानि सत्राणीत्याहुः’ इति । तस्मात् यथा यजमानानामेव ऋत्वि-  
क्त्वे वरणं सत्रे बाधितम्भवति तथैव दक्षिणापीति ।

एतदभिप्रेत्याह सत्रेष्विति । ‘सत्रेषु’ ‘दक्षिणा’ ‘न’ ‘स्यात्’—परिक्र-  
याभावादिति भावः ॥ ११ ॥

(१२) १०।२।३९-४० सत्राङ्गोत्तरो यजिः ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) अस्त्युदवसानीयः—‘सत्रादुदवसायं पृष्ठशमनीयेन ज्योतिष्टो-  
मेन सहस्रदक्षिणेन यजेरन्’ इति ।

( ३ ) तत्र सशय —अयमुदवसानीय किं सत्रस्याङ्गमुत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —‘उदवसाय’ इत्यत्र ल्यप्प्रत्ययेन सत्रसमाप्ते पूर्व-  
कालत्वम् उदवसानीयसत्रयोरेककर्तृकत्वं च द्योत्यते । तथा च यथा ‘अग्नि-  
चित्वा सौत्रामण्या यजेत’ इत्यादौ सौत्रामण्यादीनां चयनाङ्गत्वं तथैव  
उदवसानीयस्यापि सत्राङ्गता युक्तेति ।

( ५ ) सिद्धान्त —‘सत्रादुदवसाय’ इत्यस्यार्थः ‘सत्र समाप्त्य’ इति ।  
तथा सत्रादुर्ध्वं विधीयमानो यागः कथं सत्राङ्गं भविष्यति । सत्रानङ्गत्वे  
न दक्षिणाया अप्यत्र परिक्रयार्थतैवेति ।

एतदभिप्रेत्याह सत्रेति । ‘उत्तर’ सत्रादुत्तरकालभावी—‘यजिः’

याग उद्वसानीय — 'सत्राङ्ग' सत्रस्य अङ्गम्—'न'भवति । ततश्चात्र पुरि  
क्रयार्थाया दक्षिणाया न बाध इति ॥ १२ ॥

(१३) १०।२।४१-४३ तमेकैकः प्रकुर्वीत

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) उद्वसानीयो न सत्राङ्गमित्यवगतम् ।

( ३ ) इदमिदानीं सन्दिह्यते—अयमुद्वसानीय कि सम्भूय सर्वे  
सत्रिभि कर्तव्य उत एकैकमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — 'यजेरन्' इति बहुवचनश्रुत्या बहूना कर्तृत्वन्नैक  
स्य । ततश्च सर्वे सत्रिण सम्भूयामु यज्ञ कुर्युरिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — उद्वसानीयो हि सोमस्य विकृति । सोमे चैकै  
कश कर्तृत्व न सम्भूय । सत्रे च 'सप्तदशावरा सत्रमाप्सीरन्' इति प्रति  
पदोक्त्या बहूना यजमानता । तस्मादेकैकश एवोद्वसानीय'कुर्यादिति ।

एतदभिप्रेत्याह तमिति । 'तम्' उद्वसानीयम्—'एकैक' 'प्रकुर्वीत'—  
न तु सम्भूयेत्याशय ॥ १३ ॥

(१४) १०।२।४१-४२ ततोऽन्ये स्युरिहर्त्विजः ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) एकैकश उद्वसानीय कुर्यादित्यवगतम् ।

( ३ ) इदमिदानीं सन्दिह्यते—उद्वसानीये कि सत्रिण एव ऋत्विज  
उत तेभ्योऽन्ये वरीतव्या इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — उद्वसायेति समानकर्तृत्वे उक्ते सत्रिणामेवा-  
र्विज्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — ये सत्राहुद्वसातारस्त एव उद्वसानीयकर्तार  
इति न विध्यर्थ । सन्ति च अन्ये ऋत्विजश्चोदकप्राप्ता । तस्मादत्रान्ये  
ऋत्विजो वरीतव्या इति ।

एतदभिप्रेत्याह तत इति । 'इह' उद्वसानीये—'तत' तेभ्य सत्रानु-  
ष्ठातृभ्य — 'अन्ये' भिन्ना — 'ऋत्विज' परिक्रीता वरणीया — 'स्यु' इति  
सम्बन्ध । अतो नात्र चोदकप्राप्तानामृत्विजा बाध इत्याशय ।

त्रयोदशचतुर्दशाधिकरणयो स्थानव्यतिक्रमोन्यायमालाया दृश्यते ॥ १४ ॥

(१५) १०।२।४४-४५ धेनुका दक्षिणा नेष्टौ

( १ ) दक्षिणाविषय एव विचार — अष्टमाधिकरणपवाद ।

( २ ) सारस्वतसत्रे कामेष्टौ—'अश्वा पुरुषौ धेनुके दत्त्वा' इति  
दान श्रुतम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह — इद दक्षिणादानमानत्यर्थमुत धर्मार्थमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — इष्टेरसत्रत्वादष्टमाधिकरणन्यायेनानत्यथमेवेद दानमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — यद्यपीयमिष्टि स्वरूपेणासत्र तथाऽपि सत्राङ्गत्वेन समप्रयोगान्त पातित्वेन चास्या यजमानानामेवार्तिवज्यम् । अत आनतेरनपेक्षितत्वाद् धर्मार्थतैव दानस्येति ।

एतदभिप्रेत्याह धेनुकेति । 'इष्टौ' सारस्वतसत्राङ्गभूतायां कामेष्टौ—या 'धेनुका' देयत्वेनोक्ता सा—'दक्षिणा' आनतिसाधिका—'न'भवति—अपि तु धर्मसाधिकैवेत्याशयः । अतः सत्राङ्गत्वेऽपि न दानस्य बाध इति भावः ॥ १५ ॥

( १६ ) १०।२।४६ दानं द्वेष्याय नानतिः ।

( १ ) दक्षिणादानविषयो विचारो वर्तते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—'यदि पत्नी सयाजयन् कपालमभिजुहुयात् वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्—तस्यैकहायनी गौर्दक्षिणा—ता द्वेष्याय दद्यात्' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देहः —इदं द्वेष्याय दानं किमानत्यर्थमुतादृष्टार्थमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः —दक्षिणाशब्देन यस्य निर्देशस्तस्यानत्यर्थता अष्टमाधिकरणन्यायेन सिद्धा । तस्मादानत्यर्थमिदं दानमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः —न तावद्वृत्तिजो द्वेष्यत्व युक्तम् । यो द्वेष्यो न स आर्तिवज्येन वरयितुं योग्यः । न च द्वेष्ये आनतिसम्भावना । तस्मादद्वृष्टार्थमेवेदं दानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह दानमिति । 'द्वेष्याय' 'दानम्' दक्षिणारूपेण—यत् श्रुतं तत्—'न आनति' आनतिसाधनम्—अपि त्वद्वृष्टार्थमेवेत्याशयः ॥ १६ ॥

( १७ ) १०।२।४७-४८ जीवतामस्थियज्ञः स्यात्

( १ ) प्रसङ्गेनास्थियज्ञविचारः ।

( २ ) इदमात्मन्यते—'यदि सत्राय सन्दीक्षितानां प्रमीयेत—अथ तं दग्ध्वा तस्य कृष्णाजिनेऽस्थीन्युपसन्नह्य योऽस्य नेदिष्ठः स्यात् तं तस्य स्थाने दीक्षित्वा तं सह यजेरन्—ततः सवत्सरेऽस्थीनि याजयेयुः' इति सवत्सरेऽतीते यज्ञ आम्नातः ।

( ३ ) तत्र सशयः —अस्मिन् यज्ञे कस्य कर्तृत्वम् ? मृतस्य अस्थानामुत जीवताम्पुरुषाणामिति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः —मृतस्य अस्थीन्येवात्र कर्तृत्वं—'अस्थीनि याजयेयुः' इत्यनेनैव तथैव स्पष्टमुक्तत्वादिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः —अस्थीन्यचेतनानि यष्टुमनर्हाणि अतोऽस्थिश-

वदेनात्र पुरुषो लक्ष्यते । कृष्णाजिनसन्नद्धास्थिसम्बन्धिपुरुषेण सह ये सत्रे यष्टार आसन् त एव 'अस्थीनि' इत्येतत्पदेन लक्ष्यन्ते-ते च जीविता एव सत्रिण । तस्मात् जीवतामेवाय याग इति ।

एतदभिप्रेत्याह जीवतामिति । 'अस्थियज्ञ' अस्थीनि याजयेयुरित्येव विहितो याग - 'जीवताम्' एव सत्रिणाम् - 'स्यात्' - कर्तव्य इति शेष ॥१७॥

(१८) १०।२।४९ अस्थना चेन्न जपादिकम् ।

( १ ) अस्थियज्ञविचारो वर्तते-कृत्वाचिन्तारूप ।

( २ ) अस्थियज्ञे अस्थी-येव कर्तृणीत्यभ्युपगम्य—

( ३ ) सशय — प्रकृतौ यत् यजमानकर्तृक जपादिकमस्ति तदस्थि-यज्ञे कतव्यमुत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — चोदकप्राप्तस्य परित्यागे मानाभावात् कर्तृ-यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — अस्थिषु जपकार्यासम्भवात् न भवति जपा-दिकमिति ।

एतदभिप्रेत्याह अस्थनामिति । 'अस्थनाम्' कार्यो याग इति 'चेत्' पक्षोऽभ्युपगम्यते तर्हि - 'जपादक' यजमानकर्तृक न स्यात् - तस्य बाध एव स्यादित्यथ ॥ १८ ॥

(१९) १०।२।४९ (वर्णकान्तरम्) न दीक्षणीयाऽप्यस्थना चेत्

( १ ) पूर्वविचारशेष ।

( २ ) प्रकृतावस्ति यजमानस्य दीक्षणीयेष्टि ।

( ३ ) तत्र सशय - अस्थिकर्तृके यज्ञे इय दीक्षणीयेष्टिर्भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — चोदकप्राप्तत्वादस्ति दीक्षणीयेति ।

( ५ ) सिद्धान्त — अचेतनानामस्थना दीक्षासम्भवान्नास्ति दीक्ष-णीयेति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'अस्थना' कार्यो याग इति 'चेत्' पक्ष तर्हि - 'दीक्षणीया अपि न' स्यादिति शेष । तस्या बाध एवेत्यर्थ ॥ १९ ॥

(२०) १०।२।५० क्रत्वर्थं त्वास्थिकर्तृकम् ।

( १ ) पूर्वाधिकरणपवाद ।

( २ ) प्रकृतौ औदुम्बर्या शाखाया यजमानप्रमाणत्वम् शुक्रग्रहस्य च यजमानेन स्पर्श इत्यादि ।

( ३ ) तर्देतत् अस्थिकर्तृके यागे भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पूर्वाधिकरणन्यायेन न भवतीति ।

( ५ ) सिद्धान्त — अचेतनैरपि दण्डादिभिर्यथा मान क्रियते तथाऽ-

चेतनैरप्यस्थिभिः शाखामान सम्भवति । एवमेवाचेतनानां शुक्रग्रहस्प-  
शोऽपि । तस्मादेतद् द्वयमप्यस्ति इति ।

एतदभिप्रेत्याह क्रत्वर्थमिति । 'क्रत्वर्थ' यदङ्गजात शाखामानादिकं  
क्रत्वर्थमेव भवति न पुरुषार्थम् तत्—'अस्थिकर्तृकम्' अपि स्यादेव—अ-  
स्थीन्येव कर्तृणि यस्मिन् तत् । अस्थिकर्तृकेऽपि यागे क्रत्वर्थमङ्गजातं  
यजमानकर्तृकञ्च बाध्यत इत्याशयः ॥ २० ॥

(२१) १०।२।५१ अस्थियज्ञे न काम्यानि

( १ ) अस्थियज्ञविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) 'यदि कामयेत् वर्षुकं पर्जन्यं स्यान्नोचै सदो मिनुयात्'  
इत्यादीनि सन्ति काम्यानि कर्माणि प्रकृतौ ज्योतिष्टोमे ।

( ३ ) तत्र सन्दिह्यते—विकृतौ अस्थियागे एतानि काम्यानि स-  
न्ति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —पूर्वाधिकरणन्यायेन सन्ति इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —कामस्य चेतनधर्मत्वान्न सन्ति काम्यानि अस्थि-  
कर्तृके यागे इति ।

एतदभिप्रेत्याह अस्थीति । 'अस्थियज्ञे' अस्थिकर्तृके यज्ञे—'काम्यानि  
कर्माणि 'न'—स्युरिति शेषः ॥ २१ ॥

(२२) १०।२।५२-५४ सूक्तवागाशिषोऽत्र न ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेषः ।

( २ ) प्रकृतौ—'इदं द्यावापृथिवी भद्रमभूत्' इत्यादि सूक्तवाक्  
होत्रा पठ्यते । तत्रैवमाशासनं श्रूयते—'आशास्तेऽयं यजमानोऽसौ आयुरा-  
शास्ते सुप्रजास्त्वमाशास्ते' इत्यादि ।

( ३ ) तत्र सन्देह —योऽयं सूक्तवाकगतो यजमानाशी प्रतिपादको  
मन्त्रः सोऽस्थियज्ञे पठनीयो न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अस्थियज्ञगताया प्रायणीयादेरिष्टे प्रस्तरप्रहर-  
णमङ्गम् । तच्च नित्यम् । तस्मात् तद्वत्तस्य सूक्तवाकमन्त्रस्यापि नित्य-  
त्वात् स मन्त्रः पठनीय एवास्थियज्ञे इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —आशासनयोगादत्रायुरादिशब्दैः फलं निर्दिश्यते ।  
फलेच्छा चाचेतनानामस्थना न सम्भवति । तस्मान्मन्त्रस्य स भागो  
बाध्यते इति ।

एतदभिप्रेत्याह सूक्तेति । 'अत्र' अस्थिकर्तृकयज्ञे—'सूक्तवागाशिषः'  
सूक्तवाकगतायुराद्याशासननिर्देशको मन्त्रभाग—'न'—पठनीय इति  
शेषः ॥ २२ ॥



(२३) १०।२।५५-५६ न होतुकामो यज्ञेऽस्थनाम् ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) प्रकृतावस्ति होतुकाम —‘य कामयेत वसीयान् स्यात् इति उच्चैस्तरा तस्य वषट् कुर्यात्’ इति ।

( ३ ) तत्र सशय —अस्थियज्ञे अयं होतुकाम कर्तव्यो न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —यद्यप्यस्थीन्यचेतनानि तथाऽपि होतुश्चेतनत्वात् तस्य च कामनाया सम्भवात्-कर्तव्ये होतुकाम इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —‘या वै काचर्न यज्ञे ऋत्विज आशिषमाशासते यजमानायैव तामाशिषमाशासते’ इति श्रुते होत्राऽपि यत् काम्यते तदपि यजमानस्यैवेष्टम् । अचेतनानि चास्थीनि एष्टु न शक्नुवन्ति । तस्मात्त्रात्र होतुकाम इति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । ‘अस्थना यज्ञे’ अस्थिकर्तृके यज्ञे-‘होतुकाम ’होतुर्कर्तृकाशी शसनम्-‘न’-भवतीति शेष । तस्य बाध एव भवतीत्याशयः ॥

[ तदेतदधिकरणपञ्चक जीवतामय यज्ञ इति सप्तदशाधिकरणसिद्धान्तेन विरुद्धम्-अस्थना कर्तृत्वमभ्युपगम्य कृत्वाचिन्तारूपम् । सप्तदशाधिकरणन्यायेन तु पञ्चस्वप्येतेषु अधिकरणेषु चोदकप्राप्तानां धर्माणा नास्ति बाध , यज्ञस्य जीवत्कर्तृत्वात् इति ध्येयम् ] ॥ २३ ॥

(२४) १०।२।५७-५८ सर्वस्वारः समाप्यते ।

( १ ) बाधप्रसङ्गेन सर्वस्वारविचारः ।

( २ ) अस्ति यज्ञ सर्वस्वाराण्य —‘मरणकामो ह्यनेन यजेत-य कामयेत अनामय स्वर्गं लोकमियाम्’ इति । अस्य च यज्ञस्य तृतीय-सवने यजमानस्याग्निप्रवेश आम्नातः ।

( ३ ) तत्र सशय —एव मृते यजमानेऽवशिष्टं कर्म समापनीयमुत त्याज्यमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —यजमानस्य मृतत्वात् कर्तुर्भावात् परित्याज्यमेवावशिष्टं कर्मेति ।

( ५ ) सिद्धान्त —यजमाने गतेऽपि ऋत्विग्भिः कर्म समापनीयम् । मरणकाले यजमानो ऋत्विजः प्रति एव प्रैषमुच्चारयति-‘ब्रह्मणा समाप्यत मे यज्ञम्’ इति । तदेतत्प्रैषबलात् कर्म समापनीयं न तस्य बाध इति ।

एतदभिप्रेत्याह सर्वस्वार इति । ‘सर्वस्वार’-यजमानमरणानन्तरं मपि-‘समाप्यते’ समापनीयो भवति-ऋत्विग्भिरिति शेषः । यथा अस्थियज्ञे एकस्मिन् यजमाने मृते जीवद्भिः क्रियते तथैव यजमाने मृतेऽपि जी-

वद्विस्तरसहायकैर्ऋत्विग्भिः कर्म समापनीयमित्यर्थः ॥ [ ५६ सूत्र  
भाष्ये न्यायमालाया चाधिकरणान्तरेण गृहीतम्-तत्र वर्णितस्य त्वर्थस्य  
विशाधिकरणेऽन्तर्भूतत्वात्तदुपेक्षितम्मण्डनेनेति प्रतिभाति । अतस्तत्सू-  
त्रोक्तो विषयोऽस्यैव चतुर्विंशाधिकरणस्य शेषत्वेन व्याख्यातोऽस्माभि-  
रिति ध्येयम् ] ॥ २४ ॥

(२५) १०।२।६०-६१ जीवत्यायुरिहाशास्यम्

( १ ) सर्वस्वारविचारो वर्तते ।

( २ ) होत्रा पठनीये सूक्तवाके योऽय 'आयुराशास्ते' इति भागो  
वर्तते—

( ३ ) तत्र सशय-सर्वस्वारेऽय पठनीयो न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —मरणकामस्य यजमानस्यायुर्निरपेक्षत्वात् तदाशा-  
सन तस्य बाध्यते-अर्थलोपादिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —तृतीयसपनमेव यजमानस्य मरणकाल । त-  
स्मात्पूर्वं तु जिजीविषुरेवायम् । तस्मात् पठनीयमायुराशासनमिति ।

एतदभिप्रेत्याह जीवतीति । 'इह' सर्वस्वारे—यजमाने 'जीवति'  
सति तृतीयसवनात् प्राक् यावद् यजमानो जीवति तावत्—'आयु'  
'आशास्यम्' आयुराशासनरूपो मन्त्रभाग पठनीय एव—अतो न तस्य  
बाध इत्यर्थः ॥ २५ ॥

(२६) १०।२।६२ सत्रे दानमदृष्टकृत् ।

( १ ) बाधविचारो वर्तते ।

( २ ) प्रकृतौ 'हिरण्यमात्रेयाय ददाति' इति हिरण्यदानं श्रुतम् ।

( ३ ) वैकृते सत्रे सशय —इदं दानं भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —आनत्यर्थं दानमिति स्थितम्—सत्रे आनतिप्रयो-  
जनं नास्तीत्यप्यवगतम् । तस्मात् सत्रे इदं हिरण्यदानं नास्तीति ।

( ५ ) सिद्धान्त —उक्तस्य हिरण्यदानस्य सम्प्रदानत्वेन श्रुतं आ-  
त्रेयो न ऋत्विक्—ऋत्विग्भ्योऽन्य एव यागे सहायक । ऋत्विज एव  
यजमाना सत्रे । अत आत्रेयस्य न यजमानता । तस्मादस्ति दानस्यानति  
प्रयोजनम् । परं सा आनतिः सर्वेषां कार्यकराणां कार्यारम्भात् पूर्वमेव  
स्वीकृतया भृत्या सम्पादिता । तस्मात् कार्यमध्ये यदिदमात्रेयाय दत्तं  
तन्नानत्यर्थं भवत्यपि त्वदृष्टार्थमेवेति ।

एतदभिप्रेत्याह सत्र इति । 'सत्रे'—'दानम्' हिरण्यस्य आत्रेयाय  
यच्छुन तत्—'अदृष्टकृत्' धर्ममेव सम्पादयति—न कार्यकरस्यानतिरूप  
दृष्टं प्रयोजनमिति । एव च नास्त्यस्य बाधः सत्रे इत्याशयः ॥ २६ ॥

(२७) १०।२।६३ गुणलोपे च मुख्यं स्यात्

( १ ) बाधचिन्ता वर्तते ।

( २ ) सन्त्यग्न्याधाने पवमानेष्टय । तत्र चोदकेन प्राप्त निर्वापना धनम्—‘अग्निहोत्रहवण्या हवींषि निर्वपति’ इति । पवमानेष्टिकाले चाग्निहोत्र नास्ति तस्याधानोत्तरकालीनत्वात् । तस्मान्नास्त्यग्निहोत्रहवणी तत्र ।

( ३ ) एव सति सशय —पवमानेष्टौ निर्वापो भवति उत निवर्तते इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अग्निहोत्रहवणीरूपस्य निर्वापसाधनस्यासत्त्वात् न भवति निर्वाप । तस्मात्तस्य बाध इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —मुर्योऽत्र निर्वाप । तम्प्रति गुणभूतैवाग्निहोत्रहवणी । न च गुणलोपेन मुर्यो लुप्यते । तस्मान्न निर्वापस्य बाध इति ।

एतदभिप्रेत्याह गुणेति । ‘गुणस्य’ अग्निहोत्रहवण्या ‘लोपे’ अभावे-‘मुख्य’ निर्वापकर्म-‘स्यात्’-अनुष्ठेयमिति शेष ॥ २७ ॥

(२८) १०।२।६४-६७ सङ्ख्या स्यान्मुष्टिलोपनम् ।

( १ ) बाधचिन्ता वर्तते ।

( २ ) अस्ति वाजपेयविकृति सप्तदशशरावश्चरुनैवार, अस्ति च प्रकृतौ सङ्ख्या मुष्टिश्च-‘चतुरो मुष्टीर्निर्वपति’ इति ।

( ३ ) तत्र सशय —विकृतौ किं सङ्ख्या गृह्यते मुष्टिर्लुप्यते-उत मुष्टिर्गृह्यते सङ्ख्या लुप्यते-उत उभयोलोप-उत सङ्ख्याया वा मुष्टरित्यनियम इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —नियमे प्रमाणाभावादन्यतरस्य लोप-नास्ति नियम इति । अथवा विकृतौ सप्तदशसङ्ख्यया श्रुता शरावश्च-तथाच सप्तदशसङ्ख्यया प्राकृतचतु सङ्ख्याया बाध शरावेण च प्राकृतमुष्टेर्बाध-इत्युभयोलोप इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —‘चतुरो मुष्टीर्निर्वपति’ इत्यत्र निर्वाप चतुस्सङ्ख्यागुणक मुष्टिगुणकश्च विधीयते । सङ्ख्यामुष्ट्योश्च निर्वापक्रियया सम्बन्धे समाने सत्यपि प्रथमश्रुतत्वात् सङ्ख्यैवानुगृह्यते दुर्बलो मुष्टिर्लुप्यते । चतुर्मुष्टिभिश्च कृतनिर्वाप द्रव्य न भवति सप्तदशशरावम् । तस्मात् अन्यतरस्य बाध । न्याय्यतरश्च मुष्टरेव बाध इति ।

एतदभिप्रेत्याह सङ्ख्येति । ‘सङ्ख्या’ सप्तदशसङ्ख्या-‘मुष्टे’ एव ‘लोपनम्’ बाधक-‘स्यात्’ । वैकृतया सप्तदशसङ्ख्यया प्राकृताया चतु सङ्ख्याया न भवति बाध —वैकृतेन शरावेण तु प्राकृतस्य मुष्टेर्भवति बाध इत्यर्थ ॥ २८ ॥

(२६) १०।२।६८ नाजो धेन्वादिषु ग्राह्यः

(१) बाधचिन्ता वर्तते ।

(२) पशुविकृतिषु श्रूयते—‘द्यावापृथिव्या धेनुमालभेत—मारुत वत्सम्—ऐन्द्रमृषभम्’ इति, प्रकृतौ चास्ति अज पशु ।

(३) तत्र सशय —धेनुवत्सर्षभशब्दा किमजवाचिन उज गोवा चिन इति ।

(४) पूर्वपक्ष —प्रेनुशब्दो नवप्रसूतामाचष्टे—वत्सशब्दो बालम्—ऋषभशब्द प्रौढ पुमासम् । चोर्दकप्राप्तश्चाज । तस्य परित्यागे माना भावात् नवप्रसूता अजा—गालोऽज—प्रौढश्चाज इत्येते अत्र विवक्षिता । गौस्तु न प्रत्यक्ष श्रूयते न चातिदेशेन प्राप्यते—प्रकृतावनुपदिष्टत्वात् इति ।

(५) सिद्धान्त —धेन्वादिशब्दा न सामान्यगुणमात्रवाचिन—कचिदपि तथाप्रयोगाभावात् । गोगतानेवोक्तान् गुणानभिदधति ते शब्दा—अतो प्रयोगबलादजेष्वनुपपन्ना अनुपदिष्टपनतिदिष्टमपि गामेव मुख्यया वृत्त्या विशिष्यन्तश्चोदकातिदिष्टं ह्यज बाधन्त इति ।

एतदभिप्रेत्याह नाज इति । ‘धे’वादिषु धेनुवत्सर्षभशब्देषु—‘अज’ ‘न’ ‘ग्राह्य’ विशेष्यतयेति शेष । तस्मात् ह्यजस्य बाध इत्यर्थः ॥ २९ ॥

(३०) १०।२।६९ श्वेतोऽजो वायुदैवतः ।

(१) बाधविचिन्ता वर्तते ।

(२) ‘वायव्य श्वेतमालभेत’ इति श्रूयते ।

(३) तत्र सशय —श्वेतशब्दोऽत्र किं तिदेशप्राप्तमज वक्ति—उत य कचित् पशुम् इति ।

(४) पूर्वपक्ष —श्वेतशब्द श्वेतगुणमात्रमभिदधानि न तु धेन्वादिशब्दवत्पशुजातिविशेषम् । तस्मात् य कचिच्छ्वेतगुणक पशु वक्तीति अभ्युपेयमिति ।

(५) सिद्धान्त —चोदकप्राप्तस्याजस्य परित्यागे कारणाभावात् अज एव प्राप्नोति इति ।

एतदभिप्रेत्याह श्वेत इति । यो ‘वायुदैवत श्वेत’ आलम्भनीयत्वेन विहित स ‘अज’ एव न य कश्चित् पशु । तस्मादजस्य न बाध इति भावः ॥ ३० ॥

(३१) १०।२।७० न खादिरी खलेवाली

(१) बाधचिन्ता ।

(२) सायस्के ‘खलेवाली यूपो भवतीति’ श्रुतम् । प्रकृतौ च यूपस्य खादिरत्वमुक्तम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह —खलेवाल्या चोदकप्राप्त खादिरत्व भवत्यु त नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —यूपकार्यकरणे नियोजिताया खलेवाल्या यूपध र्मता युक्तिसिद्धा । तस्मात् चोदकप्राप्त खादिरत्व प्राप्नोत्येवेति ।

( ५ ) सिद्धान्त —खलेवाल्या पशुनियोजनादि कार्यमित्येव वा क्यार्थ । एव च खलेवाल्या यूपत्वे प्रमाणाभावात् न यूपगुणाना खादि रत्वादीना प्राप्ति । तस्मान्न नियमेन खादिरत्वमेव खलेवाल्या इति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'खलेवाल' 'खादिरी' खदिरकाष्ठनिर्मिता एव भवेत् इति 'न' अस्ति नियम इत्याशय ॥ ३१ ॥

( ३२ ) १०।२।७१-७२ नास्या स्यात् तक्षणादिकम् ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) खलेवाल्या यूपधर्म खादिरत्व न नियमतो भवतीति स्थितम् । सन्ति च यूपे तक्षणादयो धर्मा ।

( ३ ) तत्र सशय —किं तक्षणादय खलेवाल्या भवन्ति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —चोदकप्राप्ताना धर्माणा त्यागे मानाभावाद् भव न्त्येवेति ।

( ५ ) सिद्धान्त —यूपे तक्षणादय काष्ठसस्कारार्थ क्रियन्ते । खले वात्या तु तादृशसस्कारस्यानपेक्षितत्वात् अतिदिष्टा अपि तक्षणादयो न प्राप्नुवन्ति । तस्माद्वाध एव तक्षणादीनामिति ।

एतदभिप्रेत्याह नास्यामिति । 'अस्या' खलेवाल्याम्- 'तक्षणादिकम्' तक्षणम्-जोषणम्-उच्छ्रयणमित्येवमादि यूपधर्मजातम्- 'न स्यात्' क- र्तव्यम्-तस्मादेतेषा वाध एवेत्याशय ॥ ३२ ॥

( ३३ ) १०।२।७३ अञ्जनादि भवेत् तस्याम्

( १ ) पूर्वाधिकरणपवाद ।

( २ ) यूपे सन्ति अञ्जनादयो धर्मा ।

( ३ ) तत्र सशय —अञ्जनादय खलेवाल्या भवन्ति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —पूर्वाधिकरणन्यायेन न भवन्ति इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —दृष्टार्थाना तक्षणादीनामप्रयोजकतया बाध । अ ञ्जनादिक तु यूपेऽप्यदृष्टार्थमेव । तस्मान्न बाधे कारणम् । तस्मात् यूप वत् खलेवाल्यामप्यदृष्टार्थमञ्जनादि कर्तव्यमेवेति ।

एतदभिप्रेत्याह अञ्जनादीति । 'तस्याम्' खलेवाल्याम्- 'अञ्जनादि' अञ्जनम्-पयूहणमित्येवमादि- 'भवेत्'-अदृष्टार्थमिति शेष ॥ ३३ ॥

(३४) १०।२।७४ धानार्थमवहन्यते ।

( ० ) महापितृयज्ञे हवि श्रूयते-‘पितृभ्यो बर्हिषद्भ्यो धाना’ इति । [ ‘धाना’ भृष्टधान्यम् ] । प्रकृतौ चावघातो विहितः ।

( ३ ) तत्र सशय —धानास्ववघातो भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —धानानामवघाते सक्तुभावः प्रसज्यते-ततश्च धानास्वनाश विधिव्याकोपः स्यात् । तस्मादवघातस्य बाध इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —धान्यानां भर्जनेन धानाभावः ततोऽवघात इत्येव क्रमे स्याद् विधिव्याकोपः । तद्वारणाय धानानामादावेवावघातः पश्चात् भर्जनमित्येव क्रमे न स्यात् सक्तुत्वम्—भृष्टधान्यरूपः धानात्वः तु स्यादेव । चोदकप्राप्तावघातबाधाद्वरः क्रमबाध एवेति कर्तव्य एवावघातो धानास्त्विति ।

एतदभिप्रेत्याह धानार्थमिति । ‘धानार्थम्’ धानासम्पादनायैव-‘अवहन्यते’ धान्यमिति शेषः । एव च सति पूर्वमवघातः पश्चाद् भर्जनेन धानात्वमिति न सक्तुभावप्रसङ्ग इत्याशयः ॥ ३४ ॥

[ वार्तिकमतेनान्यथा व्याख्यातमिदमधिकरणं न्यायमालाया द्रष्टव्यम् ।

उदिता भाष्यकारेण चतुर्विंशत्तु नीतयः ।

स्पष्टम् ।

इति दशमस्य द्वितीयः ।

## अथ दशमस्य तृतीयः पादः ।

[ बाधकारणस्य कार्यैकत्वस्य विचारः ]

( १ ) १०।३।१-१२ पशौ प्रयाजेषु विधिर्गुणस्य

( १ ) बाधचिन्ताऽनुवर्तते ।

( २ ) अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः । तत्रेदं समाग्न्यायते—‘एकादश प्रयाजान् यजति एकादशानुयाजान् यजति’ इति ।

( ३ ) तत्र सशय —किमेकादशादिगुणविशिष्टे पशौ प्राकृतेति कर्तव्यता प्राप्नोति एकादशादिवाक्ये गुणविधिः—उत प्राकृतेतिकर्तव्यता न प्राप्नोति एकादशादिवाक्ये कर्मान्तरविधिरिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —एकादशसङ्ख्यारूपगुणविशिष्टस्य प्रयाजस्य प्रत्यक्षविधौ सति उपदिष्टनैवाङ्गेन निराकाङ्क्षे पशौ चोदकेनातिदेशस्यावसरो नास्ति । तस्मात् न प्राप्नोति प्राकृतेतिकर्तव्यतेति ।

( ५ ) सिद्धान्त — पशुविधिरितिकर्तव्यतामाकाङ्क्षति । तदकाङ्क्षापूरणं द्वेधा सम्भवति—प्राकृतानामङ्गानामतिदेशेन विधास्यमानाङ्गान्तराणामुपदेशेन वेति । अनयोरौचित्यविवेके क्लृप्तोपकारतया प्राकृताङ्गातिदेश एव न्याय्यः । ततश्चातिदेशप्राप्तप्रयोजनमनूद्य एकादशसङ्ख्यारूपगुणविधिरेवेदं वाक्यम् । तस्मात् अत्र विहितया सङ्ख्याया यद्यपि प्राकृतस्य सङ्ख्याया बाधस्तथापि प्रयाजादीतिकर्तव्यता प्रकृतितोऽतिदेशेन प्राप्नोत्येवेति ।

एतदभिप्रेत्याह पशाविति । ‘पशौ’ अग्नीषोमीयपशुविषये ये प्रयाजा विहिता—तेषु ‘प्रयाजेषु’ तान् प्रयाजाननूद्य—‘गुणस्य’ एकादशसङ्ख्यारूपस्य—‘विधि’ एकादशप्रयाजानित्यस्मिन् वाक्ये इत्यर्थः । तस्मात्प्राकृतेतिकर्तव्यताया नास्ति बाध इत्याशयः ॥ १ ॥

( २ ) १०।३।१३-१७ हिरण्यगर्भः प्रथमे न मन्त्रः ।

( १ ) बाधचिन्ता ।

( २ ) वायव्यपशावाम्नायते—‘हिरण्यगर्भ’ समवर्तताग्रे इत्याद्या-रमाधारयति’ इति । तत्र प्रकृतित्वात् प्राप्ते एवाधारे गुणविधिरिदमिति पूर्वाधिकरणन्यायेन स्थितम् ।

( ३ ) इदमिदानीं सन्दिह्यते—अयममन्त्रविधिः किम्पूर्वस्मिन्नाधारे उतान्तिमे इति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः - प्रकृतौ पूर्वाधारः प्राजापत्यः । अस्मिन् मन्त्रे प्राजापतिरेव हिरण्यगर्भशब्देनोच्यते । तस्मान्मन्त्रलिङ्गात् पूर्वस्मिन्नेवाधारे मन्त्रः प्राप्नोतीति ।

( ५ ) सिद्धान्तः — प्रकृतौ प्रथमाधारोऽमन्त्रक एवेति ‘प्राजापतिम्मनसा ध्यायन्नाधारयति’ इत्यनेन वाक्येनावगम्यते । ‘तूष्णीमाधारयति’ इति प्रत्यक्षमपि श्रुतम् । द्वितीये चाधारे ‘ऊर्ध्वोऽध्वर’ इत्याद्यैन्द्रो मन्त्रो विहितः । स एव च विकृतौ चोदकेन प्राप्तः । तस्य बाधायैव हिरण्यगर्भमन्त्रविधिः । ततश्च प्रकृतौ द्वितीयाधारे य एन्द्रो मन्त्रः प्रयोज्यते—तस्य स्थाने विकृतौ हिरण्यगर्भमन्त्रः प्रयोज्य इत्यभ्युपेयम् । तस्माद्धिरण्यगर्भमन्त्रस्य द्वितीये एवाधारे प्राप्तिरिति ।

एतदभिप्रेत्याह हिरण्यगर्भ इति । ‘हिरण्यगर्भ मन्त्र’ हिरण्यगर्भसमवर्तताग्रे इत्यादि, मन्त्रः—‘प्रथमे’ आधारे—‘न’ प्रयोज्यः—अपि तु द्वितीये एव—प्रकृतित्वात् प्राप्तमैन्द्रमन्त्रं बाधित्वेत्याशयः ॥ २ ॥

( ३ ) १०।३।१८-२२ आसादने स्याद् विधिरुत्करस्य

( १ ) बाधचिन्ता वर्तते । ,

( २ ) सौमिकेषु चातुर्मास्येषु श्रूयते—‘उत्करे वाजिनमासादयति’ इति ।

( ३ ) तत्र सशय —किमिदमासादनान्तरम्—उत प्राकृत एवासादने उत्कररूपगुणविधि इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —प्रकृतमासादनं दृष्टार्थम् । इह विहित त्वासादनं दृष्टार्थञ्च भवितुमर्हति तीक्ष्णाग्रे मृत्पासुराशौ उत्करे आसादितेन वाजिनारयजलीयद्रव्येण कस्यापि दृष्टस्य प्रयोजनस्य साधनमसम्भवम् । तस्माद्दृष्टार्थमेवेदमासादनं प्राकृतादासादनात् कर्मान्तरमित्यभ्युपेयमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —प्रथमाप्रकरणन्यायेन प्राकृते एव वाजिनासादने उत्कररूपगुणविधिरयम् । मृदाशिरूपस्योत्करस्य पृथ्व्यग्रतापि सम्भवति—ततश्च तत्र वाजिनासादनं नैवात्यन्तमप्रयोजकमिति ।

एतदभिप्रेत्याह आसादनं इति । ‘आसादने’ प्राकृते एव—‘उत्करस्य वाजिनाधारत्वेन—‘विधि’ । ततश्च प्राकृते एवासादने तत्रोक्त वेदिरूपमाधार बाधित्वा उत्कररूप आधारो ग्राह्यो विकृतावित्याशयः ॥ ३ ॥

( ४ ) १०।३।२३-२६ दीक्षाहुतीनां तु समुच्चयः स्यात् ।

( १ ) बाधचिन्ता वर्तते ।

( २ ) अग्निचयने षट् दीक्षाहुतयः श्रूयन्ते—‘षड्भिर्दीक्षयति’ इति । प्रकृतौ च षट् दीक्षाहुतयो विहिता—‘सुवेण चतस्रो जुहोति दीक्षितत्वाय’ इत्यादिना । मन्त्राश्चोभयत्र भिन्ना । तथाहि—‘आकृत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा’ इत्यादयः प्रकृतौ—‘आकृतिमग्निं प्रयुज स्वाहा’ इत्यादयो विकृतौ ।

( ३ ) तत्र सशय —विकृतौ किं प्राकृतानाम्मन्त्राणां बाध —उत द्वादशानामपि समुच्चितः प्रयोग इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —विकृतौ ये मन्त्राः प्रत्यक्षमुपदिष्टास्तेऽदकबलेनातिदिष्टानां बाध एव न्याय्यः —अतिदेशादुपदेशस्य बलीयस्त्वादिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —‘द्वादश जुहोति’ इति वाक्यान्तरेण समुच्चयः स्पष्टः सूचितः । षड्भिर्वैकृतैर्मन्त्रैः षड्भिश्च प्राकृतैर्मन्त्रैर्होमे सत्येव द्वादशसङ्ख्यापूर्तिः सम्भवति । तस्मात् समुच्चय एव न बाध इति ।

एतदभिप्रेत्याह दीक्षाहुतीनामिति । ‘दीक्षाहुतीनां’ प्रकृतावुक्तानां षण्णां विकृतौ चोक्तानां षण्णां—‘समुच्चयः’ सम्मेलन—‘स्यात्’ न बाधः प्राकृतानामिति भावः ॥ ४ ॥

( ५ ) १०।३।३०-३३ प्राग्दक्षिणा नो पुनरादधातौ



( १ ) बाधचिन्ता वर्तते ।

( २ ) आधाने—‘एका देया, षड् देया, द्वादश देया’ इत्यादिना नानाविधा दक्षिणा श्रुता । पुनराधाने तु—‘पुनर्निष्कृतो रथो दक्षिणा’ इति अन्यैव दक्षिणाभ्याता [भग्न पुन समाहितो ‘निष्कृत’ इत्युच्यते] ।

( ३ ) तत्र सशय —पुनराधाने या विशिष्टा दक्षिणा प्रोक्ता तथा किं प्राकृतानां दक्षिणानां बाध—उत समुच्चय इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —‘उभयोर्ददाति—आधेयिकी पौनराधयिकीश्च’ इति वचनात् समुच्चय इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —दक्षिणास्वरूपस्य कार्यस्यैकत्वात् उपदिष्टया अतिदिष्टया बाध एव न्याय्य । उभयोरिति वाक्यं तु न विधिरपि त्वं नुवाद एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह प्रागिति । ‘प्राग्दक्षिणा’ प्रथमाधानस्य या दक्षिणा विहिता सा—‘पुनराधाने—‘नो’ न भवति । ततश्च तस्या बाध एवेत्याशयः ॥ ५ ॥

( ६ ) १०।२।३४ वासादि पूर्वस्य निवर्तकं स्यात् ।

( १ ) बाधचिन्ता वर्तते ।

( २ ) आग्रयणे श्रूयते—‘वासो दक्षिणा’ ‘वत्स प्रथमजो दक्षिणा’ इति । प्रकृतौ तु अन्वाहार्यो दक्षिणा । सा चात्र चोदकप्राप्ता ।

( ३ ) तत्र सशय —वासादिभिर्वैकृतैः किं प्राकृतोऽन्वाहार्यो बाध्यते उत समुच्चयते—इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —उभयोर्विरोधाभावात् समुच्चय इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —एककार्यत्वात् न समुच्चयोऽपि तु बाध एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह वासादीति । ‘वासादि’ वासो वत्सश्च इत्येवमादि दक्षिणा ‘पूर्वस्य’ प्राकृतस्य अन्वाहार्यस्य दक्षिणारूपस्य—‘निवर्तक’ बाधक—‘स्यात्’ इति सम्बन्धः ॥ ६ ॥

( ७ ) १०।३।३५ वासादिरन्वाहरणादिधर्मा

( १ ) बाधचिन्ता वर्तते ।

( २ ) आग्रयणे दक्षिणोक्ता वासादिरूपा । प्रकृतौ चान्वाहार्यो दक्षिणा । अत्रान्वाहार्ये सन्ति कतिचिद् धर्मा विहिता । अन्वाहार्यस्य विप्रकृतौ बाध इति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किं विकृतावन्वाहार्यधर्माणामपि बाध उत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अन्वाहार्यनिमित्तत्वाद् धर्माणाम् अन्वाहार्यबाधे तेऽपि बाधिता भवन्तीति ।

( ५ ) सिद्धान्त —अन्वाहार्यस्य दक्षिणारूपत्वेनानतिसाधनत्वप्रयुक्ता एव ते धर्मा क्रियन्ते । तत्साधनत्वं च वासादेरपि समानम् । तस्मादत्रापि ते धर्मा अनुष्ठेया इति ।

एतदभिप्रेत्याह वासेति । 'वासादि' यो दक्षिणात्वेनोक्त स—'अन्वाहरणादिधर्मा' अन्वाहार्यस्य धर्मा एव धर्मा यस्य स एवम्भूत —स्यादिति शेष । तस्मादान्वाहार्यधर्माणां नास्ति बाध इत्याशय ॥ ७ ॥

( ८ ) १०।३।३६ वत्से न पाकः क्रियते विरोधात् ।

( १ ) पूर्वाधिकरणपवाद ।

( २ ) अन्वाहार्ये पाको भवति । स च चोदकप्राप्तो विकृतावाग्रयणे ।

( ३ ) तत्र सन्देह —आग्रयणदक्षिणाभूते वत्सेऽयं पाको भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —पूर्वन्यायेन अन्वाहार्यधर्माणां विकृतावतिदेशात्, भवत्येव पाको वत्सस्येति ।

( ५ ) सिद्धान्त —पाके सति वत्सस्य नाश स्यात् । तस्मान्नास्ति वत्से पाक इति ।

एतदभिप्रेत्याह वत्स इति । 'वत्से' आग्रयणदक्षिणाभूते—'पाक' प्राकृतान्वाहार्ये कर्तव्यत्वेन विहित—'न क्रियते'—कुत इत्यत आह 'विरोधादिति' । असामञ्जस्यादित्यर्थ । वत्सस्य पाके नाशेनोपयोगित्वासम्भवे आनतिकार्यसम्पादनानौपयिकत्वे दक्षिणात्वभङ्गप्रसङ्गादित्याशय ॥ ८ ॥

( ९ ) १०।३।३७ वासो न पच्येत—न हीदमन्नम् ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) आग्रयणे विकृतौ वासो वत्सश्च दक्षिणा । तत्र वत्से प्राकृत पाकस्यासम्भव प्रदर्शित । वाससि तादृशासम्भवो नास्ति ।

( ३ ) तस्मात्तत्र सशय—वाससि पाको भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —उष्णोदकभाण्डे प्रक्षेपेण वाससो वत्सस्येव नाशो न भवति । तस्मादत्रान्वाहार्यवत् पाक स्यादेव—सप्तमाधिकरणन्यायेनेति ।

( ५ ) सिद्धान्त —अन्नस्योदनत्वसम्पादनार्थैव पाको भवति । न ज्ञात्वा वाससः पच्यमानस्योदनता कदाऽपि सम्भवति । तस्मादत्रापि अतिदिष्टस्य पाकस्य बाध एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह वास इति । 'वासो न पच्येत' वाससि 'पाको न कार्य'—कस्मात्—'इदं' वासः 'अन्नम्' अदनीय न भवति । तस्मात्पाकस्योपयोगित्वाभावादित्याशय ॥ ९ ॥

(१०) १०।३।३८ न चाभिघारो वसने च वत्से ।

- ( १ ) बाधचिन्ता वतते । सप्तमाधिकरणस्यापवादान्तरम् ।  
 ( २ ) आप्रयणदक्षिणाभूते वाससि वत्से चान्वाहार्यधर्मा अनुष्ठेया  
 इति सप्तमे स्थितम् । अस्ति चान्वाहार्यधर्मेषु अभिघार ।  
 ( ३ ) तत्र सशय -वाससि वत्से च अभिघारण भवति न वेति ।  
 ( ४ ) पूर्वपक्ष —सप्तमाधिकरणन्यायेन भवत्यभिघारणमिति ।  
 ( ५ ) सिद्धान्त —स्वादुतासम्पदनायैवाभिघारण भवति अन्वा  
 हार्यै । वाससि वत्से च स्वादुताया असम्भवेन द्वारलोपाद् बाध एवा  
 भिघारणस्येति ।

एतदभिप्रेत्याह न चेति । 'वसने' वाससि—'वत्से च'—आप्रयण  
 दक्षिणाभूते—'अभिघार' अभिघारण—'न'—कर्तव्यमिति शेष ॥ १० ॥

(११) १०।३।३९-४६ शतं गवामेव तु दक्षिणासु

- ( १ ) बाधे प्रासङ्गिकी चिन्ता ।  
 ( २ ) ज्योतिष्टोमे दक्षिणा श्रूयते—'गौश्चाश्वश्चाश्वतरश्च गर्दभा  
 आजाश्चावयश्च ब्रीहयश्च यवाश्च तिलाश्च माषाश्च—तस्य द्वादशशत द-  
 क्षिणा' इति [ 'द्वादशशत' द्वादशाधिकशतमित्यर्थ ] ।  
 ( ३ ) तत्र सशय —द्वादशशतमिति या सङ्ख्या सा किं गवादिभि  
 सर्वैः सम्बद्धा उत गोमात्रेणेति ।  
 ( ४ ) पूर्वपक्ष —गवादीनि सर्वाणि द्रव्याणि प्रधानानि—सङ्ख्या  
 च तेषां गुण गौण । प्रतिप्रधानं च गुणस्यावृत्तिर्न्याय्या । तस्मात् सङ्ख्या  
 गवादिभिः सर्वैः प्रत्येकमभिसम्बद्धेति ।  
 ( ५ ) सिद्धान्त —गौरेवात्र प्रथमं श्रुतं उपकारकतमम् । यादृश  
 उपकारो गवा भवति न तादृशोऽश्वादिभिः । तस्मादितरेषामपेक्षया  
 गौरेव प्रधानम् । तस्माद् द्वादशशतसङ्ख्या गोमात्रेणमभिसम्बद्धेति ।  
 एतदभिप्रेत्याह शतमिति । 'दक्षिणासु' दक्षिणाद्रव्येषु गवादिषु यत्  
 'शत' द्वादशाधिकशतं यदुक्तं तद्—'गवामेव' नेतरेषामश्वादीनामिति  
 सम्बन्धः । एव च सति विकृतिषु यत्र गोर्दक्षिणायाः सङ्ख्यान्तरं श्रूयते  
 तत्रास्यां द्वादशशतसङ्ख्याया बाधो भवति ॥ ११ ॥

(१२) १०।३।५०-५२ विभज्य दानं खलु दक्षिणायाः ।

- ( १ ) पूर्वाधिकरणशेषः ।  
 ( २ ) ज्योतिष्टोमे गौर्दक्षिणा—तस्या एव च सङ्ख्या द्वादशाधिक  
 शतमिति समधिगतम् ।  
 ( ३ ) तत्र सशय —ऋत्विग्भ्यो देयानां द्वादशाधिकशतसङ्ख्याकानां  
 ४६ मी० जु०

गवा विभज्यैव दानमिति नियम — उत विभज्य अविभज्य वेत्यत्र यज-  
मानस्य स्वाच्छुन्यमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — नियामकस्यानुपलम्भात् नास्ति नियमे प्रमाणम् ।  
तस्माद् यथा यजमान इच्छति तथैव विभज्य अविभज्य वा दानमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — अविभज्य ऋत्विक्समूहाय दाने प्रातिस्विकस्व-  
त्वस्यानुत्पत्तौ परस्वत्वापादनरूपो दानशब्दार्थो न सम्पद्येत । समुप-  
लभ्यते च लिङ्गमपि—‘तुथो वो विभज्य विश्ववेदा विभजतु’ इति । तस्माद्  
विभज्यैव दानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह विभज्येति । ‘दक्षिणाया’ शतगोरूपाया,—‘दान’  
ऋत्विगभ्य प्रदानम्—‘विभज्य’ विभागपूर्वकम्—‘खलु’ एव—इति  
सबन्ध ॥ १२ ॥

( १३ ) १०।३।५३-५५ भागं समाख्यानुगुणं प्रकुर्यात्

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) गवा दान विभज्येति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र सशय — अथ विभाग किं सम उत विषम — वैषम्येऽपि  
किं कर्मकृत वैषम्यमुत शब्दकृतमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — वैषम्यहेतोर्विशेषस्याश्रवणात् समो विभाग । तथैव  
च विभागो लोके दृश्यते इति । अथ च यदि विषमो विभागस्तर्हि कार्या  
नुरूपमेव विभजनमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — द्वादशाहे दीक्षायामेव ऋत्विजा नामान्युपलभ्य  
न्ते—‘अर्धिनो दीक्षयति पादिनो दीक्षयति’ इत्यादि । विभागे सति येषां  
ऋत्विजा अर्धं भवति ते अर्धिनः येषां चतुर्थांशस्ते पादिनः । एव श्रौत  
समाख्यानसारेण विभागः कार्यः । तथा च केषांचित् अर्धम् केषांचिच्च-  
तुर्थांश एवेति विषम एव विभाग इति ।

एतदभिप्रेत्याह भागमिति । ‘समाख्यानगुणं’ अर्धिनः पादिन इत्या-  
दि नामानुसारेण—‘कुर्यात्’ । तस्माद्विषम एव विभाग इति तात्पर्यम् ॥ १३

( १४ ) १०।३।५६-५८ धेनुः समस्तस्य निवर्तिका स्यात् ।

( १ ) प्रकृतिगतदक्षिणास्वरूप तद्धिभागश्च निरूपितो बाधोपेक्षा-  
तत्तरेण । इदानीं विकृतौ बाधचिन्ता पुनः प्रवर्तते ।

( २ ) ‘अथैप्र भू’ इति भूनामकमेकाहमुपक्रम्य दक्षिणाविशेष आ-  
स्मात् ‘धेनुर्दक्षिणा’ इति । प्राकृतं च गौरश्च इत्यादिकं सर्वं चोदिकप्राप्तम् ।

( ३ ) तत्र सशय — वैकृत्या दक्षिणाया धेनुरूपया किं प्राकृतं गोमात्रं  
बाध्यते उत गवाश्वादिकं सर्वमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —नवप्रसूतगोवाचकेन धेनुशब्देन गोमात्र विशिष्यते नाश्वादिकम् । तस्मात्तेन गोमात्रस्य बाधो नाश्वादिकस्येति ।

( ५ ) सिद्धान्त —गवादीना सर्वेषा समूहिताना दक्षिणात्वम् । अत एवैकवचनप्रयोगो युज्यते । तस्माद् गवादीना माषान्ताना सर्वेषा प्राकृतदक्षिणाभूताना वैकृत्या दक्षिण्या धेनुशब्दवाच्यया बाध इति ।

एतदभिप्रेत्याह धेनुरिति । 'धेनु' भूनामकयागदक्षिणात्वेनाग्नाता नवप्रसूता गौ —'समस्तस्य' गौरश्व इत्यादीना सर्वेषा प्राकृतदक्षिणाना समूहस्य—'निवर्तिका' बाधिका—'स्यात्'—नतु गोमात्रस्येत्यर्थ ॥१४॥

( १५ ) १०।३।५६ एका च पञ्चेति गवां निवृत्तिः

( १ ) बाधचिन्ता वर्तते ।

( २ ) इदं श्रूयते—'यस्य सोममपहरेयुरेका गा दक्षिणा दद्यात्—अभिदग्धे पञ्च गा' इति । प्रकृते च गौरश्व इत्यादि दक्षिणा । ताश्च चोदकप्राप्ता विकृतौ ।

( ३ ) एव सति सन्देह —'एका गौ' 'पञ्च गाव' इति यत् सङ्ख्या विशिष्ट द्रव्य दक्षिणात्वेनोक्तं तत् किं प्राकृत समस्त दक्षिणाजात बाधते—उत तेषाम्मध्ये गामेव इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —कृत्स्ना गवाश्वादिदक्षिणा बाधते । दक्षिणाशब्दयोगेन कार्यैक्यात् इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —उदाहृते वाक्ये एकत्वसङ्ख्याविशिष्टगोविधाने गौरवात् सङ्ख्यामात्र विधेयम् । एव चेय सङ्ख्या गोगता प्राकृती सङ्ख्यामेव बाधते न त्वन्यत् किञ्चित् । तस्मात् एकत्वसङ्ख्या पञ्चत्वसङ्ख्या च प्राकृतसङ्ख्याविशिष्टा गामेव बाधते इति ।

एतदभिप्रेत्याह—एकेति । 'एका' 'पञ्च च इति' सङ्ख्याविधानेन—'गवाम्' प्राकृतसङ्ख्याविशिष्टानाम्—'निवृत्ति' बाध । प्राकृतसङ्ख्याविशिष्टा गौरेव बाध्यते—न त्वश्वादिकमिति शेष ॥ १५ ॥

( १६ ) १०।३।६०-६२ बाध्येत वत्सेन पुरोक्तसर्वम् ।

( १ ) बाधचिन्ता ।

( २ ) साद्यस्के वर्षत्रयवयस्को वत्स सोमक्रयसाधनत्वेनाग्नात 'त्रिवत्स साण्ड सोमक्रयण' इति । प्रकृतौ तु—'अजया क्रीणाति हि-रण्येन क्रीणाति वृषभेण क्रीणाति' इत्यन्यानि क्रयसाधनान्युक्तानि । एतानि च साद्यस्के चोदकप्राप्तानि ।

( ३ ) तत्र सशय —किं त्रिवत्स प्राकृतस्य ऋषभमात्रस्य बाधिक—उत प्राकृताना सर्वेषाम्—इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — यथा वत्स पुङ्गवस्तथा ऋषभोऽपि । न त्वजादयस्तथा । तस्माद्गृपभमात्रस्य बाध इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — वत्स प्रत्यक्ष क्रयेण सम्बध्यते । तस्मात् सर्वेषां प्राकृतानां क्रयसाधनानां बाधक इति ।

एतदभिप्रेत्याह बाध्येतेति । 'वत्सेन' वैकृतेन क्रयसाधनेन—'पुस्तोक्त' प्रकृतौ विहित 'सर्व' सर्वाणि क्रयसाधनानि अजादीनि—'बाध्येत' निवर्तित भवति—न केवलमृषभमात्रमिति भाव ॥ १६ ॥

( १७ ) १०।३।६३-६४ प्राकाशबोधे न तु सर्वबाधो

( १ ) बाधचिन्ता ।

( २ ) अश्वमेधे श्रूयते—'हिरण्यमयौ प्राकाशावध्वर्यवे ददाति' इति । 'प्राकाशौ' दीपस्तम्भौ । तौ ह्यत्राध्वर्यवे देयत्वेनाम्नातौ । प्रकृतौ तु गवाश्वादयो विहिता ।

( ३ ) तत्र सशय — प्राकाशौ किं कृत्स्नस्य प्राप्तस्य दक्षिणाद्रव्यस्य बाधकौ—उत अध्वर्युभागमात्रस्येति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पूर्वाधिकरणन्यायेन सर्वस्य बाध इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — 'अध्वर्यवे ददाति' इति सम्प्रदानविशेषसम्बन्धिनो दानक्रिया उच्यते । तस्मात् सम्प्रदानविशेषविशिष्टदानद्रव्येण तत्सम्प्रदानविशिष्टदानद्रव्यस्यैव बाधो न त्वन्येषां दानद्रव्याणाम् । तस्मात् अध्वर्युभागस्यैव बाधो न सर्वस्य दक्षिणाद्रव्यस्येति ।

एतदभिप्रेत्याह—प्राकाशेति । 'प्राकाशयो' अध्वर्यवे देयत्वेन विहितयोर्दीपस्तम्भयो 'बोधे' विधौ—'सर्वेषां' प्राकृतदक्षिणाद्रव्याणाम् 'बाध' न भवति—अपि तु तेषामध्येऽध्वर्युदेयमात्रस्येति शेष ॥ १७ ॥

( १८ ) १०।३।६५-६७ अश्वः स्यात् समस्तस्य निवर्तनाय ।

( १ ) बाधचिन्ता—पूर्वाधिकरणपवाद ।

( २ ) उपहव्यनामके एकाहयागे श्रूयते—'अश्व श्यावो रुक्मललाटो दक्षिणास ब्रह्मणे देय' इति—श्यावाश्वरूपा दक्षिणा । प्रकृतौ च गवाश्वादयः ।

( ३ ) तत्र सशय — इदमश्वद्रव्यं किं कृत्स्नं दक्षिणाद्रव्यं बाधते—उत ब्रह्मभागमात्रस्येति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पूर्वाधिकरणन्यायेन ब्रह्मभागमात्रं बाध्यते इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — दक्षिणाशब्दसम्बन्धात् चतुर्दशाधिकरणन्यायेन कृत्स्नस्यैव बाधक इति ।

एतदभिप्रेत्याह अश्व इति । 'अश्वः' ब्रह्मणे देयत्वेनाम्नात — 'सम-

स्तस्य' प्राकृतानां सर्वेषां दक्षिणाद्रव्याणां-‘निवर्तनाय’ बाधाय-‘स्यात्’-  
बाधको भवेत्—न तु ब्रह्मभागमात्रस्येत्याशयः ॥ १८ ॥

(१६) १०।३।६८-७३ तथा समस्तं चमसेन बाध्यम्

(१) बाधचिन्ता ।

(२) ऋतपेये श्रूयते—‘औदुम्बर सोमचमसो दक्षिणा’-स प्रियाय  
सगोत्राय ब्रह्मणे देय’ इति । प्रकृतितश्च गवाश्वादिकं प्राप्तम् ।

(३) तत्र सशयः—किमयं चमसो ब्रह्मभागमात्रं बाधते उत सर्वं  
दक्षिणाद्रव्यम् ।

(४) पूर्वपक्षः—‘ब्रह्मणे देय’ इति स्पष्टमुक्तत्वात् ब्रह्मभागमात्रं  
बाध्यते इति ।

(५) सिद्धान्तः—पूर्वाधिकरणन्यायेन कृत्स्नं दक्षिणाद्रव्यं बा-  
ध्यते इति ।

एतदभिप्रेत्याह—तत्रेति । यथा पूर्वाधिकरणे अश्वेन-‘तथा’ ऋत-  
पेयेऽपि-‘चमसेन’-‘समस्त’ कृत्स्नं दक्षिणाद्रव्यं गवाश्वादिकं-‘बाध्यम्’  
बाध्यते-न तु ब्रह्मभागमात्रमित्यर्थः ॥ १९ ॥

(२०) १०।३।७१-७३ (वर्णकान्तर) न ब्रह्मभागव्यतिरिक्तदानम् ।

(१) पूर्वाधिकरणशेषः ।

(२) सर्वस्य दक्षिणाद्रव्यस्य बाध इति पूर्वाधिकरणे स्थितम् ।

(३) तत्र सशयः—किमनेन बाधेन ब्रह्मातिरिक्तेभ्यः ऋत्विग्भ्यो  
दक्षिणा नैव देयेति पर्यवसानम्—उत यथा ब्रह्मणे चमसो देयस्तथैवैतरे  
भ्योऽपि स एव देय इति ।

(४) पूर्वपक्षः—गवाश्वादिदक्षिणाद्रव्यस्यैव बाधो न तु ऋत्वि-  
क्पुरुषाणाम् । तथाच ऋत्विग्भ्यो दक्षिणा देयेति स्थिते गवाश्वादौ च  
बाधिते चमस एवैकोऽवशिष्यते यः सर्वेभ्यो देय इति ।

(५) सिद्धान्तः—बाधिते दक्षिणाद्रव्ये देयस्याभावात् दानमेव बा-  
धितम्भवति । तस्मात् सर्वेभ्यः ऋत्विग्भ्यो दानं बाधितं भवति । ब्रह्मणे  
दानं तु चमसस्य ‘ब्रह्मणे देय’ इति वाक्यान्तरेण विहितम् । तस्मात्  
तस्मै देयैव दक्षिणा चमसरूपा इति ।

एतदभिप्रेत्याह—नेति । ‘ब्रह्मभागाद्’ विशिष्य ब्रह्मणे देयत्वेन वि-  
हितात् चमसरूपात् ‘व्यतिरिक्तस्य’ ऋत्विगन्तरेभ्यो देयस्य प्राकृतस्य  
दक्षिणाद्रव्यस्य ‘दान’ ‘न’ भवति—तस्मात् ब्रह्मणे केवलं चमसो दात-  
व्य इतरेभ्यस्तु दक्षिणा न देया—आनतिस्तु तेषां यथाकथञ्चिन्नौर्िको-  
पायैः सम्पादनीयेत्याशयः ॥ २० ॥

(२१) १०।३।७४-७५ यजूरथोऽध्वर्युमुपैति नान्यम्

( १ ) बाधचिन्ता वर्तते ।

( २ ) वाजपेये श्रूयते-‘यजुर्युक्तं रथमध्वर्यवे ददाति’ इति । [ अस्यार्थ-  
रथशकटादीनि सप्तदशद्रव्याणि प्राकृतगवाश्वादिद्रव्यबाधकानि विहि-  
तानि तत्र सप्तदशानां रथानामेको रथो मुख्य इन्द्रस्येत्यादि यजुर्वेदे  
कैर्मन्त्रैः सज्जीक्रियते-स वायं यजुर्युक्तो रथ यजूरथ इति चोच्यते ।  
एत रथ दक्षिणाकाले अध्वर्यवे दद्यात्-इत्यर्थः । ]

( ३ ) तत्र सशय — किमयं यजूरथ दक्षिणासु अध्वर्युभागमात्रस्य  
बाधक — उत सप्तदशसु रथेषु प्रदेशेषु अध्वर्युभागस्य नियामक इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — सप्तदशाधिकरणन्यायेनाध्वर्युभागस्य बाधक । त-  
स्मात् इतरेषु रथेषु शकटादिषु वा दक्षिणाद्रव्येषु यजूरथाद् व्यतिरिक्त  
मध्वर्यवे न देयमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — नात्र सप्तदशाधिकरणन्यायावतार वैषम्यात् ।  
तत्र प्राकाशावत्यन्तमप्राप्तौ विहितौ-अत्र तु सप्तदशसु रथेषु यजूरथस्या-  
प्यन्तर्गतत्वान्नात्यन्तमप्राप्तिः । तस्मात् सप्तदशसु यो यजूरथ सोऽवश्यम-  
ध्वर्यवे एव देय इत्यस्मिन्नियमे एव तात्पर्यं विधेरिति न कस्यापि बाधो-  
ऽत्र विवक्षित इति ।

एतदभिप्रेत्याह यजूरथ इति । ‘यजूरथ’ यजुर्युक्तो मुख्यो रथ —  
‘अध्वर्युम्’ अध्वर्यवे एव ‘उपैति’ दीयते-‘नान्यम्’ नान्यस्मै स रथो देय  
इत्येतादृशेन नियमे तात्पर्यं विधिवाक्यस्येत्यर्थः ॥ २१ ॥

न्याया इद्वैकाधिकविंशतिः स्युः ।

स्पष्टम् ।

इति दशमस्य तृतीयः ।

**अथ दशमस्य चतुर्थः ।**

[ बाधप्रतियोगिसमुच्चयनिरूपणपर ]

(१) १०।४।१-२ उपहोमा न बाधन्ते ।

( १ ) बाधानन्तरं तत्प्रतियोगिभूतं समुच्चयश्चिन्त्यते ।

( २ ) अस्त्यग्निचयने नक्षत्रेष्टि । तत्रोपहोममन्त्रा — ‘अग्नये स्वाहा-  
अर्वायै स्वाहा-दुलायै स्वाहा’ इत्यादयः । प्रकृतौ च प्रधानहोमान-  
न्तरभाविनो नारिष्टहोमा विहिता — ‘नारिष्टान् होमान् जुहोति’ इति ।



तत्र च मन्त्रा - 'दश ते तनु वो यज्ञायज्ञिया' इत्यादयः । त इमे नारिष्ट्रहोमाश्चोदकप्राप्ता नक्षत्रेष्टौ ।

( ३ ) तत्र सशय — प्राकृतानां नारिष्ट्रहोमानां वैकृतेरुपहोमैर्बाध उत समुच्चय इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — उपहोमनारिष्ट्रहोमयोर्होमरूपत्वात् कार्यैक्यं प्रतीयते । तस्मादुपहोमैर्नारिष्ट्रहोमानां बाध इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — दृष्टार्थेषु तावद् भवति कार्यैकत्वाद् बाधः । प्रकृते तूभावप्यदृष्टापूर्वार्थौ । अपूर्वं च विधिभेदेन भिद्यते । तस्मादुपहोमनारिष्ट्रहोमयोरपूर्वरूपकार्यभेदान्न बाधोऽपि तु समुच्चय एवाभ्युपेय इति ।

एतदभिप्रेत्याह उपहोमा इति । 'उपहोमा' 'न' 'बाधन्ते'—चोदकप्राप्तान् नारिष्ट्रहोमानिति शेषः ॥ १ ॥

( २ ) १०।४।२ कुशानां बाधकाः शराः ।

( १ ) पूर्वाधिकरणोपवादः ।

( २ ) अस्त्यभिचारकर्म—'सौमारौद्र चरु निर्वपेत् कृष्णानां ब्रोहीणामभिचरन्' । तत्रैव 'शरमय बर्हि' इत्याम्नातम् । प्राकृत कुशबर्हिश्चोदकेन प्राप्तम् ।

( ३ ) तत्र सशय — वैकृतेन शरेण कुशस्य बाध उत समुच्चय इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पूर्वाधिकरणन्यायेनात्र समुच्चय इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — शरमयमित्यत्र विकारार्थं मयट्प्रत्ययः । तस्मात्समस्तस्य बर्हिषः शरविकारत्वम्प्राप्तम् । तेन च कुशस्य बाध एव—कार्यैक्यात् इति ।

एतदभिप्रेत्याह कुशानामिति । 'शरा' वैकृता—'कुशानां' प्राकृतानां—'बाधका' एव—तस्मान्नात्र समुच्चय इत्याशयः ॥ २ ॥

( ३ ) १०।४।२ ( वर्णकान्तरम् ) दर्भमन्त्रार्थयोर्घोषः

( १ ) बाधे विचारविशेषः ।

( २ ) अस्ति वाजपेय—'शरदि वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इति । तत्र श्रूयते—'रथघोषेण माहेन्द्रस्य स्तोत्रमुपाकरोति—दुन्दुभिघोषेण माहेन्द्रस्य स्तोत्रमुपाकरोति' । प्रकृतौ तु 'उपावर्तध्वमिति दर्भाभ्यां स्तोत्रमुपाकरोति' इति श्रुतम् । [ उपाकरणं नाम स्तोत्रम्प्रति प्रेरणम् । ]

( ३ ) तत्र सशय—किं रथघोषेण दुन्दुभिघोषेण च प्राकृतस्य बाधः, रथद्रव्येण दुन्दुभिद्रव्येण च दर्भद्रव्यस्य—उत मन्त्रस्य द्रव्यस्य चेत्युभयोः अपि घोष एव बाधक इति ।

(४) पूर्वपक्ष --घोषो मन्त्रस्य बाधक, रथद्रव्य दुन्दुभिद्रव्य च दर्भद्रव्यस्य । तथैवोभयत्र उभयो कार्यैक्यात् इति ।

(५) सिद्धान्त --घोष एव मन्त्रस्य द्रव्यस्य च बाधक इति ।

एतदभिप्रेत्याह-दर्भेति । 'घोष' रथस्य दुन्दुभेश्च- 'दर्भमन्त्रार्थयो', 'दर्भमन्त्रस्य' दर्भसम्बन्धेन विहितस्य मन्त्रस्य, 'दर्भार्थस्य' दर्भद्रव्यस्य चेत्युभयो- 'बाधक' इति पूर्वेण सम्बध्यते ॥ ३ ॥

(४) १०।४।३-५ बार्हस्पत्यो न बाधक ।

(१) समुच्चयचिन्ता ।

(२) बृहस्पतिसवे श्रूयते- 'बार्हस्पत्य ग्रह गृह्णाति' इति । सन्ति च प्रकृतौ ऐन्द्रवायवाद्या ग्रहा । ते इह चोदकप्राप्ता ।

(३) तत्र सशय-प्राकृता ऐन्द्रवायवाद्या किं बार्हस्पत्येन बाध्यन्ते उत समुच्चयन्ते ।

(४) पूर्वपक्ष --प्राकृता वैकृतेन बाध्यन्ते । यागनिष्पादनलक्षणस्य कार्यस्यैकत्वात् । ग्रहशब्दसम्बन्धश्च कार्यैक्यगमक इति ।

(५) सिद्धान्त-इहोपदिष्टस्य बार्हस्पत्यस्यातिदिष्टैरैन्द्रवायवादिभिः समुच्चय एव न्याय्य । यागनिष्पादकत्वं तु सहितानामेव नैकैकस्य । ग्रहशब्दश्चापूर्वविधेयग्रहणक्रिया वक्ति- न तु प्रकृतौ क्लृप्तकार्यं कञ्चित् पदार्थमनुवदति । तस्मात्समुच्चय इति ।

एतदभिप्रेत्याह बार्हस्पत्य इति । 'बार्हस्पत्य' ग्रह- 'न' 'बाधक' वैकृतानां ग्रहाणाम्-अपि तु समुच्चायक एवेत्याशयः ॥ ४ ॥

(५) १०।४।६ प्राजापत्या न बाधन्ते

(१) समुच्चयचिन्ता ।

(२) वाजपेये श्रूयते- 'सप्तदश प्राजापत्यान् पशुमालभते' इति । प्रकृतौ तु सन्ति आग्नेयादयः पशवः । ते इह चोदकप्राप्ता ।

(३) तत्र सशय-प्राजापत्या आग्नेयादीन् बाधन्ते न वेति ।

(४) पूर्वपक्ष बाध एव-पशुत्वलिङ्गात् । नहि पशुशब्दोऽपूर्वविधेयक्रिया काञ्चिद् वक्ति इति ।

(५) सिद्धान्त --पूर्वाधिकरणन्यायोऽत्रापि योजनीयः । वाजपेय-प्रसङ्गेन श्रूयते- 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति कस्मात् सर्वे वाजपेये यज्ञकृत-वरुध्यन्ते आग्नेयः पशुमालभते ऽग्निष्टोममेतेनावरुध्ये- ऐन्द्राग्नेनोक्तम्' इत्यादि । अत्र च वाक्ये चोदकप्राप्तान्नेयादिपशुसङ्गावस्थं वाजपेये सिद्धवदनुवादात्-वैकृतैस्सह प्राकृतानां समुच्चयोऽभ्युपगन्तव्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह प्राजापत्या इति । 'प्राजापत्या' पशव — 'न, बाध-  
न्ते'—वाजपेये प्राकृतानाग्नेयादीन् पशूनिति—अपि तु समुच्चय एवा-  
ज्ज्ञेत्याशय ॥ ५ ॥

(६) १०।४।७-६ अनुयाजाः स्युः सहामनैः ।

(१) समुच्चयोदाहरणम् ।

(२) साङ्ग्रहणीये श्रूयते—'आमनमस्यामनमस्य देवा ये सज्जाता  
इति तिस्र आहुतीर्जुहोति' इति । सृन्ति प्रकृतौ त्रयोऽनुयाजा । ते  
चात्र चोदकप्राप्ता ।

(३) तत्र संशय — किमासनहोमैरनुयाजा बाध्यन्ते—उत समुच्ची-  
यन्त इति ।

(४) पूर्वपक्ष — त्रित्वलिङ्गसाम्येनानुयाजा आमनहोमैर्बाध्यन्ते—इति ।

(५) सिद्धान्त — कर्मान्तरमत्र विधीयते । तस्मान्न बाधोऽपि तु  
समुच्चय एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह अनुयाजा इति । 'अनुयाजा' त्रयोऽनुयाजाहुतय —  
'आमनैः आमनहोमैः—सह' समुच्चिता — 'स्युः' भवेयु — न तु बाधिता  
इति शेषः ॥ ६ ॥

(७) १०।४।८-६ उपगान समुच्चयम्

(१) समुच्चयोदाहरणम् ।

(२) गवामयनेऽस्ति महाव्रत नामैकाह । तत्र श्रूयते—'पत्न्य उप  
गायन्ति' इति । सन्ति च प्रकृतानुपगातार ऋत्विज । तेऽत्र चोदकप्राप्ता ।

(३) तत्र संशय — विकृतौ गायन्तीभि पत्नीभि प्राकृता उपगा  
तार ऋत्विज बाध्यन्ते । उत समुच्चीयन्त इति ।

(४) पूर्वपक्ष — गानशब्दो हि शारीर्या गीतौ प्रसिद्ध । तस्माद्  
गानमेवोपगानम् । ततश्च विकृतौ ऋत्विक्कार्यमुपगान पत्न्य एव कुर्व  
न्ति । तस्माद्ऋत्विजो निवर्तन्ते—एव च ऋत्विक्कर्तृकमुपगान बा  
ध्यत इति ।

(५) सिद्धान्त — 'दिक्षु दुन्दुभयो नदन्ति' इति दुन्दुभिगानस्यान  
न्तर विहित पत्नीभिरुपगान ऋत्विक्कृतसामगानात् कर्मान्तरम् । तन्त्री  
गानेऽपि गानशब्द प्रयुज्यते । तस्यैवोपगान पत्नीभिरुपगानम् । तस्मात्  
पत्नीकृतोपगानेन ऋत्विक्कृतोपगानस्य न बाधोऽपि तु समुच्चय एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह उपगानमिति । 'उपगानम्' पत्नीकर्तृकम् ऋत्विक्कर्तृ  
कमित्युभयम्—'समुच्चयम्' सह प्रयोज्यम्—नानयोर्बाध्यबार्धकभावा  
इत्याशय ॥ ७ ॥

( १ ) समुच्चयोदाहरणम् ।

( २ ) महाव्रते श्रूयते—‘श्लोकेन पुरस्तात् स्तुवते अनुश्लोकेन पश्चात्’ इति । प्रकृतौ तु सन्त्याज्यपृष्ठादिस्तोत्रगतानि रथन्तरवामदेव्य नामकानि सामानि ।

( ३ ) तत्र सशय —वैकृत श्लोकस्तोत्र प्राकृताना साम्ना बाध कन्न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —प्रकृतौ ‘आज्यै स्तुवते’ इत्यादि श्रूयते-विकृतौ च ‘श्लोकेन स्तुवते’ इत्यादि । उभयत्रैकस्यैव कार्यस्य लवनरूपस्य सत्त्वाद् बाधो वैकृतेन प्राकृतानामिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —श्लोकेनेत्यत्र वाक्ये गुणद्वयविशिष्टा स्तुतिर्विधो यते—प्रकृतौ चान्यदेव विशेषण स्तोत्रस्य । विशेषणभेदेन च विशेष्ययो भेदः । एव च कार्यैक्याभावे नास्ति बाध —अपि तु समुच्चय एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह श्लोक इति । ‘श्लोकस्तोत्र’ वैकृत-‘न बाधकम्’ प्राकृताना स्तोत्राणामिति शेषः । तस्मादत्र समुच्चय एवेत्यर्थः ॥ १० ॥

( ११ ) १०।४।१७ ( वर्णकान्तरम् ) कौत्सादि पूर्व बाधेत

( १ ) समुच्चयापवादः ।

( २ ) विकृतिविशेषे श्रूयते—‘कौत्स भवति काएव भवति’ इति । प्रकृतौ तु सामान्तरम् ।

( ३ ) तत्र सशय —किं कौत्सादिना प्राकृतस्य साम्नो बाध उत समुच्चय इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —कार्यैक्याभावात् समुच्चय इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —प्रकरणात् कन्वङ्गत्वे सति ऋगक्षराभिर्यक्तिसा मर्थ्यलक्षणप्राकृतलिङ्गेन कार्यैक्यमवगम्यते । तस्माद् बाध इति ।

एतदभिप्रेत्याह कौत्सेति । ‘कौत्सादि’ कौत्स काएवमिति सामद्वयम्—‘पूर्व’ प्राकृत—‘साम’ ‘बाधेत’—तस्मान्नात्र समुच्चय इति भावः ॥ ११ ॥

( १२ ) १०।४।१८-१९ तद्बाधः समसङ्गचया ।

( १ ) बाधोदाहरणम् ।

( २ ) पूर्वोदाहृतमेव वाक्यम्—‘कौत्स भवति—काएव भवति—वसिष्ठस्य जनित्रे भवत—शुद्धाशुद्धीये भवत—भर्गयशसो भवत—क्रौञ्चानि भवन्ति’ इति । सन्ति च प्राकृतानि सामानि चोदकप्राप्तानि कौत्सादीनि प्राकृताना बाधकानीति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र सशय —किं सर्वाणि वैकृतानि सर्वेषां प्राकृताना बाधकानि—अथवा एकवचनान्तनिर्दिष्टमेकस्य बाधक, द्विवचनान्तनिर्दिष्ट द्वयोः, बहुवचनान्तनिर्दिष्ट बहूनामिति नियम इति ।

(४) पूर्वपक्ष —नियामकाभावात् सर्वाणि सर्वेषां बाधकानीति ।

(५) सिद्धान्त —सन्त्येव नियामिका एकादिवचनरूपा श्रुतयः । 'कौत्स' 'जनित्रे' 'क्रौञ्चानि' इति बाधकेषु श्रूयमाणानि एकवचनद्विवचनबहुवचनानां बाध्यानामप्येतत्सङ्ख्यावस्व सूचयन्ति । तस्मात् समसङ्ख्यकयोरेव बाध्यबाधकभावः न सर्वं सर्वस्य बाधकमिति ।

एतदभिप्रेत्याह तदिति । 'तस्य' प्राकृतस्य साम्न 'बाध'—वैकृतेन कौत्सादिना साम्ना—'समसङ्ख्यया' एकवचनाद्यनुसारेणैव—स्यादिति शेषः । विकृतावेकवचननिर्दिष्टम् सौम प्राकृतस्यैकस्य साम्नो बाधकम्, द्विवचननिर्दिष्टं द्वयोरित्येव क्रमेण वक्तव्यं बाध इत्याशयः ॥ १२ ॥

(१३) १०।४।२० न बाधः स्तोमवृद्धौ तु

(१) बाधापवादोदाहरणम् ।

(२) सन्ति विवृद्धस्तोमका अविवृद्धस्तोमकाश्च कृतवः । तत्र क्वचित् विकृतौ प्राकृतौ स्तोत्रसङ्ख्या विवृद्धा भवति क्वचिद् हीना भवति ।

(३) तत्र सन्देहः—विकृतौ हानौ वृद्धौ वा उभयत्रापि प्राकृतानां साम्ना बाधः—उत हानौ बाधः विवृद्धावबाध इति ।

(४) पूर्वपक्षः—उभयत्रापि प्राकृतानां बाध एवेति ।

(५) सिद्धान्तः—विवृद्धौ न बाधः । आगमेन हि साम्ना सङ्ख्या पूरणं वक्ष्यतेऽग्रे (१०।५।२३) । एव च चोदकानुग्रहोऽपि भवति । यदा तु अविवृद्धस्तदा प्राकृतानां यावता बाधने वैकृतौ सङ्ख्या पूर्यते तावत् बाधितव्यमन्यच्च ग्राह्यमेव । तस्माद् विवृद्धस्तोमकेषु न बाधः अविवृद्धस्तोमकेषु यावदपेक्षितं बाधितव्यमिति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'स्तोमवृद्धौ' स्तोमसङ्ख्यावृद्धौ—'बाध' प्राकृतानां सर्वेषां साम्ना—'न'—स्यात्—अपि तु यावत् परित्यागेन वैकृतौ सङ्ख्या पूर्यते तावत् एव बाध इत्याशयः ॥ १३ ॥

(१४) १०।४।२१-२२ पवमानेऽधिकोद्बृद्धौ

(१) पूर्वाधिकरणशेषः ।

(२) वृद्धस्तोमकेषु प्राकृतानाम् अबाधे आवाप (प्रवेश) —अविवृद्धस्तोमकेषु तु बाधे उद्वाप (बहिष्करणम्) —इति पूर्वाधिकरणे स्थितम् ।

(३) तत्र सन्देहः—किमनियमेन यत्र कुत्रचित् साम्नि आवापोद्वापौ—उत पवमानेष्वेवेति नियम इति ।

(४) पूर्वपक्षः—यस्मिन् कस्मिंश्चित् स्तोत्रे यस्यां कस्याचिच्च ऋचि आवापोद्वापौ ( वृद्धिहासौ ) इत्यनियमः—नियामकाभावादिति ।

(५) सिद्धान्तः—एव ह्याम्नायते—'त्रीणि ह वा यज्ञस्योदाहरणानि

एतदभिप्रेत्याह पवमान इति । 'अधिकोद्धृती'—'अधिकम्' आधि-  
क्यम्, आवापो, वृद्धि—'उद्धृति' उद्धरणमुद्वाप—ते एते—'पवमाने'  
एव भवत इति शेष ॥ १४ ॥

(२) 'सौर्यं चरु निर्वपेत्' इत्यादिविकृतिषु चोदकातिदिष्टा ये मन्त्रास्तेष्वग्न्यादिशब्दस्थाने सूर्यादिशब्द ऊहितव्य इति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र ऊहे सशय — किं येन केनचिदादित्यादिना सूर्यपर्यायण सूर्यदेवताभिधानं कर्तव्यमुत सूर्यशब्देनैवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — सूर्यदेवतारूपेऽयं प्रत्याययितव्ये येन केनापि पर्यायेण तत्प्रत्यायनं सम्भवति । तस्माद् येन केनापि अभिधानमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — अत्र 'सौर्यं निर्वपेत्' इत्यनेन सूर्यान्वयो भवति । प्रकृतावपि निगमेषु नार्थमात्रविवक्षयाऽग्निशब्दः प्रयुज्यते अपि तु वैध्वं विप्रक्षयाऽपि । तथा सत्यतिदेशोऽपि वैप्रशब्दविषय एव भविष्यति । तस्मात् सूर्यशब्द एव प्रयोक्तव्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह सौर्यं इति । 'सौर्ये' विरुतिधागे-प्राकृताग्निप्रताना मस्थाने सूर्यदेवतानामनि ऊहितये—'सूर्यपदम्' एव—'वदेत्' उच्चारयत्—न य कश्चिदपि पर्यायमित्याशयः ॥ १६ ॥

( १७ ) १०।४।२६-२६ सगुणा देवता वाच्या

( १ ) पूर्वाधिकरणशेषः ।

( २ ) आधाने पवमानहवीषि श्रूयन्ते—'अग्नये पवमानाय पुगोडा शमष्टाकपालं निर्वपेत्-अग्नये पावकाय-अग्नये शुचयः' इति । तत्र गुणसहितोऽग्निरुक्तः । प्राकृतमन्त्रे चास्त्युक्तं केवलोऽग्निः ।

( ३ ) तत्र सन्देहः — निगमे किं सगुणस्याग्नेरभिधानं कर्तव्यमुत गुणरहितस्येति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — गुणरहित एवाग्निरभिधातव्यः — तस्यैव केवलस्य चोदकप्राप्तमन्त्रं पठितत्वादिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — पावकत्वगुणयुक्तो ह्यग्निरत्र वेधः । तस्मात् पूर्वाधिकरणन्यायेन सगुण एवाभिधातव्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह सगुणा इति । 'देवता' अग्न्यादिरूपा 'सगुणा' पावकत्वादिगुणयुक्ता एव—'वाच्या' अभिधातव्या-निगमेष्विति शेषः ॥ १७ ॥

( १८ ) १०।४।३०-३१ बुधन्वान् नाग्निरिष्यते ।

( १ ) पूर्वाधिकरणपवादः ।

( २ ) आधाने पवमानेष्टिष्वज्यभागौ स्त — तौ प्रकृत्य श्रूयते 'बुधन्वानाग्नेयं कार्यं — पावकवान् सौम्यः' इति ।

( ३ ) तत्र सशय — किं सगुणमग्नेरभिधानं कर्तव्यमुत निर्गुणमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पूर्वाधिकरणन्यायेन सगुणोऽग्निर्वाच्य इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — बुधन्वत्ता हि मन्त्रगुणो न देवतागुणः — अग्नेयपदमत्र मन्त्रपरं न यागपरम् । सम्भवति च मन्त्रस्य साक्षात् बुधन्वच्छब्दयोगः — 'अग्निं स्तोमेन बोधय' इत्येव रूपो मन्त्रो बुधधातुयोगाद् 'बु

धन्वान्' भवति । तस्मादत्र देवताया गुणस्यानुक्तत्वात् निर्गुणैव देवता  
ऽभिधानीया भवतीति ।

एतदभिप्रेत्याह बुधन्वानिति । 'बुधन्वान्' इत्यनेन गुणवाचकपदेन  
'अग्नि' 'न' 'इष्यते' विशेष्यम् । तस्मात् निर्गुण एवाग्निरभिधातव्य  
इत्यर्थः ॥ १८ ॥

(१६) १०।४।३२-३३ उस्त्राशब्दोऽनुबन्ध्यायाम्

(१) षोडशाधिकरणन्यायस्योदाहरणान्तरम् ।

(२) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—'गौरनुबन्ध्य' इति । सन्ति च गोरभि  
धानानि—'उस्त्रा उस्त्रिया अही महो अदिति इला' इत्येवमादीनि ।

(३) तत्र सशय —किं मन्त्रेषु येन केनचित् पर्यायेण गोरभिधान  
कर्तव्यमुत वैधेनैव शब्देन कर्तव्यमिति ।

(४) पूर्वपक्ष —प्रकृतौ विधिनिगमयोर्भेदप्रदर्शकनियमो न दृ  
श्यते । तथा हि अग्नीषोमीय पशुरनुबन्ध्यस्य प्रकृति-तत्र च  
'अग्नीषोमीय पशुमालभेत' इति विधौ पशुशब्द-मन्त्रे तु 'छागस्य वपया'  
इति छागशब्द । एवमेव बहुश शब्दयोरभेदोऽपि दृश्यते । एव च प्रकृ  
तावनियम दृष्ट्वा विकृतावप्यनियम एव । तस्माद् येनकेनापि शब्देना  
नुबन्ध्यस्याभिधानमिति ।

(५) सिद्धान्त —प्रकृतौ यो विधिमन्त्रयोर्भेद प्रदर्शित स आ  
र्थिक । न चार्थिक चोदकेनातिदिश्यते । तस्याद् वैध एव शब्दो मन्त्रेषु  
प्रयोक्तव्य । अनुबन्ध्याविषये च 'उस्त्रा' इति भवति वैधशब्द- 'उस्त्राया  
वपाया मेदसोऽनुब्रूहि' इत्याम्नानात् । तस्मादुस्त्राशब्देनैवानुबन्ध्याया  
अभिधानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह-उस्त्रेति । 'अनुबन्ध्याया' गौरनुबन्ध्य इति विहिताया गोर  
भिधाने मन्त्रे 'उस्त्राशब्द' एव प्रयोक्तव्य न तु पर्यायान्तरमिति भावः ॥१६॥

•(२०) १०।४।३४-३५ यौगिकं स्विष्टकृत्पदम् ।

(१) षोडशाधिकरणसदृश एव विचारोऽनुवर्तते ।

(२) अवभृथयागे आम्नायते—'अग्नीवरुणौ स्विष्टकृतौ यजति' इति ।

(३) तत्र सशय --मन्त्रे यदा देवताभिधानं तदा किं स्विष्टकृच्छ्र  
ब्देन रहितौ देवताभिधानशब्दौ प्रयोक्तव्यौ-उत तेन सहिताविति ।

(४) पूर्वपक्ष-स्विष्टकृच्छ्रब्दरहितावेवाग्निवरुणशब्दौ प्रयोक्तव्यौ ।  
स्विष्टकृच्छ्रब्दस्य रूढ्या नाग्निवरुणगुणवाचित्वम्, स्विष्ट कृतवानिति  
भूतार्थे विधिप्रत्ययविधानात् 'य स्विष्ट कृतवान्' इत्ययमेव यौगिकार्थ  
सम्भवति । न चास्यान्वयः । प्रयोगकाले हि इष्टस्य करिष्यमाणत्वं न  
भूतार्थत्वम् इति ।



( ५ ) सिद्धान्त —स्विष्टस्य करिष्यमाणत्वेऽपि विश्वासदाह्येन भविष्यतोऽपि सिद्धवत्प्रयोगो नासम्भवी । तस्माद् यौगिकार्थेनान्वयसम्भवात् स्विष्टकृच्छ्रवदुक्तवेवाग्निवरुणशब्दौ प्रयोक्तव्याविति ।

एतदभिप्रेत्याह यौगिकमिति । ‘स्विष्टकृत्पदम्’-अग्निवरुणौ स्विष्टकृतौ यजति इत्यत्र प्रयुक्त ‘यौगिकम्’ शोभनेष्टकर्तृयेतद्यौगिकार्थवाचि तयैव ग्राह्यम्-ततश्च गुणवाचिना तेन पदेन सहैव अग्निवरुणशब्दौ प्रयोक्तव्यौ मन्त्रे इत्याशय ॥ २० ॥

( २१ ) १०।४।३६-३७ गुणलोपस्तु सार्वत्रः

( १ ) पूर्वाधिकरणपवाद ।

( २ ) अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीय । तत्र स्विष्टकृति गुणरहित केवलोऽग्नि श्रूयते-‘अग्नि यजति’ इति ।

( ३ ) तत्र सशय --किं यागे एव स्विष्टकृतो गुणलोप अवशिष्टेषु मन्त्रेषु यथाप्रकृतिभाव —उत सर्वत्रैव गुणलोप इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —गुणरहितस्याग्नेर्यजिधातुमात्रेणान्वयाद् यागे एव गुणलोप इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —यजतिशब्दस्य समस्तप्रयोगवचनत्वान् अखिलेषु मन्त्रप्रयोगेषु गुणलोप इति ।

एतदभिप्रेत्याह गुणेति । ‘गुणलोप’ गुणरहिताग्निशब्दप्रयोग-सर्वेषु मन्त्रेषु भवतीति भाव ॥ २१ ॥

( २२ ) १०।४।३८ अनुयाजः स्विष्टकृद्गुणः ।

( १ ) प्रासङ्गिको विचार ।

( २ ) स्तो दर्शपूर्णमासौ । तत्र स्विष्टकृत्—‘अनुयाजेष्वग्निं स्विष्टकृतं यजति’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किं स्विष्टकृद्यागोऽनुयाजेष्वारादुपकारक उत सस्कारक इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —एतद्धि कर्मणा प्रसिद्धं कार्यं यत् आरादुपक्रिया । तस्मात् स्विष्टकृत् अनुयाजानामारादुपकारक इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —सस्कारकमैव स्विष्टकृत् । तथा सत्येव हि प्रयोजनवत् भवति ।

एतदभिप्रेत्याह अनुयाज इति । ‘अनुयाज’ ‘स्विष्टकृत्’ अग्नौ ‘गुण’ सस्कारको यस्य स एवभूतो भवतीति शेष ॥ २२ ॥

( २३ ) १०।४।३९-४१ याज्यानुवाक्ये संस्कारौ

( १ ) पूर्वाधिकरणविचारो वर्तते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयो श्रूयते—‘याज्यामन्वाह पुरोऽनुवाक्यामन्वाहेति’ ।

( ३ ) तत्र सशय —याज्यापुरोनुवाक्यानुवचन कि प्रधानकर्म उत सस्कारकर्मैति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —प्रधानकर्मैति ।

( ५ ) सिद्धान्त —चोदितदेवतास्मरणसस्कार एव दृष्टप्रयोजनमनुवचनस्य । सति तु दृष्टे प्रयोजनेऽदृष्टकटपनाऽन्याय्या । अदृष्टकटपन तु प्रधानकर्मैवे दुर्वारम् । तस्मात् सस्कारकर्मैति ।

एतदभिप्रेत्याह याज्येति । ‘याज्या’ च ‘पुरोऽनुवाक्या’ चेत्यनयोरनुवचने—‘सस्कारौ’ सस्कारकर्मणी-न प्रधानकर्मणी-इति भाव ॥२३॥

(२४) १०।४।४२ मनोता न विकारभाक् ।

( १ ) बाधे प्रासङ्गिकी चिन्ताऽनुवर्तते ।

( २ ) अस्ति वायव्य पशु —‘वायव्य श्वेतमालभेत भूतिकाम’ इति । अस्ति च प्रकृतावग्नीषोमीयपशौ मनोतामन्त्र —‘त्व ह्यग्ने प्रथमो मनोता अस्या धियो अभवोदस्महोता’ इति—स च मन्त्र वायव्ये चोदकेन प्राप्त ।

( ३ ) तत्र सन्देह —कि अग्निस्थाने वायुमूहयित्वा पठनीयो मन्त्र उताविकारेण यथावस्थित एवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —ऊहयित्वा प्रयोक्तव्यो मनोतामन्त्र । तथैव देवता विधिरनुगृहीतो भवतीति ।

( ५ ) सिद्धान्त —‘यद्यप्यन्यदेवत्यः पशु आग्नेय्येव मनोता कार्या’ इति स्पष्टमूहो निषिध्यते । तस्माद् यथावस्थित एव पाठ इति ।

एतदभिप्रेत्याह मनोतेति । ‘मनोता’ मनोतामन्त्र —‘न’ ‘विकार-भाक्’ विकारम् ऊह न भजते—वायव्ये पशाविति शेष ॥ २४ ॥

(२५) १०।४।४३-४६ स्वयोनौ साम कएवरथ्यम्

( १ ) प्रासङ्गिको विचारो बाधस्य ।

( २ ) वैश्यस्तोमे श्रूयते—‘कएवरथन्तर पृष्ठ भवति’ इति । उभय विकारः कएवरथन्तरमिति च नवमे स्थितम् ( ९।२।४८ ) ।

( ३ ) तत्र सन्देह —कएवरथन्तर कि बृहतो योनौ रथन्तरस्य वा योनावनियमेन गेयम्—उत रथन्तरस्यैव योनौ—उत कएवरथन्तरस्य योनाविति ।

(४) पूर्वपक्ष — चोदकप्राप्तयोर्विशेषनियामकाभावात् अनियम इत्येक पक्ष । रथन्तरविशेष एव कण्वरथन्तरम्—तस्मात् रथन्तरयो-  
नावेव गेयमिति द्वितीय पक्ष ।

(५) सिद्धान्त — बृहद्रथन्तरसाम्नोरेव प्रकृतावङ्गत्वम्, न तद्यो-  
न्यो । अतो नास्ति तद्योन्योरतिदेशेन प्राप्ति । कण्वरथन्तर च रथन्तराद्  
भिन्नम् । तस्मात् कण्वरथन्तरयोनावेव गेयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह स्वेति । 'कण्वाख्यम्' कण्वनामक 'साम' कण्वर-  
थन्तरम्—'स्वयोनौ' एव गेयमित्यर्थ ॥ २५ ॥

(२६) १०।४।४७-४८ स्वयोन्युत्तरयोश्च तत् ।

(१) पूर्वाधिकरणशेष ।

(२) कण्वरथन्तरे एवोक्तम्—'उत्तरयोर्गायति' इति । कण्वरथ-  
न्तरसाम्ना ऋचा त्रयमाश्रय । तत्र एका स्वयोनि । इतरे स्वयोन्यु-  
त्तरे । एव बृहद्रथन्तरयोरपि ।

(३) तत्र सन्देह — किं रथन्तरयोन्युत्तरयोर्बृहद्योन्युत्तरयोर्वाऽनि-  
यमेन गेयम्—उत स्वयोन्युत्तरयोरिति ।

(४) पूर्वपक्ष — बृहदुत्तरयो रथन्तरोत्तरयोर्वाऽतिदेशप्राप्त्यविशे-  
षेण स्वेच्छया गानमिति । अथवा नामसाम्याद् रथन्तरोत्तरयोरेव गेयम्  
इति द्वितीय पक्ष ।

(५) सिद्धान्त — योनिवद् उत्तरयोरपि उत्तराग्रन्थपठितत्वात्  
स्वयोन्युत्तरयोरेव गेयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह स्वेति । 'तत्' कण्वरथन्तर साम—'स्वयोन्युत्तरयो-  
च'—गेयमिति शेष ॥ २६ ॥

(२७) १०।४।४९ स्तोत्रे शस्त्रे विकारो नो

(१) ऊहविचार ।

(२) अस्त्यग्निष्टुत् एकाह । तत्र श्रूयते—'आग्नेया ग्रहा भवन्ति'  
इति । प्राकृते च स्तोत्रशस्त्रे नानादैवतेऽत्र चोदकप्राप्ते ।

(३) तत्र सन्देह — किंप्राकृतयो स्तोत्रशस्त्रयोर्द्वयतानुसारेणोह  
उत यथावस्थित एव पाठ इति ।

(४) पूर्वपक्ष — स्तोत्रशस्त्रयो सस्कारकर्मत्वादस्त्यूह इति ।

(५) सिद्धान्त — स्तोत्रशस्त्रयो प्रधानकर्मत्वमिति द्वितीयाध्याय  
प्रथमपादीयपञ्चमार्धिकरणे स्थितम् । तस्मान्नास्त्यूह इति । ' ' "

एतदभिप्रेत्याह स्तोत्र इति । 'स्तोत्रे' 'शस्त्रे' च विकार' ऊह—'नो'  
न भवतीति शेष ॥ २७ ॥

(२८) १०।४।५०-५६ निगमाश्चाज्यपानिति ।

( १ ) ऊहविचारो वर्तते ।

( २ ) चानुर्मास्येष्वनुयाजान् प्रकृत्य समाप्नातम्—पृषदाज्येना  
नुयाजान् यजति' इति । अस्ति च प्रकृतावावाहनम्—'देवाज्यपानावह'  
इति । सच्च चोदकेनानुयाजेषु प्राप्तम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह—विकृतौ किमविकारेणावाहनं कर्तव्यमुत ऊहेनेति ।

( ४ ) ऊहेनावाहनम्—ऊहश्च—'दध्याज्यपान्' 'दधिपान्' 'पृषदा-  
ज्यपान्' इत्येतेषामन्यतरूपेण कर्तव्यं इति ।

( ५ ) सिद्धान्त—नास्त्यूह । यद्यपि पृषदाज्यस्य हविष्वध्वमनुया  
जेषूक्तम् तथापि पृषत्त्वं नाम चित्रता । तच्च आप्यस्य गुणः । स च गुणो  
दधिमिश्रणेन लभ्यते आज्ये । तस्मादाज्यस्यैव द्रव्यत्वात् नास्त्यूह ।  
'आज्यपान्' इति शब्दोपेता सर्वे मन्त्रा पठनीया इति ।

एतदभिप्रेत्याह निगमा इति । 'निगमा' आवाहनमन्त्राश्च—'आ  
ज्यपान्' इत्येव यथावस्थितरूपा एव पठनीया । नात्रोह इत्याशयः ॥२८॥

न्यायाश्चतुर्थपादेऽस्मिन्नष्टाविंशतिरीरिताः ।

स्पष्टम् ।

इति दशमस्य चतुर्थः ।

## अथ दशमाध्यायस्य पञ्चमः पादः ।

[ बाधप्रसङ्गागतो ग्रहादिविचारः ]

(१) १०।५।१-६ बह्वेकदेशग्रहणेऽन्त्यलोपः

( १ ) बाधप्रसङ्गागता ग्रहचिन्ता प्रवर्तते ।

( २ ) प्रकृतौ—'आग्नेयमष्टाकपालम्' इत्यष्टसङ्ख्याकानि कपालानि ।  
विकृतिषु—'द्यावापृथिव्यमेककपालम्' आश्विनं द्विकपालम्' इत्यादि  
प्राकृताया अष्ट्वसङ्ख्याया न्यूना कपालसङ्ख्या ।

( ३ ) तत्र सन्देह—अष्टानां कपालानां केषांचित् विकृतौ परित्य  
क्तव्यं—किमनियमेन यस्य कस्यापि कपालस्य परित्यागः—उताद्यभा  
गानामैव—उतान्यभागानामेवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—आद्य मध्यममन्त्य वा यः कश्चिदेकदेशं परित्य  
ज्यावशिष्टो ग्रहीतव्यः । नियामकाभावात् इति ।

(५) सिद्धान्त—‘आचतुर्थात् कर्मणोऽभिसमीक्षेत-इदं करिष्यामि इदं करिष्यामि’ इत्युक्तम् । ततश्च अनुक्रमेण स्मृत्याऽनुष्ठेयानि । प्रकृते चास्ति क्रमो नियतः । एव च सति प्रतीतपरित्यागाप्रतीतस्वीकारयोरन्याय्यत्वात् आद्य एव भागो ग्राह्योऽन्त्य एव परित्याज्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह बह्विति । ‘वहूना’ कपालानाम् मध्ये ‘एकदेशस्य’ एक भागस्य ‘ग्रहणे’ उपस्थिते—‘अन्त्यस्य’ एव भागस्य ‘लोप’ त्याग—आद्यस्य तु ग्रहणमित्याशयः ॥ १ ॥

(२) १०।५।७-६ एकत्रिके स्यात् तृचमाद्यमेव ।

(१) बाधे प्रासङ्गिको विचारः ।

(२) अस्यैकत्रिकं क्रतुः । तत्र श्रूयते—‘अथैष एकत्रिक—तस्यैकस्या बहिष्पवमानम् तिसृषु होतुराज्यम् एकस्याम्मेत्रावरुणस्य तिसृषु ब्राह्मणाच्छसिन एकस्यामच्छावाकस्य तिसृषु माध्यन्दिनं पयमान’ इति । सन्ति च प्रकृतौ माध्यन्दिनपवमानस्य त्रयस्तृचाः ।

(३) तत्र सशयः—‘तिसृषु माध्यन्दिनं पयमान’ इति यच्छ्रुतं तत्र किं त्रयाणां तृचामाद्यास्तिस्रः ऋचो ग्राह्या—उत प्रथमतृचस्या एव क्रमात्मातास्तिस्र इति ।

(४) पूर्वपक्षः—‘त्रिच्छन्दा माध्यन्दिनं पयमान’ इति प्रत्यक्षश्रुतिबलेन त्रयाणां तृचानामाद्यास्तिस्रः ऋचो ग्राह्या इति ।

(५) सिद्धान्तः—पाठक्रमेण प्रथमप्रक्रान्तस्यैव गायत्रीच्छन्दस्कस्य प्राप्तौ तत्परित्यागे मानाभावात् तस्यैवैकस्य त्रिचस्य तिस्रः ऋचो ग्राह्या इति ।

एतदभिप्रेत्याह एकेति । ‘एकत्रिके’ क्रतौ—‘आद्यम्’ प्रथमम् गायत्रीच्छन्दस्कमेव—‘तृचम्’ तिस्रः ऋचः—‘स्यात्’—ग्राह्यमिति शेषः ॥ २ ॥

(३) १०।५।१०-११ भवेदृगेका धुरि सामगीतौ

(१) बाधे प्रासङ्गिकविचारः ।

(२) अस्यैकत्रिकं क्रतुः पूर्वमुक्तः । सन्ति च तत्र धुरि सामानि ।

(३) तेषु सामसु सशयः—किं तृचे गेयान्युक्तैकस्यामृचि इति ।

(४) पूर्वपक्षः—चोदकेन तृचे एव सामानीति ।

(५) सिद्धान्तः—‘आवृत्तं धूर्षु स्तुवते’ इति धूर्गानस्य आवृत्तिः श्रूयते । तस्माद् एकस्यामेवार्चि सामानीति ।

एतदभिप्रेत्याह भवेदिति । ‘धुरि सामगीतौ’ धुरि यत् सामानि गीयन्ते तत्र—‘एका’ एव ‘ऋक्’ भवेत्—गानस्याश्रय इति शेषः ॥ ३ ॥

(४) १०।५।१२-१३ अहर्गणे स्युर्दशरात्रधर्माः ।

( १ ) बाधोदाहरणम् ।

( २ ) सन्त्यहीनस्य द्वादशाहस्य विकृतयो द्विरात्रादयोऽहर्गणा ।

( ३ ) तेषु सशय —किमेतेष्वहर्गणेषु कृत्स्नस्य द्वादशाहस्य विध्यन्त प्रवर्तते—उताद्यौ द्वौ प्रायणीयोदयनीयौ वर्जयित्वा दशरात्रस्येति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —विशेषाभिधानाभावात् चोदकेन कृत्स्नस्य विध्यन्त प्राप्नोति ।

( ५ ) सिद्धान्त —यत् प्रथमं तद् द्वितीयम् यद् द्वितीयं तत् तृतीयम् इति द्विरात्रप्रकरणे श्रूयते । तस्यार्थ —‘यद् द्विरात्रस्य प्रथममहर्गणं तद् द्वादशाहस्य द्वितीयमित्यादि’ । तदेतत् आद्यस्य प्रायणीयस्य वर्जने लिङ्गम् । तथा चोक्तम्—‘जगतीमन्तर्गच्छति’ इति—तत्र च षडहर्गणं तृतीयं जागत अन्तरीयमाणं दर्शयति—तच्च दशरात्रस्य प्रवृत्ति उदयनीयवर्जने च सूचयति । एवमाद्ययोर्वर्जने लब्धे यदवशिष्टं दशरात्रं तस्यैव विध्यन्त प्रवर्तते इति ।

एतदभिप्रेत्याह अहरिति । ‘अहर्गणे’ द्विरात्रादौ—‘दशरात्रस्य’ एव ‘धर्मा’—‘स्यु’—अनुष्ठिता, न द्वादशाहस्य कृत्स्नस्येति शेषः ॥ ४ ॥

(५) १०।५।१४ नाद्यादरः स्यात् पवनादिमन्त्रे

( १ ) क्रमबाधोदाहरणम् ।

( २ ) अग्निचयने अग्नौ पवनार्था आधूननार्थाश्च बहवो मन्त्रा पठिता । प्रयोगे तु तेषां सङ्ख्यानियमः श्रूयते—‘चतुर्दशभिर्वपति’ ‘सप्तमिराधुनोति’ इति ।

( ३ ) तत्र सशय —के एते चतुर्दश सप्त वा मन्त्राः । किमाद्या एव चतुर्दश सप्त वा ग्राह्या —उत अनियमः —ये केचन ग्राह्या इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —प्रथमाधिकरणन्यायेनाद्यानामेव ग्रहणमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —यथोक्तसङ्ख्यातिरिक्ता मन्त्रा पठिता । यदि नियमेनाद्यानामेव ग्रहणं विवक्षितं भवेत्तर्हि इतरेषां पाठस्य वैयर्थ्यापत्तिः । तस्मात् न नियमः । निजेच्छया उक्तेषु मन्त्रेषु यत्रकचनारभ्य अपेक्षिता सङ्ख्या पूरणीयेति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । पवनादिमन्त्रे पवमानार्थानां आधूननार्थानां च मन्त्राणां प्रयोगे—‘आद्यादरः’ आद्ये आदरः—आद्यमेवारभ्य पठनीया मन्त्रा इति नियमः —‘न स्यात्’—अपि तु अनियम एवेति भावः ॥ ५ ॥

(६) १०।५।१५-२५ सामागमेनाधिकसङ्ख्यपूर्तिः ।

( १ ) बाधप्रसङ्गेन विचार ।

( २ ) सन्ति विवृद्धस्तोमका क्रतव — 'एकविशनातिरात्रेण प्रजा काम याजयेत्—त्रिण्वेनोजस्कामम्—त्रयस्त्रिंशेन प्रतिष्ठाकामम्' इति । सन्ति च प्रकृतौ त्रिवृत्पञ्चदशादिस्तोमा । तेषामेव विवर्धनेन एकविंशति—त्रिण्व-त्रयस्त्रिंशस्तोमा भवन्ति ।

( ३ ) तत्र सशय — अत्रोक्ता विभिन्ना सङ्ख्या किं प्राकृतानां सामान्याभ्यासेन पूरणीया — उत अत्राकृतानामागमेनेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — अनुक्तस्य साम्न आगमने प्रमाणाभावात् प्राकृतानामभ्यासेनैव सङ्ख्या पूरणीया इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — अभ्यासोऽपि साक्षाच्छ्रुतः । सङ्ख्यापुङ्गवाद्येन स कल्प्येत । सङ्ख्यापूरणं च लोके द्रव्यान्तरागमेनैव भवति नाभ्यासेन । न ह्यष्टकृत्व एक घटमानीयाष्टघटवत्त्वं गृहस्य भवति । तस्मात् सामान्तरागमागमेनैव सङ्ख्यावृद्धिरिति ।

एतदभिप्रेत्याह सामेति । 'अधिकसङ्ख्यपुर्ति'—अधिका सङ्ख्या यस्य स्तोमस्य तस्य एकविंशतिसङ्ख्यकस्तोमस्य 'पुर्ति' सङ्ख्यापुङ्गवम् 'सामागमेन' साम्ना प्राकृताद् भिन्नानां 'आगमेन' प्रवेशेन—एव—स्यात् इति शेष — न तु प्राकृतानामभ्यासेनेत्यर्थः ॥ ६ ॥

( ७ ) १०।५।२६ ऋगागमः स्यात् पवमान आद्ये

( १ ) पूर्वाधिकरणपवादः ।

( २ ) सन्ति विवृद्धस्तोमका क्रतव पूर्वोक्ता ।

( ३ ) तत्र पुनः सशय — बहिष्पयमाने किं साम्नामागम उताभ्यास इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पूर्वाधिकरणन्यायेन सामागम इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — 'एक हि तत्र साम' इति बहिष्पयमानं प्रकृत्या म्नायते । अतः सामान्तरागमो न सम्भवति । अतः ऋगन्तरागमेनैव सङ्ख्याविवृद्धिः कर्तव्येति ।

एतदभिप्रेत्याह ऋगिति । 'आद्ये पवमाने' बहिष्पयमानस्तोमे—'ऋच' ऋगन्तरस्य एव 'आगम' 'स्यात्'—न तु सामान्तरस्येत्याशयः ॥ ७ ॥

( ८ ) १०।५।२७-३३ ऽभ्यस्या यथोक्तं खलुं सामिधेनी ।

( १ ) पूर्वाधिकरणद्वयापवादः ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोः पञ्चदश सामिधेनीर्विधाय विकृतिकामेष्टिषु—'एकविंशतिमनुब्रूयात् प्रतिष्ठाकामस्येत्यादि सामिधेनीसङ्ख्यावृद्धिः श्रूयते ।

( ३ ) तत्र सशय —इय सङ्ख्यावृद्धि किमृगागमेनोताभ्यासेनेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —पूर्वाधिकरणन्यायेन ऋगागमेनेति ।

( ५ ) सिद्धान्त —एकादशैव सामिधेनीमन्त्रा । प्रकृतौ तासा पञ्च-  
दशत्वं ऋगागमेन न कृतमपि तु 'त्रि प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' इत्यभ्या-  
सैर्नैव सङ्ख्याविवृद्धिराम्नाता । अतः काम्येष्वपि तथैवाभ्यासेन सङ्ख्या-  
विवृद्धिः कर्तव्या । किन्तु यद्वृषोऽभ्यासः प्रकृतावाम्नातस्तस्यैव विवृद्धौ  
प्रति न तदतिरिक्ताभ्यासस्य । तस्मात् प्रकृतिवत् त्रि प्रथमा त्रिरुत्तमाम्  
भ्यस्य पञ्चदश पूरयित्वाऽवशिष्टा षट्सङ्ख्या ऋगागमेन पूरणीयेति ।  
एवमत्राभ्यासेनागमेन चेत्युभाभ्यामेवापेक्षितसङ्ख्यापूरणमिति ।

एतदभिप्रेत्याह अभ्यस्येति । 'सामिधेनी' सामिधेनीमन्त्रा एकादश-  
'यथोक्त' प्रकृतौ यथा 'त्रि प्रथमा त्रिरुत्तमाम्' इत्यभ्यासप्रकार उक्त-  
स्तथैव—'अभ्यस्या' अभ्यसनीया 'खलु'—न तदतिरिक्ताऽभ्यसनीया-  
अवशिष्टा तु सङ्ख्या ऋगागमेनैव पूरयितव्येति भावः ॥ ८ ॥

( ६ ) १०।५।३४-४१ स्यात् षोडशी तु प्रकृतौ प्रयोगे

( १ ) बाधे प्रासङ्गिको विचार ।

( २ ) ज्योतिष्टोमप्रकरणे श्रूयते—'षोडशिन गृह्णाति' इति ।

( ३ ) तत्र सशय —अथ षोडशी किं प्रकृतौ निविशते—उत विकृ-  
तौ इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —षोडशिनः प्रकृत्य 'उत्तरेऽहन् द्विरात्रस्य गृह्यते  
मध्यमेहन् त्रिरात्रस्येति' श्रुतम् । द्विरात्रादीनां च विकृतित्वं प्रसिद्धम् ।  
तस्माद् विकृतिगामी षोडशीति ।

( ५ ) सिद्धान्त —'अग्निष्टोमे राजन्यस्य गृह्णीयात्' इत्येतद् वाक्य-  
मस्ति । तेन प्रकृतिभूतेऽग्निष्टोमे एव निवेशः षोडशिनः । अग्निष्टोमस्य च  
ज्योतिष्टोमसंस्थात्वेन नात्र प्रकरणं बाध्यते इति ।

एतदभिप्रेत्याह स्यादिति । 'षोडशी' षोडशिश्रहण—'तु'—'प्रकृतौ'  
'प्रयोगे' प्रकृत्यनुष्ठानमध्ये एव स्यात् इत्यर्थः ॥ ९ ॥

( १० ) १०।५।४२-४३ स गृह्यते चाग्रयणान्न तूकथ्यात् ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेषः ।

( २ ) उक्ते षोडशिश्रहणे—

( ३ ) सशय —किमय षोडशी आग्रयणपात्रादुक्त्यपात्राच्च गृही-  
तव्य उताग्रयणपात्रादेवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —'उकथ्यान्निगृह्णाति षोडशिनम्'—'आग्रयणाग्निगृ-  
ह्णाति षोडशिनम्' इति वाक्यद्वयबलादाग्रयणादुक्त्याच्च ग्रहीतव्य इति ।



( ५ ) सिद्धान्त — 'त पराञ्चमुक्थ्यान्निगृह्णाति' इत्युक्थ्यवाक्यस्योत्तरकालताविधिपरत्वमुक्तम् । अतो नोभयस्माद् ग्रहणमपि त्वाग्रयणादेवेति ।

एतदभिप्रेत्याह स इति । 'स' षोडशी- 'आग्रयणात्' आग्रयणपात्राद् 'गृह्यते'- 'न तु उक्थ्यात्' उक्थ्यपात्रादिति सम्बन्धः ॥ १० ॥

( ११ ) १०।५।४४-४८ ग्राह्यस्तृतीये सवने स नूनम्

( १ ) पूर्वाधिकरणशेषः ।

( २ ) षोडशिग्रहणे—

( ३ ) पुनः सशयः—किमिदं गृहणं प्रतिसवनं भवत्युत तृतीये एव सवने इति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—षोडशिग्रहणं त्रिष्वपि सवनेषु भवेत् । 'प्रातः सवने' ग्राह्यं—माध्यन्दिनसवने ग्राह्यं—तृतीयसवने ग्राह्यं' इति प्रतिसवनं श्रुतत्वादिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—उदाहृतस्य वाक्यस्य शेषे सवनद्वयं निन्दित्वा 'तृतीयसवने ग्राह्यं' न सर्वेषु सवनेषु गृह्णाति' इति प्रशंसापूर्वकं तृतीयसवनमेव विहितम् । तस्मात् तृतीये एव सवने षोडशिग्रह इति ॥

एतदभिप्रेत्याह ग्राह्य इति । 'स' षोडशी- 'तृतीये सवने' एव 'ग्राह्यः' 'नूनम्' निश्चयेन— न सर्वेषु सवनेष्विति भावः ॥ ११ ॥

( १२ ) १०।५।४७-५२ सस्तोत्रशस्त्रः खलु षोडशी स्यात् ।

( १ ) षोडशीविचार एव वर्तते ।

( २ ) षोडशिग्रहणे—

( ३ ) सशयान्तरम्—अथ षोडशी किं स्तोत्रशस्त्रसहितं उत ताभ्यामसहितं इति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—'अग्नीषोमीये राजन्यस्य गृह्णीयात्, अप्युक्थ्ये ग्राह्यं' इति षोडशिग्रहोऽग्निष्टोमोक्थ्यलस्थयोर्विहितः । तथा चायं स्तोत्रशस्त्रवर्जित एव स्यात् । अन्यथा तदीयाभ्यां स्तोत्रशस्त्राभ्यां क्रतुसमाप्तौ षोडशिसंस्थात्वमप्रसज्येताग्निष्टोमीयसंस्थात्वं च बाधेत इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—'एकविंश स्तोत्रं भवति, प्रतिष्ठायै हरिवच्छस्यते' इति षोडशिनि प्रत्यक्षविधिना स्तोत्रशस्त्रे विहिते । तस्मादस्ति स्तोत्रशस्त्रसहितत्वं षोडशिन इति ।

एतदभिप्रेत्याह सस्तोत्रेति । 'सस्तोत्रशस्त्रः' स्तोत्रं च शस्त्रं च, ताभ्यामसहितं एव—'षोडशी' 'स्यात्', 'खलु' निश्चयेनेति सम्बन्धः ॥ १२ ॥

(१३) १०।५।५३ ५४ प्राप्तस्य तस्य श्रवणं द्विरात्रे

( १ ) षोडशिविचारो वर्तते ।

( २ ) अस्त्यङ्गिरसा द्विरात्र । तत्राम्नायते—‘वैखानस पूर्वेषु साम भवति—षोडश्युत्तरे’ इति ।

( ३ ) तत्र सशयः—अस्य वाक्यस्य कोऽर्थः—किं षोडशिग्रहणमित-  
रेभ्यो द्विरात्रेभ्यो निवर्त्य अङ्गिरसा द्विरात्रे नियम्य विधीयते—उत षोड-  
शिग्रहणं केवलमनूद्यत इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —यदेतत् प्राकृतमतिरात्रेषु षोडशिग्रहणं तत् ‘उत्त-  
रेऽहन् द्विरात्रस्य गृह्यते’ इत्यनेन सर्वेषु द्विरात्रेषु प्राप्त नियम्यते । तथा  
चान्येषु द्विरात्रेषु षोडशिग्रहस्याभावः अङ्गिरसा द्विरात्रमात्रे तु तस्य  
भाव इति तस्य विधेरर्थः ।

( ५ ) सिद्धान्त —सर्वद्विरात्रेषूत्तरायणहानि षोडशिग्रहणेन सम्ब-  
द्धानि—‘उत्तरेहन् द्विरात्रस्य गृह्यते’ इति सामान्यविधानेन । वैखानस-  
मित्याद्युदाहृतवाक्ये तु वैखानससाम्प्रो विधिः, न षोडशिग्रहणस्य ।  
तस्मादुत्तरेऽहनि षोडशिग्रहणं उत्तरेऽहन्नितिवाक्येन विहितमत्र अङ्गिरसा  
द्विरात्रे केवलमनूद्यते इति ।

एतदभिप्रेत्याह प्राप्तस्येति । ‘प्राप्तस्य’ वाक्यान्तरेण (उत्तरेऽहन् द्वि-  
रात्रस्य गृह्यते इत्यनेन ) सर्वेषु द्विरात्रेषु विहितस्य—‘तस्य’ षोडशि  
न—अङ्गिरसा ‘द्विरात्रे’—‘श्रवणम्’ अनुवादः—षोडश्युत्तरे इत्यत्र वा  
क्य इति शेषः ॥

[ भाष्यकारेण द्वे अधिकरणस्वरूपे अत्रोक्ते । तत्राद्य वृत्तिकारमते-  
नापर भाष्यकारमतेनेति न्यायमाला । मण्डनेन चात्र कारिकाया द्विती  
स्वरूपस्यैव ग्रहणं कृतम्—इति ध्येयम् ] ॥ १३ ॥

(१४) १०।५।५५-५७ चतुर्थवीप्सा खलु बह्वहीने ।

( १ ) षोडशिविचारो वर्तते ।

( २ ) षोडशिनं प्रकृत्यामनन्ति—‘चतुर्थे चतुर्थेऽहन्यहीनस्य गृह्यते’ ।

( ३ ) तत्र सशयः—किमेकस्मिन्नेव अहीने चतुर्थेऽहनि षोडश्यभ्य  
सितव्यः—उत एकस्मिन्नहीने चतुर्थेऽहनि पुनरन्यस्मिन्नहीनेऽपि चतुर्थे-  
हनि इत्येवरूपोऽभ्यास इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —एकस्मिन्नहीने प्रथमाहमारभ्य चतुर्थेऽहनि ग्रहणं,  
पुनः पञ्चमाहमारभ्य चतुर्थे दिने इत्येव रूपोऽभ्यासो विवक्षितः । तथा-  
सत्येव ‘चतुर्थे चतुर्थे’ इति वीप्सा चरितार्था स्यात् । अन्यथा ‘चतुर्थेऽह-  
नि’ इत्येतावन्मात्रं पर्याप्तं स्यात् । ‘अहीनस्य’ इत्येकवचनमपि एकस्मि-  
न्नेवाहीनेऽभ्यासं सूचयतीति ।

५२ मी० नु०

( ५ ) सिद्धान्त — एकाहीनपक्षे 'चतुर्थेऽष्टमेऽहनि' इत्येवमुक्तं स्यात् । 'अहीनस्य' इत्येकवचनं तु नानाहीनपक्षे जात्यभिप्रायत्वेन सङ्गच्छते । तस्मान्नानाहीनेषु चतुर्थेऽहनि षोडशिग्रह इति ।

एतदभिप्रेत्याह चतुर्थेति । 'चतुर्थी' सा चतुर्थे चतुर्थेऽहनीति चतुर्थशब्दस्य द्विरुक्तिः — 'बृहहीने' नानाहीनपक्षे एष — 'सङ्गच्छते' इति शेषः । नानाहीनेषु चतुर्थेऽहनि षोडशिग्रहणं कतन्वमित्यस्मिन्नेवार्थं वीप्सा चरितार्था भवति न त्वेकाहीनपक्षे इत्याशयः ॥ १४ ॥

( १५ ) १०।५।५८ भवेज्जगत्साम मखे विकारे

( १ ) वायसम्वन्धी विचारः ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे श्रूयते — 'यदि जगत्सामा सोम स्यादाग्रयणाग्रान् ग्रहान् गृह्णाति' इति ।

( ३ ) तत्र सशयः — अत्रोक्ताया आग्रयणाग्रताया किं प्रकृतौ निवेश उत विकृतौ ।

( ४ ) पूर्वपक्षः — यदि जगत्सामा इत्यनेन ज्योतिष्टोमोऽभिधीयते तदा प्रकरणानुरोधात् प्रकृतौ ( ज्योतिष्टोमे ) एव निवेश इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः — 'जगत्' इति कस्यापि साम्नो नाम नोपलभ्यते । तस्मात् जगत्यामृचि उत्पन्नं सामं यस्मिन् यज्ञे भवति स एव भवति 'जगत्सामा सोमः' । उक्तं च सामं विषुवन्नामकं विकृतावेव मुख्येऽहनि सम्भवति । तस्माद् विकृतावेव निवेशः ।

एतदभिप्रेत्याह भवेदिति । 'जगत्साम' जगत्यामृच्युत्पन्नं सामं — 'विकारे' विकृतिभूते एव — 'मखे' यज्ञे — 'भवेत्' सम्भवति — ननु प्रकृताविति भावः । तस्मादाग्रयणाग्रताया विकृतावेव निवेश इति भावः ॥ १५ ॥

( १६ ) १०।५।५८ (वर्णकान्तरम्) गानं जगत्साम यतो जगत्याम् ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेषः ।

( २ ) 'यदि जगत्सामा आग्रयणाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात्' इति पूर्वोक्तमेव वाक्यम् ।

( ३ ) तत्र सशयः — 'जगत्सामा' इत्यस्य पदस्य कोऽर्थः — किं रथन्तरसामा बृहत्सामा वेति विकल्पः — उत बृहद्रथन्तरोभयसामा — उत रथन्तरसामा — उत जगत्या ऋच्युत्पन्नं सामं यस्मिन् स इति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः — (अ) बृहत्सामा रथन्तरसामा वेति विकल्पः — विशेषानवगमात् इति (क) अथवा बृहद्रथन्तरोभयसामा — उक्तशब्दस्य कृत्स्नवाचित्वात् इति । (च) अथवा रथन्तरसामा — नोभयो समुच्चयो न्याय्य इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — जगच्छब्दोऽत्र जगतीच्छन्दोवाची । ततश्च तच्छब्दस्कासृचमुपलक्ष्य तथा ऋचा तन्निष्ठ साम उपलक्ष्यते । तस्मात् जगत्यासृच्युत्पन्न साम यस्मिन् इत्येव जगत्सामशब्दस्यार्थ इति ।

एतदभिप्रेत्याह गानमिति—‘यत ’ यस्मात् कारणात्—‘जगत्याम्’ जगतीच्छन्दस्कायामृचि—‘गानम्’ साम—एव—‘जगत्साम’ जगत्सामपदेन विवक्षितम् [ तस्मात् ‘जगत्सामा’ इति विशेषण विकृतावेवोपपद्यते इति पूर्वेण सम्बन्ध ] ॥ १६ ॥

( १७ ) १०।५।५६-६१ कृत्वाश्रयस्तूभयसामके स्यात्

( १ ) समुच्चये विचार ।

( २ ) गोसवादिषु क्रतुषु रथन्तरपृष्ठबृहत्पृष्ठयो समुच्चयो विहित — ‘गोसव उभे कुर्यात्’ इति । प्रकृतो तु इदमाग्नातम्—‘उपवती रथन्तरपृष्ठस्य प्रतिपद कुर्यात्, अग्रवती बृहत्पृष्ठस्य’ इति । ते इमे उपवत्यग्रवत्यौ ऋचौ पृष्ठद्वयस्याङ्गभूते गोसवादिष्वतिदेशतः प्राप्ते ।

( ३ ) तत्र सशय — किं इमे ऋचौ गोसवे विकल्प्येते—उतान्यतरस्य ग्रहणम्—यद्यन्यतरस्य, किं रथ तरस्योन बृहत् इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — विकल्प — तन्निमित्तयोः पृष्ठयोर्द्वित्वात् । न च समुच्चय ऋचोर्द्वयोः प्राथम्यस्य व्याहतत्वात् । अथवा प्रथमश्रुतत्वाद् रथन्तरस्य मुख्यत्वाद् रथन्तरस्यैव प्रतिपद उपवती कुर्यादिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — प्रकृतावेकैक पृष्ठमितरनिरपेक्षमेव निमित्तम् । उभयसामके गोसवादौ तु मिलितयोरेव पृष्ठता । तस्मात् प्राकृतयोः प्रतिपदोर्नास्त्यत्र सम्भव । तथा सति नात्र रथन्तरपृष्ठ नापि बृहत्पृष्ठम्, अपि तु बृहद्रथन्तराभ्यामुभाभ्यामत्र पृष्ठनिर्वृत्ति । तस्मान्नोपवती प्रतिपत् नाप्यग्रवती अन्यैव क्रतुनिमित्ता काचिद् भविष्यति इति ।

एतदभिप्रेत्याह कृत्विति । ‘उभयसामके’ गोसवादौ— कृत्वाश्रय’ एव प्रतिपत्—‘स्यात्’—न तु रथन्तरबृहत् सम्बन्धिन्यौ उपवत्यग्रवत्याविति शेष ॥ १७ ॥

( १८ ) १०।५।६२-६४ सर्वादितो न प्रतिकर्षण स्यात् ।

( १ ) बाधे प्रासङ्गिकी चिन्ता ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—‘ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णन्ति’ इति ऐन्द्रवायवस्याश्रवरूप प्राथम्यम् । मन्त्रकाण्डविधिकाण्डयोस्तु ग्रहाणामय पाठक्रम — ‘प्रथम उपाशुग्रह, द्वितीयोऽन्तर्यामिग्रह, तृतीय ऐन्द्रवायवग्रह, चतुर्थो मैत्रावरुणो ग्रह’ इत्यादि ।

( ३ ) तत्र संशय — ऐन्द्रवायवभ्याग्रतासम्पादनाय किं सर्वादौ प्रतिकर्षे उपाशोरपि पूर्वं ग्राह्यता—उत स्वस्थाने एव तस्य ग्रहणमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — ऐन्द्रवायवस्य स्पष्टमग्रत्वविधानात् सर्वेभ्य उपाश्वादिभ्य पूर्वमेव स ग्राह्य इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — ऐन्द्रवायवो धाराग्रहाणामेकतम । तस्मात् तस्याग्रत्व धाराग्रहापेक्षयेव । एव सति तस्य स्वस्थान एव ग्रहणमिति ।

एतदभिप्रेत्याह सर्वेति । 'सर्वादितः' सर्वेषां ग्रहाणां उपाशादीनां आदौ प्राक्—'प्रतिकर्षणं' स्वस्थानादाऽप्य ग्रहणं— न स्यात्' अपि तु स्वस्थान एव ग्रहणं स्यात्—ऐन्द्रवायवग्रहस्येति शेष ॥ १८ ॥

(१६) १०।५।६५-६६ काम्येऽपि न स्यात् सकलग्रहेभ्यः

( १ ) पूर्वाधिकरणचिन्ताऽनुवर्तते ।

( २ ) ज्योतिष्टोम एव श्रूयते—'ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात् य कामयेत यथापूर्वं प्रजा कर्तयेन्' इति ।

( ३ ) तत्र संशय — अत्रापि किमैन्द्रवायवस्य ग्रहणं स्वस्थाने स्यादुत सर्वेभ्य पूर्वमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — धाराग्रहादिष्वग्रतायां पूर्वोदाहृतेनैव वाक्येन सिद्धायामत्रोदाहृते वाक्ये यदग्रताविधानं तद्वलात् सर्वेभ्य पूर्वं ग्रहणमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — नात्र सर्वाग्रत्व विधात शक्यम्—धाराग्रहाणां मेव प्रकृतत्वात् यथास्थानस्थितानामेव धाराग्रहाणां कामविशेषसयोगोऽत्रोच्यते । तस्मात् काम्येऽपि स्वस्थान एव ग्रहणमिति ।

एतदभिप्रेत्याह काम्य इति । 'काम्येऽपि' ग्रहणे—'सकलग्रहेभ्य' सर्वेभ्य उपांशुप्रभृतिभ्य —'पूर्वम्' इति शेष —'न स्यात्' ऐन्द्रवायवस्य ग्रहणमिति सम्बन्ध ॥ १९ ॥

(२०) १०।५।६७-६६ मन्थ्याग्रतादिः सकलग्रहाणाम् ।

( १ ) ग्रहाग्रन्ताविचार एव वर्तते—पूर्वाधिकरणद्वयापवादोऽयम् ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—'शुक्राग्रान् ग्रहान् गृह्णीयादभिन्नरतो मन्थ्याग्रान् गृह्णीयादभिचर्यमाणस्य' इत्यादि । ;

( ३ ) तत्र संशय — किमत्रापि मन्थ्यशुक्रादीनां स्वस्थाने ग्रहणमुत सर्वादाविति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—पूर्वाधिकरणन्यायेन स्वस्थान एव ग्रहणमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — ऐन्द्रवायवस्य धाराग्रहाग्रत्व स्वस्थानग्रहणेनैव सम्पन्नम् । मन्थ्यादिषु तु न तथा इति नात्र पूर्वाधिकरणन्यायावतारः ।

तथा सति विधीयमानमग्रत्व पाठक्रमबाधमन्तरेण न सम्भवतीति प्रति-  
कृत्य सर्वादौ ग्रहणमिति ।

एतदभिप्रेत्याह मन्थ्येति । 'मन्थ्याग्रतादि' मन्थ्यादिग्रहाणां यदग्रत्व  
मुक्तं तत्— सकलग्रहाणाम्—अपेक्षयेति शेषः । तस्मात् तेषां सर्वादावेव  
प्रतिकर्ष इत्याशयः ॥ २० ॥

(२१) १०।५।७०-७२ सा त्वेन्द्रवायव्यत एव पूर्वा ।

(१) ग्रहविचारो वर्तते—पूर्वाधिकरणशेषः ।

(२) मन्थ्याग्रता सर्वग्रहाणामपेक्षयेति मन्थ्यादीनां प्रतिकर्ष इति  
स्थितम् ।

(३) तत्र पुनः सशयः—किमेषां प्रतिकर्षं सर्वादौ,—उत यत् कुत-  
श्चित् अनियमेन—उत ऐन्द्रवायवस्यैव पुरस्तादिति ।

(४) पूर्वपक्षः—उक्तं प्रतिकर्षं सर्वेषामुपाशुप्रभृतीनां ग्रहाणामादौ  
युक्तं—विशेषनियामकाभावात् । सामान्यतः श्रुतमग्रत्व सर्वपक्षमेव  
न्याय्यमिति ।

(५) सिद्धान्तः—प्राकृतान् धाराग्रहानाश्रित्यैव फलविशेषाय म-  
न्याग्रत्वादि विहितम् । किञ्च 'धारयेयुस्त य कामाय गृहीयु'—ऐन्द्रवा-  
यव गृहीत्वा सादयेत् इति वाक्यं मन्थ्यादेः काम्यस्य धारणानन्तरमेन्द्र-  
वायवस्य ग्रहणं वदत् ऐन्द्रवायवापेक्षयैवाग्रत्व मन्थ्यादीनामिति बोध्य-  
म् । तस्मादैन्द्रवायवगृहात् प्राक्, न सर्वेषां प्राक्, मन्थ्यादेर्ग्रहणमिति ।

एतदभिप्रेत्याह सेति । 'सा' मन्थ्यादीनामग्रता—'ऐन्द्रवायवत एव'  
ऐन्द्रवायवग्रहात् एव—'पूर्वा' प्राक् कर्तव्या—न तु सर्वेषामादावि-  
ति भावः ॥ २१ ॥

(२२) १०।५।७३-७४ तत्सादनं च प्रतिकृत्यतेऽर्थात् ।

(१) ग्रहविचारशेषः ।

(२) सर्वे ग्रहा गृहीत्वा साद्यन्ते ।

(३) तत्र सन्देहः—यत्र काम्यस्य ग्रहस्यापकर्षस्तत्र तस्य सादन-  
स्यापकर्षो भवति न वेति ।

(४) पूर्वपक्षः—सादनस्य प्रतिकर्षो न श्रुतः । तस्माच्च प्रतिक-  
र्ष इति ।

(५) सिद्धान्तः—गृहणशेषो हि सादनम् । ग्रहणं हि प्रदानार्थम्—न  
चासादनं विना प्रदानं सम्भवति । एव च सादनस्य ग्रहणशेषत्वे यद्वा  
ग्रहणस्य प्रतिकर्षस्तदा सादनस्यापि प्रतिकर्ष इति ।

‘एतदभिप्रेत्याह—तदिनि । ‘तत्सादन’ गृहाणा सादन—‘च’ अपि—  
‘अर्थात्’ प्रयोजनवशात्—‘प्रतिकृष्यते’—यत्र गृहण प्रतिकृष्यते तत्र  
सादनमपि प्रतिकृष्यते—सादन विना प्रदानरूपस्य प्रयोजनस्य निवृत्त्यस-  
म्भवादित्याशय ॥ २२ ॥

(२३) १०।५।७५-७६ न तु प्रदान प्रतिकर्षणीयम्

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) गृहाणा गृहण सादन च प्रदानार्थम् । गृहणस्य सादनस्य च  
कचित् प्रतिकर्षो भवतीति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र सशय —प्रदानस्यापि प्रतिकर्षो भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —गृहाणा गृहणप्रतिकर्षानुसारेण यथा सादनस्य प्र-  
तिकर्षस्तथा प्रदानस्यापीति ।

( ५ ) सिद्धान्त —सादन हि ग्रहणशेष —ततो ग्रहणप्रतिकर्षण तस्य  
प्रतिकर्ष । प्रदान तु न ग्रहणशेष —प्रधानमेव तत् । न तु शेषानुसारेण  
प्रधानस्य प्रतिकर्ष इति ।

एतदभिप्रेत्याह नत्विति । ‘प्रदान’ तु प्रधान सत्—‘न प्रतिकर्षणी-  
यम्’ । सादन यथा प्रतिकृष्यते न तथा प्रदान प्रधानत्वादित्याशय ॥२३॥

(२४) १०।५।७७-७८ सम विधत्ते पुनरग्रतोक्तिः ।

( १ ) गृहविचारो वर्तते ।

( २ ) अस्ति द्वादशाहे ज्योतीका । तत्र श्रूयते-‘ऐन्द्रवायवागौ प्रायणी  
योदयनीयौ दशम चाह , अयेतरेषा नवानामह्ना ऐन्द्रवायवाग्र प्रथमगृह ,  
अथ शुक्राग्रम् , अथाग्न्यणाग्रम् , अथैन्द्रवायवाग्रम् , अथ शुक्राग्रम् , अ-  
थाग्रयणाग्रम् , अथैन्द्रवायवाग्रम् , अथ शुक्राग्रम् , अथाग्रयणाग्रम्’इति ॥  
प्रकृतौ द्वादशाहे च द्वितीयतृतीयचतुर्थेषु त्रिण्वह सु क्रमेण ऐन्द्रवायवा-  
ग्रत्वशुक्राग्रत्वाग्रयणाग्रत्वानि विहितानि—तेष्वप्य रथन्तरनिमित्त द्वितीयं  
बृहन्निमित्तम् ॥ अथैन्द्रवायवमपि चोदकेनापि प्राप्तम् ।

( ३ ) एवं सति सशय —यदि चोदकेनैव प्राप्त तर्हि ज्योतीकां प्र-  
कृत्य पुनर्वचनस्य ( उदाहृतवाक्यस्य ) किम्प्रयोजनम्—किं चोद-  
कप्राप्तस्यानुवाद —उत गुणान्तरस्य परिसङ्ख्या—उतार्थवाद —उत  
विधिरिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अनुवादोऽप्रयोजक । परिसङ्ख्या दापत्रयदुष्टा । न  
च प्राप्तस्य विधि सम्भवति । तस्मादर्थावाद एवेति ।

( ५ ) सिद्धान्त —आग्रयणाग्रत्वे यथा विधिस्तथा ऐन्द्रवायवाग्रशु-

क्राग्रतयोरपि । न च प्राप्तत्वादविधि । अस्य विधेरनिमित्तकत्वाभ्युप-  
गमात् चोदकप्राप्तस्य तु रथन्तरनिमित्तकत्वात् इति ।

एतदभिप्रेत्याह सममिति । 'पुन' द्वितीयवार, चोदकप्राप्त्यनन्तर या  
'अग्रतोक्ति' अग्रताश्रति सा—सम विधत्ते समानविधानम् । वाक्येनेद्  
-ज्योतिष्टोमे रथन्तरसामनिमित्तक प्रवृत्तमत्र चोदकेन प्राप्त—तस्मात्  
समानविधिक करिष्यामीति पुनर्यचनमिति भाव ॥ २४ ॥

(२५) १०।५।७६-८२ व्यूढः समूढस्य भवेद् विहारः

( १ ) अतिदेशबाधप्रसङ्गन विचार ।

( २ ) द्विविधो द्वादशाह —व्यूढ समूढश्च । समूढस्तावत्—'ऐन्द्र  
वायवाग्रौ प्रायणीयोदयनीयौ दशम चाह' इत्यादि । व्यूढस्तु—'ऐन्द्रवा  
यवाग्रौ प्रायणीयोदयनीयौ अयेतरेषा दशानामह्नाम्' इत्यादि ।

( ३ ) तत्र सशय —किमुभयप्रकारमपि द्वादशाह प्रकृत्य धर्मा आ-  
म्नाता, उभौ च प्रकृतिभूतौ—उत समूढ प्रकृति व्यूढ तद्विकृतिरिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —उभयस्य प्रकृतत्वाविशेषात् न ज्ञायते कस्यैकस्य  
धर्मा आम्नाता कस्य नेति । न चैकस्यापि कोपि विशेषो दृश्यते  
येन तयो प्रकृतिविकृतिभावविवेको भवत् । तस्मादुभावपि प्रकृतिभू  
तौ इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —समूढ एव प्रकृति व्यूढस्तद्विकृति । 'ऐन्द्रवायवस्य  
वा एतदायतन यच्चतुर्यमह' इति व्यूढे ध्रूयते । एतच्च तस्य विकृतिव्ये  
एव सम्भवति नान्यथा । किञ्च 'य कामयेत बहु स्या प्रजायेय' इति का  
माय व्यूढो विधीयते । तथा सति नास्य क्वत्वर्थता । तस्मात् समूढस्य  
द्वादशाहस्य विकृतिरयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह व्यूढ इति । 'व्यूढ' द्वादशाह —'समूढस्य' द्वादशा-  
हस्य—'विकार' विकृति —'भवेत्'—तस्माद् अहर्गणेषु समूढधर्माणा-  
मेवातिदेशो न व्यूढधर्माणामित्याशय ॥ २५ ॥

(२६) १०।५।८३-८७ स्वस्थानवृद्धिं लभते व्यनीका ।

( १ ) द्वादशाहविषय एव विचारो वर्तते ।

( २ ) अस्ति समूढस्य द्वादशाहरय विकृतिर्गवामयन सवत्सरस  
त्रम् । तत्र व्यनीका चोदकप्राप्ता [ त्रीणि अनाक्रानि ऐन्द्रवायवशुक्रा  
ग्रयणरूपाणि यस्या क्रियाया सा व्यनीका ]—तथाच त्रिरावृत्तया [ द्वा  
दशाहाहन्तयोरहोर्मध्य दशममह परित्यज्य ] नवसङ्ख्यकान्यहानि पूरि-  
तानि । [ ऐन्द्रवायव —शुक्र —आग्रयण , पुनरैन्द्रवायव —शुक्र —आ-  
ग्रयण , पुनरैन्द्रवायव —शुक्र —आग्रयण इत्येवमावृत्ति ] ॥ ततश्च



विकृतौ सप्तसरसत्रेऽपि तथैव पूरयितव्यानि । उक्ता च ज्यनीकाया आवृत्तिर्द्विधा सम्भवति—नवदिवसात्मकस्य समूहस्यावृत्तिरित्येक प्रकार —नवदिवसात्मकसमूहान्तर्गतैकैकस्य दिवसस्य पुन पुनरनुष्ठानमित्यपर प्रकार ॥

( ३ ) तत्र सशय —द्वयोरनयो कतर प्रकारो न्याय्य इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —नवदिवसात्मकस्य समूहस्यैवावृत्ति । ऐन्द्रवायवग्रहानन्तर शुक्राग्रो विहित —आवृत्तौ यदि ऐन्द्रवायव आवर्त्येत तदा ऐन्द्रवायवादानन्तरं शुक्रस्य वाच्येत । तस्मात् समूहात्मकेनैवावृत्तिर्न्याय्येति ।

( ५ ) सिद्धान्त —ग्रहाणां स्वस्थानवृद्ध्यैव प्रायणीयोदयनीययोरन्तरालपूर्तिर्भवति । तथाच पूरयितव्यमन्तराल नवधा विभज्य—प्रथम भागगतेषु अह सु ऐन्द्रवायवाग्रत्वम् त्रिरावृत्तम्—द्वितीयभागे शुक्राग्रत्व त्रिरावृत्तम्—तृतीयभागे आग्रयणाग्रत्व त्रिरावृत्तमित्येवक्रमेणानुष्ठानम् । एव खण्डश आवृत्ति । तस्मात् स्वस्थान एव वृद्धिरिति ।

एतदभिप्रत्याह—स्वेति । ‘ज्यनीका’ ग्रहत्रयात्मिका—‘स्वस्थाने’ ‘वृद्धिम्’ त्रिधा आवृत्ति—‘लभते’ प्राप्नोति । तस्मात् खण्डश आवृत्ति, समूहात्मकेनेत्यर्थः ॥ २६ ॥

( २७ ) १०।५।८८ छन्दोविवृत्या न विवर्ततेऽर्थः ।

( १ ) द्वादशाहे विचारविशेष ।

( २ ) सन्ति द्वादशाहे भक्ष-पवमान—परिधि-कपालानि । तत्र च मन्त्रा आम्नाता ॥ ते च द्वादशाहविकृतौ चोदकेन प्राप्ता ॥ ते च भक्षादयो गायत्रादिछन्दोनुसारिनाम्ना ज्यवहता । विकृतौ च छन्दसा व्यतिक्रम श्रूयते—‘गायत्रात्रिष्टुभ, त्रिष्टुप् जगत्या, जगती गायत्र्या’ इति ॥

( ३ ) तत्र सशय —योऽय छन्दोव्यतिक्रम स कि मन्त्रशब्दानामेव कार्यः उत भक्षपवमानपरिधिकपालरूपाणां तेषामर्थानामपि इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—सर्वत्र व्यतिक्रम । तेन गायत्रशब्दनिर्दिष्टः प्रातः-सवनयो भक्ष त्रैष्टुभशब्दस्य माध्यन्दिनीयभक्षस्य स्थाने—माध्यन्दिनीयो जागतस्य स्थाने—जागता गायत्रस्य स्थाने—इत्येव पवमानेषु परिधिषु कपालेषु च योज्यम् । साऽय व्यतिक्रमोऽर्थेष्विव मन्त्रशब्देष्वपि कार्य इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —उदाहृते वाक्ये अर्थानां व्यतिक्रमो नोक्तः, अपि तु छन्दसामेव । तस्मात् मन्त्रगतानां गायत्रादिशब्दानामेव व्यतिक्रमः । भक्षादीनां गायत्रत्वाद्यसम्भवात् तत्तत्छन्दानाम्ना व्यपदेश प्रशसार्थमेव । तस्मान्नार्थानां भक्षादीनां व्यतिक्रम इति ।

एतदभिप्रेत्याह छन्द इति । 'छन्दोविवृत्या' छन्दसो व्यतिक्रमेण 'अर्थ' भक्षादि — 'न विवर्तते' — भक्षादिरूपेऽर्थे व्यतिक्रमो न भवतीत्यर्थ ॥ २७ ॥

सप्ताधिका विंशतिनीतयोऽत्र ।

स्पष्टम् ।

इति दशमस्य पञ्चम ।

## अथ दशमस्य षष्ठः पादः ।

[ बाधप्रसङ्गागत सामविचार ]

(१) १०।६।१-२ तृचे गेयं भवेत् साम

( १ ) बाधप्रसङ्गेन सामविचार प्रस्तूयते ।

( २ ) सामान्युदाहरणम् । पवमानान्यपृष्ठादिस्तोत्रेषु विहितं रथन्तर-बृहद्-वैरूपादिसाम सामाध्येतार एकस्यामृच्यधीयते ।

( ३ ) तत्र सशयः — स्तोत्रप्रयोगकालेऽपि किमिदं साम एकस्यामृचि गेयम्-उत तृचे गेयमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः — अध्ययनस्यानुष्ठानार्थत्वाद् यथाध्ययनमेकस्यामेव ऋचि गेयम् इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः — 'अष्टाक्षरेण प्रथमाया ऋच प्रस्तौति द्व्यक्षरेणोत्तरयो' इति तिसृषु ऋक्षु प्रस्तोत्रा गातव्यो भागो निरूप्यते । तदिदं तृचस्य लिङ्गम् । पुनश्च ऋग्देवतासामदेवतासवादे सामदेवता एकाऋच द्वे ऋचे च प्रत्याख्यास्य तिस्र ऋचोऽङ्गीचकारेति वर्णितम् । तदपि तृचस्य लिङ्गम् । अन्यच्च 'एकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रीयम्' इति वचनम् । तस्मात् तृचे साम गेयमिति ।

\* एतदभिप्रेत्याह तृच इति । 'साम' रथन्तरादि—'तृचे' ऋक्त्रयसङ्घे—'गेयम्' न त्वेकस्यामृचीति भावः ॥ १ ॥

(२) १०।६।३ कालार्थं स्वर्दृगुच्यते ।

( १ ) सामविशेषविचारः ।

( २ ) रथन्तरसाम्नो योनौ 'अभि त्वा शूर' इति ऋचि 'स्वर्दृक्' शब्दश्च्यते—'ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशम्' इति । अस्ति चोद्गातुं कर्तृता तृचे—'रथन्तरे प्रस्तूयमाने सम्मीलयेत्-स्वर्दृशं प्रति वीक्षेत' इति ।

( ३ ) तत्र सशयः—किं स्वर्दृक्शब्दोच्चारणवीक्षणयोरङ्गाङ्गिभावोऽत्र विधीयते—उत विधीयमानसंमीलनावधिकत्वेन स्वर्दृक्शब्दोच्चारण निर्दिश्यत इति ।

५३ मी० नु०

(४) पूर्वपक्ष — सम्मीलनवाक्याद् वीक्षणवाक्य भिन्नम् । ततो सम्मीलनावधित्वेन उच्चारणस्यान्वयो न सम्भवति । किं च वीक्षेतेत्यत्र लिङ्श्रवणात् विधिर्गम्यते । तस्मात् स्वर्द्वकृशब्दोच्चारण वीक्षणाङ्गम्, वीक्षण चोच्चारणाङ्गमित्यङ्गाङ्गिभावोऽभ्युपेय इति ।

(५) सिद्धान्त — स्वर्द्वकृशब्दोच्चारणस्य सम्मीलनकालविधित्वं द्योत्यते । न च वाक्य भिन्नम्—‘आ स्वर्द्वकृशब्दोच्चारणात् सम्मीलयेत्’ इत्येवरूपैकवाक्यतासम्भवात् । एव चोत्तरयोः चो सम्मीलनस्य बाध इति फलम्—इति ।

एतदभिप्रेत्याह कालेति । ‘कालार्थं’ सम्मीलनस्य कालावधिज्ञापनार्थम्—‘स्वर्द्वकृशब्द’—‘उच्यते’ प्रयुज्यते—अतो न सम्मीलनोच्चारणयोरङ्गाङ्गिभाव इति भावः ॥ २ ॥

(३) १०।६।४-५ प्रत्यहन्न द्विसामत्वम्

(१) सामविचारो वर्तते ।

(२) प्रकृतौ द्वादशाहे पृष्ठ्य षडह उत्पन्न । तत्र परणामप्यङ्गा क्रमेण रथन्तर-बृहद्-वैरूप-वैराज-शाकर-रैवतानि सामानि रिहितानि ॥ विकृतौ गवामयने य पृष्ठ्य षडहस्तत्र श्रूयते—‘पृष्ठ्य षडहो बृहदथन्तरसामा’ इति ॥ चोदक्रप्राप्तयोरपि बृहदथन्तरयोः पुनर्विधानात् वैरूपादिनिवृत्तिः ॥

(३) तत्र सशय — शिष्यमाण बृहदथन्तरसामद्वयं किं प्रत्यहं कर्तव्यमुत केषुचिद् अहं सु बृहत् केषुचिदथन्तरम् इति ।

(४) पूर्वपक्ष — ‘बृहदथन्तरसामा’ इत्यत्र द्वन्द्वगर्भे बहुव्रीहौ साम्नो साहित्यं प्रतीयते । ततः प्रत्यहं सामद्वयमिति ।

(५) सिद्धान्त — षडहे सामद्वयस्य साहित्यमित्येवार्थो ‘बृहदथन्तरसामा षडह’ इत्यस्माद्वार्क्याद् गम्यते । प्रकृतौ च सामानां परस्परनिरपेक्षत्वादिहापि द्वयोः साम्नो परस्परनैरपेक्ष्यमेव । तस्मात् केषुचिदहस्तसु एकैः सामं केषुचिदपरम्, न सर्वेषु सामद्वयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह प्रतीतिः । ‘द्विसामन्व’ सामद्वयप्रयोग — ‘प्रत्यहम्’ सर्वेषु अहं सु ‘न’ भवतीति सम्बन्धः ॥ ३ ॥

(४) १०।६।६-१२ नैकादशिनमन्वहम् ।

(१) बाधातिदेशचिन्ताऽनुवर्तते पूर्वचिन्तासदृशी ।

(२) द्वादशाहे श्रूयते—‘एकादशिनान् प्रायण्याद्योदयनीययोरतिरात्रयोरालभेरन्’ इति ।

(३) तत्र सशय — किमेकादशापि पशवः प्रायणीये कर्तव्याः, त ए-

वैकादश पुनरुदयनीये—अथवा एकादशाना केचित्प्रायणीये केचिर्दुदयनीये इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —एकादशापि प्रायणीये—पुनस्त एवोदयनीये भवन्ति । प्रायणीयोदयनीयोरुभयोरपि प्राधान्यात् प्रतिप्रधान चाङ्गावृत्ते न्याय्यत्वादिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —वचनान्तरेण विहितानामेकादशाना प्रकरणेन द्वा दशाहाङ्गत्वे सिद्धे देशाकाङ्क्षाया तान् पशूनुद्दिश्य प्रायणीयोदयनीयो देशत्वेन विधीयेते । तस्मान्न तयो प्राधान्यम् । एव च सति यथा 'शत देवदत्तयज्ञदत्तयोर्दीयताम्' इत्यत्र शतस्य कश्चिद् भागो देवदत्ताय कश्चिद् यज्ञदत्ताय दीयते—तथैव 'प्रायणीये पञ्च उदयनीये च षट्' इत्येवरूपेण विभागेन पशवः कर्तव्या इति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'एकादशिनम्' एकादश पशून्—'अन्वहम्' प्रायणीयोदयनीयोरुभयत्रावृत्त्या—'न'—'कर्तव्यमिति शेषः ॥ ४ ॥

( ५ ) १०।६।१३-१४ पृष्ठमेकं विश्वजिति

( १ ) सामविचार ।

( २ ) इदमाप्नायते—'विश्वजित् सर्वपृष्ठ' इति । षडहे षट्सु अहसु क्रमेण 'रथन्तरम्—बृहद्—वैरूपम्—वैराजम्—शाकर—रैवतम्' इत्येतै षड्भिः सामभिः पृष्ठस्तोत्रं निष्पादितम् । तान्येतानि सर्वाणि पृष्ठसामानि यस्मिन् विश्वजिति स भवन्ति सर्वपृष्ठ ।

( ३ ) तत्र सशयः —माध्यन्दिनपवमान-मैत्रावरुण-साम्नोरन्तरालरूपे देशे किं सर्वाणि पृष्ठसामानि कार्याणि—उत एकस्य पृष्ठदेशे अन्येषामन्यत्रेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —पृष्ठकार्ये वर्तमानस्य सर्वस्य अयं देश उक्तः । तस्मात् सर्वाणि तत्र कार्याणि इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —वचनेन देशविशेषः साम्ना व्यवस्थाप्यते—'पवमाने रथन्तरं करोति, आर्भवे बृहत्, मध्य इतराणि—वैरूपं होतु, पृष्ठं वैराजं ब्रह्मसामं, शाकरं मन्त्रावरुणसामं, रैवतमच्छावाकसामं' इति । वचनं हि न्यायाद्वलीयम् । एव च एकस्य पृष्ठकार्ये निवेशोऽन्येषामन्यत्र परिसामकार्यं इति ।

एतदभिप्रेत्याह पृष्ठमिति । 'विश्वजिति'—'एकम्' एव—'पृष्ठम्'—एकस्यैव साम्नः पृष्ठकार्ये निवेशः, अन्येषां तु सामकार्यं इत्याशयः ॥ ५ ॥

( ६ ) १०।६।१५-२१ वैरूपं पृष्ठसाधनम् ।

( १ ) सामविचार ।

( २ ) इदमास्नायते—‘उक्थ्यो वैरूपसामा’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किं वैरूपं कृत्स्ने क्रतौ निविशते—उत केवलं पृष्ठकार्ये इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —‘वैरूपसामा उक्थ्य’ इत्यत्र वैरूपं सामं यस्मिन् उक्थ्ये क्रतौ स—इत्येवरूपस्य सम्बन्धस्य प्रतीयमानत्वात् कृत्स्ने एव क्रतौ वैरूपस्य निवेश इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —प्रकृतौ ‘रथन्तरसामा’ ‘बृहत्सामा’ इत्येवविधस्य निर्देशस्य पृष्ठविषयत्वदर्शनात् अत्रापि तन्निर्देशेन पृष्ठकार्ये एव वैरूपस्य निवेशः—क्रतुसम्बन्धश्च पृष्ठद्वारेणैवेति ।

एतदभिप्रेत्याह वैरूपमिति । ‘वैरूप’ साम—‘पृष्ठस्य’ एव ‘साधनम्’ निष्पादकमङ्गं भवति—तस्मात् पृष्ठकार्ये एव तस्य निवेशो न कृत्स्ने क्रतावित्याशयः ॥ ६ ॥

( ७ ) १०।६।२२-२३ स्तोमस्यैव त्रिवृत्त्वं स्यात्

( १ ) सामविचारः ।

( २ ) एव श्रूयते—‘त्रिवृदग्निष्टुदग्निष्टोम’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किं त्रिवृत्त्वमग्निष्टुति क्रतौ सर्वेषु साधनेषु निविशते—उत स्तोममात्रेण सम्बध्यते इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —त्रिवृद्रज्जुरित्यादौ त्रिवृच्छब्दस्य त्रैगुण्यवाचित्वदर्शनात् अत्रापि क्रतुसाधनेषु या या सङ्ख्या श्रूयते सा सर्वा त्रिवृत्त्वेन विक्रियते इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —अवयवव्युत्पत्त्या यद्यपि त्रिवृच्छब्दत्रैगुण्यवाची तथाऽपि वेदे रूढ्या स स्तोमवाची एव । तस्मात् स्तोममात्रसम्बन्धि त्रिवृत्त्वमिति ।

एतदभिप्रेत्याह स्तोमस्येति । ‘त्रिवृत्त्व’ त्रिवृदिति निर्देश —‘स्तोमस्य’ ‘एव’ ‘स्यात्’—तु सर्वेषां क्रतुसाधनानामिति शेषः ॥ ७ ॥

( ८ ) १०।६।२४-२५ द्वैपृष्ठमुभयश्रुतौ ।

( १ ) सामविचारः ।

( २ ) सन्त्युभयसामानं क्रतवः —‘ससव उभे कुर्यात्’, ‘अभिजिता-वेकाह उभे बृहद्रथन्तरे कुर्यात्’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किं बृहद्रथन्तरे विभक्ते भवत—एकं पृष्ठस्तुतौ इतरत् अन्यस्तुतौ—उत समस्ते उभे पृष्ठस्तुतावेवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —प्रकृतौ बृहद्रथन्तयोरेकेनैव पृष्ठं समधितम् । इहापि

चोदकेन अन्यतरेण पृष्ठ साधनीयम् । तस्मात् द्वे सामनी विभर्क्ते भवत इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — प्रकृतिवदन्यतरस्य विकल्पे पुनर्विधान व्यर्थ स्यात् । तस्मात् समस्ते समुच्चीयेते इति ।

एतदभिप्रेत्याह द्वैष्टमिति । 'उभयश्रुतौ' उभयसामनि यागे- 'द्वैष्टम्' द्वे पृष्ठे इति द्वैष्टम्—द्वयोरेव साम्नो समुच्चयेन प्रयोगो न विकल्पेनेत्याशय ॥ ८ ॥

( ६ ) १०।६।२७-२८ षडहान्ते वाशनं स्यात्

( १ ) प्रासङ्गिको विचार ।

( २ ) पृष्ठ्य षडहो द्विविध । प्रकृतौ द्वादशाहे- 'त्रिवृत्-पञ्चदश-सप्तदश-एकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंश' इत्येतै षडभि स्तोमैर्युक्तान्यहानि षड् विहितानि । सोऽयं त्रयस्त्रिंशान्त षडह । कचिद् विकृतौ व्यस्थासेन आदौ त्रयस्त्रिंशोऽन्ते त्रिवृत् इति त्रयस्त्रिंशाद्दि षडह ॥ मधुभोजन चात्र चोदकेन प्राप्तम् । तच्च प्रकृतौ त्रयस्त्रिंशानन्तरं कृतम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह — विकृतावपि किं त्रयस्त्रिंशानन्तरमेव कार्यमुत षडहान्ते इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — चोदकप्राप्तस्य त्रयस्त्रिंशानन्तरं भोजनस्य परित्यागे मानाभावात् तथैव त्रयस्त्रिंशान्ते एव भोजनमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — 'संस्थिते षडहे मध्वाशयेद् घृतं वा' इति षडहस्य समाप्तावेव प्रकृतौ भोजनस्य विहितत्वाद् विकृतावपि षडहान्त एवाशनमिति । प्रकृतौ त्रयस्त्रिंशोऽन्त्यो विकृतौ तु त्रिवृदेवान्त्य — अत एकत्र त्रयस्त्रिंशान्ते इतरत्र त्रिवृदन्ते इति नोचितम् । उभयत्रापि षडहान्ते एव भोजनमिति ।

एतदभिप्रेत्याह षडिति । षडहान्ते' यथा प्रकृतौ तथैव विकृतावपि षडहस्य 'अन्ते' समाप्तौ एव- 'अशन' भोजनम् मधुनो घृतस्य वा- 'स्यात्'-इति सम्बन्ध ॥ ९ ॥

( १० ) १०।६।२९-३० नावृत्तिरशनस्य तु ।

( १ ) पूर्वविचारशेष ।

( २ ) 'आवृत्तं पृष्ठमुपयन्ति' इति श्रूयते । तथाच षडहावृत्तौ स्तोत्रादीन्यावृत्तानि भवन्ति ।

( ३ ) तत्र सशयं — किं मधुभोजनस्याप्यावृत्तिरुक्तं नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — यथा स्तोत्रादीनामावृत्तिस्तथा भोजनस्यापि भवतीति ।

( ५ ) सिद्धान्तः — समाप्ते षडहे भोजनं विहितम् । समाप्तिश्च नाम

षडहविशेषव्यापारोपरम । अतः षडहावृत्तावपि आवृत्तेरन्ते एव भोजनम् । तस्मान्नावृत्तिसम्भवो भोजनस्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'अशनस्य' मधुभोजनस्य—'तु' 'आवृत्ति' 'पुनरनुष्ठानम्'—'न' भवति—षडहस्यावृत्तावपीति शेष ॥ १० ॥

(११) १०।६।३१ प्रतिमासन्तदावृत्तिः

(१) पूर्वविचारशेष तदपवादरूप ।

(२) गवामयने श्रूयते—'चत्वारोऽभिप्लवा षडहा—पृष्ठ्य षडह स मास स द्वितीय स तृतीय स पञ्चम'—इति षडहपञ्चकरूपो 'मास' । तत्र च चोदकेन षडहस्यान्ते मधुभोजनं प्राप्तम् ।

(३) तत्र सन्देह—उक्त षडहपञ्चकरूपो मासो यदा आवर्त्यते तदा किं प्रतिमास मधुभोजनस्यावृत्तिरुत सर्वेषाम्मासानामन्ते इति ।

(४) पूर्वपक्ष—पूर्वाधिकरणन्यायेन सर्वेषामन्ते—न प्रतिमासमिति ।

(५) सिद्धान्त—प्रतिमास समाप्तानां षडहानां पृथक्त्वात् भोजनमपि प्रतिमासमावर्तनीयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह प्रतीति । 'प्रतिमासम्' मासस्य अन्ते—'तस्य' मधुभोजनस्य—'आवृत्ति' भवेदिति सम्बन्ध ॥ ११ ॥

(१२) १०।६।३२—३३ दीक्षितैः प्रारयते मधु ।

(१) पूर्वाधिकरणशेष ।

(२) सत्रात्मके द्वादशाहे श्रूयते—'संस्थिते पृष्ठ्ये षडह मन्वाशयेत्' इति ।

(३) तत्र संशय—सत्रिभिर्मधु भक्षणीयं न वेति ।

(४) पूर्वपक्ष—न भक्षणीयम्—सत्रिणा दीक्षितत्वेन ब्रह्मचारित्वात्—ब्रह्मचारिणश्च मधुमासप्रतिषेधात् इति ।

(५) सिद्धान्त—उक्तनिषेधः पुरुषार्थः । सत्रे मधुभक्षणं कर्तव्यम् । ततो विषयभेदः । तस्मात् भक्षणीयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह दीक्षितैरिति । 'दीक्षितैः' सत्रिभिः—'मधु'—'प्रोक्ष्यते' इति सम्बन्ध ॥ १२ ॥

(१३) १०।६।३४—४४ न मानसमहर्भिर्नम्र

(१) द्वादशाहविचारो वर्तते ।

(२) द्वादशाहे मानसग्रहणं श्रूयते—'अनया त्वा पृथिव्या समुद्रस्य प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णामीति मानसं प्राजापत्यं गृह्णाति' इति । अस्यार्थः—'पृथिवीप्राप्तम्, समुद्रः सोमः, प्रजापतिर्देवता, एवविशिष्टस्य ग्रहणे मनः साधनम्—तदिदमानसमिति' ।

( ३ ) तत्र संशय — किमिदस्मानसमह द्वादशाहाद् भिन्नमुत तदन्तर्गतमेवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — एतद् द्वादशाहेभ्यो भिन्न त्रयोदशेऽहनि कर्तव्यो यागविशेष । ‘द्वादशाहेन हतरसानि छन्दासि मानसेनाप्यायन्ति’ इति वाक्याद् द्वादशाहानन्तरमेव कर्तव्यस्मानसमिति द्योत्यते ॥ व्यपदेशभेदोऽपि श्रूयते—‘वाग् वै द्वादशाह , मनो मानसम्’ इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — द्वादशाहे एव दशमस्याहोऽङ्ग भवति मानसम् । ‘एष वै दशमस्याहो विसर्गो यन्मानसम्’ इत्येषा श्रुतिर्दशमाहोऽङ्गस्मानसमिति बोधयति । एवमङ्गत्वेऽपि मानसेनाप्यायनोक्तिः सङ्गच्छते । तस्मात् द्वादशाहाङ्गमेव मानसमिति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । ‘मानसम्’ अह , ‘न’ भिन्नम्—द्वादशाहादिति शेषः ॥ १३ ॥

( १४ ) १०।६।४५-५० सत्र स्याद् बहुकर्तृकम् ।

( १ ) द्वादशाहस्य सत्रविशेषस्य प्रसङ्गेन सामान्यतः सत्राणि चिन्त्यन्ते ।

( २ ) सन्ति सत्राणि ज्योतिष्टोमस्य विकृतयः ।

( ३ ) तत्र संशय — किमेककर्तृकाणि उत बहुकर्तृकाणीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — प्रकृतिवत् एककर्तृकाणीति ।

( ५ ) सिद्धान्त — ‘सत्रमासीरन्’ ‘सत्रमुपेयु’ इत्येव बहुवचनान्ता श्रूयन्ते सत्रविधयः । तस्मात् बहुकर्तृकाणीति ।

एतदभिप्रेत्याह सत्रमिति । ‘सत्रम्’ द्वादशाहादिकम्—‘बहुकर्तृकम्’ बहवः कर्तारोऽनुष्ठातारो यजमाना यस्मिन् तत् एवम्भूत—‘स्यात्’—न तु प्रकृतिवदेककर्तृकमिति भावः ॥ १४ ॥

( १५ ) १०।६।५१-५८ ऋत्विजस्त्विह नान्ये स्युः

( १ ) सत्रविचारो वर्तते ।

( २ ) सन्ति सत्राणि । तानि च बहुकर्तृकाणीति स्थितम् ।

( ३ ) सत्रेषु पुनः संशय — किं सत्रिणो यजमाना एव ऋत्विजो भवन्ति—उत तेभ्योऽन्ये ऋत्विजः कर्तव्या इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — ज्योतिष्टोमे यजमानाद् व्यतिरिक्ता एव ऋत्विजः । तदनुसारेण सत्रेष्वपि तथैवेति ।

( ५ ) सिद्धान्त — ‘ये यजमानास्त एव ऋत्विजः’ इति प्रत्यक्षवचनम् । ‘अदक्षिणानि सत्राणि’ इति दक्षिणाराहिस्यमपि श्रुतम् । तस्माद् यजमाना एव ऋत्विजः सत्रेष्विति ।

एतदभिप्रेत्याह ऋत्विज इति । ‘इह’ सत्रेषु—‘ऋत्विजः’—‘अन्ये’



यजमानेभ्यो व्यतिरिक्ता — न' स्यु' अपि तु य एव यजमानास्त एव  
श्रुत्विज इत्याशय ॥ १५ ॥

(१६) १०।६।५१ सत्रं स्याद् द्वादशाहकम् ।

(१) सत्रविचार एव वर्तते ।

(२) अस्ति द्वादशाह । तत्र च वर्तते सत्रम् ।

(३) तत्र सन्देह — द्वादशाहवर्तिन सत्रत्व युक्तं न वेति ।

(४) पूर्वपक्ष — द्वादशाहो ज्योतिष्टोमस्य विकृतिः । न च तत्र स-  
त्रलक्षणलक्षितत्वम् । तस्मान्न द्वादशाहगतस्य सत्रत्वमिति ।

(५) सिद्धान्त — द्वादशाहस्य सत्रत्वमेव । तथाहि — 'आसते' 'उ-  
पयन्ति' इत्यादि चोदनास्वरूप यजमानबहुत्व च सत्रे — तदेव द्वाद-  
शाहेऽपि इति ।

एतदभिप्रेत्याह — सत्रमिति । 'द्वादशाहकम्' द्वादशाहयाग — 'सत्र'  
सत्रलक्षणलक्षित — 'स्यात्' भवेत् — आसनोपायिचोदनया यजमानबहु-  
त्वेन च लक्षितत्वादित्याशय ॥ १६ ॥

(१७) १०।६।६० अहीनोऽपि भवेदेवम्

(१) पूर्वाधिकरणशेष ।

(२) अस्ति द्वादशाह — अस्ति तत्राहीनोऽपि ।

(३) तत्र संशय — द्वादशाहवर्तिन अहीनत्वं युक्तं न वेति ।

(४) पूर्वपक्ष — द्वादशाहस्याहीनलक्षणलक्षितत्वाभावात् युक्तं तद्व-  
र्तिनोऽहीनत्वमिति ।

(५) सिद्धान्त — 'यजति' इति चोदनास्वरूप यजमानसङ्ख्यानि-  
यमाभावश्चाहीनलक्षणम् । तदेतद् वर्तते एव द्वादशाहवृत्तिषु कतिपयेषु या-  
गेषु द्वित्रात्रादौ । तस्माद् युक्तमहीनाभिधानं द्वादशाहस्येति ।

एतदभिप्रेत्याह अहीन इति । 'अहीनः' 'अपि' 'एव' — द्वादशाहकं —  
'स्यात्' । अहीनलक्षणमपि द्वादशाहे वर्तते एवेत्याशय ॥

तथाच 'आसौरन्' 'उपेयु' — इत्यादि चोदनास्वरूप बहव एव यज-  
माना इति नियमश्च सत्रलक्षणम् — 'यजति' इति चोदनास्वरूप यजमा-  
नबहुत्वनियमाभावश्चाहीनलक्षणम् — अयमेव च भेदः सत्राहीनयोरिति  
तात्पर्यमधिकरणद्वयस्येति ध्येयम् ॥ १७ ॥

(१८) १०।६।६१-६७ दक्षिणा सकृदश्रुतेः ।

(१) सत्रविशेषविचारो वर्तते ।

(२) अस्ति द्वादशाहस्य विकृतिषु एकादशरात्रः पौण्डरीकयागः ।  
तत्र दक्षिणा विहिता — 'अश्रुत पण्डरीके दद्यात् अश्वसहस्रमेकादशम्' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किमिय दक्षिणा एकादशसु दिनेषु प्रत्यहं दा-  
तव्या उत सकृदेव कर्मान्ते इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — प्रतिदिनकर्तव्य कर्म प्रधानम् । दक्षिणा च कर्मा-  
ङ्गम् । प्रतिप्रधान च अङ्गमावर्तनीयम् । तस्मात्प्रत्यह दक्षिणादानमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — एकादशदिनव्यापी समस्तेतिकर्तव्यतासम्पन्न ए-  
क एव याग पौण्डरीक । तस्य न प्रत्यह समाप्तिरपि तु एकाद-  
शदिनावसाने एव । कर्मान्ते च दक्षिणा । तस्मान्न प्रत्यह दक्षिणाऽपि तु  
सकृदेव कर्मान्ते इति ।

एतदभिप्रेत्याह दक्षिणेति । पौण्डरीकयागे 'दक्षिणा' 'सकृत्' एकवार-  
मेव कर्मान्ते दातव्या, न प्रत्यहम्—कुत — 'अश्रुते' यस्मात् पौण्डरीकया-  
ग कर्मसमुदाय — प्रत्येक समुदायिनामङ्गरूपेण च दक्षिणा न श्रूयते  
इति भाव ॥ १८ ॥

( १६ ) १०।६।६८-७१ विभज्य नयन तस्याः

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) पौण्डरीकस्य प्रकृतौ — "माध्यन्दिने सवने दक्षिणा नयन्ते"  
इति दक्षिणाया नयनादिरूपसंस्कार श्रूयते । स च चोदकेन पौण्डरीके  
ऽपि प्राप्त । दक्षिणाया दान च पौण्डरीके सकृदेवेति समधिगतम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किं गवायुतादिरूपाणां सर्वासां दक्षिणानां का  
त्सर्ग्येन नयन प्रत्यहम्—उत सकृदेव नयनम्—उत प्रविभज्यैकैकस्य प्र-  
त्यह नयनमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — समस्तदक्षिणाद्रन्यस्यैकत्वात् समस्तस्य कृ-  
त्स्नस्य सकृदेव नयनम् । तच्च प्रत्यह वा स्यात् कर्मान्ते वेत्यैच्छु  
कमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — द्वादशाहे त्वन्वह विभज्यैव दक्षिणानयन भवति ।  
तस्मात् तस्य विकृते पौण्डरीकेऽपि तथैव कर्तव्यमिति ।

एतदभिप्रेत्याह विभज्येति । 'तस्या' 'दक्षिणाया' — 'नयन' नयनादिस  
स्कार — 'विभज्य' दिनानुदिनमेकैकं प्रति कर्तव्यमिति शेष । एव च सति  
दशसु अह सु गवामेकैकसहस्रम् एकादशे चाहि अश्वसहस्रम्—नेतव्य-  
मिति भाव ॥ १९ ॥

( २० ) १०।६।७२-७५ यावदर्थ मनोऋचः ।

( १ ) प्रासङ्गिको विचार ।

( २ ) क्वचित् कर्मविशेषे श्रूयते — 'मनोऋच सामिधेन्यो' भव  
न्ति' इति ।

\* (३) तत्र सन्देह — किं यावत् ऋच मनुसम्बन्धिन्यस्ता सर्वा सामिधेनीषु प्रयोक्तव्या उत काश्चिदेवेति ।

(४) पूर्वपक्ष — विशेषाश्रवणात्सर्वा मनुलिङ्गा ऋच प्रयोक्तव्या इति ।

(५) सिद्धान्त — अग्निसमिन्धनमेव सामिधेनीना कार्यम् — तच्च यावतीभिः सिध्यति तावत् एव प्रयोक्तव्या न सर्वा । प्रकृतौ च पञ्च दशभिरेव ऋग्भिरग्निसमिन्धनं सिध्यति । तस्मादत्रापि पञ्चदशैव प्रयोक्तव्या इति ।

एतदभिप्रेत्याह यावदिति । 'मनोऋच' या विकृतौ विहिताः ता — 'यावदर्थम्' प्रयोजनानुसारेण यावतीभिर्ग्निसमिन्धनरूपोऽर्थः सिध्यति तावत् एव — प्रयोक्तव्या न सर्वा मनुलिङ्गा इति शेषः ॥ २० ॥

(२१) १०।६।७६ मानोपाहरणे वस्त्रे

(१) प्रासङ्गिको विचारः ।

(२) ज्योतिष्टोमे सोमस्य मानम् उपाहरणं चास्नातम् ।

(३) तत्र सशयः — किमेते येन केनापि साधनेन कार्यं उत वस्त्रेणैवेति ।

(४) पूर्वपक्ष — अथ न विशेषं विनैव यत्किञ्चित्कालभ्यस्ते साधनं तेनैव कर्तव्ये इति ।

(५) सिद्धान्त — 'वाससि मिनोति -- वाससा चोपाहरति' इति प्रत्यक्षं श्रूयते । तस्मात् वस्त्रे एव मानम्, वस्त्रेणैवोपाहरणमिति नियमः इति ।

एतदभिप्रेत्याह मानेति । 'मानोपाहरणे' मानं च उपाहरणं च — 'वस्त्रं' वस्त्रेणैव साधनेन कार्यं इति भावः ॥ २१ ॥

(२२) १०।६।७७ पृथग् वस्त्रमहर्गणे ।

(१) पूर्वाधिकरणशेषः ।

(२) अस्ति द्वादशाहोऽहर्गणः । तत्र चोदकप्राप्तमुपाहरणम् ।

(३) तत्र सशयः — किमेतदुपाहरणार्थमन्यद् वस्त्रं प्रत्यहं सम्पादनीयमुत नेति ।

(४) पूर्वपक्ष — चोदकप्राप्तादन्यस्य वाससोऽनुक्तत्वात् न ग्राह्यमन्यद् वासः इति ।

(५) सिद्धान्त — द्वादशदिनेषु प्रत्यहं सोमस्योपाहरणं चोदकप्राप्तं भवति । तच्च प्रत्यहं वस्त्रभेदमन्तरेण न सम्भवति । तस्मात् वस्त्रान्तरं सम्पादनीयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह पृथगिति । 'अहर्गणे' द्वादशाहे—'पृथग्' अन्यत्—'व  
खम्' उपाहरणार्थं सम्पादनीयमप्रत्यहमिति शेष ॥ २२ ॥

(२३) १०६।७८-७९ हरणार्थं पृथग् वासः

- ( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।
- ( २ ) प्रत्यहं वस्त्रं सम्पादनीयमित्यवगतम् ।
- ( ३ ) तत्र सशय —किं मानार्थं सम्पादनीयमुतोपाहरणम्प्र-  
ति इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —प्रकृतौ मानोपाहरणार्थमेक एव वास उपादीयते ।  
तस्मादिहापि उभयार्थं पृथग्वस्त्रं सम्पाद्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —उपाहरणार्थमेव सम्पादनीयं वस्त्रान्तरम् । यदा  
प्रयोजनं तदैव साधनं सम्पाद्यते । उपाहरणाय च वस्त्रान्तरस्य प्रयोज-  
नम् । तस्मादुपाहरणार्थं तस्यैव काले सम्पादनीयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह हरणेति । 'पृथक्' अन्यत्—'वास' वस्त्र—यदुपा-  
देयत्वेन सिद्धम्पूर्वाधिकरणे—तत्—'हरणार्थम्' उपाहरणार्थमेव  
न तु मानार्थमपि । तस्मादुपाहरणायैव सम्पादनीयमिति भावः ॥ २३ ॥

त्रयोविंशति नीतयः ।

स्पष्टम् ।

इति दशमस्य षष्ठः ।

## अथ दशमस्य सप्तमः ।

[ बाधप्रसङ्गागत प्रकीर्णविचारः ] .

(१) १०।७।१-२ पशौ हविः स्यात् पृथगङ्गमङ्गम् ।

- ( १ ) प्रासङ्गिको विचारः प्रवर्तते ।
- ( २ ) अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः ।
- ( ३ ) तत्र सशय —किं कृत्स्नं पशुरेकं हविरुत् प्रत्यङ्गम् भिन्नं  
हविरिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —कृत्स्नं पशुरेकं हविः । अग्नीषोमदेवता प्रति देय-  
द्रव्यत्वेन पशुश्चोदित —न च हृदयादि पशोरङ्गं साक्षात् 'पशु'  
भवति इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —'हृदयस्याग्रेऽवद्यति, अथ जिह्वाया' इत्यादिना  
हृदयाद्यङ्गानामवदानानि पृथगाग्नीयन्ते । अवदानं च हविष्प्रयोजकः  
संस्कारविशेष —पुरोडाशादौ हविषि होतुमवदीयमानत्वदर्शनात् । ह-

वि शब्दश्च 'हूयते इति हवि' इति व्युत्पत्त्या होमयोग्य द्रव्य ब्रूते । तस्मात्प्रत्यङ्ग भिन्न हविरिति ।

एतदभिप्रेत्याह पशाविति । 'पशौ' अग्नीषोमीये—'अङ्गम् अङ्गम्' प्रत्यङ्गम्—'घृथक्' भिन्न—'हवि' होमद्रव्य—'स्यात्' । न च कृत्स्नस्य पशो रेकहविष्वमित्याशय ॥ १ ॥

(२) १०।७।३—२ तस्यावदेय हृदयादि नान्यत् ।

(१) हविष्वचिन्तेव वर्तते ।

(२) पशोः प्रत्यङ्ग हविर्भिन्नामिति स्थितम् ।

(३) तत्र संशय —किं येन केनचिदङ्गेन हविषा यागो निर्वर्तनीय उत सर्वैरङ्गैरवदातव्यम्—उत यान्युक्तानि एकादश हृदयादीन्यङ्गानि तैरेव नान्यैरिति ।

(४) पूर्वपक्ष —अनिर्दिष्टविशेषेण येन केनचिदङ्गेन यथच्छ्रयाग कार्य इति । अथवा सर्वैरङ्गैरवदातव्यम् कृत्स्नस्य पशोर्हविष्यात् कस्याप्यङ्गस्य परित्यागे मानाभावात् इति ।

(५) सिद्धान्त —विशेषेणोक्तहृदयादिभिरेवैकादशभिर्याग कर्तव्य । अन्येषामङ्गानां परिसङ्ख्यातव्यात् । असाद्यङ्गानां प्रतिषेधोऽपि श्रूयते 'नासयोरवद्यति न शिरस' इति ।

एतदभिप्रेत्याह तस्यति । 'तस्य' पशो —'हृदयादि' एव अङ्ग 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति—अथ ग्रीवाया' इत्यादिनोक्तमेव—'अवदेय' हविरथमिति शेष —'न' 'अन्यत्' अङ्गम्, असादि । ततश्च असादीनां परिसङ्ख्येति तात्पर्यम् ॥ २ ॥

(३) १०।७।१०—११ त्र्यङ्गैर्यजेतेति न यागशेषैः [युक्तैरिति पाठान्तरम्]

(१) हविर्विचारो वर्तते ।

(२) अग्नीषोमीये पशौ श्रूयते—'त्र्यङ्गैः स्विष्टकृत् यजति' इति ।

(३) तत्र संशय —किं योगशेषस्त्रिभिरङ्गैः स्विष्टकृद् यष्टव्य उत अयागशेषैः इति ।

(४) पूर्वपक्ष —प्रकृतौ ज्योतिष्टोमे यागशेषैरेव स्विष्टकृद्धोमो भवति । तस्मादिहापि विकृतौ तथैव स्यात् । ततश्च यागार्थानां हृदयादीनामङ्गानां यैः कैश्चित् त्रिभिरङ्गैर्यागशेषभूतैः स्विष्टकृद् होतव्य इति ।

(५) सिद्धान्त —'दोष्ण पूर्वार्धादग्र समवद्यति, गुदस्य मध्यतः, श्रोण्या जघनतः' इत्यत्र हृदयाद्येकादशभ्योऽन्यान्येवाङ्गानि त्रीणि स्विष्टकृते समाम्नायन्ते । न चेतषा त्रयाणामुपयोग कुत्रापि यागे पूर्व कृतो यैर्नैतानि यागशेषाण्य भवयु । तस्मादयागशेषैरेवाङ्गैर्होतव्य स्विष्टकृदिति ।

एतदभिप्रेत्याह ऽयङ्गैरिति । 'यङ्गै यजेत' 'इति' वाक्येन विहितौ य स्विष्टकृद् होम स—'यागशेषै' पूर्वयागस्य शेषभूतै हृदयादिभि—  
'न' कर्तव्य —अपि तु अयागशेषैरन्यैरेव त्रिभिरङ्गैर्गुदादिभि कर्तव्य इत्याशय ॥ ३ ॥

(४) १०।७।१२-१६ अध्युन्निका होतृभजेर्विकारः ।

(१) भक्षविचार इदानीम्प्रवर्तते ।

(२) अस्ति ज्योतिष्टोमस्य विकृति पशुरग्नीषोमीय । तत्रेदमस्माय ते—'अध्युन्नी' होत्रे हरन्ति' इति । ['अध्युन्नी' हृदयादिभ्योऽन्यदङ्गम् ।]

(३) तत्र सशय —इयमध्युन्नी किं प्राकृतस्य होतृभक्षस्य विकार उत अविकार एव होतृनियम्यत इति ।

(४) पूर्वपक्ष —'इयमध्युन्नी होतुरेव नान्यस्य' इति नियम्यते । हृद यादीन् यागशेषान् भक्षणार्थं पात्रे निक्षिप्य अयागशेषानपि तत्र प्रक्षिपेत् । अस्मिन् भक्षणे प्रत्येकमृत्विजा विभज्यमाने सेयमध्युन्नी होतु कदाचित् स्यात् कदाचिदन्यस्य—इति पक्षे प्राप्तत्वाद्वा नियम्यते इति ।

(५) सिद्धान्त —भक्षैकत्रीकरणविधानं त्वेव श्रूयते—'अथ यत् परिशिष्यते तत्तत् समवत्तत्तान्याम् आनयति—हृदयं जिह्वा वक्ष —वनि ष्टुम्' । न चात्राध्युन्नी पठ्यते । एव चाप्राप्तत्वात् उदाहृतवाक्येनैव विधीयमानाऽध्युन्नी होतुरिडाभागमन्य बाध्यते । तत्रेत्थं वचनव्यक्ति — 'यद् होत्रे हरन्ति तदध्युन्नीम्' इति । तस्मात् प्राकृतस्य होतृभक्षस्य विकारिकाऽध्युन्नी इति ।

एतदभिप्रेत्याह अथीति । 'अध्युन्निका' अध्युन्नी—'होतृभजे' होतृ भागस्य 'विकार' इति सम्बन्ध ॥ ४ ॥

(५) १०।७।१७ वनिष्टुरग्नीदशन विरुयात् ।

(१) पूर्वोक्तिकणशेष ।

(२) अग्नीषोमीयपशावेव श्रूयते—'वनिष्टुमग्नीधे' इति ।

(३) तत्र सशय —किमग्नीदक्षस्य प्राकृतस्य विकार उत अविकार एवाग्नीधो नियम्यत इति ।

(४) पूर्वपक्ष —हृदयाद्यङ्गे वनिष्टोरपि पाठात् अध्युन्नीवदत्र नियमे बाधो नास्ति । तस्माद् वनिष्टुरग्नीध एव भवतीति नियम इति ।

(५) सिद्धान्त —यस्मिन् वाक्ये हृदयादिषु वनिष्टुरपि पठितं तद् हृदयादीनां पात्रप्रक्षेपमात्रं विधत्ते न तु भक्षत्वम् । तस्मात्तन् वनि ष्टोर्भक्षत्वं न विहितम् । एव च अन्यतोऽप्राप्तत्वात् उदाहृतवाक्येनैव वनिष्टोर्भक्षत्वविधानात् वनिष्टुव्यतिरिक्तोऽग्नीधो भागो बाध्यते । तस्मात् पूर्ववत् प्राकृतस्य अग्नीदक्षस्य विकारोऽयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह वनिष्टुरिति । 'वनिष्टु' पशोरङ्गविशेष — 'अग्नीद शनम्' अग्नीध्र भक्षभाग — 'विकुर्यात्' तत्साधन गृह्णीयात् — योऽग्नीध्रे भाग स वनिष्टुरेवेति भावः ॥ ५ ॥

(६) १०।७।१८-१९ अस्त्येव मैत्रावरुणस्य भक्षः ।

(१) भक्षचिन्ता वर्तते ।

(२) अस्त्यग्नीषोमीय पशु । अस्ति च मैत्रावरुणनामा ऋत्विक् ।

(३) तत्र सशय — चोदकप्राप्तौ मैत्रावरुणस्य शेषभक्षो भवति न वेति ।

(४) पूर्वपक्ष — प्रकृतौ मैत्रावरुणस्याभावात् चोदकेन प्राप्तिरत्र न सम्भवति । तस्मान्नास्ति मैत्रावरुणस्य भक्ष इति ।

(५) सिद्धान्त — 'मैत्रावरुण प्रैष्यति चानुचाह' इति प्रैषानुच ने अस्य विधीयते । ततश्च प्रैषकार्येणास्याध्वर्यावेवान्तर्भागे, अनुचनका येण च होतरि । तस्मादस्ति भक्ष इति ।

एतदभिप्रेत्याह अस्तोति । 'मैत्रावरुणस्य' मैत्रावरुणनाम्न ऋत्विजः — 'भक्ष' शेषभक्षभाग — 'अस्त्येव' इति सम्बन्धः ॥ ६ ॥

(७) १०।७।२०-२१ एकस्तु मैत्रावरुणस्य भागः ।

(१) पूर्वाधिकरणशेषः ।

(२) अस्ति मैत्रावरुणस्य भक्ष इति स्थितम् ।

(३) तत्र सशय — तस्य द्वौ भागौ उतैक एवेति ।

(४) पूर्वपक्ष — कार्यनिमित्तक एव भक्षभागः । मैत्रावरुणश्च प्रैष रूपमध्वर्युकार्यं करोति अनुवचनरूपं च होतृकार्यम् । तस्मादस्य कार्यं द्वयनिमित्तकं भागद्वयमिति ।

(५) सिद्धान्त — यद्यपि द्वे कार्ये तथापि पुरुषस्यैकत्वाद् भक्षभागस्याप्येकत्वम् । भक्षस्य कार्यनिमित्तकत्वे प्रकृतावपि कार्यगौरवलाघवानुसारि भक्षेषु तारतम्यं प्रसज्येत इति ।

एतदभिप्रेत्याह एक इति । 'मैत्रावरुणस्य' 'भाग' 'एक' 'तु' — यद्यप्ययं कार्यद्वयं करोति तथापि भागोऽस्यैक एवेति तुना गम्यते ॥ ७ ॥

(८) १०।७।२२-२३ प्रस्थातृभक्षं न पशौ वदन्ति ।

(१) भक्षविचारो वर्तते ।

(२) अस्ति पशावग्नीषोमीये प्रतिप्रस्थाता नाम ऋत्विक् ।

(३) त प्रति सशय — अस्य भक्षो भवति न वेति ।

(४) पूर्वपक्ष — अध्वर्युकार्यं वपापाकमयं करोति । तस्मादस्यस्य भक्ष इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — वपाया शेषस्याभावात् न सम्भवति भक्ष इति ।  
एतदभिप्रेत्याह प्रस्थात्रिति । ‘पशौ’ अग्नीषोमीये—‘प्रस्थातु’ प्रति  
प्रस्थातृनामकस्य ऋत्विज —‘भक्ष’ शेषभक्षभाग—‘न’ ‘वदन्ति’—या  
ज्ञिका इति शेष ॥ ८ ॥

( ६ ) १०।७।२५-३३ भवेदपूर्व गृहमेधकर्म ।

( १ ) भक्षविचार पर्यवसित । इदानीं कर्मस्वरूपविचारे गृहमे  
धीयस्वरूपविचारो बाधाबाधविषयक प्रवर्तते ।

( २ ) चातुर्मास्ये गृहमेधीय आम्नात —‘मरुद्भयो गृहमेधिभ्य  
सर्वासा दुग्धे सायमोदने’ इति । तत्र श्रूयते—‘आज्यभागौ यजति’ इति ।

( ३ ) तत्र सशय —किमिदं गृहमेधीय चातुर्मास्यस्य विकृतिरत्र च  
वचने प्राकृतयोरेवाज्यभागयोरनुवाद (इत्येवरूपा सप्त पक्षा) —उत  
नेदं विकृतिरपूर्वमेवेदं कर्मात्रं विधीयते इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —विकृतिरेवायम् । तस्मात् चोदकप्राप्तयो प्राकृत  
योरेवाज्यभागयोरत्र पुन श्रवणादनुवाद एवायमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —उदाहृतवाक्ये प्रत्यक्ष एवाज्यभागविधिरुपल  
भ्यते । तथा सति चोदकस्य चोदकेन प्राप्तेर्वा कटपना निरर्थिका ।  
तस्मादपूर्वं एवायं गृहमेधीय । तस्येति कर्तव्यतापि प्रत्यक्षवचनेनैव  
पूर्यते । पत्र च गृहमेधीयश्चोदकप्राप्तान्यङ्गान्यपि नापेक्षते । तस्माद्वि  
कृतिरूप साङ्गकलाप कर्म गृहमेधीयमत्र विधीयते इति ।

एतदभिप्रेत्याह भवेदिति । ‘गृहमेधकर्म’ गृहमेधीयो याग —‘अपूर्वं’  
अविकृतिरूप—‘भवेत्’—न तु चातुर्मास्यस्य विकृतिरूपमित्याशय ॥९॥

( १० ) १०।७।३४ तद् यावदुक्ताङ्गयुतं प्रकुर्यात् ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) अस्ति गृहमेधीय । इदं च स्थितं यदसावाज्यभागाभ्यामेव  
निराकाङ्क्षो नान्यान्यङ्गानि गृह्णातीति ।

( ३ ) तत्र पुन सशय —किमत्राज्यभागाभ्यामितरत् किमप्यङ्गं न  
ग्रहीतव्यमुत किमपि ग्रहीतव्यमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —गृहमेधीयस्याज्यभागाभ्यामेव निराकाङ्क्षत्वात्त-  
तो न्यत् स्विष्टकृदादिकं नैव कायमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —यथा आज्यभागौ गृहमेधीये प्रत्यक्षविहितौ तथै  
वान्यदपि स्विष्टकृदादिकं प्रत्यक्षविहितम्—‘अग्नये स्विष्टकृते समवद्यति’  
‘इडामुपह्वयते’ इत्यादि । तस्माद् यद्यपि प्राकृतानि सर्वाण्यङ्गानि न



( ४ ) पूर्वपक्ष—प्रकृतौ चास्ति कपालोद्भासनान्तत्वम् । चोदकेन च आतिथ्याया अपि तथा । इत्येक कल्प । इडान्तत्व च प्रत्यक्षश्रुतम् । तस्मात्सोऽपर कल्प । द्वयोश्च प्रामाणिकत्वाद् विकल्प इति ।

( ५ ) सिद्धान्त—इडान्तत्व प्रत्यक्षविहितम् । तस्मान्न तुल्यबल मुभयो प्रामाण्यम् । प्रामाणिकोऽपि विकल्पोऽष्टदोषदुष्ट । तस्मात् इडान्तैवातिथ्येति नियम एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह—कर्तव्यमिति । 'आतिथ्यम्' आतिथ्येष्टिरूप कर्म— 'इडान्तम्' 'एव' 'कर्तव्यम्'—इति नियमोऽभ्युपगन्तव्य इत्याशय ॥१२॥

( १३ ) १०।७।४०-४२ पूर्वैवेवोपरमो यजेः स्यात्

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) इडान्तैवातिथ्येष्टिरिति स्थितम् । किन्तु द्वे इडे प्रकृतौ भवत ।

( ३ ) तत्र सशय—किम्परयेडया आतिथ्या समाप्यते—उत पूर्वयेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—विशेषनियामकाभावाद् विकल्प । अथवा पर-यैवेडया समाप्ति । यदि पूर्वया समाप्तिरभिप्रेता स्यात् तर्हि तयवा वशिष्टकर्मणा निषेधे सिद्धे 'नानुयाजान्' इति प्रतिपदोक्तनिषेधो व्यर्थः स्यात् इति ।

( ५ ) सिद्धान्त—सञ्जातविरोधिनी तु पूर्वैवेडा । अनुयाजनिषेधश्च नित्यानुवादत्वेनाप्युपपद्यते । तस्मात् पूर्वयैवेडया समाप्तिरातिथ्याया इति ।

एतदभिप्रेत्याह—पूर्वेति । 'पूर्वेडया' पूर्वया इडया—'एव' 'यजे' इष्टे आतिथ्याया—'उपरम' अन्त,—'स्यात्' । न विकल्पो नापि इडान्तत्वमिति एवमशब्दार्थ ॥ १३ ॥

( १४ ) १०।७।४३-४६ न चोदकेनाद्वाविधोपसत्सु ।

( १ ) ज्योतिष्टोमे बाधविचारो वर्तते ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे आम्नायते—'षडुपसद् उपसाद्यन्ते' इति । ता उपसदश्च प्रकृत्य श्रूयते—'अप्रयाजास्ता अननुयाजा' इति ।

( ३ ) तत्र सशय—अनेन द्वितीयेन वाक्येन किमपूर्वा एवोपसदो विधीयन्ते उत यावदत्र निषिद्ध तावत् परित्यज्य अन्यत् सर्वं कर्तव्यम् इत्येतावान् विशेष प्राकृतास्वेवोपसत्सु विधीयते इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—द्वितीयवाक्योक्ता उपसद् पूर्वासा विकृत्य । तस्मात् प्रत्यक्षनिषेधात् प्रयाजानुयाजान् वर्जयित्वाऽवशिष्टमङ्गजातं सर्वं प्राकृतमेव चोदकप्राप्त कर्तव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — प्रकृतौ विहित एवाधारोऽत्र पुनर्विधीयते । तेन चान्यस्य प्राकृतस्याङ्गजात परिसङ्ख्यात भवति । अन्यथा पुनर्विधान व्यर्थं स्यात् । तस्मात् गृहमेधीयवत् अपूर्वमेव कर्मेमा उपसद् — प्रया जादिनिषेधस्तु नित्यानुवाद इति ।

एतदभिप्रेत्याह—नेति । ‘उपसत्सु’ प्रयाजा इति वाक्येन विहिं तासु—‘चोदकेन’ प्रकृतिवद्विकृतिरिति प्राकृताङ्गाना विकृतौ प्रापकस्य चोदकवाक्यस्य बलेन—‘अङ्गविधा’ प्राकृतानामङ्गानां प्राप्ति —‘न’ भव-  
ति—अपूर्वाणि कर्माणि एता उपसद् इत्याशय ॥ १४ ॥

( १५ ) १०।७।४७-५० भवेदपूर्वोऽवभृथार्ययागः

( १ ) ज्योतिष्टोमबाधविचारो वर्तते । पूर्वविचारसदृशः ।

( २ ) अस्ति ज्योतिष्टोमेऽवभृथ । तत्र आम्नायते—‘अपवर्हिषः, प्रयाजान् यजति—अपवर्हिषौ अनुयाजौ यजति’ इति ।

( ३ ) तत्र सशय —किं वर्हिमात्र वर्जयित्वाऽन्यत् सर्वं प्राकृत कर्तव्यम्—उतापूर्वमिदं कर्मेति ।

( ४ ) सिद्धान्त —‘अप्सुमन्तावाज्यभागौ’ इति विशेषेणाङ्गान्तर विधानात् तथोक्तमेव कर्म न प्रकृत्यनुसारि । तस्माद् गृहमेधीयवदपूर्वमेवेदं कर्मेति ।

एतदभिप्रेत्याह भवेदिति । ‘अवभृथार्ययाग’ अवभृथनामको याग — ‘अपूर्व’ एव—‘स्यात्’—स्वतन्त्र एवानुष्ठेयो न तु प्रकृतिवदित्यर्थः ॥ १५ ॥

( १६ ) १०।७।५१-५७ स्यात् वाजपेये खादिरो हि यूपः ।

( १ ) प्रासङ्गिको बाधविचारः ।

( २ ) वाजपेये श्रूयते—‘खादिरो यूपो भवति’ इति ।

( ३ ) तत्र सशय —किं खादिर एवेति नियम —उत खादिरो वा पालाशो वा रौहितको वेति विकल्पः इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —खादिरादीनां प्रकृतौ विकृतिपतत्वादिहापि तथैवेति ।

( ५ ) सिद्धान्त —यदि चोदकप्राप्तमेवेष्टमभविष्यत् तर्हि खादि-  
रस्य पुनर्विधान व्यर्थं स्यात् । तस्मात् खादिर एव कर्तव्य इति नि-  
यम एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह—स्यादिति । ‘वाजपेये’ यागे—‘खादिरः’ खादिरका-  
ञ्चनिर्मित एव ‘यूपः’ ‘स्यात्’ कर्तव्यः—न तु पलाशादिनिर्मित इत्या-  
शयः ॥ १६ ॥

(१७) १०।७।५८-६० द्रव्येषु काम्येषु न चोदकोक्तम्

( १ ) प्रासङ्गिको बाधविचार ।

( २ ) सन्ति काम्या इष्टयो विकृतिरूपा ।

( ३ ) तत्र संशय —एतासु विकृतिषु किं प्राकृत द्रव्यदेवत निवर्तते उत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —न निवर्तते—चोदकेन प्राप्तत्वात् । तस्माद् यत्र विकृतौ पृथक् द्रव्य देवता वा विधीयते तत्र विकल्प समुच्चयो वाऽभ्युपेय इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —उत्पन्नस्य यागस्येतिकर्तव्यताकाङ्क्षा उदेति । तदैव चोदकस्यावसर । एव च यत्र उत्पत्तिवाक्ये एव द्रव्य देवता वा विहिता तत्र तदाकाङ्क्षाया अनुदयात् न भवति चोदकावसर । अतो विकृतिषु प्राकृतयोर्द्रव्यदेवतयोर्न प्राप्तिरिति दूरापेतौ विकल्पसमुच्चयाविति ।

एतदभिप्रेत्याह द्रव्येष्विति । 'काम्येषु' यागेषु—'द्रव्येषु' साक्षाद्विहितेषु सत्सु—'चोदकोक्तम्' चोदकेन प्राप्त प्राकृत द्रव्य—'न' प्राप्नोतीति शेष । एव देवताऽपीति ॥ १७ ॥

(१८) १०।७।६१-६३ तथा पलाशः खादिरेण बाध्यः ।

( १ ) बाधचिन्तैव वर्तते ।

( २ ) वाजपेये श्रूयते—'खादिरो यूपो भवति' इति । प्रकृतौ च पालाशोऽपि श्रूयते । स चात्र चोदकप्राप्त ।

( ३ ) तत्र संशय —किं प्राकृतं यूपद्रव्य पलाशरूपमत्र बाध्यते—उत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —चोदकेन पलाश प्राप्त. उपदेशेन च खादिर । तस्मात्समुच्चयो विकल्पो वाऽभ्युपेय इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —खादिरपालाशौ परस्परनिरपेक्षावेव यूपकार्यक्षमौ । तत्र साक्षादुपदिष्टेन खादिरेण अतिदिष्टस्य पलाशस्य बाध एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह तथेति । 'तथा' यथा काम्येषु प्राकृतस्यातिदिष्टस्य बाधस्तथैव—'पलाश' प्राकृत—'खादिरेण' विकृतानुपदिष्टेन—'बाध्य' निवर्त्यो भवतीत्यर्थ ॥ १८ ॥

(१९) १०।७।६४-७१ व्रीहिर्विकारे यवबाधकः स्यात्

( १ ) बाधविचारे पूर्वाधिकरणपवाद ।

( २ ) 'सौमार्तौ चरु निर्वपेत् शुक्लानां व्रीहीणां ब्रह्मवर्चसं कामः' इति श्रूयते । चेत्कप्राप्तश्च प्राकृतो व्रीहियवयोर्विकल्पः ।

( ३ ) तत्र सशय — किं ब्रीहिभिर्यवैर्वा ( विकल्पेन, प्रकृतिवद् ) यष्टव्यम्—उत ब्रीहिभिरेवेति नियम इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — चोदकप्राप्तस्य परित्यागे मानाभावात्—चोदके नातिदेशेन ब्रीहयो यवाश्च प्राप्ता — उपदेशेनापि ब्रीहय । एव नास्ति विरोध — येन बाध. स्यात् इति ।

( ५ ) सिद्धान्त.—शुक्लब्रीहद्रव्यको यागोऽत्र वाक्ये विधीयते । तथासति अतिदिष्टब्रीहियवयोर्यत् कार्यं तदेवोपदिश्यमानब्राह्मिकार्यम् । ततश्च चोदकस्यावसरो न भवति परिक्रमितुम् । तस्माद् यवस्य बाध एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह ब्रीहिरिति । 'विकारे' विकृतियागे—'ब्रीहि' स्व-तन्त्र उपदिष्ट — 'यवबाधक' यवस्य पाक्षिकतयातिदिष्टस्य बाधक एव—'स्यात्'—न चात्र विकल्प आश्रयणीय इत्याशय ॥ १९ ॥

( २० ) १०।७।७२-७३ पञ्चावदानं हृदयादिकेऽपि ।

( १ ) बाधविचारो वर्तते ।

( २ ) ज्योतिष्टोमीयान्नीषोमीयपशावाम्नायते—'यद्यपि चतुरवत्ती यजमान पञ्चावत्तैव वपा कार्या' इति । [ यजमानगोत्रभेदेन अवदानं सङ्गथानियमः ] ।

( ३ ) तत्र सशयः—इयं वपाया श्रूयमाणा पञ्चावदानता किं वपाया मेव चतुरवदानं बोधयति—उतेतरेष्वपि पश्वङ्गेषु हृदयादिषु इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — वपामात्रमुद्दिश्य पञ्चावदानं विधीयते । तस्मात् तत्रैव तस्य निवेशो न हृदयादिष्वङ्गेष्विति ।

( ५ ) सिद्धान्त — अवदानं चोदकप्राप्तं नात्र विधेयम्—अपि तु चोदकप्राप्तमवदानमनूद्य तत्र पञ्चावसङ्गथा विधीयते । तस्माद् यत्र यत्राङ्गेऽवदानं प्राप्तं तत्र तत्र सर्वत्र तस्या सङ्गथाया निवेशः । तस्माद् हृदयाद्यङ्गेष्वपि पञ्चावदानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह पञ्चेति । 'हृदयादिके' 'अपि' पश्वङ्गे—'पञ्चावदानम्' न केवलं वपायामित्याशयः ॥ २० ॥

महर्षिणा लोकाहिताय सम्यक्

समीरिता विंशतिनीतयोऽत्र ॥

स्पष्टम् ।

इति दशमस्य सप्तमः ।

## अथ दशमस्याष्टमः पादः ।

[ बाधोपयुक्तो नञर्थविचार ]

(१) १०।८।१-४ आर्षेये न विकल्पः स्यात्

( १ ) निषेधार्थचिन्ता प्रवर्तते । तत्र पर्युदासोदाहरणम् ।

( २ ) महापितृयज्ञे ऋत्विग्वरणं चोदकप्राप्तम् । तत्र पुनः प्रतिषेधं श्रूयते—‘न होतारं वृणीते नार्षेयम्’ इति ।

( ३ ) तत्र सशयः—किमत्र विकल्पः—उत पर्युदास इति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—वरणं चोदकप्राप्तम्—अत्र प्रतिषिद्धम् । उभयं च प्रामाणिकम् । तस्मात् तुल्यबलत्वाद् विकल्प इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—‘प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या’ इति चोदकवाक्येन वरणं प्राप्तम्—तदेव वरणं प्रतिषेधवाक्येन पर्युदस्तम् । तस्मादुभयवाक्यपरामर्शेनेत्यमर्थं पर्यवस्यति—‘महापितृयज्ञे वरणं वर्जयित्वा सर्वं प्रकृतिवत् कर्तव्यम्’ इति । तस्मात् पर्युदास एवात्र नञशब्दार्थः इति ।

एतदभिप्रेत्याह आर्षेये इति । ‘आर्षेये’ आर्षेयवरणे चोदकेन प्राप्ते वाक्यान्तरेण च प्रतिषिद्धौ सति—‘विकल्पः’ ‘न’ ‘स्यात्’—न्यायः—अपि तु पर्युदास एवेत्याशयः ॥ १ ॥

.(२) १०।८।५ न सोम इति सुश्रुतिः ।

( १ ) नञोऽर्थवादादर्थत्वोदाहरणम् ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोर्राज्यभागौ प्रकृत्याम्नातम्—‘न तौ पशौ करोति न सोमे’ इति ।

( ३ ) तत्र सशयः—किं ‘न सोमे’ इत्यत्र प्रतिषेधः उत पर्युदास उतार्थवाद इति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—अत्र नकारो न समस्तः । तस्मात् क्रियापदेनान्वितं राज्यभागानुष्ठानं प्रतिषेधति । तस्मात् प्रतिषेधः ॥ अथवा सामव्यतिरिक्ते कर्मण्यराज्यभागानुष्ठानम् इत्येवमेवार्थः । तथाच पर्युदास इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—पूर्वाधिकरणवदत्र सोमे राज्यभागप्रसक्तिरेव नास्ति—उपदेशेनातिदेशेन वा । तस्मान्न पर्युदाससम्भवः । तत्त्वतस्तु ‘न तौ पशौ करोति’ इत्यस्य निषेधस्य शेषभूतमेव वाक्यम्—‘न सोमे’ इति । तथा चात्र दृष्टान्तवर्णनरूपोऽर्थवाद एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । ‘न सोम इति’ वाक्य—‘सुश्रुतिः’ अर्थवादः—दृष्टान्तवर्णनरूपः—‘यथा सोमे राज्यभागौ न क्रियेते तथैव पशवोऽपि न कर्तव्यौ’ इत्येवमेवार्थो वाक्ययोरिति भावः ॥ २ ॥

## (३) १०।८।६ शिष्टे नञ् प्रतिषेधार्थः

(१) नञ्शब्दस्य पर्युदासार्थं अर्थवादादर्थश्च प्रदर्शित । प्रतिषेधार्थं इदानीं प्रदर्श्यते ।

(२) ज्योतिष्टोमस्य सस्थाविशेषे श्रूयते—‘अतिरात्रे षोडशिन गृह्णाति—नातिरात्रे षोडशिन गृह्णाति’ इति ।

(३) तत्र सन्देह —अत्र नञर्थं क । किमपर्युदास उतार्थवाद उत प्रतिषेध इति ।

(४) पूर्वपक्ष — प्रथमाधिकरणन्यायेन पर्युदासः । अथवा द्वितीयाधिकरणन्यायेनार्थवाद इति ।

(५) सिद्धान्त —पर्युदासे सति ‘अतिरात्र वर्जयित्वा अतिरात्रे षोडशिन गृह्णाति’ इत्यर्थं स्यात् । स तु न समञ्जसः । न चात्र कश्चिदर्थो यस्यार्थवाद स्यात् । तस्मात् प्रतिषेध एवार्थ इति ।

एतदभिप्रेत्याह शिष्टे इति । ‘शिष्टे’ प्रमाणान्तरेण आपिते सति कस्मिंश्चिदर्थे यदा तत्सम्बन्धेन ‘नञ्’ प्रयुज्यते [यथा अतिरात्रे षोडशिग्रहणे पूर्ववाक्येन आपिते सति नातिरात्रे षोडशिन गृह्णातीत्यत्र द्वितीयवाक्ये ग्रहणसम्बन्धेन नकार प्रयुज्यते] तदाऽयं ‘नञ्’ ‘न’ शब्द —‘प्रतिषेधार्थः’ प्रतिषेधमेव वक्ति । एव च सति अनुष्ठाने भिन्नप्रयोगविषयत्वेन विकल्प एव अभ्युपगन्तव्योऽनन्यगतिकत्वादित्याशयः ॥ ३ ॥

## (४) १०।८।६ ( पूर्वाधिकरणत्वेनात्र प्रदर्शितम् )

पर्युदासेऽन्यता भवेत् ।

(१) पूर्वाधिकरणविचारशेषः ।

(२) षोडशिग्रहणविषये एव ।

(३) सशय —पर्युदासार्थोऽत्र सम्भवति न चेति ।

(४) पूर्वपक्ष —यथा आर्षेयवरणे विधिनिषेधयोः सत्त्वे पर्युदास-स्तथैवात्रापि सम्भवति इति ।

(५) सिद्धान्त —पर्युदासे इत्यमेव स्याद् वचनव्यक्ति —‘अतिरात्र वर्जयित्वाऽतिरात्रे षोडशिन गृह्णीयात्’ इति । एव च सति परस्परव्याघात एव स्यात् । पर्युदासे विषयान्यत्वमावश्यकमिति ।

एतदभिप्रेत्याह पर्युदास इति । ‘पर्युदासे’—‘अन्यता’ विषययोः परस्परभेद —‘भवेत्’ आवश्यक इति शेषः । विषयान्यत्वं विना विषयैकत्वे परस्परव्याघात एव भवति—यथा प्रथमेऽधिकरणे—इत्यर्थः ॥ ४ ॥

(५) १०।८।७ स्तुतिर्जर्तिलवाक्यन्तु

( १ ) नञोऽर्थवादाथतोदाहरणान्तरम् ।

( २ ) अग्निहोत्रे श्रूयते—‘जर्तिलयवाग्वा जुहुयात्—अथो खल्वाहु’ अनाहुतिर्वै जर्तिला —पयसाऽग्निहोत्रं जुहुयात्’ इति । [ ‘जर्तिला’ आ-  
रण्यतिला ] ।

( ३ ) तत्र सशय —अत्र किं ‘जर्तिलयवाग्वा जुहुयात्’ इति विधि  
‘अनाहुतिर्जर्तिला’ इति निषेध —अथवा उभावप्येतावर्थवादौ ‘पयसा  
ऽग्निहोत्रं जुहुयात्’ इति विधिरिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —जर्तिलैर्होमं जर्तिला अनाहुतिरिति विधिनिषेधयो  
विकल्प एव पूर्वाधिकरणन्यायेनेति ।

( ५ ) सिद्धान्त —पयसा होम इत्येवात्र विधि । तेनैकवाक्यतामा-  
पन्नमितरद् वाक्यद्वयमर्थवादत्वेनान्वेति—जर्तिलादीना नास्ति होमयो  
ग्यता पयसस्त्वस्तीति पयस प्राशस्त्यज्ञापनाय । तस्मादर्थवाद एवात्र  
नञर्थ इति ।

एतदभिप्रेत्याह स्तुतिरिति । ‘जर्तिलवाक्य’ अनाहुतिर्वै जर्तिला इति  
वाक्यम्—‘स्तुति’ पयसो होमद्रव्यस्य प्राशस्त्यज्ञापकमित्यर्थः ॥ ५ ॥

(६) १०।८।८ त्र्यम्बकावधृतिः स्तुतिः ।

( १ ) नञोऽर्थवादवाचकत्वोदाहरणान्तरम् ।

( २ ) चातुर्मास्येषु त्र्यम्बकमन्त्रसंयोगेन त्र्यम्बकनामका एककपा  
ला पुरोडाशा बहवो विहिता । तान् प्रकृत्य श्रूयते—‘अभिघार्या अन-  
भिघार्या इति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिन’ इति ।

( ३ ) अत्र सशय —किमभिघारयितव्यास्त्र्यम्बका उत नाभिघार-  
यितव्या—उत विकल्प उत नात्र अभिघारयितव्यत्वविधिनिषेधौ वाक्य  
द्वयमर्थवाद एवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —तृतीयाधिकरणन्यायेन विकल्प विधिनिषेधयोरु  
भयो श्रौतत्वेन तुल्यबलत्वादिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —विधित्सितार्थस्तुतिरेवात्र गम्यते—‘इत्थम्महान्  
विधित्सितोऽर्थो यन्मीमांसया निर्णयो भवतीति—एकवाक्यत्वेन  
स्तुतिरेवेति ।

एतदभिप्रेत्याह त्र्यम्बकेति । ‘त्र्यम्बकावधृति’ त्र्यम्बकावधारणानव  
धारणाक्तिः—‘स्तुति’—विधित्सितस्यार्थस्येति शेषः ॥ ६ ॥

(७) १०।८।९—११ साम्नां विकल्प आधाने

( १ ) निषेधस्य विकल्पार्थतोदाहरणम् ।

( २ ) अस्त्याधानम् । तत्रेदमामनन्ति—‘य एवविद्वान् धारवन्तीय गायति’ इत्यादि । तत्रेदमप्याम्नायते—‘उपवीता वा एतस्याश्रयो भवन्ति यस्याग्न्याधेये ब्रह्मा साम गायति’ इति [ ‘उपवीता’ परित्यक्ता इत्यर्थः ] । अनया निन्दया ब्रह्मण सामगाननिषेध उन्नीयते ।

( ३ ) तत्र सशय —अय निषेध किमर्थवादार्थ उत प्रतिषेधार्थ इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अय निषेध उद्गातुर्वामदेव्यादिगान स्तौति । तस्मादर्थवाद इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —नाय वामर्देव्यादिगानस्तुतिः सम्भवति । वामदेव्यादिगानवाक्यानि पृथक् स्वसन्निधिपठितैरेवार्थवादैर्निराकाङ्क्षाणि । ब्रह्मशब्दोऽत्रोद्गातार ब्रूते—उद्गातुश्च गान विहितम् । तस्माद् एकविषययोर्विधिनिषेधयोर्विकल्प आश्रयणीयस्तृतीयाधिकरणन्यायेन । तस्मादत्र निषेध प्रतिषेधार्थ एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह साम्नामिति । ‘आधाने’ अग्न्याधाने यानि सामानि गेयत्वेन विहितानि तेषा ‘साम्ना’ गातुर्विषये—‘विकल्प’ आश्रयणीय इति भावः ॥ ७ ॥

( ८ ) १०।८।१२-१५ नात्र दानादि दीक्षिते ।

( १ ) पर्युदासार्थतोदाहरणम् ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—‘दीक्षितो न ददाति, न जुहोति, न पचति’ इति ।

( ३ ) तत्र सशय—कि सर्वेषा दानहोमपाकानामय प्रतिषेध—उत अक्रतुसम्बन्धिनाम्—अथवा क्रतुसम्बन्धिनामपि चोदकप्राप्तानां प्रतिषेध—अथवा पर्युदास इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —सर्वेषा दानादीनां प्रतिषेध । अथवा यानि चोदकातिदिष्टानि तेषामेव प्रतिषेधो नोपदिष्टानामिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —पुरुषार्थानामेव दानादीनामत्र निषेधो न क्रत्वर्थानाम् । तस्मात् पुरुषार्थदानाद्यतिरिक्त दानादि कर्तव्यमिति पर्युदासे एव पर्यवसान निषेधस्येति ॥

एतदभिप्रेत्याह नेति । ‘दीक्षिते’ यज्ञार्थं दीक्षितेन पुरुषेण—‘अत्र’ ऐहिक लौकिक पुरुषार्थमिति यावत्—‘दानादि’ दानं हवनं पचनमिति—‘न’ अनुष्ठेयम्—अपि तु पुरुषार्थातिरिक्तमेव दानाद्यनुष्ठेयमिति पर्युदासार्थं त्वमत्र निषेधस्येत्याशयः ॥ ८ ॥

( ९ ) १०।८।१६ होमेऽग्निं बाधते बर्त्य

( १ ) प्रासङ्गिकपर्युदासोदाहरणम् ।



( २ ) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—‘वर्त्मनि जुहोति’ इति । सामान्यतस्तु आहवनीये एव होमा भवन्ति । तस्य निषेध उदाहृतवाक्ये प्रतिभाति ।

( ३ ) तत्र सशय —ज्योतिष्टोमे वर्त्मन्येव होतव्य नाहवनीये इत्यस्य निषेधस्यार्थ —उत वर्त्माहवनीययोर्विकल्प इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —सामान्यशास्त्रेण प्राप्त आहवनीयो विशेषशास्त्रप्राप्तेन वर्त्मना सह विकल्प्यते वर्त्महोमे—उभयो प्रत्यक्षवचनयोः क्रत्वर्थत्वेन समानबलत्वात् इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —सामान्यविशेषशास्त्रयोर्विशेषशास्त्रमेव बलीय । तस्मात् वर्त्मना आहवनीयस्य बाध । एवं च वर्त्महोमे न प्राप्तिराहवनीयस्य । तथाच वर्त्महोम वर्जयित्वा अन्ये होमा आहवनीये कर्तव्या इति पर्युदास एव पर्यवसानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह होम इति । ‘वर्त्म’ होमाधारत्वेन श्रुतम्—‘होमे’ होमविशेषानुष्ठाने—‘अग्निम्’ आहवनीय—‘वाधते’ । तस्माद् वर्त्महोम वर्जयित्वाऽन्ये होमा आहवनीये कर्तव्या इति पर्युदासे एव वाक्यस्य विश्रान्तिरित्याशय ॥ ६ ॥

( १० ) १०।८।१७-१६ सामदश्यन्नियम्यते ।

( १ ) निषेधार्थविचारो वर्तते ।

( २ ) अनारभ्याम्नायते—‘सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्’ इति । अत्र सप्तदश्य विहितम् । तच्च प्रकृतौ विशेषविहितेन पाञ्चदश्येन बाधित सर्वा एव विकृती प्राप्तम् । कासुचिद् विकृतिषु वैमृधादिषु तु पुन श्रूयते सामदश्यम् ।

( ३ ) तत्र सशय—वैमृधादिषु पुन सामदश्यश्रवणस्य कोऽर्थ—किं वैमृधादिषु सामिधेनीसप्तदश्यमात्र प्राकृतमनुष्ठेय नान्यत् किमपि प्राकृतमङ्गजातम्—उत वैमृधादिष्वेव विकृतिषु सामदश्य नान्यासु विकृतिष्विति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —वैमृधादिषु सामिधेनीसप्तदश्य वर्जयित्वाऽन्यत् प्राकृतमङ्गजात नानुष्ठेयमित्येवार्थ इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —सप्तदश्य चोदकेनैव सर्वासु विकृतिषु प्राप्तं पुनश्चकासुचिद् विकृतिषु विशेषेणास्मात् सत् एतास्वैव नियम्यते । तस्माद् वैमृधादावेव सामदश्य नान्यासु विकृतिष्विति नियम एव वाक्यार्थ इति ।

एतदभिप्रेत्याह—सप्तदश्यमिति । ‘सप्तदश्यम्’ यत् अनारभ्य विहित, प्रकृतौ च विशेषविहितेन पाञ्चदश्येन बाधितं, वैमृधाद्या काश्चिद् विकृती प्रकृत्य च पुनरास्मात् सत्—‘नियम्यते’—वैमृधादिषु विकृतिषु इति शेष ॥ १० ॥

(११) १०।८।२०-२२ दर्विहोमेऽग्निले स्वाहा

(१) पूर्वाधिकरणपवाद ।

(२) दर्विहोम प्रकृत्य श्रूयते—‘पृथिन्यै स्वाहा—अन्तरिक्षाय स्वाहा—वायवे स्वाहा’ इति । अस्ति चानारभ्य वचन—‘वषट्कारेण वा स्वाहाकारेण वा देवेभ्योऽन्नं प्रदीयते’ इति ।

(३) तत्र सशय —किं पूर्वस्याय वाक्यशेष —‘यत स्वाहाकारेण देवेभ्योऽन्नं दीयते तस्मात् दर्विहोमे पृथिन्यै स्वाहा इति प्रयोग कर्तव्य’ इत्यर्थ —उत नय वाक्यशेष पूर्वस्य—अर्थश्च ‘ये’वपि दर्विहोमेषु स्वाहाकारो न विशेषेणाग्नातस्तेष्वपि स्वाहाकार कर्तव्य’ इति ।

(४) पूर्वपक्ष —पूर्वाधिकरणन्यायेन दर्विहोममात्रे स्वाहाकारो न होमान्तरेष्वित्येवार्थ इति ।

(५) सिद्धान्त —सर्वस्मिन् दर्विहोमे स्वाहाकारेणैवान्न दीयते—न वषट्कारेण—होमान्तरेषु तु स्वाहाकारवषट्कारयोर्विकल्प सुस्थित एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह दर्वीति । ‘अखिले’ सर्वस्मिन्—‘दर्विहोमे’ यत्र स्वाहाकारो विशेषत्रिहितो यत्रापि न विहित, सर्वत्र—‘स्वाहा’ स्वाहाकारेणैवान्न प्रदेयमित्यर्थ ॥ ११ ॥

(१२) १०।८।२३-२८ विकृतावप्यतिग्रहाः ।

(१) प्रासङ्गिकोऽतिदेशभावाभावविचार ।

(२) इदमाग्नायते—‘उपष्टम्भन वा एतदूयज्ञस्य यदतिग्राह्या’ इति । [अतिग्राह्यसङ्गका ग्रहा यज्ञस्योपष्टम्भकत्वादनुष्ठेया’ इत्यर्थ ।

(३) तत्र सन्देह —अतिग्राह्यस्य च विकृतावतिदेशो भवति न वेति ।

(४) पूर्वपक्ष —नातिदेश इति । ‘मासि मास्यतिग्राह्या गृह्यन्ते’ इति श्रुतम् । यदि चैते चोदकेनातिदिष्टा स्युस्तर्हि मासि मासि ग्रहणस्योपदेशो न स्यादिति ।

(५) सिद्धान्त —अस्त्यतिदेश । यथाऽन्यान्यङ्गान्यतिदिश्यन्ते तथैवैते ग्रहा अपि इति ।

एतदभिप्रेत्याह विकृताविति । ‘अतिग्रहा’ अतिग्राह्यनमका ग्रहा—‘विकृतौ अपि’—अतिदिश्यन्ते इति शेष ॥ १२ ॥

(१३) १०।८।२६-३२ न हविश्चतुरादेयम्

(१) प्रासङ्गिको विचारः ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयो श्रूयते—‘चतुरवत्त जुहोति’ इति ।

( ३ ) तत्र सशय --किमप्रयानहविर्द्रव्यादेव चतुरवदातव्यम्-उत हविषो द्विरवावदान-इतरद् द्वय चोपस्तरणाभिधारणार्थाभ्यामाज्याव दानाभ्यामेव सम्पादनीयमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष --चतुरवत्तमिति द्वितीयाश्रुत्या होमकर्मत्वमुच्यत चतुरवत्तस्य । न चाज्यस्य होमकर्मत्वमस्ति । तस्मात् पुरोडाशादेव च तुर्वारवादानेन चतुरवत्त सम्पद्यत इति ।

( ५ ) सिद्धान्त --नात्र होमानुवादेन चतुरवत्त विधीयते-होमस्या प्राप्तत्वात् । होममात्र त्वत्र विधीयते । चतुरवत्तत्वं च तस्यानूद्यते । तच्च चतुरवत्तमाज्यावदानाभ्यामेव सम्बद्ध भवति-‘द्विर्हविषोऽवद्यति’ इति हविरवदानस्य द्वित्वसङ्ख्यानियमात् । तस्मात् पुरोडाशे द्विरवदानम् न चतुरवदानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह-नेति । ‘हविश्चतु’ हविष पुरोडाशस्य चत्वार्यव दानानि-‘न आदेयम्’ न ग्रहीत यम्-अपि तु द्विरवदानमेव तस्माद् ग्र हीतव्यमित्यर्थ ॥ १३ ॥

( १४ ) १०।८।३३-३४ उपागौ च चतुर्ग्रहः ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोरस्त्युपाशुयाज ।

( ३ ) तत्र सशय -उपाशुयाजे चतुरवत्त कतव्यमुत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष --उपाशुयाजस्योपस्तरणादिराहित्यान्नास्ति चतुर वत्तमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त --‘चतुरवत्त जुहोति’ इति वाक्यादेवोपाशुयाज ऽस्ति चतुरवत्तम् । होमे चतुरवत्त गुणो विधीयते । स च गुण उपाशु याजहोमेऽपि स्यादेवेति ।

एतदभिप्रेत्याह उपेति । ‘उपाशौ’ उपाशुयाजहोमे-‘च’-‘चतुर्ग्रह’ चतुरवत्त-कर्तव्यमेवेति शेष ॥ १४ ॥

( १५ ) १०।८।३५-४६ अग्निकौ न पुरोडाशौ

( १ ) प्रासङ्गिको विचार ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोराम्नायते-‘पुरोडाशाभ्यामेव असोमयाजिनं याजयेत्-यावेनौ आग्नेयश्चैन्द्राग्नश्च’ इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह --किमधिकारश्रुते-‘दर्शपूर्णमासाभ्या स्वर्गका मो यजेत’ इत्यस्य-वाक्यशेषोऽयम्-उताधिकयो कर्मान्तरयोरुत्पत्ति उत दर्शपूर्णमासान्तर्गतयोरेवाग्नेयैन्द्राग्नयोरनुवाद इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अधिकारश्रुतेर्वाक्यशेष —असोमयाजिनो यदा दर्शपूर्णमासावनुष्ठीयेते तदा आग्नेयैन्द्राग्नाभ्यामेव पुरोडाशाभ्यामित्यर्थः । अथवा दर्शपूर्णमासाभ्यामतिरिक्तौ पुरोडाशौ विधीयेते इत्यादि बहव पक्षा सम्भवन्ति ।

( ५ ) सिद्धान्त —सोमयाजिन सान्नाय्यविधानार्थमेतद्वाक्यम् । तस्यार्थ —असोमयाजिनो यावाग्नेयैन्द्राग्ना पुरोडाशौ प्राप्तौ—यौ च तौ चापर च सान्नाय्य सोमयाजिन प्राप्त—तत्रासोमयाजिनमुक्ताभ्याम्पुरोडाशाभ्यामेव याजयेत् । तस्मादत्रोभयो पुरोडाशयोगनुवाद एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह अधिकाविति । 'पुरोडाशौ' आग्नेय पन्द्राग्नश्चे युभौ यावसोमयाजिन उक्तौ तौ—'न'—'अधिकौ' दर्शपूर्णमासगतपुरोडाशाभ्या व्यतिरिक्तौ—अपि तु तदन्तर्गतावेवात्रानुदिताभ्याशय ॥१५॥

( १६ ) १०।८।४७-४८ उपांशुः स्यात् ध्रुवाज्यतः ।

( १ ) प्रासङ्गिको विचार ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोगम्नायते—'उपाशुयागमन्तरा यजति' इति ।

( ३ ) तत्र द्रव्य प्रति सन्देह —किमनियम उत किञ्चिद्द्रव्य नियममिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —द्रव्यविशेषाश्रवणात् यथच्छ द्रव्यं यत् किञ्चिद् । ग्राह्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —श्रूयते त्वाज्यरूप द्रव्यम्—'आज्यस्यैव तावुपाशुपौर्णमास्या यजन्' इति । तत्रापि धौत्रमेवाज्य गृहीतमित्यत्रापि नियामकमस्ति—'सर्वस्मै वा एतद् यज्ञाय गृह्यते यद् ध्रुवायामाज्यम्' इति । तस्माद् ध्रुवाज्यमेवोपाशुयागे द्रव्यमिति ।

एतदभिप्रेत्याह उपाशुरिति । 'उपाशु' उपाशुयागे हवि प्रदानम्—'ध्रुवाज्यत' ध्रुवाया धृतात् अज्यात्—'स्यात्' भवेदित्यस्ति नियम इत्यर्थः ॥ १६ ॥

( १७ ) १०।८।४९-५० तस्यान्तु देवता तान्त्री

( १ ) उपाशुयागविचारो वर्तते ।

( २ ) उपाशुयागे आज्य द्रव्यमिति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र सशय —अत्र देवता का—या काचिदुत नियम इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —देवताविशेषविधेरभावात् या काचिद् देवता स्यादिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —उपाशुयागस्य दर्शपूर्णमासप्रकरणपठितत्वात् दर्शपूर्णमासतन्त्रमध्यपठितैव काचिद् देवतोपाशुयागे नियम्यत इति ।

एतदभिप्रेत्याह तस्यामिति । 'तस्याम्' उपांशुयागक्रियायाम्—'ता-

न्त्री' दर्शपूर्णमासतन्त्रपठिता एव काचिद्—'देवता'—स्यादिति शेष ।  
सा च देवता विष्णुप्रजापत्यश्रीषोमेभ्योऽन्यतमव स्यादिति नियम  
इत्याशय ॥ १७ ॥

(१८) १०८।५१-६१ पौर्णमास्या तु सा भवेत् ।

( १ ) उपाशुयागविचारो वर्तते ।  
( २ ) उपाशुयागस्य द्रव्य देवता चावगता ।  
( ३ ) काले इदानीं सन्देह —किंपौर्णमास्यामुतामावास्यायामनु  
ष्ठानमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —उभयत्रेति । अथवाऽमावास्यायामेवेति ।  
( ५ ) सिद्धान्त —'उपाशु पौर्णमास्या यजन्' इति पौर्णमास्यास्त  
त्कालत्वेन स्पष्टमभिधानात् पौर्णमास्येव काल इति ।  
एतदभिप्रेत्याह पौर्णिति । 'सा' उपाशुयागक्रिया—'पौर्णमास्याम्'  
एव—'भवेत्' अनुष्ठयेत—न तु दर्श इत्याशय ॥ १८ ॥

(१९) १०८।६२-७० उपांश्वकपुरोडाशे

( १ ) उपाशुयाजविचारो वर्तते ।  
( २ ) उपाशुयाज पौर्णमास्याम्भवतीति समधिगतम् । अस्ति तु  
पौर्णमास्यां सोमादूर्ध्वं द्वौ पुरोडाशौ, सोमात् प्राक् त्वेक एव पुरोडाश ।  
( ३ ) तत्र सन्देह —किं द्विपुरोडाशाया पौर्णमास्यामुपाशुयाज  
कर्तव्य उतैकपुरोडाशायामिति ।  
( ४ ) पूर्वपक्ष —'उपाशुयाजमन्तरा यजति' इति वाक्ये उपाशुया  
जस्य अन्तरालवत्त्वेति । तच्चान्तरालवत्स्य पुरोडाशद्वये सत्येव सम्भ  
ति । तस्माद् द्विपुरोडाशाया पौर्णमास्यामुपाशुयाज इति ।  
( ५ ) सिद्धान्त —पुरोडाशौ अन्तरालकालस्योपलक्षकौ न लक्षण  
भूतौ । कालस्य चोपलक्षणमन्यथाऽपि सम्भवति । तस्मादेकपुरोडाशा  
यामपि भवत्युपाशुयाज इति ।  
एतदभिप्रेत्याह उपेति । 'एकपुरोडाशे' एकपुरोडाशोपलक्षितेऽपि  
पौर्णमासीकाले—'उपाशु' उपाशुयाज—अनुष्ठेय इति शेष —न द्विपुरोडा  
शायामैवेत्यर्थ ॥ १९ ॥

न्यायास्त्वेकोऽनविंशतिः ।

स्पष्टम् ।

इति दशमस्याष्टम

इति दशमोऽध्यायः ।

## अथैकादशोऽध्यायः ।

तन्त्रावापनिरूपणम्

प्रथम पाद ।

[ तन्त्रविचारे उपोद्धात ]

(१) ११।१।१-४ षण्णां यज्ञीनाम्फलपेकमेव

( १ ) बाधाबाधविचारेण प्रयोग्य निश्चिते सति ।

प्रयोगस्य विकारोऽयं तन्त्ररूपं प्रतन्यते ॥

दशमाध्याये बाधाभ्युच्चयलक्षणं वृत्तम् । इदानीमेकादशं तन्त्रावापलक्षणं प्रवर्तते । तत्र यत् सकृत् कृतं बहूनामुपकरोति तन् 'तन्त्रम्'—यथा बहूनां ब्राह्मणानामभ्ये दीपः । यस्तु आवृत्त्या उपकरोति स 'आवापः'—यथा तेषामेव ब्राह्मणानामनुलेपनम् । तत्रादां तन्त्रविचारं प्रस्तूयते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोः प्रधानानि आग्नेयादीनि पट् । तेषां स्पर्शफलं श्रूयते—'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—इदं फलं किं पण्णां प्रत्येकमुत तन्त्रेणेति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—श्रुतं फलमाग्नेयादिभिः प्रत्येकमभिसम्बन्धयते । पूथगुपन्नानां परस्परनिरपेक्षाणां फलाकाक्षित्वात् ।

( ५ ) सिद्धान्तः षड्यागसमूहवाचिना दर्शपूर्णमासशब्देन व्यवहृत्य सद्यस्थैव फलसम्बन्ध उच्यते । तस्मात् पण्णामपि तेषां फलं स्वर्ग एकमेव । इदमेव तन्त्रम् । एकेन फलेनैव बहूनामाग्नेयादीनां फलाभिसम्बन्धरूपोपकारो भवतीति ।

एतदभिप्रेत्याह षण्णामिति । 'पण्णाम्' दर्शपूर्णमासान्तर्गतानामाग्नेयादीनां 'यज्ञीनां' यागानाम्—'एकमेव' स्वर्गरूपम्—'फलम्' । तदिदं तन्त्रेणेति द्वेयमित्याशयः ॥ १ ॥

(२) ११।१।५-१० सर्वाङ्गजन्योपकृतिस्तथैका ।

( १ ) प्रधानानां फलाभिसम्बन्धं विचार्याङ्गानीदानीं विचार्यते ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोः सन्ति प्रयाजादन्यङ्गानि ।

( ३ ) तत्र सशयः—किमङ्गानि सम्भूय 'प्रधानस्योपकुर्वन्त्युत भेदेनेति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—अङ्गानि पृथक् कर्माणि । एवं च तेषां प्रधानं प्रत्युपकारभेदः स्यात् । न चात्र पूर्वाधिकरणवत् सङ्घटता द्योत्यते इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — प्रधानकार्याकाङ्क्षानुसारेण हि अङ्गैरुपकार कर्तव्यः । कार्यं च प्रधानमेकमेव सत् स्वशक्त्युद्बोधनलक्षणमेकमेवोपकारमङ्गकृतमपेक्षते । उपकारस्य द्वारभेदेनैव भिन्नानामङ्गानामुपयोगः । तस्मात्सम्भूयैवाङ्गानि प्रधानस्योपकुर्वन्तीति ।

एतदभिप्रेत्याह सर्वेति । 'सर्वाङ्गजन्या' सर्वे भिन्नै अङ्गै जन्या सम्पादनीया—'उपकृति' उपकार प्रधानस्य—'एका' एव—न भिन्नेत्याशयः ॥ २ ॥

( ३ ) ११।१।११-१६ कार्यं प्रधानं सकलाङ्गयुक्तम्

( १ ) पूर्वाधिकरणशेषः ।

( २ ) अङ्गै प्रधानस्योपकारं क्रियते—इति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र पुनः सशयः—दर्शपूर्णमासादीनि कर्माणि किमेकदेशाङ्गयुक्तान्यपि कर्तव्यान्त्युत सर्वाङ्गयुक्तान्येवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—एकदेशेनाप्यङ्गेनानुष्ठितेन दर्शपूर्णमासस्यो स्वर्गं प्रति व्यापारः सिध्यत्येव । तेनैव च कृतार्थत्वात् प्रधानानुष्ठानं सम्पद्यते । अङ्गानामनुष्ठानं प्रति यो यावन्ति शक्नुयात् तावन्त्येव कुर्यादिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—प्रधानस्याकाङ्क्षा नैकेन पूर्यतेऽपि तु सर्वैरेवाङ्गैः । 'सर्वैरेव कृतेनोपकारेण फलसम्पादनोन्मुखत्वं प्रधानस्य भवति । तस्मात् सर्वैरेवाङ्गैरुपेतं प्रधानमनुष्ठेयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह कार्यमिति । 'सकलाङ्गयुक्तम्' सकलैः सर्वैरेव अङ्गैः युक्तम् कृतोपकार—'प्रधानं' कर्म—'कार्यम्' कर्तव्यम्—न तु कतिपयैरेवाङ्गैर्युतमित्याशयः ॥ ३ ॥

( ४ ) ११।१।२०-२६ काम्यं यथेच्छं पुनरेव कुर्यात्

( १ ) तन्त्रविचारप्रसङ्गेन काम्यकर्माणि चिन्त्यन्ते—द्वितीयाधिकरणपवादरूपेण ।

( २ ) सन्ति काम्यानि कर्माणि 'चित्रया यजेत पशुकाम' इत्यादीनि ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—किमिदं काम्यं कर्म सकृदेवानुष्ठातव्यमुताभ्यसितव्यमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—सकृत्प्रयोगेनैव फलसिद्धिर्नास्ति प्रयोजनम् पुनरनुष्ठानस्य । तस्मात् सकृदेव कार्यमिति—यथा प्रयाजाद्यङ्गं सकृदेवानुष्ठीयते तथैवेति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—अङ्गकृतोपकारस्य तु प्रधानस्य सकृदेवाकाङ्क्षा सा च सकृदनुष्ठानेन पूर्यते । इह तु पुरुषस्य पश्वादिफलं प्रति भवति

भूयोभूय आकाङ्क्षा तस्मात् आकाङ्क्षानुसारेण भवत्येवाभ्यास इति ।  
एतदभिप्रेत्याह काम्यमिति । 'काम्य' कम यत्फलोद्देशेन क्रियते तत्-  
'यथेच्छ' फलाकाङ्क्षानुसारेण—'पुन एव' पुनः पुनरपि—'कुर्यात्'— न तु  
सकृदेवेत्यर्थः ॥ ४ ॥

(५) ११।१।२७ अभ्यास आतुण्डलतोऽवहन्तेः

- ( १ ) तन्त्रप्रसङ्गेनाभ्यासश्चिन्त्यते ।
- ( २ ) अस्त्यवघातविधि — 'द्विहीनवहन्ति' इति ।
- ( ३ ) तत्र सशय — किं सकृदेवावघात उताभ्यास इति ।
- ( ४ ) पूर्वपक्ष — सकृन्मुसलपातरूपेण विधानेन ऽवधे कृतार्थता ।  
तस्मान्नाभ्यास इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — तण्डुलनिष्पत्तिरेवावघातस्य दृष्टमेव प्रयोजनम् ।  
तस्मात् तण्डुलनिष्पत्तिपर्यन्तमभ्यास इति फलबलेन कल्पनीयम् । त  
स्मादभ्यास इति ।

एतदभिप्रेत्याह अभ्यास इति । 'आतण्डुलतः' तण्डुलनिष्पत्तिपर्य-  
न्तम्—'अवहन्ते' अवघातस्य—'अभ्यास' कर्तव्यो भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

(६) ११।१।२८ सर्वोषधे स्यात् सकृदेव घातः ।

- ( १ ) पूर्वाधिकरणपवाद ।
- ( २ ) अग्निप्रकरणे श्रूयते—'अदुस्वरमुलखलं सर्वोषधस्य पृथग्नि-  
त्वाऽवहन्ति' इति ।

- ( ३ ) तत्रावघाते सशय — किं सकृदनुष्ठानमुताभ्यास इति ।
- ( ४ ) पूर्वपक्ष — पूर्वाधिकरणन्यायेनाभ्यास इति ।
- ( ५ ) सिद्धान्त — नास्ति सर्वोषधेऽवघातस्य दृष्टं प्रयोजनम् ।  
केवलमदृष्टमेव प्रयोजनमत्र । तस्य सकृदवघातेनापि सम्पाद्यत्वात्  
सकृदेवावघात इति ।

एतदभिप्रेत्याह सर्वेति । 'सर्वोषधे' अवहननीये—'घात' अवघात -  
'सकृत्' 'एव' 'स्यात्'—न ह्यत्राभ्यास इत्याशयः ॥ ६ ॥

(७) ११।१।२९-३७ अङ्गम्प्रयाजादि सकृत् प्रकुर्यात्

- ( १ ) अभ्यासापवाद ।
- ( २ ) दर्शपूर्णमासयो सन्ति प्रयाजादीन्यङ्गानि ।
- ( ३ ) तेषु सशय — अङ्गं किं सकृदनुष्ठेयमुताभ्यसितव्यमिति ।
- ( ४ ) पूर्वपक्ष — फलभूमार्थिनाऽङ्गमभ्यसनीयम्—काम्येष्वभ्यासेन  
फलभूयस्त्वदर्शनादिति ।



( ५ ) सिद्धान्तः—साङ्गस्य प्रधानस्यानुष्ठानेन यददृष्टफलतत्र भूय  
स्त्वाल्पत्वे न सम्भवत । यदि फलभूयस्त्वेच्छा स्यात्तर्हि साङ्गप्रधान  
मेवावर्तनीय न केवलमङ्गम् । केवलेनाङ्गेन न किमपि सिध्येत् । तस्मात्  
एकस्मिन् प्रयोगे सकृदेवानुष्ठानमङ्गस्येति ।

एतदभिप्रेत्याहुः अङ्गमिति । 'प्रयाजादि' 'अङ्ग' 'सकृत्' एव प्रकुर्या  
त् एकस्मिन् प्रधानप्रयोगे इति शेषः ॥ ७ ॥

( ८ ) ११।१।३८-४५ त्रित्वन्नियम्येत कपिञ्जलेषु ।

( १ ) अभ्यासप्रसङ्गेन विचारः ।

( २ ) अश्वमेधे श्रूयते—'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' इति ।

( ३ ) तत्र सशयः—कपिञ्जलानित्यत्र बहुवचनेन किं त्रित्वचतुष्टया  
दीना सरयाना यथाकाम ग्रहणमुत त्रित्वे एव नियमनमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—त्रित्वमारभ्य या काचित् बहुत्वसङ्ख्या स्वी  
कार्येति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—त्रित्वेनैव शास्त्रस्य कृतकार्यत्वात् अधिकसङ्ख्या  
पादाने नास्ति प्रमाणम् । त्रित्वसङ्ख्या तु कथमपि परित्यक्त न शक्य  
ते । तस्मादवश्यम्भावित्वेन प्रथमभावित्वेन लाघवेन च त्रित्वे उपात्ते  
शास्त्रार्थे सिद्धे ततोऽधिकपक्षिर्हिसायां प्रत्यवायः स्यात् । तस्मात् त्रि-  
त्वमेवोपादेयमिति ।

एतदभिप्रेत्याहुः त्रित्वमिति । 'कपिञ्जलेषु' कपिञ्जलानित्यत्र बहुवच-  
नान्ते पदे—'त्रित्व' त्रित्वसङ्ख्यैव—'नियम्येत'—त्रित्वसङ्ख्यैवोपादेया न  
ततोऽधिकेत्यर्थः ॥ ८ ॥

( ६ ) ११।१।४६-५२ न तूत्तरादोहविधौ त्रिसङ्ख्यम्

( १ ) पूर्वधिकरणपवादः ।

( २ ) सान्नाय्ये दोहनम्प्रकृत्य श्रूयते—'वाग्यतस्तिस्त्रो दोहयित्वा  
विस्मृष्टवागनन्वारभ्योत्तरा दोहयति' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—किं तिस्र एवोत्तरा गावो दोहनीया उताधिका  
इति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—पूर्वाधिकरणन्यायेन तिस्र एवेति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—हविर्बाहुल्यमत्रापेक्षितम् । न च कपिञ्जलवद् अ-  
धिकसङ्ख्यास्वीकारे हिसादिदोषः । तस्मात् यावत् उत्तरा गावो यज-  
मानस्य ता सर्वा दोहयितव्या इति ।

एतदभिप्रेत्याहुः न त्विति । 'उत्तरादोहविधौ' तिस्रो दोहयित्वा ता  
भ्य 'उत्तरा' अतिरिक्ता या गावः तासां दोहविधौ 'उत्तरा दोहयतीति'

अत्र वाक्ये—‘त्रिसङ्ख्या’ त्रित्वसङ्ख्या—‘न’ ग्रहीतव्या—अपि तु सर्वा उत्तरा गावो दोहयितव्या इति भावः ॥ ९ ॥

(१०) ११।१।५३-६६ यागत्रयेऽङ्गानि भवन्ति तन्त्रम् ।

(१) तन्त्रोदाहरणम् ।

(२) दर्शपूर्णमासयो प्रधानानि आग्नेयादीनि, अङ्गानि प्रयाजादीनि ।

(३) तत्र सन्देहः—किं तत्तत्प्रधानं प्रति भेदेनाङ्गानामनुष्ठानमुत सर्वेषां तन्त्रेणेति ।

(४) पूर्वपक्षः—प्रधानस्य प्रत्येकस्योपकारापेक्षितत्वात् प्रतिप्रधानमङ्गानि भेदेनानुष्ठेयानीति ।

(५) सिद्धान्तः—आग्नेयादिदेशकालकर्तृणामेकत्वाद् अङ्गानां सकृदेव तन्त्रेणानुष्ठानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—यागेति । ‘यागत्रये’ आग्नेयादिषु प्रधानेषु त्रिषु यागेषु—‘अङ्गानि’ प्रयाजादीनि—‘तन्त्रम्’ सकृदनुष्ठितं प्रयाणामुपकारकं ‘भवान्त’ । अतो न प्रतिप्रधानं भेदेनानुष्ठानमङ्गानामित्याशयः ॥१०॥

(११) ११।१।६७-७० आग्नेययागश्च पृथक् प्रदानम्

(१) आवापोदाहरणम् ।

(२) काम्यपशुकाण्डे श्रूयते—‘आग्नेय कृष्णग्रीवमालभेत सौम्य वभ्रुम्, आग्नेय कृष्णग्रीवम्, पुरोध्याया स्पर्धमान’ इति । अस्यार्थः—ममैव पौरोहित्यमस्तु नान्यस्येति स्पर्धोपेतो यथोक्तवर्णोपेतः पशुश्च मालभेतेति ।

(३) तत्र सशयः—प्रथमतृतीयस्थानयोरुक्तयोः कृष्णग्रीवयोः किं सह प्रदानमुत भेदेनेति ।

(४) पूर्वपक्षः—प्रथमतृतीययोरुभयोरग्निदैवतत्वसाम्यात् तन्त्रेण सकृदेवानुष्ठानमिति ।

(५) सिद्धान्तः—सौम्यपशुना व्यवधाने सति कालस्य भेदः स्पष्टः । एव सति तन्त्रासम्भवाद् भेदेनैवानुष्ठानमत आवाप एवात्रेति ।

एतदभिप्रेत्याह आग्नेयेति । ‘आग्नेययागः’ कृष्णग्रीवालम्भनरूपः, प्रथमतृतीयस्थानयोरुपदिष्टः—‘पृथक्प्रदानम्’ पृथगनुष्ठानरूपो भवतीति शेषः । आग्नेयपश्वालम्भनद्वयं पृथगेव कार्यमित्याशयः ॥ ११ ॥

। न्याया इहैकादश सम्प्रदिष्टाः ।

स्पष्टम् ।

इत्येकादशस्य प्रथमः ।

## अथैकादशस्य द्वितीय. पादः ।

( तन्त्रावापयो सङ्क्षेपेण विचार )

(१) ११।२।१-२ देशाद्येकम्प्रधानानाम्

( १ ) तन्त्रोदाहरणम् ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोर्देश-काल-कर्तारो विहिता -‘समे दर्शपूर्णमा-  
साभ्या यजेत’ ‘पौर्णमास्या यजेत अमावास्याया यजेत’-‘दर्शपूर्णमास  
योश्चत्वार ऋत्विज’ इति । सन्ति चाग्नेयादीनि प्रधानानि ।

( ३ ) तत्र सन्देह —आग्नेयादीना प्रधानाना देशादयः, किं तन्त्रेण  
सम्बध्यन्ते उत प्रतिप्रधानं भिद्यन्ते इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —देशादयोऽङ्गम् । अत एव द्रव्यदेवतावत् उत्पत्ति  
विधिशेषा । तस्मात्प्रतिप्रधानं भिद्यन्ते इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —परस्परभिन्ना अग्न्याग्नेयादयः सङ्ख्यरूपेणैव दर्श  
पूर्णमासशब्देन स्वर्गसाधनतया विधीयन्ते । तस्मात् सङ्ख्यातरूप एक  
एव प्रयोगो द्योत्यते । सङ्ख्याचरुदर्शपूर्णमासशब्देनैव च देशादिविधय  
श्रूयन्ते । तस्मादेकत्र प्रयोगे देशकालकर्तृणा तन्त्रेण सम्बन्धः ।

एतदभिप्रेत्याह देशेति । प्रधानानान् आग्नेयादीनाम् सम्बन्धेन—  
‘देशादि’ देश काल कर्ता चेत्यादि—‘एकम्’ एकमेव—तन्त्रेण प्रतिप्र  
धानं सम्बध्यते इत्याशयः ॥ १ ॥

(२) ११।२।२-१० तदेवाङ्गेषु नो पृथक् ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेषः ।

( २ ) सन्ति प्रयाजादीनि दर्शपूर्णमासयोरङ्गानि ।

( ३ ) तत्र सन्देह —प्रधानस्य ये देशादयस्त एव किमङ्गानामपि—  
उत भिन्ना इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —यथा द्रव्य देवता चाङ्गानाम्प्रधानद्रव्यदेवताभ्या  
भिन्नास्तथैव देशादयोऽपि भवेयुरिति ।

( ५ ) सिद्धान्त.—देशादीना प्रयोगशेषत्वम्, नाग्नेयादिविधिशेष-  
त्वम् । प्रयोगे च प्रधानवद् अङ्गान्यप्यन्तर्भवन्ति । तस्माद् य एव देशा-  
दयः प्रधानाना त एवाङ्गानामपीति ।

एतदभिप्रेत्याह तदिति । ‘अङ्गेषु’ प्रयाजादिषु—‘तत्’ देशादि—‘नो’ न  
‘पृथक्’ भिन्नम्—प्रधानदेशादिभ्य इति शेषः ॥ २ ॥

(३) ११।२।११-१७ त्रिके त्रिकेऽङ्गमभ्यस्येत्

(१) आवापोदाहरणम् ।

(२) दर्शपूर्णमासेष्टया षड्यागसङ्खरूपाया द्वौ समुदायो-दर्श इत्येकं त्रिकम्, पूर्णमास इति द्वितीयम् । सन्ति च प्रयाजादीनि इष्टयङ्गानि ।

(३) तत्र सन्देह — किं दर्शस्य पूर्णमासस्य च पृथक् अङ्गानाम्प्रयोग उत तन्त्रेणेति ।

(४) पूर्वपक्ष — अग्रान्तरत्रिकयोर्भेदेऽपि पट्करूपेण कर्मणो दर्शपूर्णमासाख्यस्यैकत्वमेवेति प्रथमाधिकरणन्यायेनाङ्गानां तन्त्रेणोपानुष्ठानमिति ।

(५) सिद्धान्तः—दर्शपूर्णमासाख्यकर्म यद्यपि एकफलसाधनत्वे नैकन्तथापि दर्शप्रयोगात् पूर्णमासप्रयोगो भिन्न एवेत्यनुष्ठानकालभेदादेव स्पष्टम् । एव च कालभेदेन प्रयोगभेदात् प्रयोगशेषाणामङ्गानामावृत्तिप्रतित्रिकमिति ।

एतदभिप्रेत्याह त्रिक इति । 'त्रिके त्रिके' यागत्रयसमुदायरूपे दर्शअपरयागत्रयसमुदायरूपे पूर्णमासे च—'अङ्गम्' प्रयाजादि—'अभ्यस्येत्'—प्रतित्रिकमङ्गानां पृथगनुष्ठानं न तन्त्रेणेत्याशयः ॥ ३ ॥

(४) ११।२।१८-२२ अङ्गाभ्यासोऽध्वराभिधे ।

(१) आवापोदाहरणान्तरम् ।

(२) काम्येष्टिष्वध्वरकल्पा नाम काचिदिष्टि । तत्र प्रातः काले प्रयाणा यागानामग्नौ वैष्णव-सारस्वत-बार्हस्पत्यानां सङ्घं पठित । मध्याह्नापराह्नयोरपि तथैव पठित । अष्टाकपालैकादशकपालद्वादशकपालैरग्नौ वैष्णवो विशेषित — इतरत्समानं त्रिषु ।

(३) तत्र सन्देह — त्रिषु कालेषु प्रयुज्यमानानामेतेषां कर्मसमुदायानामङ्गानुष्ठानं किं तन्त्रेणोत भेदेनेति ।

(४) पूर्वपक्ष — 'पुरा वाचं प्रवदिनोर्निर्वपेत्' इति सङ्घस्य यागस्याशेषस्य-रात्रौ सुप्तजनानां प्रबोधपूर्वकव्यापारात् प्राचीने उषः काले-अपकर्षे सति निर्वापवदङ्गान्तराणामप्यपकर्षस्य भानम् । तस्मात् त्रिषु अङ्गानां तन्त्रमिति ।

(५) सिद्धान्तः—'अग्नौ वैष्णवमष्टाकपालं प्रातर्निर्वपेत्' इति सामान्येन विहितो यः प्रातः कालीनो निर्वापः स एव सन्निहितत्वात् 'पुरा वाच' इत्यनेन विशिष्यते । तस्मादुत्तरसङ्घनिर्वापोऽपि मुख्यत्वलाभाय

तत्तत्काले एव कर्तव्य । तद्वदेवोद्गानामपि तत्तत्काले भेदेनैवानुष्ठा-  
नमिति ।

एतदभिप्रेत्याह अङ्गेति । 'अध्वराभिधे' अध्वरकल्पायामिष्टौ—'अ-  
ङ्गाभ्यास' प्रतित्रिकमङ्गानां भेदेनैवानुष्ठानमित्यथ ॥ ४ ॥

(५) ११।२।२३ देवतैक्ये वसा तन्त्रम्

( १ ) तन्त्रोदाहरणम् ।

( २ ) सन्त्येकदेवताका पशुयागैः — 'सप्तदश प्राजापत्यान् पशूना  
लभेत' इत्येवमादय । अस्ति प्रकृतौ अग्नीषोमीये वसाहोम । स च  
प्राजापत्ये चोदकेन प्राप्यते ।

( ३ ) तत्रसन्देह — किमस्य वसाहोमस्य प्रतिपश्वभ्यास उत त  
न्त्रेणानुष्ठानमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पशुभेदेन वसाया भिन्नत्वात् वसाहोमस्य प्रतिपशु  
भेदः । तस्मादभ्यास इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — एक एव प्रजापति सर्वेषां पशुयागानामत्र देव  
ता । पाकश्च हविष सहैव क्रियते । पाकवच्च प्रदानस्याप्येकत्वम् । का  
लोऽप्येक एव । शक्यते चानेकानामपशूना वसयैकत्रीकृतया सह होम ।  
तस्मात् तन्त्रमिति ।

एतदभिप्रेत्याह देवतेति । 'देवतैक्ये' यत्रानेकेषु कर्मसु एकैव देवता,  
यथा वाजपेये प्राजापत्येषु, तत्र—'वसा' वसाहोम — 'तन्त्रम्' तन्त्रेणैवानु-  
ष्ठायते—न तु प्रतिपशु अभ्यस्यते इत्यर्थः ॥ ५ ॥

(६) ११।२।२४ तद्भेदे तु वसा पृथक् ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेषः ।

( २ ) सन्त्येकादशना पशव आग्नेय-सारस्वत-सौम्यादयः । एते  
ष्वपि वसाहोम प्राप्तः ।

( ३ ) तत्र सन्देह — अयं वसाहोम किं तन्त्रेणानुष्ठेय उत प्रतिपशु  
भेदेनेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — सर्वत्र सह कर्तुं शक्यत्वात् तन्त्रेणैवानुष्ठानमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — देवताभेदात् प्रधानभेदः । याज्यार्धचान्तका  
लानां चैतेषां पशूनां कालभेदोऽप्यस्ति । तस्मात् तन्त्रं न न्याय्यम् । प्र-  
तिपशु भेदेनैवानुष्ठानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह तदिति । 'तद्भेदे' देवताभेदे—'तु'—'वसा' वसा  
होम — 'पृथक्' भेदेनैवानुष्ठेयेति भावः ॥ ६ ॥

(७) ११।२।२५-२७ यूपान्तिकाहुतिस्तन्त्रम्

(१) तन्त्रोदाहरणम् ।

(२) अस्ति ज्योतिष्टोमे यूपैकादशिनी—‘एकादश यूपान् छिनत्ति’ इति । अस्ति च प्रकृतौ अग्नीषोमीये पशौ यूपाहुति ।

(३) तत्र सशय—एकादशसु यूपेषु यूपाहुति किं भेदेन कर्तव्या—उत तन्त्रेणेति ।

(४) पूर्वपक्ष—‘यूपस्यान्तिकेऽग्निं मथित्वा यूपाहुतिं जुहोति’ इति श्रूयते । भिन्नानां च यूपानां भिन्नान्यन्तिकानि । तस्मादेकादशानां मन्तिकेषु भिन्नैवाहुति । तस्माद् भेदेनानुष्ठानमिति ।

(५) सिद्धान्त—अन्तिकत्वं नात्यन्तसामीप्यम् । तथा सति अग्नेरत्यन्तसामीप्ये पशुदाहप्रसङ्गात् । सामीप्यमात्रमत्र अन्तिकशब्देन विवक्षितम् । तस्मात् यावता व्यवधानेन यूपा दृष्टिगोचरा भवन्ति तावता देशस्य अत्र अन्तिकत्वमभ्युपेयम् । एव देशैक्यसम्भवात् तन्त्रेणैवानुष्ठानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह यूपेति । ‘यूपान्तिकाहुति’ यूपानामन्तिके या आहुतिर्विहिता सा—‘तन्त्रम्’ तन्त्रेणैवानुष्ठेयेत्यर्थः ॥ ७ ॥

(८) ११।२।२८-३२ साङ्गोऽप्स्ववभृथो भवेत् ।

(१) तन्त्रेण सहानुष्ठानमित्येतत्प्रसङ्गेन दैशिक साहित्य चिन्त्यते ।

(२) अस्ति ज्योतिष्टोमेऽवभृथ । तत्र श्रूयते—‘अप्स्ववभृथेन चरन्ति’ इति । तत्र वारुण एककपालयाग प्रधानं कर्म इतरत् सर्वं तदङ्गम् ।

(३) तत्र संन्देह—अवभृथे किं प्रधानकर्ममात्रमप्सु कर्तव्यम्—उताङ्गान्यपीति ।

(४) पूर्वपक्ष—यथा द्रव्य देवता च प्रधानकर्मणैव सम्बध्यते तथाऽपामपि प्रधानाङ्गत्वात् प्रधानमात्रमप्सु कर्तव्यमितरत् सर्वमङ्गजा तमाधाराज्यभागादिकन्त्वाहवनीयेऽग्नावेव कर्तव्यमिति ।

(५) सिद्धान्त—‘अप्सु चरन्ति’ इत्यत्र अवभृथप्रयोगस्य समस्त स्यापा सम्बन्धः श्रूयते । तस्मात् साङ्गमेव प्रधानमप्सु कर्तव्यमिति ।

एतदभिप्रेत्याह साङ्ग इति । ‘अवभृथ’ अवभृथयाग—‘साङ्ग’ अङ्गैस्सहित एव—‘अप्सु’ जले—‘भवेत्’ अनुष्ठित इति शेषः । न त्वङ्गानामाहवनीयेऽनुष्ठानप्रधानमात्रस्याप्स्वित्याशयः ॥ ८ ॥

(९) ११।२।३३-४१ विहारयोस्तन्त्रभेदः

( १ ) तन्त्रचिन्ताऽनुवर्तते ।

( २ ) वरुणप्रघासेषु विहारपृथक्त्वम्—‘पृथगग्नी प्रणयत पृथग्वेदीं कुरुत’ इति । सन्ति चात्राग्नेयादीनि नव हवींषि । तत्र श्रूयते—‘अष्टावध्वर्युरुत्तरे विहारे हवींष्यासादयति—मारुतीमेव प्रतिप्रस्थाता दक्षिणस्मिन्’ इति । सन्ति चात्राङ्गान्यनुष्ठेयानि ।

( ३ ) तत्र सशय —किं दक्षिणविहारे पृथगङ्गानुष्ठानमुत यान्येवोत्तरे कृतानि तान्येव दक्षिणेऽप्युपकुर्वन्तीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —उत्तरे यान्यनुष्ठितानि तान्येव दक्षिणेऽप्युपकुर्वन्ति तन्त्रेण । वरुणप्रघासान्त पातिस्त्वेन प्रयोगैक्यात् इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—देशभेदात् प्रयोगभेद —ततश्चाङ्गानुष्ठानस्य पृथक्त्व दुर्वारम् । तस्माद् भेदेनैवाङ्गानुष्ठान दक्षिणे विहारे इति ।

एतदभिप्रेत्याह विहारयोरिति । ‘विहारयो’ उत्तरदक्षिणयो अङ्गानुष्ठाने—‘तन्त्रभेद’ भेद एव न तन्त्रमित्यर्थ ॥ ९ ॥

( १० ) ११।२।४२-४६ न तयोः कर्तृभिन्नता ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) पूर्वोक्ते एव विषये—

( ३ ) सशयान्तरम्—किं य एव ऋत्विज उत्तरे विहारे कर्तारस्त एव दक्षिणेऽपि उतान्ये इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —प्रयोगभेदादाधाराद्यङ्गभेदे कर्तृणामपि भेद इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —ऋत्विजा सङ्ख्या । पञ्चैव नियमिता—‘चोतुर्मास्याना यज्ञक्रतूना पञ्चर्त्विज’ इति । यदि द्वयोर्विहारयो पृथग् ऋत्विजो भवेयुस्तर्हि तेषा सङ्ख्या दश सम्पद्येत । तच्च प्रत्यक्षवचनविरुद्धम् । तस्मान्नास्ति कर्तृभेद इति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । ‘तयो’ उत्तरदक्षिणविहारयो—‘कर्तृभिन्नता’ कर्तृणाम् ऋत्विजा ‘भिन्नता’ भेदो—‘न’ भवतीति शेषः । य एवोत्तरे ऋत्विजस्त एव दक्षिणेऽपीति भावः ॥ १० ॥

( ११ ) ११।२।४७-४८ आपराग्निकभेदः स्यात्

( १ ) पूर्वाधिकरणापवादः ।

( २ ) विहारयो सन्ति आपराग्निका होमा ।

( ३ ) तत्र सशय —किमेतेषामुभयत्र विहारयोस्तन्त्रमुत भेदेनानुष्ठानमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —एकस्मिन्नेवाग्नाबेने होमा क्रियन्ते । तस्मात्तन्त्रमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — मास्त्या यान्यङ्गानि तानि प्रतिप्रस्थातु कार्याणि-इतरत्राध्वर्यो । तन्त्रभावे अन्यतरेषा कर्तृकृत वेगुण्य स्यात् । तस्माद् भेदेनानुष्ठानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह आपरेति । 'आपराग्निकभेद' आपराग्निकानां होमानां 'भेद' भेदेनानुष्ठान स्यात्—न तन्त्रेणेत्यर्थ ॥ ११ ॥

( १२ ) ११।२।४६-५१ सस्कारो वार्यते पशोः ।

( १ ) प्रासङ्गिको विचार । °

( २ ) वाजपेये प्राजापत्यान् पशून् प्रकृत्य श्रूयते— 'तान् पर्यग्निकृतान् उत्सृजन्ति-ब्राह्मसाम्नि आलभते' इति ।

( ३ ) तत्र सशय — 'पर्यग्निकृतान् उत्सृजन्ति' इत्यत्र किं कर्मशेषप्रतिषेध उत पर्यग्निकरणोत्तरभाविना सस्काराणां प्रतिषेध इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पर्यग्निकरणोत्तरभाविसकलकर्मशेष एव प्रतिषिध्यते—अश्वमेधे एतादृशस्यैव वाक्ये तदर्थत्वस्य प्रतिपन्नरादिनि ।

( ५ ) सिद्धान्त — पर्यग्निकरणोत्तरभाविनिकर्मशेषो न प्रतिषिध्यते—अपि तु तस्यैव कर्मशेषस्य ब्रह्मसामकाले उत्कर्षा विधीयते द्वितीयन वाक्येन तथा च सति पर्यग्निकरणानन्तरभावितो ये पशुसंस्कारास्त एव प्रतिषिध्यन्ते इति ।

एतदभिप्रेत्याह सस्कार इति । 'पशोः' प्राजापत्ये—'सस्कार' पर्यग्निकरणानन्तरभावी—'वार्यते' प्रतिषिध्यते—न तु कर्मशेष इत्याशय ॥ १२ ॥

( १३ ) ११।२।५२-५४ इज्यात्रय त्वहीने स्यात्

( १ ) पूर्वाधिकरणपवादः ।

( २ ) अस्त्यहीनेषु पञ्चशरद्रीयनामक कश्चित् पञ्चाहविशेष — स च पञ्चसु वर्षेष्वनुष्ठेयः । तत्र प्रथमे वर्षे त्रिशाखानक्षत्रयुक्त्याम मावास्याया सप्तदश स्वल्पवयस स्त्रीपशवः सप्तदश उत्तणश्च विहिताः । तेषु सर्केषु पर्यग्निकृतेषु प्रोक्षितेषु च सप्तसु स्त्रीपशूनामालम्भं पुम्पशूनां चोत्सर्गमाप्नाय—पुनर्द्वितीये तृतीये चतुर्थे च वत्सरे तथैवा नुष्ठानमाप्नाय—पश्वादाप्नायते—'ब्रीह्यानेकस्मिन्नह्न्यालभेरन्, पञ्चोत्तमेऽह्नि' इति ।

( ३ ) तत्र सशय — योऽयं पुम्पशूनामुत्सर्गः स किं कर्मशेषप्रतिषेधक उत सस्कारप्रतिषेधक इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पूर्वाधिकरणन्यायेन सस्कारस्यैव प्रतिषेध इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — उत्सृष्टानां पशूनां कर्मान्तरे उपयोगो न युज्यते । पुनश्च ब्रीह्यानेति वाक्येन च विहिता आलम्भा सप्तदशसङ्ख्याका



एव—वर्षचतुष्टये प्रतिवर्ष त्रय इति द्वादश अन्तिमे च वर्षे पञ्च इति सप्तदशसङ्ख्या पूर्यते । इयं च सप्तदश आलम्बसङ्ख्या सप्तदशभिः स्त्रीपशुभिरेव पूर्यते इति पुष्पशुषु नास्ति किमपि कर्तव्यम् । तस्मात् कर्मशेषप्रतिषेध इति ।

एतदभिप्रेत्याह इज्येति । 'अहीने' पञ्चशारदीयनामके—'इज्यात्रय' त्रींस्त्रीनिति वाक्येन पञ्चमवत्सरे विहित—'स्यात्' अपूर्वमेवेति शेष । न तूत्सृष्टेषु पशुषु इदमित्यात्रय कार्यम् । तेषु कर्मशेष प्रतिषिद्ध । तस्मादपूर्वमेव कर्म इदमित्यात्रयमित्याशय ॥ १३ ॥

(१४) ११।२।५५-६० दशपेयक्रयः पृथक् ।

( १ ) तन्त्रचिन्ताऽनुवर्तते ।

( २ ) राजसूये दशपेयाभिषेचनीयौ द्वौ सोमयागौ ।

( ३ ) तत्र सशय — किमनयोरङ्गानुष्ठान तन्त्रेणोत भेदेनेति ।

( ४ ) प्रथमपक्ष — तन्त्रेणैवानुष्ठानम् । 'सह सोमौ क्रीणात्यभिषेचनीयदशपेययो' इत्युभयगतसोमक्रयस्य साहित्य श्रूयते । एव च सति क्रयात् पूर्वभाविनामङ्गानामनुष्ठान तन्त्रेणैव भवितुमर्हति इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — दशपेयाभिषेचनीयौ भिन्नकालीनौ । नापि क्रये साहित्य सम्भवति—'सद्यो दीक्षयन्ति सद्य सोम क्रीणन्ति' इति दशपेये क्रूमस्य सद्यस्कालताविधानात् । 'सह सोमौ' इति वाक्य च क्रयाथौ य सवादस्तत्परत्वेन नेयम् । तस्मादुभयोरङ्गानां भेदेनानुष्ठानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—दशेति । 'दशपेयक्रय' दशपेययागे यत् सोमस्य क्रयण तत्—'पृथक्' अभिषेचनीययागे यत् क्रयण तस्माद् भिन्न एवेति । तस्मादितरेषामङ्गानामपि पृथगेवानुष्ठानमुभयत्र न तन्त्रेणोति भाव ॥१४॥

(१५) ११।२।६१-६३ निष्कासोऽवभृथाद् भिन्नः

( १ ) तन्त्रे प्रासङ्गिको विचार ।

( २ ) चातुर्मास्ययागेषु वरुणप्रघासेषु वारुणीमामिक्षा प्रकृत्याम्नायते 'वारुण्या निष्कासेन तुषैश्चावभृथमभ्यवयन्ति' इति । तत्राय प्रयोग-प्रकार । वरुणप्रघासेषु नव हवींषि । तेष्वष्टम हविर्वारुण्यामिक्षा—नवम हवि काय एरुकपाल । वारुण्यामामिक्षाया यवपिष्टनिर्मित मेषमवदाति । तत आमिक्षासंयुक्त मेष सर्वमवदाय हुत्वा—तत एककपालेन प्रचर्य—भाण्डलिप्तेन आमिक्षाया निष्कासेन यवतुषैश्च अवभृथमनुतिष्ठन्ति' इति ॥

( ३ ) तत्र सशय — कि वारुण्यामिक्षाया एकमश यवमयमेषसहितं पूर्वं प्रदाय पश्चादेककपालप्रचारादूर्ध्व—निष्कासरूपेण अशान्तरेण तुषैः

अवभृथे प्रचरितव्यमिति प्रचारस्योत्कर्ष — उत कर्मान्तरमवभृथ इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — सवनीयपशौ यथा विप्रकर्ष एव न कर्मान्तरम् तद्वदिहापि प्रचारविप्रकर्षो न कर्मान्तरमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — प्रचारविप्रकर्षमात्रं यदि स्यात्तर्हि अवभृथशब्दो व्यर्थः स्यात् । तस्मात् कर्मान्तरमेवावभृथ इति ।

एतदभिप्रेत्याह—निष्कास इति । 'निष्कास' वारुण्यया निष्कासेनानुष्ठेयं यत् कर्म विहितं तत्—'अवभृथात्'—'भिन्न' एवेत्यर्थः ॥ १५ ॥

( १६ ) ११।२।६४-६६ चरुशेषोद्गमुत्तरे ।

( १ ) पूर्वाधिकरणपवादः ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—'प्रायणीयस्य निष्कासे उदयनीयमभिनिर्वपति' इति ।

( ३ ) तत्र सशयः — किमत्र निष्कासद्वयकम् उदयनीयसमानधर्मकं कर्मान्तरं विहितम्—उत उदयनीयस्यैव संस्कारकमङ्गमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पूर्वाधिकरणन्यायेन कर्मान्तरमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — उदयनीयमेवात्र मुख्यं प्रकृतम् । तस्यैव संस्कारकमङ्गमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—चर्विति । 'चरुशेष' निष्कास — 'उत्तरे' उदयनीये—'अङ्गम्' संस्कारकम्—न तु कर्मान्तरमिति भावः ॥ १६ ॥

पादेऽस्मिन् षोडश न्याया मुनिना सम्प्रकीर्तिताः ।

स्पष्टम् ।

इत्येकादशस्य द्वितीयः ।

अथैकादशस्य तृतीयः पादः ।

[ तन्त्रस्य प्रपञ्चः ]

( १ ) ११।३।१ वाक्यादङ्गे देशकालादिभेदः

( १ ) तन्त्रे प्रासङ्गिको विचारः प्रवर्तते—तस्यैव प्रपञ्चरूपेण ।

( २ ) वेदि वेद ( कुशमुष्टि ), बर्हि — इत्यादीनि भवन्ति सम्पादनीयानि । एतच्च सम्पादनं कर्माङ्गम् ।

( ३ ) तत्र सशयः — किमेतत् प्रधानकर्मण एव काले स्यादुत कर्मणा स्वस्वकाले एवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — अङ्गानां प्रधानकालत्व प्रधानदेशत्व प्रधानकर्तृकत्व च स्थित्वमेकादशाध्यायद्वितीयपादे । अतोऽत्रापि प्रधानकाल एव कर्तव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — कश्चित् कालादिभेद श्रुत्यैवोच्यते । तथाहि 'पूर्वेद्युरमावास्याया वेदिं करोति' इति कालभेद — 'अप्स्ववभृथ चरन्ति' इति देशभेद — अग्नौ सौत्रामण्या च दक्षिणाभेदात् कर्तृभेद । तस्माद् वाचनिका कालादयस्तत्र स्वस्वकालादावेवानुष्ठानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह वाक्यादिति । 'अङ्गे' अनुष्ठेय — 'वाक्यात्' प्रत्यक्षश्रुतिवलात् — 'देशकालादिभेद' देशभेद कालभेद कर्तृभेदश्च — स्यादिति शेष । यत्र देशादिभेदविधायक प्रत्यक्षवचनमुपलभ्यते तत्र भवत्येव भेद इत्याशयः ॥ १ ॥

( २ ) ११।३।२ सर्वेषां स्यात् तन्त्रमाधानमेकम् ।

( १ ) तन्त्रोदाहरणम् ।

( २ ) अस्ति आधानम् — 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' इति । एतच्चाधानमाहवनीयसम्पादनद्वारेण सकलकर्मकलापस्योपकारकमित्यभ्युपगमः ।

( ३ ) तत्र सन्देहः — किमिदमाधानं प्रतिकर्म भेदेन क्रियते — उत सकृदेव तन्त्रेणेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — प्रयाजाद्यङ्गवत् प्रतिकर्म पृथगेव कार्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — आधानस्य स्वतन्त्रेण वसन्तादिकालो विहितः । न च तत्कालानुष्ठानं सम्भवेद् यदि प्रतिकर्माधानं क्रियेत । स्वकाले तु कृतस्याधानस्य सकलकर्मसम्बन्धः सम्भवति । तस्मात् सकृदेव तन्त्रेणानुष्ठानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह सर्वेषामिति । 'सवषा' ऐष्टिक-पाशुक-सौमिक-दार्वाहौमिकानां कर्मणाम्-उपकाराय- 'आधानम्' अग्न्याधानकर्म- 'एकम्' एव- 'तन्त्रम्' सकृदेव सर्वोपकारकत्वेन अनुष्ठित- 'स्यात्' — न तु प्रतिकर्म भेदेनानुष्ठीयेतेत्याशयः ॥ २ ॥

( ३ ) ११।३।३-४ तन्त्रं यूपः स्यात् पशूनां त्रयाणाम्

( १ ) तन्त्रोदाहरणम् ।

( २ ) ज्योतिष्टोमेऽग्नीषोमीय-सवनीयानुबन्ध्यास्त्रयः पशवो विहिताः । पशोश्च यूपः श्रुतः ।

( ३ ) तत्र संशयः — किं त्रयाणां पशूनामेक एव यूपस्तन्त्रमुत प्रतिपशु भिन्न इति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः — अग्नीषोमीये प्रत्यक्षश्रुतो यूपः । इतरथोस्त्वतिदेशेन

प्राप्त तस्मात् प्रतिपशु भिन्न एव यूप इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —यूपस्यो-पत्तिर्नाग्नीषोमीयकाले-अपि तु तत प्रागेव-‘दीक्षासु यूप छिनत्ति क्रीते वा राजनि’ इति भिन्न तस्य कालो विहित । तस्मादाधानवत् सर्वार्थत्व यूपस्य सम्भवति । तस्मादेक एव यूप त्रयाणामपि पशूना तन्त्रेणोपकरोतीति ।

एतदभिप्रेत्याह तन्त्रमिति । ‘त्रयाणाम्’ अग्नीषोमीयसमनानुग्रह्यानाम्-‘पशूनाम्’-‘यूप’-‘तन्त्रम्’-स्यात्-एक एव त्रयाणामयूपकरोतीत्यर्थ ॥ ३ ॥

(४) ११।३।५-७ तत्संस्काराश्चापि तन्त्रन्न भिन्नाः ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) सन्ति तक्षणापर्युहणादयो यूपसंस्कारा ।

( ३ ) तेषु सशय —किमेते प्रतिपशु भेदनानुष्ठेया उत सृष्टदेव त त्रेणेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —पशुकालीनत्वात् संस्काराणां ते प्रत्येकपक्षो काले एव कर्तव्या इति भेदेनैवानुष्ठानमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —छेदनवत् तक्षणापि यूपकालीन न पशुकालीनम् । तस्मात् त्रिष्वपि पशुषु यूपच्छेदनान् तक्षणापर्युहणादिकमपि तन्त्रेणैवानुष्ठेयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह तदिति । ‘तत्संस्कारा’-‘तरय’ यूपस्य ‘संस्कारा’ तक्षणादय -‘व’ अपि-‘तन्त्रम्’ तन्त्रेण सृष्टदेवानुष्ठेया -‘न भिन्ना’ न प्रतिपशुभेदनानुष्ठेया इत्याशय ॥ ४ ॥

(५) ११।३।८-१२ सर्व्वेकत्वं स्यात् त्रयाणां पशूनाम्

( १ ) तन्त्रोदाहरणम् ।

( २ ) ‘यूपस्य स्वरु करोति’ इति स्वरु श्रुत । ‘स्वरु’ यूपकाष्ठस्य प्रथमपतितेन शकलेन निर्मितो यूपस्याञ्जनसाधनरूप ।

( ३ ) तत्र सशय -अयं स्वरु किं प्रतिपशु भिन्न उत तन्त्रम् इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —भिन्नेषु पशुषु भिन्न एव सम्पादनीय स्वरु । नास्ति यूपस्येव स्वरु कश्चित् स्वकाल । यूपान्नकालीना हि स । तस्माद् भेद इति ।

( ५ ) सिद्धान्त.—‘य. प्रथमं शकलं परापतेत् स स्वरु कार्य्यं इत्युक्तम् । एतच्च प्राथम्यमेकस्मिन्नेव शकले सम्भवति । स च शकलो यूपकालीन एव स्यात् । तस्मात् यूपवत् तन्त्रेणैव सर्वान् पशूनुपकरोतीति ।

एतदभिप्रेत्याह—स्वर्विति । ‘त्रयाणाम्’ अपि—‘पशूनाम्’—‘स्वर्वे-

कत्व' स्वरो एकत्वम् तन्त्रेण सर्वोपकारकत्व—'स्यात्' । न तु पशुभे  
देन भेद इत्यर्थ ॥ ५ ॥

(६) ११।३।१३-१४ प्रास्येदन्त्याहे विषाणा गणस्य

( १ ) तन्त्रप्रसङ्गेनैव विचार ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—'कृष्णविषाण्या कण्डूयते—नीतासु  
दक्षिणासु चात्वाले कृष्णविषाणा प्रास्यति' इति—कृष्णविषाण्या प्रा-  
सनम् । तच्च चोदकेन अहर्गणे प्राप्तम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह —एतत् प्रासन किमन्त्ये प्रथमे वाऽहनि विकल्पेन  
कार्यमुतान्त्ये एवेति नियम इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —विकल्प समबलत्वादिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —प्रथमेऽहनि यदि प्रासन स्यात् तर्हि अन्येषु अ-  
ह सु कृष्णविषाण्या कण्डूयन न सम्भवेत् । तस्मात् अन्त्येऽहन्त्येव प्रा-  
सनमिति नियम इति ।

एतदभिप्रेत्याह—प्रास्येदिति । 'गणस्य' अहर्गणसम्बन्धिनीं—'कृष्ण-  
विषाणा' कण्डूयनार्था—'अन्त्याहे' अन्त्येऽहनि—'प्रास्येत्' चात्वाले  
प्रक्षिपेदित्यर्थ ॥ ६ ॥

(७) ११।३।१५ अन्त्ये बीजे वाग्यमस्य प्रहाणम्

( १ ) प्रासङ्गिको विचारो वर्तते ।

( २ ) सन्ति राजसूये नानाबीजयुक्ता यागा—'अग्नये गृहपतये  
पुरोडाशमष्टाकपाल निवपति कृष्णाना व्रीहीना—सोमाय वनस्पतये  
श्यामाक चरुम्' इत्यादि । प्रकृतौ च प्रणीताप्रणयनकाले नियमिताया वा  
चो विसर्गो हविष्कृदाह्वानकाले श्रुत । स च वाग्विसर्गोऽत्र राजसूये  
चोदकप्राप्त ।

( ३ ) तत्र सशय —अयं वाग्विसर्गः किमन्त्ये प्रथमे वा हविष्कृ-  
दाह्वानकाले कर्तव्य इति विकल्प —उतान्त्ये एवेति नियम इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —विकल्प इति ।

( ५ ) सिद्धान्त—अन्त्ये एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह—अन्त्य इति । 'बीजे' नानाबीजयुक्ते राजसूययागे-  
'वाग्यमस्य' वाङ्नियमनव्रतस्य—'प्रहाणम्' परित्याग—'अन्त्ये' चरमे  
हविष्कृदाह्वानकाले एव—'स्यात्' इति नियम एवेत्यर्थ ॥ ७ ॥

(८) ११।३।१६ पौरोडाशो वाग्विसर्गः पशौ चेत् ।

( १ ) प्रासङ्गिको विचारः ।

( २ ) वाग्विसर्गो राजसूये कदा स्यादिति स्थितम् अग्निपोमीयपशौ च पशु पुरोडाशश्चेत्युभयम् ।

( ३ ) तत्रापि वाग्विसर्गविषये सशय - किं पाशुककर्माङ्गहविष्कृदाह्वानकाले वाग्विसर्ग - उत पौरोडाशिककर्माङ्गहविष्कृदाह्वानकाले इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पाशुककर्माङ्गहविष्कृदाह्वानकाले एव वाग्विसर्ग । पुरोडाशस्य प्रासङ्गिकत्वेन पशावनुष्ठितैरेवाङ्गैरुपकारसिद्धेरिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — वाग्यमो न फलार्थ - किन्तु त कर्तृसस्कारार्थ । तथासति पुरोडाशे यदि तदभाव स्यात् तर्हि असंस्कृतेन कर्त्रा तदनुष्ठानं प्रसज्येत । तस्मात् पश्चादुभाविपौरोडाशिकाङ्गहविष्कृदाह्वानकाले एव वाच विसृजेदिति ।

एतदभिप्रत्याह पौरोडाश इति । 'पशौ' अग्नीयोमीयपशौ - 'चेत्' यदि हविष्कृत् स्यात् तर्हि - 'वाग्विसर्ग' 'पौरोडाश' - पौरोडाशिकहविष्कृदाह्वानकालिक एव स्यादित्यर्थ ॥ ८ ॥

( ६ ) ११।३।१७-२० साङ्गस्यादावन्ततो योगमोकौ

[ वार्तिकमतेनाधिकरणप्रदर्शक पाठ ]

[ आदावन्ते योगमोकौ प्रशने - पाठान्तर भाष्यमतेनाधिकरणप्रदर्शकम् ]

( १ ) प्रासङ्गिको वर्तते ।

( २ ) अग्निचयनेऽग्निर्योगविमोकौ श्रुतौ - 'अग्निं युनजिम शवसा घृते नेति जुहोत्यग्निमेवैतत् युनक्ति' इति होमो 'योग' - 'इमं स्तनं मधुमन्तं ध्यायाम्' इत्यग्निविमोकं जुहोति' इति 'विमोकः' ।

( ३ ) तत्र 'सशय' - अयमग्निविमोकः किं साङ्गप्रधानार्थं साङ्गप्रधानस्य समाप्तौ कर्तव्य - उत प्रधानमात्रार्थं प्रधानस्यैव समाप्तौ कर्तव्य इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — 'पञ्चभिर्युनक्ति पाङ्क्तो यज्ञो यावानेव यज्ञस्तमाप्नोति' इत्यनेन यज्ञप्राप्त्यर्थं युनक्तोति ज्ञायते । ततश्च प्रधानार्थो योग इति द्योत्यते । एव च सति विमोकोऽपि प्रधानार्थ एव प्रधानस्यैवावसाने कर्तव्य इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — 'अग्निं युनजिम' इत्यादिवाक्यं योगविधायकम् । तत्र प्रधानसम्बन्धद्योतकं किमपि नोपलभ्यते । 'पञ्चभिर्युनक्ति' इत्यस्मिन् वाक्येऽपि सामान्याभिधायी यज्ञशब्द एव प्रयुक्त - एव च तत्रापि प्रधानमात्रसम्बन्धद्योतकं न किञ्चिदस्ति । तस्मात् योगस्य साङ्गप्रधानार्थत्वे सिद्धे विमोकस्यापि तथैवेति ।

एतदभिप्रेत्याह साङ्गेति । 'साङ्गस्य' अङ्गैस्सहितस्य, न केवलस्य-  
'आदौ' 'अन्तत' योगविमोक्तौ-'आदौ योग अन्ते विमोक्त' इति यथा-  
क्रम सम्बन्ध ।

तदेतद् वार्तिककारमतेनाधिकरणस्वरूपम् ।

भाष्यकारमतेन त्वधिकरणस्वरूपमन्यथा भवति । तत्र पूर्वोक्तयो-  
र्पूर्वपक्षसिद्धान्तयोर्व्यतिक्रम प्रधानस्यैवादौ योग इति पूर्वपक्ष-प्रधा-  
नस्यैवान्ते विमोक्त इति सिद्धान्त ॥ एतदनुसारी च कारिकाया अपि  
पाठ कचिदुपलभ्यते-'आदावन्ते योगमोक्तौ प्रधाने' इति । प्रधाने एव  
केवले-आदौ योग अन्ते मोक्त इति सम्बन्ध ॥ ६ ॥

(१०) ११।३।२१ सुब्रह्मण्याऽहर्गणे तन्त्रमादौ ।

( १ ) तन्त्रचिन्ता वर्तते ।

( २ ) द्वादशाहे उपसत्काले सुब्रह्मण्याह्वान विहितम् ।

( ३ ) तत्र सशय —किमेतत् तन्त्रेणाह सु कर्तव्यमुत भेदेनेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —प्रधानभेदाद् भेदेन कर्तव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —आह्वानस्य पूर्वकालीनतया तृतीयाधिकरणीययू-  
पन्यायेन तन्त्रेणैवानुष्ठानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—सुब्रह्मण्येति । 'अहर्गणे' द्वादशाहे-'आदौ' कर्मणः  
प्रश्नक पृथक्काले कर्तव्या या-'सुब्रह्मण्या' सुब्रह्मण्याह्वानम्-सा-'तन्त्रम्'  
तन्त्रेणानुष्ठेयेति ॥ १० ॥

(११) ११।३।२२-३२ आवर्तेताह्वानमह्नां समूहे

( १ ) पूर्वाधिकरणापवाद ।

( २ ) द्वादशाह एव उपसत्कालात् अन्यत्र सुत्याकालेऽपि सुब्रह्म-  
ण्याह्वान विहितम् ।

( ३ ) तत्र सशय —किमिदं तन्त्रेणोक्तं भेदेनेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —प्रथमसुत्यासन्निधौ कृतमपि आह्वान तन्त्रेण सर्व-  
स्वहस्सूपकरोति इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —एकसुत्याकालीनेनाह्वानेन नास्त्यन्यत्रोपकार ।  
तस्माद् भेदेनाह्वानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—आवर्तेतेति । 'अह्ना समूहे' अहर्गणे-'आह्वानं' सुब्र-  
ह्मण्याह्वानं सुत्याकालीन-'आवर्तेत' कर्मभेदे भेदेनानुष्ठीयेतेत्यर्थः ॥ ११ ॥

(१२) ११।३।३३ देशः कर्ताऽन्यः स चान्यप्रयोगे ।

( १ ) तन्त्रचिन्ता वर्तते ।

( २ ) श्रौतेषु कर्मसु देशकर्त्रादयः सन्ति-‘समे यजेत’ ‘चत्वार ऋत्विजः’-इत्येवमादयः ।

( ३ ) तेषु सशयः —किम्प्रतिप्रयोगमन्यानि कत्रादोऽनुपादेयानि उत यान्येकस्मिन् प्रयोगे उपयुक्तानि तानि वाऽन्यानि वा उपादाय प्रयोगा अनुष्ठेया इति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः —भोजनादौ यथा कदलीपत्रादिकमुपयुक्तं न पुनरुपयुज्यते तथैव यान्येकस्मिन् प्रयोगे कृतोपयोगानि तेषां पुनरुपयोगो न कार्यः इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः —यथा वस्त्रम्पूर्वस्मिन् दिने परिहितमपि दिनान्तरेऽपि परिधानयोग्यं भवति तद्वदिहापि । तस्मात् एकम्प्रयोगं समाप्य प्रयोगान्तरे कृतोपयोगानि वाऽन्यानि वा देशादीनि यथेच्छमुपादेयानीति ।

एतदभिप्रेत्याह—देश इति । ‘अन्यप्रयोगे’ एकप्रयोगसमाप्यनन्तरं यत् प्रयोगान्तरं भवति तस्मिन्-‘देश’ स्थान-‘कर्ता’ अनुष्ठाता च-‘स’ पूर्वप्रयोगकर्ता पूर्वप्रयोगदेश-‘च’ वा स्यात् अथवा ‘अन्य’ ताभ्यां भिन्न एव देशः कर्ता च स्यात् । अत्र न कोऽपि नियमः स एव स्यात् अन्य एव वा-यथेच्छ देशादिकमुपादाय प्रयोगाऽनुष्ठेय इत्याशयः ॥ तथा च देशस्य कर्तुश्च तन्त्रमपि भगवत्यतन्त्रमपीति ॥ १२ ॥

( १३ ) ११।३।३४-४२ पात्राणां स्याद्धारणं सर्वकाले

( १ ) पूर्वविचारशेषः तदपवादरूपः ।

( २ ) देशकर्त्रोऽसामान्येनान्यत्वनियमो नास्तीति स्थितम् । पात्रे विद्वानो विचारः ।

( ३ ) तत्र सशयः —प्रथमप्रयोगे यानि पात्राण्युपयुक्तानि किं तान्येव प्रयोगान्तरेऽप्युपयोज्यानि-उत पौत्रान्तराण्युपादेयानि इति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः —पूर्वाधिकरणन्यायेन नास्ति नियमः —यथेच्छं कर्तव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः —‘आहिताग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्च’ इति मरणान्तरं पात्राणां प्रतिपत्तिरुक्ता तेषामामरणं धारणीयत्वं द्योतयति । एवं च त्यागानर्हत्वात् पात्राणामुपयोगः सर्वेषु प्रयोगेषु न्याय्यः । तस्मात्तान्येव पात्राण्युपयोज्यानि-इति नियमः एव । एवं च पात्राणामस्ति तन्त्रमिति ।

एतदभिप्रेत्याह पात्राणामिति । ‘पात्राणां’ यज्ञियानां-‘सर्वकाले’ आमर्षणं-‘धारणं’ यत्नेन रक्षणं-‘स्यात्’ कर्तव्यम् । तस्मात् प्रयोगान्तरेषु तान्येवोपयोज्यानीति नियमः इत्याशयः ॥ १३ ॥



(१४) ११।३।४३-४५ तेषामग्न्याधानतो धारण स्यात् ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) पात्राणा धारणमावश्यकम्—तस्य चोत्तरोऽवधि मरण-मिति स्थितम् । प्रथमावधिविषये

( ३ ) सशय —कदा आरभ्य पात्राणा धारणम्—किं पौर्णमासीमा-रभ्य उक्त अग्न्याधानमारभ्येति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —अनारभ्याधीतुना पात्राणां प्रकृतिगामितया पौ-र्णमासीमारभ्य धारणमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त—आधानकाले पवमानेष्टिषु भवन्ति पात्राण चो-दकप्राप्तानि । तस्मादाधानकालमारभ्यैव धारणम् । अन्यथा आधानपौर्ण-मास्योर्मध्ये यजमानस्य मरणे पात्राभावात् पात्रैस्सह दाहो न सम्भ-वेदिति ।

एतदभिप्रेत्याह—तेषामिति । 'तेषाम्' पात्राणा—'धारण'—'अग्न्या-धानतः' अग्न्याधानमारभ्य—स्यात्—आमरणमिति ॥ १४ ॥

(१५) ११।३।४६-५२ प्राजापत्या सर्वसोमोपरिष्ठात्

( १ ) तर्कप्रसङ्गेनानुष्ठानकालविचारः ।

( २ ) प्राजापत्ये प्राजापत्यान् पशून् प्रकृत्य श्रूयते—'उपरिष्ठात् सोमानां प्राजापत्यैश्चरन्ति' इति । प्रयोगक्रमश्चेत्स्थम्—तृतीयसवने प्रथमम् आर्भव-पवमान—ततो वैश्वदेवग्रहपर्यन्ता शस्त्रवन्त सोमा—ततोऽशस्त्रिषु अ-वशिष्टेषु सोमग्रहेषु अग्निष्टोमसाम्न ऊर्ध्वम् उक्थ्यादय सोमवि-कारा इति ।

( ३ ) एव क्रमे सति प्राजापत्यप्रचारविषये भवति संशयः—किम् यम्प्रचार सर्वेषा सोमानामुपरिष्ठात् भवति—उत उक्ताना प्रयाणा का-लानामन्यतमे काले इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —आर्भवकाले स्यात्—प्रकृतौ हि स एव प्रचारका-लः ॥—अथवा शस्त्रवता वैश्वदेवग्रहान्ताना सोमानामुपरिष्ठात् स्यात्—॥ अथवा अग्निष्टोमसाम्नोऽन्ते स्यात्—तस्यैव विकृतिकालत्वादिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —अविशेषमेव वचन श्रूयते । तस्मात् प्राकृताना वैकृताना च सर्वेषा सोमानामुपरिष्ठात् प्राजापत्यपशुप्रचार इति ।

एतदभिप्रेत्याह—प्राजापत्या इति । 'सर्वसोमोपरिष्ठात् सर्वेषा प्रा-कृतानां वैकृताना च सोमानाम् उपरिष्ठात्—'प्राजापत्या' पशव —प्रचा-रिता स्युरिति शेषः ॥ १५ ॥

(१६) ११।३।५३-५४ उत्कृष्येरन् देवताः सूक्तवाके ।

५९ मो० नु०

( १ ) तन्त्रप्रसङ्गेन देवतोत्कर्षविचार ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे सवनीयपशुस्तन्त्री, सवनीयपुरोडाश प्रसङ्गी । तस्मिन् पुरोडाशे देवता आम्नाता—‘भृजन्निन्द्राय, हरिवते धाना, पूषणवते करम्भम्’ इत्यादिना । सवनीयपशोश्चानुयाजा उत्कृष्यन्ते । उत्कृष्टेषु चानुयाजेषु तदुत्तरकालीन सूक्तवाकोऽप्युत्कृष्यते । तस्मिंश्चोत्कृष्टे सूक्तवाके देवतावाचीनि पदानि प्रयोक्तव्यानि ।

( ३ ) तत्र सशय — किं पशुसम्बन्धिसूक्तवाकोत्कर्षेण पुरोडाशसम्बन्धिदेवतावाचकपदानामुत्कर्षा भवति न चेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — न भवत्युत्कर्ष — तासां देवतानां पश्वनङ्गवादिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — सूक्तवाकमन्तरेण पृथगुच्चरितानां पौरोडाशिक-देवतावाचिपदानामन्वयो न स्यात्—सूक्तवाके त्वस्यन्वय । तस्माद-स्त्युत्कर्ष इति ।

एतदभिप्रेत्याह—उत्कृष्टेरन्निति । ‘सूक्तवाके’ उत्कृष्टे सति—‘देवता’ पौरोडाशिकदेवतावाचिशब्दा—‘उत्कृष्टेरन्’ इति सम्बन्ध ॥ १६ ॥

अस्मिन् पादे भाष्यकारेण सम्यक्

प्रोक्ता न्याया धीमता षोडशैव ॥

स्पष्टम् ।

इत्येकादशस्य तृतीय ।

## अथैकादशस्य चतुर्थः पादः ।

[ आवापप्रपञ्च ]

(१) ११।४।१-३ भृतिभेदे तन्त्रभेदः

( १ ) तन्त्रचिन्ता पर्यवसिता । आवापचिन्तेदानीं प्रपञ्च्यते ।

( २ ) राजसूये श्रूयन्ते अनुक्तदेशकालानि प्रधानानि—‘अग्रावैष्णव एकादशकपाल—पेन्द्रावैष्णवश्चरु’ इत्यादीनि ।

( ३ ) तत्र सशय — एतेषु अङ्गानामनुष्ठानं किं तन्त्रेणोक्तं भेदेनेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — कृत्स्नस्य राजसूयस्य फलैक्येनेति—‘एकफलकाः । तेन तन्त्रमेवेति ।

( ५ ) अस्ति चैतेषु दक्षिणाभेदस्तेन च कर्तृभेदः । तस्माद् भेदेनैवानुष्ठानमङ्गानामिति ।

एतदभिप्रेत्याह—भृतीति । ‘भृतिभेदे’ ‘भृतिः’ दक्षिणा तस्याः ‘भेदे’

सति-‘तन्त्रभेद’ ‘तन्त्राणाम्’ अङ्गानाम् ‘भेद’ भेदेनानुष्ठान-स्यादिति शेष ॥ १० ॥

(२) ११।४।४-८ नृत्विग्भेदो नृपक्रतौ ।

(१) पूर्वाधिकरणापवाद ।

(२) राजसूये एव पुन

(३) संशय —उपक्रमे ये कर्तारस्त एवान्तपर्यन्तमुतान्ये इति ।

(४) पूर्वपक्ष —य एवादौ त एवान्तपर्यन्तमिति नास्ति नियम ।

दक्षिणाभेद श्रूयते । एव च सति यया दक्षिणया य क्रीत स तावदेव कर्मानुष्ठास्यति, इतरस्मिस्तु कर्मण्यन्य. कर्ता भविष्यति इति ।

(५) सिद्धान्त —‘अनेन कर्मसमुदायेन राजसूयार्येण मा याजय’ इत्येव यजमानेन वृत्तत्वात् आसमाप्तेस्त एव कर्तार । ईदृशमेव च वरण न्याय्यम्-समुदायस्यैकफलकत्वात् । प्रतिकर्मपृथग्वरणे च वृथा गौरव स्यात् । दक्षिणाभेदस्तु कर्त्रभेदेऽपि सम्भवति । तस्मात्त एव कर्तार इति नियम इति ।

एतदभिप्रेत्याह—नेति । ‘नृपक्रतौ’ राजसूये-‘ऋत्विग्भेद’ ऋत्विजां घृतामां भेदः-‘न’ भवति । तस्माद् य एवादौ कर्तारस्त एवान्तपर्यन्त कर्तार इत्याशय ॥ २ ॥

(३) ११।४।९-११ अवेष्टौ न कृतौ तन्त्रम्

(१) आवापोदाहरणम् ।

(२) सन्ति राजसूयेऽवेष्टय एवमाज्ञाता —‘आग्नेयमष्टाकपाल नि र्घपति, हिरण्य दक्षिणा-ऐन्द्रमेकादशकपालम्, ऋषभो दक्षिणा-वैश्वदेव चरुम्, पिशङ्गो षष्ठाही दक्षिणा-मैत्रावरुणीमामिक्षाम्, वशा दक्षिणा-बार्हस्पत्य चरुम्, शितिपृष्ठो दक्षिणा’ इति ।

(३) तत्र सन्देह —अवेष्टिष्वङ्गानामनुष्ठानं तन्त्रेणोत भेदेनेति ।

(४) पूर्वपक्षः—प्रयोगक्यात् कर्मैक्यम् । तस्मात्तन्त्रमिति ।

(५) सिद्धान्तः—उत्पत्तिवाक्ये दक्षिणाभेदस्य श्रुतत्वात् प्रयोग-भेदः । तस्माद् भेदेनाङ्गानुष्ठानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—अवेष्टाविति । ‘अवेष्टौ’ यागे-‘कृतौ’ प्रयोगे, अनुष्ठाने-‘तन्त्रम्’ ‘न’ भवतीति शेष । तस्मादङ्गानाम्भेदेनैवानुष्ठानमवेष्टाविरया शय ॥ ३ ॥

(४) ११।४।१२-१५ पवमानेष्टितन्त्रता ।

(१) तन्त्रोदाहरणम् ।

( २ ) सन्त्याधाने पवमानेष्टय—‘अग्नये पवमानायाष्टाकपाल निर्वपेत्—अग्नये पावकाय—अग्नये शुचये’ इति ।

( ३ ) तत्र सशय —एतासु किमङ्गाना तन्त्रमुत भेद इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —एवं हि वचन भवति—‘य कामयेत—उत्तर वसीथान् श्रेयान् स्यामिति तस्याग्नये पवमानाय निरुप्याथ पात्रकाय शुचये चोत्तरे हविषी समानवर्हिषी निर्वपेत्’ इति । अत्र च स्पष्टं भेदनानुष्ठानमुच्यते । तस्माद् भेदनानुष्ठानमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —त्रिभिर्हविर्भि साभ्यस्याग्नेरेकत्वात् देशाद्यभेदाच्च तन्त्रेणैवानुष्ठानमिति । उदाहृतं च वचन काम्यपवमानेष्टिपरम् । तस्मान्नित्येऽनुष्ठाने तन्त्रमेवेति ।

एतदभिप्रेत्याह—पवमान इति । ‘पवमानेष्टौ’ ‘तन्त्रता’ तन्त्रेणाङ्गानुष्ठान स्यादिति शेषः ॥ ४ ॥

( ५ ) ११।४।१६-२३ स्वस्थानवृद्धिर्दोषादेः ।

( १ ) आवापोदाहरणम् ।

( २ ) अस्ति द्वादशाह—‘द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्’ इति । तत्र एकैकमह पृथक् कर्म । तस्मिन् सदीक्षस्य सोपसत्कस्य ससुत्यस्य ज्योतिष्टोमस्य विध्यन्तोऽतिदिष्ट । अतिदिष्टानामुपसदां दीक्षाणां च प्राकृतसङ्ख्याबाधनाय पृथग् द्वादशत्व भुतम् ‘द्वादश दीक्षाः द्वादशोपसदः’ इति ।

( ३ ) तत्र सशय —किं दीक्षार्थं द्वादशदिनानि—उपसदर्थं द्वादशसुत्यार्थमेकम्—इति पञ्चविंशतिरेकस्मिन्नहर्यागे । एव च द्वादशाहे द्वादशधा आवृत्त्या शतत्रय सम्पद्यते—उत द्वादश दीक्षा द्वादश उपसद इत्यङ्गयोर्मुख्यवत् पृथग् द्वादशत्वश्रुत्या षट्त्रिंशदिनानि इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष,—शतत्रयमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त—षट्त्रिंशदिति ।

एतदभिप्रेत्याह—स्वेति । द्वादशाहे—‘दीक्षादे’ दीक्षा उपसत् इत्यादे—‘स्वस्थाने’ एव ‘वृद्धि’—द्वादश दीक्षाः द्वादश उपसद इत्येवं क्रमेणैव प्राकृतसङ्ख्याविवृद्धिरित्यर्थः ॥ ५ ॥

( ६ ) ११।४।२४-२७ सुत्याहाङ्गमपृथग् भवेत् ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेषः ।

( २ ) प्रधानात् पृथक्कालान्यङ्गानि द्वादशाहस्य विचारितानि । सन्ति च कानिचिदङ्गानि प्रधानैरपृथक्कालानि सुत्याहाङ्गानि ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—किमेतेषां तन्त्रेणानुष्ठानमुत भेदेनेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — 'द्वादशाहेन प्रजाकाम याजयेत्' इति प्रयोगैक्याव  
गमात् स्रुदेवानुष्ठानम् । तस्मात् तन्त्रमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — दीक्षादीन्यन्यस्मिन् गालेऽनुष्ठेयानि । सुत्याहाङ्गानि  
तु प्रधानसमकालानि । तस्माद् भेदेनानुष्ठानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—सुत्येति । 'सुत्याहाङ्गम्' 'पृथक्' 'भवेत्'—अस्य भेदे  
नैवानुष्ठानमित्यर्थः ॥ ६ ॥

( ७ ) ११।४।२८-२९ गाने नाह्म पृथग्भावः

( १ ) तन्त्रोदाहरणम् ।

( २ ) उपसत्काले यत् सुब्रह्मण्याह्वानं प्रकृतावस्ति तद् द्वादशाहे चो  
दकप्राप्तम् । तस्य प्रधानकालादन्य काल इति कृत्वा तन्त्रं पूर्वं निर्णीतं  
तृतीयपादीयदशमेऽधिकरणे । इदानीमन्य ऊहूरूपो विकारस्तन्त्रावाप  
पर्यवसायी विचार्यते । प्रकृतौ प्रथमोपसद्दिनमारभ्य त्रयोदशेऽहिं प्रथमसु  
त्या—चतुर्दशेऽहिं द्वितीयसुत्या—इत्येवक्रमेण चतुर्विंशेऽहिं चरमसु  
त्या भवति । तथा च प्रकृतौ 'चतुरह' इति सङ्ख्याविशिष्टेनाह श  
ब्देन सुत्याया उपलक्षणम्—'चतुरहे सुत्यामागच्छ मघवन' इति हि सु  
ब्रह्मण्याह्वाने ।

( ३ ) तत्र सशय — विकृतियागे द्वादशाहे यदाऽयमाह्वानमन्त्रं प्रयु-  
ज्यते तदा किं त्रयोदशचतुर्दशादिसङ्ख्यानामूहूरूपो विकारो भवति—  
ततश्चाह्वानस्य द्वादशकृत्वो भेदेनानुष्ठानादावाप — उताविकृतरूपेणैव  
प्रयोगस्तथा च तन्त्रमेवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — अह सङ्ख्याया ऊहन्मीयत्वेन विकारः ततश्च भेदे  
नानुष्ठानमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — सुत्याकारेण द्वादशाहस्यैकत्वम् । तस्मान्नोह ।  
तस्मात्तन्त्रमेवेति ।

एतदभिप्रेत्याह—गान इति । 'गाने' सुब्रह्मण्याह्वाने—'अहाम्' सु-  
त्याह्वानम्—'पृथग्भाव' भेदेनानुष्ठानं—'न' भवति—अपि तु तन्त्रेणैवे-  
ति भावः ॥ ७ ॥

( ८ ) ११।४।३० कुम्भ्येका पशुसहता ।

( १ ) तन्त्रोदाहरणम् ।

( २ ) धाजपेये सन्ति सप्तदश प्रजापत्याः पशवः । अपेक्ष्यन्ते च  
तत्र कुम्भीशूलादयः ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—किं कुम्भीशूलादीनां प्रतिपशु भेद उत तन्त्रमिति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—पश्वङ्गानां भिन्नत्वाद् भिन्ना स्युरिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — अवेरङ्गानि शीघ्रं पच्यन्ते, अजाङ्गानि तु विलम्बे न । ततश्च साहित्यासम्भवात् भिन्ना कुम्भी कर्तव्येति ।

एतदभिप्रेत्याह—जातीति । ‘जातिभेदे’ भिन्नजातीयेषु पशुषु—‘कुम्भी’ ‘पृथक्’ प्रतिपशुभिन्ना भवति—तस्मादावाप इत्यर्थः ॥ ११ ॥

( १२ ) ११।४।३९-४१ कपालेषु न तन्त्रता ।

( १ ) आवापोदाहरणम् ।

( २ ) अस्त्यश्वप्रतिग्रहेष्टि । तत्र श्रूयते—‘यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणाश्चतुष्कपालान् निर्वपेत्’ इति ।

( ३ ) तत्र कपालविषये सशय — किं दीर्घेषु चतुष्कपालेषु सर्वे षामपुरोडाशानां श्रपणं भवति तथाच कपालचतुष्कस्य सर्वे पुरोडाशौ स्तन्त्रेण सम्बन्ध उत प्रतिपुरोडाश कपालचतुष्कभेद इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — यथा प्राजापत्येषु कुम्भ्या महत्त्वेन तन्त्रम्—इत्यष्टमेऽधिकरणे निर्णीतं तथैवात्रापि तन्त्रमेवेति ।

( ५ ) सिद्धान्त — प्रकृतौ हि प्रतिपुरोडाशं कपालो भिद्यते तदेव चात्र चोदकप्राप्तम् । तस्मात् प्रतिपुरोडाश कपालचतुष्कभेद इति ।

एतदभिप्रेत्याह—कपालेष्विति । ‘कपालेषु’ चतुषु—‘तन्त्रता’ एकस्यैव चतुष्कस्य तन्त्रेण सर्वे सम्बन्ध — ‘न’ भवति—अपि तु प्रतिपुरोडाश भेद एव कपालचतुष्टयस्येत्यर्थः ॥ १२ ॥

( १३ ) ११।४।४२-४३ अवघाते सकृन्मन्त्रः

( १ ) तन्त्रोदाहरणम् ।

( २ ) ‘अवरक्तो दिवः सपत्न्यवध्यासम्—इत्यवहन्ति’—इत्यवघातमन्त्रो विहितः ।

( ३ ) तत्र सशय — किमवघाते प्रतिप्रहारमावर्तनीयोऽयमन्त्र उत सकृदेव पठनीय इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — अवघातस्य प्रहाररूपत्वात् प्रहारीणां च भिन्नत्वात् प्रतिप्रहारमावृत्तिर्मन्त्रस्येति ।

( ५ ) सिद्धान्त — तण्डुलनिष्पत्तिपर्यन्तप्रहाराभ्यासकृपस्यावघातस्य एककर्मत्वात् तत्र विनियुक्तस्य मन्त्रस्यावघातोपक्रमे सकृदेव पाठ इति ।

एतदभिप्रेत्याह—अवघात इति । ‘अवघाते’ विनियुक्तः—‘मन्त्रः’—‘सकृत्’ एव पठनीयः—न प्रतिप्रहारमावर्तनीय इति भावः ॥ १३ ॥

( १४ ) ११।४।४४ नानाबीजे पृथक् पृथक् ।

( १ ) पूर्वाधिकरणापवाद ।

( २ ) अस्ति राजसूये नानाबीजेष्टि । तत्र श्यामाकादयो नानाधी-  
जा । तैष्वबघातः प्राप्त समन्त्रक ।

( ३ ) तत्र सन्देह — किमन्त्र सकृत्पठित सर्वेषा बीजानामवघा  
समुपकरोत्युत प्रतिबीजमावर्तनीय इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पूर्वाधिरणन्यायेन सकृदेव मन्त्रपाठ इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — बीजाना भेदेऽवघातानामपि भेद । तथा सति  
प्रत्यवघात मन्त्र आवर्तनीय इति ।

एतदभिप्रेत्याह—नानेति । 'नानाबीजे' नानाबीजद्रव्यकेष्टौ—'पृथक्  
पृथक्' प्रतिबीजम्भेदेन—मन्त्र पठनीय इति शेष । अतो नात्र तन्त्र  
मित्याशय ॥ १४ ॥

( १५ ) ११।४।४५-४६ निर्वापादौ पृथङ्मन्त्रः

( १ ) आवप्रोदाहरणम् ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयो निर्वापस्यावृत्तिराम्नाता—'चतुरो मुष्टीनि  
वर्षति' इति । तथा वेदिस्तरणस्यापि—'त्रिधा तु पञ्चधा तु वेदि स्तरणा  
ति' इति । एवमन्यत्रापि । निर्वापादौ च मन्त्रोऽपि पठनीयत्वेन  
विहितः ।

( ३ ) तत्र सशय — किमप्रतिनिर्वाप मन्त्र आवर्तनीय उत सकृदेव  
पठनीय इति ।

( ५ ) पूर्वपक्ष — त्रयोदशाधिकरणन्यायेन सकृदेव मन्त्रपाठ इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — समन्त्रकेण प्रथममुष्टिनिर्वापेण संस्कृता ये तण्डु  
लास्तेभ्योऽन्ये तण्डुला अपि मुष्ट्यन्तरनिर्वापेण संस्कारमपेक्षन्ते । न च  
मन्त्रोच्चारण बिना स संस्कार सम्पद्यते । तस्मात् प्रतिनिर्वापमन्त्र  
पाठ । एवमन्यत्रापीति ।

एतदभिप्रेत्याह निर्वापेति । 'निर्वापादौ' निर्वापे स्तरणे इत्यादौ—  
'मन्त्र' 'पृथक्' प्रतिनिर्वाप भेदेन पठनीय इत्यर्थ ॥ १५ ॥

( १६ ) ११।४।४७-४८ मन्त्रो वेद्युक्षणे सकृत् ।

( १ ) पूर्वाधिकरणापवाद ।

( २ ) वेद्यास्त्रि प्रोक्षणं विहितं । तत्र च विहितो मन्त्र 'वेदिरसि'  
इत्यादि ।

( ३ ) तत्र सशय — किमयमन्त्रस्त्रि पठनीय उत सकृदेवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष—प्रोक्षणक्रियाया आवृत्तौ मन्त्रोऽन्यावर्तनीय इति ।

(५) सिद्धान्त —सस्कार्याया विद्याया एकत्वात् समन्त्रकप्रथमप्रोक्षणेनैव तत्सस्कारे सिद्धे पुनर्मन्त्रपाठो व्यर्थ । प्रोक्षणावृत्तिस्तु वाचनिकी । तस्मान्न मन्त्रस्यावृत्तिः ।

एतदभिप्रेत्याह—मन्त्र इति । 'वेद्यक्षणे' वेद्या प्रोक्षणे त्रि कर्तव्ये—'मन्त्र' 'सकृत्' एव पठनीय इति शेषः ॥ १६ ॥

(१७) ११।४।४९-५० सकृत् कण्डूयने मन्त्रः

(१) तन्त्रोदाहरणम् ।

(२) ज्योतिष्टोमे 'कृष्णविषाणया कण्डूयते' इति विहिते कण्डूयने 'सुपिप्पलाभ्य' इत्यादिर्मन्त्रो विहितः ।

(३) तत्र सन्देहः —युगपद् यदा अनेकेषु अङ्गेषु कण्डूतिरुपपद्यते तदा किमप्रत्यङ्ग मन्त्रावृत्तिरुत सकृदेव मन्त्रपाठ इति ।

(४) पूर्वपक्षः —मन्त्र आवर्तनीय -कण्डूयितव्यानामङ्गानामनेकत्वात् इति ।

(५) सिद्धान्तः —मन्त्रोऽयं नाङ्गशेषोऽपि तु कण्डूयनशेषः । बहुष्वङ्गेषु कण्डूयनकर्म त्वेकमेव । तस्मात् सकृदेव मन्त्रपाठ इति ।

एतदभिप्रेत्याह सकृदिति । 'कण्डूयने' 'मन्त्र' 'सकृत्' एव पठनीय इति शेषः ॥ १७ ॥

(१८) ११।४।५१ मन्त्रः स्वप्नादिके सकृत् ।

(१) तन्त्रोदाहरणम् ।

(२) दीक्षितस्य स्वप्ननयुत्तरणवृष्ट्यादिदर्शननिमित्तको मन्त्रजपो विहितः ।

(३) तत्र सन्देहः —यत्रानेकवारं स्वाप-उत्तरणीया नदी वा बहु स्रोतस्का-वृष्टिश्चानेकश -इत्येवरूपास्ववस्थासु किं तत्तन्निमित्तको मन्त्रजप आवर्तनीय उत सकृदेव कर्तव्य इति ।

(४) पूर्वपक्षः —निमित्तबहुत्वेन नैमित्तिकबहुत्वं न्याय्यम् । तस्मान्मन्त्रजप आवर्तनीय इति ।

(५) सिद्धान्तः —रात्रिगता कृत्वा निद्रामुद्दिश्य हि मन्त्रो विहितः तस्मात् सकृदेव जप इति । एवमितरत्रापीति ।

एतदभिप्रेत्याह मन्त्र इति । 'स्वप्नादिके' स्वप्ने नदीतरणे इत्येवरूपाणि निमित्तानि बहुत्वेऽपि तन्निमित्तको 'मन्त्र' मन्त्रजप —'सकृत्' एव कार्यो न त्वावर्तनीय इत्यर्थः ॥ १८ ॥

(१९) ११।४।५२ प्रयाणे च सकृन्मन्त्रः

(१) तन्त्रोदाहरणम् ।

(२) दीक्षितस्य प्रस्थितस्य प्रयाणमन्त्र -'भद्रादभिप्रेयः प्रेहि' इति ।



( ३ ) तत्र सन्देह — किं विश्रामे विश्रामे पुन प्रस्थितेन मन्त्र आ वर्तनीय उतादावेव सकृत् पठनीय इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — विश्रामभेदेन प्रस्थानस्यापि भिन्नत्वात् मन्त्र आ वर्तनीय इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — प्रथमप्रस्थानादारभ्य पुन प्रवेशपर्यन्तं प्रस्थान क्रियाया एकत्वात् सकृदेतादौ मन्त्रपाठ इति ।

एतदभिप्रेत्याह प्रयाण इति । 'प्रयाणे' प्रस्थाने- 'च'- 'मन्त्र' - 'सकृत्' पठनीय, नावर्तनीय इत्यर्थः ॥ १९ ॥

( २० ) ११।४।५३-५४ मन्त्रस्तूपरवे पृथक् ।

( १ ) आवापोदाहरणम् ।

( २ ) सन्ति ज्योतिष्टोमे पीठपादचतुष्टयाकारा बाहुमात्रखाता उप रचनामका चत्वारो खाता । अस्ति च तदीयखननमन्त्र - 'रक्षोहणो व-  
ल्गहनो वैष्णवान् खनामि' इति ।

( ३ ) तत्र सशय — किमप्रतिखात मन्त्र आवर्तनीय उत सकृन्मन्त्रपाठ इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — बहुवचन मन्त्रे श्रूयते । तस्य प्रतिखातमावृत्तौ ना न्वय । तस्मात् सकृत् पाठ इति ।

( ५ ) सिद्धा त — एकस्मिन्नपि बहुवचनमादर्यं भवति । खेयाश्च खाता भिन्ना । तस्मात् खननभेदेन खननमन्त्र आवर्तनीय इति ।

एतदभिप्रेत्याह मन्त्र इति । 'उपरवे' उपरचनामके खातचतुष्टये ख-  
ननीये- 'मन्त्र' 'खननमन्त्र' — 'पृथक्' खातभेदेन आवर्तनीय इत्यर्थः ॥ २० ॥

( २१ ) ११।४।५५-५७ नाधिगोस्तन्त्रता कार्या

( १ ) आवापोदाहरणम् ।

( २ ) प्राजापत्येषु पशुष्वस्ति अधिगुप्रथममन्त्र - 'देव्या शमितार' इति ।

( ३ ) तत्र सशय — किमस्य मन्त्रस्य पशुभेदेऽपि सकृत्प्रयोग उत प्रतिपश्वान्वृत्तिरिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — सर्वेषां पशूना सहोपक्रमस्यानुग्रहाय सकृदेव मन्त्र पठनीय । तस्मात्तन्त्रमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — पशनामालम्भे नास्ति साहित्यम् । तस्मात् का लभेदेन न तन्त्रेण सकृन्मन्त्रपाठोऽपि त्वावृत्तिरेवेति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'अधिगो' अधिगुप्रैषमन्त्रस्य 'तन्त्रता' सकृ-  
त्प्रयोग — 'न कार्या' — अपि त्वावृत्तिरेवेत्याशयः ॥ २१ ॥

न्यायास्त्वत्रैकविंशतिः ।

स्पष्टम् ।

इत्येकादशस्य चतुर्थ ।

इत्येकादशाध्यायः समाप्तः ।

## अथ द्वादशाध्यायः ।

[ प्रसङ्ग-तन्त्रि-समुच्चय-विकल्प-निरूपक ।

प्रथम. पाद ।

( प्रसङ्गविचारः )

(१) १२।१।१-६ अङ्गपुरोडाश उपैति पाशुकम्

( १ ) तन्त्र द्वयोद्देशकत्वादेकादश उदीरितम् ।

प्रसङ्गोऽन्योद्देशकत्वाज्जन्य सन्नथोच्यते ॥

एकादशाध्याये तन्त्रावापलक्षण व्याख्यातम् । प्रसङ्गलक्षणमिदानी व्याख्यायते । अन्यत्र कृतस्य अन्यत्रापि प्रसक्ति 'प्रसङ्ग'—यथा प्रासादे कृतेन दीपेन राजमार्गोऽपि प्रकाशकरणम् ॥ एवरूपस्य प्रसङ्गस्योदाहरणं प्रदर्श्यते ।

( २ ) अस्त्यग्नीषोमीय पशु पुरोडाशश्च—'अग्नीषोमीयस्य वपया प्रचर्य अग्नीषोमीय पशुपुरोडाशमेकादशरूपाल निर्वपेत्' इति ॥ तत्र पशो चोदकप्राप्तानि प्रयाजाद्यङ्गान्यनुष्ठेयन्ते ।

( ३ ) तत्र सन्देह —पशो कृतान्यङ्गानि पुरोडाशेऽप्युपकुर्वन्ति—उत पुरोडाशोऽन्यान्यनुष्ठेयानीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —भिन्नविधिबोधितेष्वङ्गावृत्तेरौचित्येन पशुविहिताङ्गैः पुरोडाशोपकारस्यासम्भवात्तत्र पृथक् तदङ्गान्यनुष्ठेयानीति ।

( ५ ) सिद्धान्त —पाशुकतन्त्रमन्य पुरोडाशविधानस्या प्रसङ्गसाधनात्पशुप्रयोगेण पुरोडाशापूर्वोपकारसिद्धिः । तस्मात् पश्वङ्गैरेव प्रयाजादिभिः पुरोडाशसिद्धौ न तत्राङ्गान्तरापेक्षेति ।

एतदभिप्रेत्याह—अङ्गमिति । 'पुरोडाश' पशुपुरोडाश—'पाशुकम्' पशौ कृतम्—'अङ्गम्' प्रयाजादि—'उपैति' गृह्णाति—तेनवाङ्गेनोपकृतो नान्यदङ्गमपक्षते इत्यर्थः ॥ १ ॥

(२) १२।१।७ तत्राज्यभागाद्यधिकं च किञ्चन ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेषः ।

( २ ) 'न तौ पशो करोति' इति पशावाज्यभागनिषेधे पूर्वाधिकरणसिद्ध्येन प्रसङ्गेन पशुपुरोडाशे तयोः प्रसक्तिर्नास्ति । तस्मात्—

( ३ ) सशय —पशुपुरोडाशे आज्यभागं कर्तव्यं न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —पशौ न स्त आज्यभागौ । ततश्च पुरोडाशे तत्प्रापकस्य चोदकं लुप्तम् । तस्मात् पुरोडाशे आज्यभागौ न कर्तव्याविति ।

(५) सिद्धान्त—प्रसङ्गेन चोदक न बाध्यते । तस्मात्तन्त्यावेवाज्य भागौ पशुपुरोडाशे इति ।

एतदभिप्रेत्याह तत्रेति । 'तत्र' पशुपुरोडाशे—'किञ्चन' किञ्चित्—'अधिकम्' पशो प्रसङ्गेन यत् प्राप्त तस्मादतिरिक्तम्—'आज्यभागादि'—क तैव्यमिति शेष ॥ २ ॥

(३) १२।१।८-९ सोमे न वेदिः पृथगिष्टिकर्मणाम्

(१) प्रसङ्गोदाहरणम् ।

(२) सोमे सन्ति कानिचित् कर्माणि इष्टिरूपाणि दर्शपूर्णमासप्रभृतीनि । अस्ति च सोमे कृता वेदि ।

(३) तत्र सशय—उक्तानां कर्मणामनुष्ठानं किं सौमिक्यामेव वया भवति—उत तदर्थं अन्या दार्शिकी वेदि कर्तव्येति ।

(४) पूर्वपक्ष—सौमिक्या वेद्या पृथक् वेदि दार्शिकी कर्तव्या । यतः सौमिकी वेदि हविरासादनार्थाया दार्शिक्या वेद्या कार्यं कर्तुं समर्थेति ।

(५) सिद्धान्त—सौमिक्यामेव वेद्यामिष्टीनामपि हविरासादनकार्यं कर्तुं शक्यते । तस्मान्नास्ति वेद्यन्तरस्य प्रयोजनमिति ।

एतदभिप्रेत्याह सोम इति । 'सोमे' सोमयागे—'इष्टिकर्मणाम्' सोमाङ्गभूतानि दर्शपूर्णमासप्रभृतीनि यानि कर्माणि तदर्थम्—'पृथक्' सौमिक्या वेद्या अतिरिक्ता वेदि 'न'—कार्येति शेष ॥ ३ ॥

(४) १२।१।१०-११ ग्रहादिभिर्नेष्टिकहोम इष्यते ।

(१) प्रसङ्गापवाद् ।

(२) सोमे सन्ति प्रयुक्ता ग्रहाश्चमसाश्च । सन्ति चात्र दर्शपूर्णमासप्रभृतीनि कर्माणि ।

(३) तेषु सशय—किमुक्तेषु कर्मसु सौमिकैरेव ग्रहचमसैर्होमं कर्तव्य—उत ऐष्टिकैः पात्रैः स्रुवादिभिरिति ।

(४) पूर्वपक्ष—पूर्वाधिकरणन्यायेन सौमिकैर्ग्रहचमसैरेव कर्तव्य इति ।

(५) सिद्धान्त—स्रुवादिभिर्यत् कर्तव्यं तद् यदि ग्रहैश्चमसैर्वा क्रियेत तर्हि वैगुण्य स्यात् । वर्तन्ते च सोमेषु ऐष्टिका स्रुवादयः । तस्मादेभिर्ऐष्टिकैरेव होमं कर्तव्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह ग्रहेति । 'ऐष्टिकहोम' सोमे यानि दर्शपूर्णमासप्रभृतीनि कर्माणि तेषु यो होमः क्रियते स—'ग्रहादिभिः' सौमिकैर्ग्रहैश्चमसैर्वा—'न इष्यते'—कर्तुमिति शेषः—अपि त्वैष्टिकैरेव स्रुवादिपात्रैरित्याशयः ॥ ४ ॥

(५) १२।१।१२ शामित्रवह्नौ पचिरौषधस्य नो

( १ ) प्रसङ्गापवाद ।

( २ ) अस्त्यग्नीषोमीय पशु -तत्तन्त्रमध्यपाती पुरोडाशश्च । पशुश्च शामित्रेऽग्नौ पच्यते ।

( ३ ) पुरोडाशे सशय -कस्मिन्नग्रावय पचनीय -किं तस्मिन्नेव शा मित्रे उतान्यस्मिन्नग्राविति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष -पशुतन्त्रमध्यपात्तिवाच्छामित्रे एव पचनीय इति ।

( ५ ) सिद्धान्त -प्रकृतौ पुरोडाशस्य पचन गार्हपत्ये विहितम् । स च गार्हपत्य सोमे प्रयुक्त शालामुखीयनाम्नाऽभिहित । तस्मात् वैगु एयपरिहारायास्मिन्नेव शालामुखीयेऽग्नौ पाक इति ।

एतदभिप्रेत्याह शामित्रेति । 'औषधस्य' पुरोडाशस्य -'पचि' पाक - 'शामित्रवह्नौ' शामित्रेऽग्नौ -'नो' न भवति-अपितु शालामुखीये एवेत्या शय ॥ ५ ॥

(६) १२।१।१३ सत्रे पचि प्राजहितेऽग्निहोत्रके ।

( १ ) पूर्वाधिकरणप्रसङ्गेन विचार ।

( २ ) अस्ति कुण्डपायिनामयनगतमग्निहोत्रम् । तत्रापि हवि श्रपणम् ।

• ( ३ ) तत्र सशय - कस्मिन्नग्नौ भवत्येतच्छ्रपणम्-किं शालामु खीये उत प्राजहिते इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष --प्रकृतिभूतेऽग्निहोत्रे गार्हपत्ये श्रपण विहितम् । शा लामुखीयश्च पूर्वमाहवनीयोऽपि सोमे गार्हपत्यो भवति । स एवात्र चो दकेन प्राप्त , तस्माच्छालामुखीये एव श्रपणमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त -गार्हपत्यस्यैव 'प्राजहित' इति पूर्वाचार्याणां सङ्गा । तस्मात् प्राजहिते एव श्रपणमिति ।

एतदभिप्रेत्याह सत्र इति । 'सत्रे' कुण्डपायिनामयने यत् अग्निहोत्र तस्मिन् 'अग्निहोत्रके'--'प्राजहिते' एव अग्नौ--'पचि' पाको हविष इति शेष ॥ ६ ॥

(७) १२।१।१४-१६ निर्वापकमर्थमनोऽन्तरम्भवेत्

( १ ) प्रसङ्गापवाद ।

( २ ) ज्योतिष्टोमे द्वेहविधाननामके शकटे । सन्ति चात्राङ्गभूतानि पेट्टिकानि कर्माणि ।

( ३ ) तेषु सशय --किं पेट्टिककर्मसु प्रयोदयमाणानां हविषा निर्वा- पस्तयोरेव हविर्धानशकटयोर्भवति-उत तदर्थं शकटान्तरमुपादेयमिति ।

(४) पूर्वपक्ष — तयोरेव हविर्धानशकटयो तन्निर्वापाय शक्तत्वात् न शकटान्तरमन्वेष्टव्यमिति ।

(५) सिद्धान्त — हविर्धानशकटे महावेद्या स्थापिते । निर्वापश्च गार्हपत्यात् पश्चिमे देशे भवति । तस्माद् देशभेदात् हविर्धानशकटयोर्निर्वापः । अस्ति च तृतीयमपि शकटमुक्तम् — 'अनासि प्रवर्तयन्ति' इति बहुवचन श्रुते । तस्माच्छकटान्तरमुपादयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह निर्वापेति । 'निर्वापकर्मार्थम्' षेष्टिहविषा निर्वापाय — 'अनोन्तरम्' अन्यत् अन शकट — 'भवत्' उपादेयमि यर्थ ॥७॥

(८) १२।१।१७ स्यात् प्रायणीयादिषु जागृति पृथक् ।

(१) प्रसङ्गापवादः ।

(२) ज्योतिष्टोमे दीक्षाकाले रात्रिजागरणमाज्ञातम् । दर्शपूर्णमासयोरपि औपवसथ्येऽहनि एकेषामाज्ञातं तत् प्रायणीयादिषु चोदकन प्राप्यते ।

(३) तत्र सशय — किं दीक्षाकालीनेनैव जागरणेन प्रायणीयादिषु प्रसङ्गात् उपकारसिद्धि — उत पृथक् कर्तव्य जागरणमिति ।

(४) पूर्वपक्ष — अद्वैतार्थमेव जागरणम् । तच्चान्यत्र कृतमन्यत्र प्रसङ्गेनोपकरिष्यतीति पृथक् न कार्यमिति ।

(५) सिद्धान्त — रक्षार्थं हि जागरणं क्रियते । अस्ति च दीक्षाप्रागणीययोः कालभेदः । तस्मात् पृथगेव जागरणमिति ।

एतदभिप्रेत्याह स्यादिति । 'प्रायणीयादिषु' 'जागृति' जागरणम् 'पृथक्' दीक्षाकालीनाज्जागरणात् भिन्नमेव — 'स्यात्' इति सम्बन्धः ॥८॥

(९) १२।१।१८ पाठः पृथक् स्यात् खलु सन्निपातिनाम्

(१) तन्त्रापवादः ।

(२) बह्वणप्रघासेषु द्वौ विहारौ अभ्यर्गुर्गुणप्रस्थाप्रो । तत्र सन्ति केचन मन्त्रा आज्यग्रहणे प्रोक्षणे अभिमर्शने च ।

(३) तत्र सशय — किं द्वयोर्विहारयोरिमे मन्त्रा सकृत् तन्त्रेण प्रयोज्या उत भेदेनेति ।

(४) पूर्वपक्ष — एकेनैव पठ्यमानेनार्थस्मृतेरुभयत्र सिद्धत्वात् सकृदेव पाठ इति ।

(५) सिद्धान्त — मन्त्रा ह्यर्थस्मरणद्वारा साक्षपत्योपकारका न श्रूयन्ते च मन्त्रे निर्वपामि इत्युत्तमपुरुषप्रयोगः । स चाभ्ययुक्तृके पाठे न प्रतिप्रस्थातृकर्तृक निर्वाप स्मारयितुमलम् । तस्मादुभयत्र पृथगेव मन्त्रस्य पाठ इति ।

एतदभिप्रेत्याह पाठ इति । 'सन्निपातिनाम्' अर्थस्मरणद्वारा सन्निपात्योपकारकाणां मन्त्राणाम्—'पाठः' अध्वर्युप्रतिप्रस्थात्रोर्विहारयो—  
'पृथक्' भेदेनैव—'स्यात्' 'खलु'—न तन्त्रेणैकत्रैवेत्याशय ॥ ९ ॥

(१०) १२।१।१९ न त्वादधातिः क्रतुमध्यगेषु ।

(१) बाधोदाहरणम् ।

(२) सन्ति सोमे दीक्षणीयादीनि पेष्टिकानि कर्माणि । अस्ति तेषां प्रकृतौ अग्न्यन्वाधानम् ।

(३) तत्र सशय —किं दीक्षणीयादग्न्यन्वाधानं कर्तव्यमुत नेति ।

(४) पूर्वपक्ष —चोदकप्राप्तत्वात् कर्तव्यमिति ।

(५) सिद्धान्त —अग्निधारणार्थं हि अन्वाधानमभवति । तच्चात्र दीक्षणीयादिभ्यः प्राग्भवतीयेन सौमिकेन विहरणेनैव सिद्धम् । तस्मान्निष्प्रयोजनत्वान्नस्त्यन्वाधानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'क्रतुमध्यगेषु'—'क्रतो' ज्योतिष्टोमस्य 'मध्यगा' अन्तर्पतिता या 'इष्टय' तासु 'तु'—'आदधाति' अग्न्यन्वाधानम्—'न'—कर्तव्यमिति शेष ॥ १० ॥

(११) १२।१।२०-२३ सोमाङ्गे इष्टौ न पुनर्व्रतग्रहो

(१) पूर्वाधिकरणशेषः प्रसङ्गोदाहरणरूपः ।

(२) पूर्वोक्तास्वेव इष्टिषु दार्शपौर्णमासिकं व्रतं तस्य ग्रहणमनेन मन्त्रेण भवति—'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामीति' । तदेतद्ब्रतग्रहणं समन्त्रकं चोदकप्राप्तम् ।

(३) तत्र सशय —इदं व्रतं कर्तव्यमुत नेति ।

(४) पूर्वपक्ष —चोदकप्राप्तत्वात् कर्तव्यमिति ।

(५) सिद्धान्त —सत्यवचनादिव्रतं सोमार्थम्पूर्वमुपेतमेव । तस्य च सोमसमाप्तिपर्यन्तं परित्यागो नोचितः । तन्मध्यपातीष्टिषु यदि पुनरैष्टिकव्रतग्रहणं समन्त्रकं भवेत् तर्हि सौमिकव्रते व्यवच्छेदः स्यात् 'चरिष्यामि' इति मविष्यत्प्रयोगश्च चर्यमाणे व्रते अनन्वितः स्यात् । तस्मान्न कर्तव्यमिति ।

एतदभिप्रेत्याह सोमेति । 'सोमाङ्गे' ज्योतिष्टोमाङ्गभूतायाम्—'इष्टौ' दीक्षणीयेष्ट्यादौ—'पुनर्व्रतग्रह' चर्यमाणे सौमिके व्रते पुनरैष्टिकव्रतस्य ग्रहणं चोदकप्राप्तमपि—'न'—कर्तव्यम् इति शेषः ॥ ११ ॥

(१२) १२।१।२४-२८ ज्वाधानमस्यां न च देवतापरम् ।

(१) दशमाधिकरणशेषः ।

( २ ) अन्वाधानस्य अग्निधारणत्वात् सौमिकेन विहरणेनैव तत् प्रसङ्गात् सिद्धं तस्मात्पुनरैष्टिकेषु न कर्तव्यं तदन्वाधानमिति दशमाधि करणे स्थितम् ।

( ३ ) तत्रैव पुन सशय - मा भवतु धारणार्थस्यान्वाधानस्यानुष्ठा नमैष्टिकेषु, देवतापरिग्रहार्थमपि चान्वाधानं भवति । तत् भवति कृतव्यमै ष्टिकेषु न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष - देवतापरिग्रहार्थमन्या प्राणमन्यतोऽसिद्धम् । अ स्ति च देवतापरिग्रहार्थत्वमन्वाधानस्य दर्शपूर्णमासयोगान्नातम् 'ममा शे वचो विहरेष्वस्तु-इति अग्निं गृह्णाति' इति । तस्मान् कर्तव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त - देवतापरिग्रहोऽपि सिद्ध एव - 'अग्रावैष्णवमेका दशकपाल निर्वपेद् दीक्षिष्यमाण यदाग्रावैष्णवमेकादशकपाल नि र्वपति देवता एवोभयत परिगृह्य दीक्षते' इति । तस्मान्नास्ति पृथगन्वा धानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह अन्विति । 'देवतापरम्' देवतागृहणार्थमपि 'अन्वा धानम्' - 'अस्या' सौमिकाङ्गभूतायामिष्टौ 'न' - स्यादिति शेष ॥ १२ ॥

( १३ ) १२।१।२९ पत्न्याश्च सन्नाह इहेष्यते न वै

( १ ) प्रसङ्गोदाहरणम् ।

( २ ) पत्न्या सन्नहन दर्शपूर्णमासयोराम्नातम् - 'योक्त्रेण पत्नीं स न्नहति' इति । तदेतत् सोमाङ्गभूतास्विष्टिषु चोदकप्राप्तम् ।

( ३ ) तत्र सशय - एतास्विष्टिषु सन्नहनं भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष - चोदकप्राप्तत्वाद् भवत्येवेति ।

( ५ ) सिद्धान्त - सन्नहनमदृष्टार्थं वा स्यात् वासोधारणरूपदृष्टार्थं वा - उभयथापि सौमिकेनैव योक्तृवन्धनेन सिध्यति । तस्मात्प्रसङ्गसिद्ध सन्नहनं न पुन कर्तव्यमिति ।

एतदभिप्रेत्याह पत्न्या इति । 'इह' सोमाङ्गेष्टौ - 'पत्न्या' 'सन्नाह' सन्नहनम् - 'न' 'इष्यते' - कर्तुमिति शेष - प्रसङ्गेनैव सिद्धत्यादि त्याशयः ॥ १३ ॥

( १४ ) १२।१।३० नारण्यभुक्तिः क्रियतेऽत्र दार्शिकी ।

( १ ) प्रसङ्गोदाहरणम् ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोरारण्यभोजनमाग्नातम् - 'यदारण्यात्तश्नाति' इत्यादि ।

( ३ ) तत्र सशय - तदेतदारण्यभोजनं सोमाङ्गेष्टिषु कर्तव्यं न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष - चोदकप्राप्तत्वात् कर्तव्यमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त वृत्त्यर्थमेवैतद् भोजनम् । सोमेऽपि वृत्त्यर्थमस्ति पयोव्रतभक्षिकम् । एतेन सौमिकेनैव भोजनेन वृत्तौ प्रसङ्गात् सिद्धाया चोदकप्राप्तस्य भोजनस्य नास्ति प्राप्तिरिति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'अत्र' सोमाङ्गेष्टिषु—'दार्शिकी' दर्शपूर्णमासयो राम्नाता—'आरण्यभुक्ति' आरण्यभोजनम्—'न' 'क्रियते'—सौमिकेनैव भोजनेन वृत्ते प्रसङ्गात् सिद्धेरित्याशयः ॥ १४ ॥

( १५ ) १२।१।३१ स्याच्छेषभक्षः पुनरत्र दर्शवत्

( १ ) पूर्वाधिकरणपवादः ।

( २ ) अस्तित्वपूर्णमासयो शेषभक्षः ।

( ३ ) तत्र सशय — अयं शेषभक्षः सोमाङ्गेष्टिषु भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पूर्वाधिकरणन्यायेन नैव कर्तव्य इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — आरण्यभोजनवत् नायं वृत्त्यर्थः — अपि तु प्रतिपत्तिरूपमस्कारार्थः । तस्मात् कर्तव्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह स्यादिति । 'अत्र' सोमाङ्गेष्टिषु—'शेषभक्षः' दर्शपूर्णमासयोर्बिहित — 'दर्शवत्' यथा दर्शं तथैव—'स्यात्' इति सम्बन्धः ॥१५॥

( १६ ) १२।१।३२ स्याद् दक्षिणा नेह च दर्शचोदिता ।

( १ ) प्रसङ्गोदाहरणम् ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोरन्वाहार्यं परिक्रयार्थं दक्षिणारूपं आम्नात । स च सोमाङ्गेष्टिषु चोदकप्राप्तः ।

( ३ ) तत्र सन्देहः — एतास्विष्टिषु अन्वाहार्यो दातव्य उत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — चोदकप्राप्तत्वाद् दातव्य इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — सोमप्रयोगमध्यपातिनीनामिष्टीनां सौमिकदक्षिणाभिरेव प्रसङ्गात् ऋत्विगानतिरूपे कार्यं सिद्धे नास्ति प्रयोजनं चोदकप्राप्ताया दक्षिणायाः । तस्मान्न दातव्योऽन्वाहार्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह स्यादिति । 'इह' सोमाङ्गेष्टिषु—'दर्शचोदिता' दर्शं बिहिता—'दक्षिणा' अन्वाहार्यरूपा—'न स्यात्'— दातव्येति शेषः ॥ १६ ॥

( १७ ) १२।१।३३-३४ न चानतिद्वारभृतिप्रदानात्

अङ्गेष्टिभक्षा विनिवर्तनीया

( १ ) पञ्चदशाधिकरणाक्षेपपरिहाररूपं षोडशाधिकरणपवादः ।

( २ ) दार्शिकः शेषभक्षोऽस्ति दार्शिकी दक्षिणा नास्तीति स्थितम् ।

( ३ ) तत्र सशय — येन हेतुना दक्षिणा निवर्तते तेनैव हेतुना भक्षोऽपि निवर्तते न वेति ।



( ४ ) पूर्वपक्ष —यथा आनतौ प्रसङ्गादेव सिद्धाया दार्शिका न नि  
णा न दातव्या—तथैव तेनैव हेतुना शेषभक्तोऽपि दार्शिको न कर्तव्य इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —दक्षिणा हि आनन्त्यर्था—न तु शेषभक्तस्तथा -  
तस्य प्रतिपत्तिसंस्काररूपत्वात् । तस्माद् वैषम्यात् न दक्षिणावद भ  
क्तस्य परित्याग इति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'आनतिद्वारभृतिप्रदानात्' ऋत्विजां या 'आ  
नति' परिक्रय तस्य द्वार या भृति वृत्तिर्भक्षरूपा तस्या 'प्रदानात्  
शेषभक्त परिक्रयाथमेव दीयते इत्यस्माद् हेतो —'अङ्गेष्टिभक्ता' सोमा  
ङ्गेष्टिषु ये दार्शिका भक्ता —'न निवर्तनीया' न परित्याज्या । परिक्रया  
र्थत्वं यद् दक्षिणात्यागे हेतु तस्य भक्षेयभावात् न त्याज्या भक्ता इत्या  
शय ॥ १७ ॥

( १८ ) १२।१।३५-४१ होतुर्वृत्तिः स्यादिह पौर्णमासिकी ।

( १ ) प्रसङ्गापवाद ।

( २ ) अस्ति दर्शपूर्णमासयोर्होतुर्वर्णम् । तत् सोमाङ्गेष्टिषु चोद  
केन प्राप्यते । अस्ति तु सोमेऽपि होतुर्वर्णम् ।

( ३ ) तत्र संशय —इष्टिषु दार्शिक होतुर्वर्ण कर्तव्यमुत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —यथा पृथगानत्यभावादन्वाहार्यो नास्ति तथैव  
होतुर्वर्णमपि नास्ति—प्रसङ्गादेव तस्य सिद्धिरिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —वरण हि धर्मार्थमेव भवति दर्शपूर्णमासयोरपि ।  
तस्मादत्रापि प्रकृतिवत् होतुर्वर्ण कार्यम्—धर्मार्थं न त्वानन्त्यर्थम् ।  
धर्मार्थं हि वरणं न सौमिकेन वरणेन प्रसङ्गात् सिध्यति इति ।

एतदभिप्रेत्याह होतुरिति । 'इह' सोमाङ्गेष्टिषु—'पौर्णमासिकी' दर्श  
पूर्णमासयोर्विहिता—'होतु वृत्ति' होतुर्वर्ण—'स्यात्' कर्तव्या धर्मार्था  
न त्वानन्त्यर्थेत्याशयः ॥ १८ ॥

( १९ ) १२।१।४२-४३ न प्रोक्षणादीन्युपसन्तु बर्हिषाम्

( १ ) प्रसङ्गोदाहरणम् ।

( २ ) सोमे श्रूयते—'यदातिथ्याया बर्हिस्तदुपसदा तदग्रागोमीय  
स्ये'ति । एतच्च बर्हिस्त्रयाणां साधारणमिति चतुर्थे स्थितम् । भवति च  
बर्हिषा प्रोक्षणाऽग्रावपातनमूलावसेचनरूप संस्कार । [ प्रोक्षणम्  
(२)अग्राणामवपातनम् (३)मृलानामवसेचनम् । ]

( ३ ) तत्र संशय —किमय संस्कार प्रतिकर्म पृथगनुष्ठेय उत य  
पवातिथ्याया कृतस्स एव प्रसङ्गादितरयोरुपकरोतीति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष.—प्रतिकर्म पृथगनुष्ठेय.—तत्रप्रसङ्गयोरत्रासम्भवात् ।

एककालीनत्वाभावाच्च तन्त्रम् । एकस्य तन्त्रेऽन्यतरयोरपठितत्वाच्च प्रसङ्ग इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — बर्हिष एकत्वात् स्रुतप्रोक्षणादिभिः सस्कारे सिद्धे पुनः सस्कारापेक्षा नास्ति । स च सस्कारः प्राथम्यादातिथ्याया क्रियते । तस्मात् उपसत्सु अग्नीषोमीये च प्रसङ्गादेव तत्सिद्धिरिति नात्र पुनः कर्तव्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'उपसत्सु' उपसत्सु अग्नीषोमीये चेत्युभयत्र- बर्हिषाम्—'प्रोक्षणादीनि' प्रोक्षणम्—अग्रावपातनम्—मूलावसेचनमित्येवमादिसस्कार —'न'—कर्तव्य इति शेषः ॥ १९ ॥

( २० ) १२।१।४४ तेषान्तु मन्त्रांस्तरणे पुनः पठेत् ।

( १ ) पुराधिकरणपवादः ।

( २ ) आतिथ्याग्रहिष्यस्ति मन्त्र 'ऊर्णान्नदस त्वा स्तृणामि' इति ।

( ३ ) तत्र सशय — अस्य आस्तरणमन्त्रस्य पाठोऽग्नीषोमीये पुनः कर्तव्य उत प्रसङ्गादेव तत्सिद्धिरिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पुराधिकरणन्यायेन प्रसङ्गसिद्धौ न भवति पुनर्मन्त्रपाठ इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — आतिथ्यायाः प्राग्वशो देशः अग्नीषोमीयस्य तूच्च-रूवेदि । एव च देशभेदेन स्तरणभेदे सति तत्सन्निपातिनो मन्त्रस्य पुनः पाठः आवश्यक इति ।

एतदभिप्रेत्याह तेषामिति । 'तेषां' बर्हिषा—'स्तरणे'—'मन्त्रान्'—'पुनः' 'पठेत्'—नात्र प्रसङ्गसिद्धिरित्याशयः ॥ २० ॥

( २१ ) १२।१।४५—४६ तेषां पशौ सन्नहनं न मन्त्रवत्

( १ ) पुराधिकरणपवादः ।

( २ ) आतिथ्यादेशः संस्कृतं बर्हिः सन्नह्यं कदाचित् अग्नीषोमीयदेशे नीयते । सन्नहने प्रथमे च मन्त्रावाप्तातौ—'इन्द्रायै सन्नहनम्' इति—'बृहस्पते मूर्ध्ना हरामि' इति ।

( ३ ) तत्र सशय — अग्नीषोमीयदेशे नीयमाने बर्हिषि एतौ मन्त्रौ पुनः प्रयोक्तव्यावुत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पुनः प्रयोक्तव्यौ मन्त्राविति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—प्रकृतो लवनदेशादानयने तौ मन्त्रौ दृष्टौ—न तु गार्हपत्यादाहवनीयं प्रत्यानयने । अतोऽत्रापि आतिथ्यादेशात् प्राग्वशात् अग्नीषोमीयदेशे उत्तरवेदिम् प्रत्यानयने तौ मन्त्रौ चोदकप्राप्तावेव न भवतः । तस्मान्न पठन्नीयाविति ।

एतदभिप्रेत्याह तेषामिति । 'पशौ' अग्नोषोमीये नीयमानानां 'नेषाम्' बर्हिषाम्- 'सन्नहन' 'मन्त्रवत्' मन्त्रोच्चारणपूर्वक- 'न' भवतीति तत्र ॥२१॥

एकाधिका विंशतिनीतयोऽत्र

विविच्य भाष्यादिषु सम्प्रदिष्टा ॥

एकविंशतिन्याया अत्रेत्यर्थः ॥

इति द्वादशसूय प्रथम ।



## अथ द्वादशस्य द्वितीयः पादः ।-

| तन्निर्णयपर |

(१) १२।२।१-७ त्रेताया श्रौतकर्म

(१) प्रासङ्गिको विचार ।

(२) अस्त्यग्नित्रयम् गार्हपत्यदक्षिणाग्राहवनीयरूप 'विहार' शब्दवाच्यम् ।

(३) तत्र सन्देह — किमस्मिन्नग्नित्रये लौकिकानि कर्माग्यनुष्ठायन्ते उत वैदिकानि-उत सर्वाणि लौकिकानि वैदिकानि चेति ।

(४) पूर्वपक्षः — सवत्र शक्त्यान् सर्वाणि इति ।

(५) सिद्धान्तः — 'गार्हपत्यं हवींषि श्रपयन्ति' — 'दक्षिणाग्राहवना हार्यं पचति' — 'ग्राहवनीये जुह्वति' इत्येतादृशैः प्रत्यक्षैश्चनैर्निर्गताऽङ्गाणां गार्हपत्यादीनां लौकिकाथन्व नापपद्यत । तस्माद् वैदिकाग्निहोत्रादिकर्मार्थमेवाग्नित्रयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह त्रेतायामिति । 'त्रेतायाम्' अग्नित्रये 'श्रौतम्' वैदिकमेव 'कर्म' कर्तव्यम्-न लौकिकमिति भावः ॥ १ ॥

(२) १२।२।८-१० पुरोडाशः क्रतोः पशौ ।

(१) प्रासङ्गिकोऽतिदेशविचारः ।

(२) अग्नोषोमीये पशौ पुरोडाशो विहितः । सवनीय पशुरग्नोषोमीयस्य विकृतिः ।

(३) तत्र सन्देह — विकृतौ सवनीये चोदकप्राप्त पुरोडाशः कर्तव्यः उत नेति ।

(४) पूर्वपक्षः — 'अनुसर्जनं सवनीया पुरोडाशा निरूप्यन्ते, अपि हित्या अच्छिद्रतायै' इति सवनीये छिद्रपिधानार्थं पुरोडाशं पृथगे

वोक्त । तेनैवास्य कृतार्थत्वान्नात्र चोदकेन अग्नीषोमीयपुरोडाशस्य प्राप्तिरिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — पुरोडाशस्य पशुदेवतासस्कारार्थत्वं दशमीयनवमाधिकरणे स्थितम् । छिद्रपिधानवाक्य त्वर्थवाद । तस्माच्चोदकप्राप्तपुरोडाशं कर्तव्य इति ।

एतदभिप्रत्याह पुरोडाश इति । 'क्रतो' प्रकृतिभूतस्याग्नीषोमीयपशुयागस्य 'पुरोडाश'—'पशौ' सवनीये पशौ—चोदकप्राप्त कर्तव्य इति शेष २

( ३ ) १२।२।११ सवनीये हविष्कृत्

( १ ) पूर्वाधिकरणापवादरूपो बाध ।

( २ ) अस्त्याग्नेयपुरोडाशे हविष्कृदाह्वानम् । तच्च सवनीये चोदकप्राप्तम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह — सवनीये हविष्कृदाह्वानं भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — चोदकप्राप्तत्वाद् भवत्येवेति ।

( ५ ) सिद्धान्त — औपधार्थं हि हविष्कृदाह्वानम् । तच्च पशौ नास्तीति न हविष्कृदाह्वानं सवनीये इति ।

एतदभिप्रत्याह सवनीये इति । 'सवनीये' पशौ—'हविष्कृत्' हविष्कृदाह्वान—'न' भवति इति सम्बन्ध ॥ ३ ॥

•( ४ ) १२।२।१२—१३ तार्तीयेष्वपि नैव सा ।

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) अस्ति तृतीयसवने चरु सौम्य ।

( ३ ) तत्र सन्देह — अस्मिन् तृतीय सवने हविष्कृदाह्वानं भवति न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — चरोरौषधत्वादस्त्येवात्र हविष्कृत् । अग्नीषोमीयपश्वर्थमाहृता सा पशुपाकसम्पत्त्यनन्तरं निवृत्ता । तस्मादस्ति तृतीयसवने तस्या पुनराह्वानमिति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—प्रकृतौ पत्नीसयाजेभ्य पश्चात् हविष्कृज्याः पत्न्या ऊधान वाक्येन विहितम् । पशावपि तस्मात् प्राक् न भवति तस्या निवृत्तिः । तस्मात् तत्कालीनेषु सौर्यचर्वादिषु नास्ति तस्या पुनराह्वानमिति ।

एतदभिप्रत्याह तार्तीयेष्विति । 'तार्तीयेषु' तृतीयसवने ये चरवस्तेषु—'सा' हविष्कृत्—'न' पुनराहृतव्येति शेष ॥ ४ ॥

( ५ ) १२।२।१४—१८ निशीष्टिर्दर्शतन्त्रा स्यात्

सामिधेन्यादिकं विना

( १ ) तन्त्रित्वचिन्ता प्रसङ्गार्थं प्रवर्तते ।

( २ ) अग्नये रक्षोघ्ने पुरोडाशमष्टाकपाल निर्वपत् यो रक्षोभ्यो विभीयात्' इति विधाय इदमाप्नातम्—'अमावास्याया निशि यजेत' इति ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किमेतस्मिन् निशियागे दर्शयागस्याङ्गतन्त्रम् ( इतिकर्तव्यता ) प्रसङ्गेन वर्तते न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —दर्शतन्त्रमञ्च न प्रसज्यते—दर्शतन्त्रमध्य हि रक्षोघ्नभागस्य विभिन्नं श्रूयते । प्रकरणयोश्च भेद इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —अमावास्याकाले निशियागो विहितः । तस्मिन्च काले दर्शयाग प्रकान्तः । अतस्तत्रैव रात्रौ क्रियमाणो निशियाग दर्शतन्त्रमध्यपातो भवत्यत्र । तस्मादस्मिन् प्रसङ्गमिद्विगितिः ।

एतदभिप्रेत्याह निशीति । 'निशीष्टि' अमावास्यानिशि विहितो याग —'दर्शतन्त्र' प्रसङ्गेन दर्शाङ्गौ ऋतोपकारा—'स्यात्' किन्तु 'सामिधेन्यादिकं विना' । दर्शमध्ये यत् सामिधेनीमन्त्रपाठपूर्वकमग्निस्मिन् न देवतापरिग्रहार्थमन्वाधानं च विहितं तदेवविधं कतिपयमङ्गजातं निशियागे न प्रसज्यते—अन्यत्तु सर्वं दार्शिकं प्रसङ्गेनोपकरान्यत्र न यागमित्यर्थः ॥ ५ ॥

( ६ ) १२।२।१९-२१ आरम्भणीया विकृतौ ।

( १ ) प्रसङ्गाधोदाहरणम् ।

( २ ) दर्शपूर्णमासयोः प्रथमप्रयोगस्यैवोपक्रमे आरम्भणीया कर्तृसंस्कारार्था भवति—न प्रयोगान्तरस्योपक्रमे—इति नवमीप्रथमपादौ यैकादशाधिकरणे निर्णीतम् ।

( ३ ) तत्र सन्देह —दर्शपूर्णमासस्य विकृतिषु भवति न वा आरम्भणीयेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —यथा प्रथमप्रयोगे एव कृतया आरम्भणीयया यावज्जीवव्यापिकर्तृसंस्कारे सिद्धे न भवति तदपेक्षा द्वितीयादिप्रयोगेषु—तथैव यावज्जीवलक्षणप्रकृतिकालमध्यपातिनीनां विकृतीनां नार्यारम्भणीयापेक्षा इति प्रसङ्ग एवात्रेति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—दर्शपूर्णमासावारप्लवमानस्यैव पुरुषस्यारम्भणीया विहिता । तस्मात् सा कर्तव्या । सौर्यादिविकृतयस्तु प्रकृतिभ्यो भिन्ना नि कर्तव्यतराणि । एवं च प्रयोगभेदात् विकृतौ कर्तव्या भवत्यारम्भणीया । तस्मान्नास्त्यत्र प्रसङ्ग इति ।

एतदभिप्रेत्याह आरम्भणीयेति । 'विकृतौ' सौर्यादौ—'आरम्भणी

या'-पृथगेवानुष्ठेयेति भाव ॥ ६ ॥

(८) १२।२।२२ विरोधे बहुधर्मता

(१) प्रसङ्गप्रासङ्गिकी चिन्ता ।

(२) पञ्चदशरात्रस्य अग्निष्टुत् प्रथममह —तस्य एकाह रूपोऽग्नि  
ष्टुत् प्रकृति —तत्रोपसत्कालीनसुब्रह्मण्याह्वानार्थम् ऋग् विहिता । त  
देतत् विकृतिरूपे प्रथमेऽहनि प्राप्नोति—इतरेषु च चतुर्दशसु अहस्सु  
स्वस्वप्रकृत्यनुसारेण सुब्रह्मण्याह्वानार्थम् ऐन्द्री ऋक् प्राप्ता ॥

(३) एव सति सन्देह —प्रसङ्गेन सर्वोपकारसाधिका कतरा—आ  
ग्नेयी ऐन्द्री वा—ग्राह्येति ।

(४) पूर्वपक्ष —असंज्ञातविरोधित्वात् प्रथमस्याह प्रबलत्वात् प्रा  
थमिका आग्नेयेव सुब्रह्मण्या ग्राह्येति ।

(५) सिद्धान्त —आग्नेयी एकस्यैव प्रथमस्याहोऽनुगुणा—ऐन्द्री तु  
बहूना चतुर्दशानामहामनुगुणा । बहूना परस्परविरुद्धधर्माणां समवाये  
ऽन्यतमानुष्ठानप्रसक्तौ भूयस्सु यो धर्म स एव ग्राह्य । तस्मा  
दत्र पञ्चदशानामध्ये चतुर्दशानामनुगुणा ऐन्द्री एव सुब्रह्मण्या  
ग्राह्येति ।

एतदभिप्रेत्याह विरोध इति । 'विरोधे' बहूना प्रधानानां विरुद्धधर्माणां  
प्रसक्तौ सत्याम् 'बहुधर्मता' बहूनामनुगुणो यो धर्म स्यात् स एव ग्राह्य  
इत्यर्थ ॥ ७ ॥

(८) १२।२।२३-२४ समेषु मुख्यधर्मः स्यात् ।

(१) पूर्वाधिकरणशेष ।

पूर्वाधिकरणे विषमसङ्ख्यकानां प्रधानानां धर्मयोर्विरोधो विचारितः ।  
अधुना समसङ्ख्यकानां प्रधानानां धर्माणां विरोधो विचार्यते ।

(२) 'अग्नावैष्णवमेकादशकपाल निर्वपेत्'—'सारस्वतमाज्यस्य  
यजेत' । तत्रैकस्मिन्नग्नावैष्णवे ऐन्द्राग्नप्रकृतिके वृध्वन्वनीमन्त्र —ए  
कस्यामेव च सारस्वत्यामुपाशुयाजप्रकृतिकाया वार्त्रघ्नमन्त्र ।

(३) तत्र सशय —कतरो मन्त्र प्रयोक्तव्य इति ।

(४) पूर्वपक्ष —तुल्यबलत्वाद् विकल्प इति ।

(५) सिद्धान्त —अग्नावैष्णवस्य प्रथमपठितत्वात् मुख्यत्वम् ।

ततश्च तद्गतस्यैव मन्त्रस्य प्रयोग इति ।

एतदभिप्रेत्याह समेति । 'समेषु' समसङ्ख्यकत्वात् तुल्यबलेषु विरुद्ध  
धर्मेषु—'मुख्यधर्म'—'मुख्यस्य' प्राथमिकस्यैव 'धर्म' मन्त्रादिः 'स्यात्'—  
अनुष्ठेय इति शेष ॥ ८ ॥

(९) २।२।२५ प्रधानस्य गुणो बली

(१) पूर्वाधिकरणशेष ।

(२) ज्योतिष्टोमे--अङ्गभूताया दीक्षणीयेष्टे पर्वणि कर्तव्यता-प्रधानभूतस्य सोमस्यापि पर्वण्येव कर्तव्यता । सामान्यतस्तन्मयोरप्यनुष्ठानं सम्भवति । परन्तु यस्मिन् ज्योतिष्टोमप्रयोगे 'एका दीक्षा तिस्र उपसद पञ्चमीप्रसुत' इत्येष कल्पो भवति तत्र दीक्षासोमयोरैकस्मिन्नेव दिनेऽनुष्ठानं न सम्भवति । एव सति अङ्गप्रधानयोर्दीक्षेष्टिसोमयो विरोधे-

(३) सशय -- कतरस्य बाधः कतरस्यानुष्ठानमिति ।

(४) पूर्वपक्ष -- पूर्वाधिकरणन्यायेन प्रथमपठितत्वात् दीक्षणीयेष्टे रेवानुष्ठानमिति ।

(५) सिद्धान्तः--प्रधानत्वात् सोम एव पर्वण्यनुष्ठेयः । तदनुसारेणाङ्गभूता दीक्षणीयेष्टिर्दिनान्तरेऽपकुर्यते-इति ।

एतदभिप्रेत्याह प्रधानस्येति । यदा अङ्गप्रधानगुणयोर्विरोधो भवति तत्र 'प्रधानस्यैव' 'गुणः' 'बली' प्रवत्त्वादनुष्ठेय इत्यर्थः ॥ ९ ॥

(१०) २।२।२६ द्वयोर्गुणाः स्युः परिधौ ।

(१) पूर्वाधिकरणपवादः ।

(२) पशुमत्सु चातुर्मास्येषु श्रूयते-'परिधौ पशो नियुञ्जन्ति' । सन्ति मार्जनादयः परिधेः स्वकीया धर्माः । प्रकृतौ तु यूपे नियुञ्जन्ति-सन्ति च प्रोक्षणादयो यूपधर्माः ।

(३) तत्र सन्देहः--परिधौ किं स्वकीयधर्मा यूपधर्माश्चानुष्ठेया उत स्वकीयधर्मा एवेति ।

(४) पूर्वपक्षः--मुख्यत्वात् स्वकीया एवानुष्ठेयाः । ननु यूपधर्मा तेषां परिधिः प्रत्यमुख्यत्वादिति ।

(५) सिद्धान्तः--यथाऽग्निपरिधानार्थत्वेन मार्जनादीनां परिधिधर्माणामनुष्ठानं तथैव यूपकार्यं नियोजने परिधिविधानेन यूपधर्माणां प्रोक्षणीयादीनामप्यनुष्ठानमिति द्वयारेव धर्मा अनुष्ठेया इति ।

एतदभिप्रत्याह द्वयोरिति । 'परिधौ' पशुनियोजनार्थं विहिते-'द्वयोः' परिधेः यूपस्य च 'गुणाः' धर्मा--मार्जनादयः प्रोक्षणादयश्च-'स्युः'-अनुष्ठेया इति शेषः ॥ १० ॥

(११) २।२।२७-२९ विरोधे परिधेर्गुणाः

(१) पूर्वाधिकरणशेषः ।

(२) यूपधर्माः परिधानुष्ठेया इति स्थितम्, सन्ति च केचिद्

यूपधर्मा—तत्क्षणोच्छ्रयणादयः—ये कैश्चित् परिधिधर्मे त्वक्सहितत्वशया  
नत्वादिभिर्विरुद्धा ।

( ३ ) तत्र सशय—किमेते विरुद्धा आप यूपधर्मा परिधौ कार्या  
उत नेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष --यागसाधकस्य पशोरङ्गे यूपे वर्तमानत्वाद् यूपध  
र्मा यागस्य प्रत्यासन्नतरा परिधिधर्मापेक्षया । तस्माद् विरोधे सति  
यूपधर्मा एव कार्या न परिधिधर्मा इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —तत्क्षणादिना परिधिस्वरूपमेव नश्येत् । तथासति  
परिधौ विहितं पशुनियोजनं कुत्र क्रियेत् । तस्मात् परिधिधर्मा कार्या न  
यूपधर्मा इति ।

एतदभिप्रेत्याह विरोधे इति । 'विरोधे' यत्र यूपधर्मपरिधिधर्मयो  
परस्पर विरोधः तत्र—'परिधे' एव—'गुणा' धर्मा—अनुष्ठेया—न यूप  
धर्मा इत्यर्थः ॥ ११ ॥

( १२ ) १२।२।३०—३२ सवनीये पशोस्तन्त्रम् । \*

( १ ) तन्त्रित्वविचारोऽनुवर्तते ।

( २ ) 'प्रातस्सवने आग्नेय पशुमुपाकरोति' इति सवनीय पशु  
श्रुतं । तस्याङ्गकलापः प्रकृतिगतश्चोदकप्राप्तः । तथाच 'अनुसवने  
पुरोडाशान् निर्वपन्ति' इति विहितस्य पुरोडाशयागस्याङ्गकलापप्रा  
प्तिरपि चोदकादेव प्राप्ता ।

( ३ ) तत्र सशय --सवनीये प्राप्तयो पशुप्रयोग-पुरोडाशप्रयोगयो  
कतरस्तन्त्री यस्य प्रयोगोऽनुष्ठीयेत सवनीये इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष --यस्याङ्गकलापः प्रत्यक्षतया श्रूयते स तन्त्री—  
तन्मध्यं श्रूयमाणस्य च यागान्तरस्य पूर्वतन्त्रैरेव प्रसङ्गसिद्धिरिति  
नियमः । प्रकृते तु पशौ पुरोडाशे वा कुत्राप्यङ्गकलापो न श्रूयते ।  
तस्मान्नियमे प्रमाणाभावात् पशो पुरोडाशस्य वा प्रयोगोऽनुष्ठेय इति  
विकल्प इति ।

( ५ ) सिद्धान्त --पाशुकमेव तन्त्रमनुष्ठेयम्—न विकल्पः । पाशुक  
मेव तन्त्रं सविशेषं श्रूयते । तथाहि सवनीयपशौ चोदकप्राप्ते मैत्रावरुण  
ग्रैवे पाठविकारः प्रत्यक्षमाप्नोत्यते--'अयं यजमान' इत्यस्य स्थाने 'अयं  
सुतासुतो यजमान' इति पाठविकारो विशेषितः । तस्मात् पशुरेवात्र  
तन्त्रीति ।

एतदभिप्रेत्याह सवनीय इति । 'सवनीये' पशौ—'पशो' पाशुकमेव—  
'तन्त्रम्' प्रयोग—तस्मात् पशुरेवात्र तन्त्री पुरोडाशस्तु तन्मध्यपाती  
प्रसङ्ग्येवेत्याशयः ॥ १२ ॥



(१३) १२।२।३३ काम्ये तन्त्रन्तु वैकृतम्

(१) तन्त्रित्वविचारो वर्तते ।

(२) अस्ति दर्शपूर्णमासेष्टि प्रकृति—अस्ति च तद्विकृति काम्येष्टि ।

(३) तत्र संशय—यदोमयोरनुष्ठान सहैव पर्वणि भवति—यदा प्रकृतिविकृत्योरेकस्मिन्नेव दिने सन्निपातः—तदा प्राकृत तन्त्रमनुष्ठेयमुत विकृतमिति ।

(४) पूर्वपक्ष—प्रकृतिरेव पूर्वं प्रयुज्यते । यच्च पूर्वं प्रयुज्यते तस्यैव तन्त्रमनुष्ठेयम्—प्राप्तकालात् । तस्मात् प्राकृतमेव तन्त्रमनुष्ठेयमिति ।

(५) सिद्धान्त—नित्यापेक्षस्य काम्यस्य शीघ्रप्रवर्तकतयाऽनुष्ठाने प्रबला विकृतिरेव तन्त्रिणीति वैकृतमेव तन्त्रमनुष्ठेयमिति ।

एतदभिप्रेत्याह काम्य इति । 'काम्ये' सति—यदा नित्यकाम्ययो प्रकृतिविकृत्योरनुष्ठानसहभावस्तदा—'वैकृतम्' विकृतिसम्बन्धि एव—'तन्त्रम्'—अनुष्ठेयमित्यर्थः ॥ १३ ॥

(१४) १२।२।३४ अमुख्योऽपि गुणो ग्राह्यो

येनान्येऽपि गुणान्विता ।

(१) तन्त्रित्वविचार एव वर्तते ।

(२) आग्नयणे ऐन्द्राग्नम्—ऐश्वदेवम्—आवापृथिव्यम् इति क्रमेण हवींषि । तत्राद्ययो पुष्पमपुष्प वा बर्हि—आवापृथिव्ये तु पुष्पितमेवा स्नातम् ।

(३) तत्र संशय—किमत्र पुष्पमपुष्प वेत्यनियम उत पुष्पमेवेति नियम इति ।

(४) पूर्वपक्ष—ऐन्द्राग्नस्य मुख्यत्वात् तदनुसारेण पुष्पमपुष्प वेत्यनियम इति ।

(५) सिद्धान्त—पुष्पितादतिरिक्तस्य बर्हिष स्वोकारे आवापृथिव्ये यत्पुष्प बर्हिरुक्तं तस्य सर्वथा लोप एव स्यात् । पुष्पस्वोकारे तु ऐन्द्राग्नवैश्वदेवयार्जुन किमपि होयेत—पुष्पस्य तयोरप्युक्तत्वात् । तस्मात् लोपपरिहाराय पुष्पमेव बर्हिरिति ।

एतदभिप्रेत्याह अमुख्य इति । द्वयोर्गुणयोर्मध्ये 'येन' गुणेन—'अन्ये पि' तद्गुणवतोऽतिरिक्ता अपि पदार्था—'गुणान्विता' सगुणा—स 'गुण' यद्यपि 'अमुख्य' तथापि 'ग्राह्य' । ययोदाहरणे पुष्परूपो गुणो यद्यपि न मुख्यस्तथाऽपि तेन गृहीतेन अन्येऽपि ऐन्द्राग्नवैश्वदेवाद्यो गुणान्विता विहितेन गुणेन पुष्परूपबर्हिषा सहिता भवन्ति—इत्यस्मात् कारणात् स एव पुष्परूपो गुणो ग्राह्य इति सम्बन्धः ॥ १४ ॥

(१५) १२।२।३५-३७ न द्यावापृथिवीयस्य

तन्त्रिताऽऽग्रयणे भवेत्

( १ ) तन्त्रित्वविचार पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) पुष्पमेव ग्रहीर्भवतीति स्थितम् ।

( ३ ) पुन सशय — आग्रयणे कि द्यावापृथिवीयस्यैव तन्त्रमनुष्ठेयमिति नियम — उत ऐन्द्राग्नस्य वा वैश्वदेवस्य वा द्यावापृथिवीयस्य वेत्यनियम इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — द्यावापृथिवीयस्यैव वह्निष पुष्पस्य गृहीतत्वात् तन्त्रमपि द्यावापृथिवीयस्यैवानुष्ठेयमिति नियमोऽस्तीति ।

( ५ ) सिद्धान्त — पुष्प बर्हिरतिदेशप्राप्त न तन्त्रितामापादयति । यत्र कस्याप्येकस्यैव तन्त्रितास्वीकारे प्रमाणाभावादित्यम एवेति ।

एतदभिप्रत्याह नेति । 'आग्रयणे'—'द्यावापृथिवीयस्य' एव 'तन्त्रिता' 'न' 'भवेत्'—द्यावापृथिवीयस्यैव तन्त्रमनुष्ठेयमिति नियमो नास्तीत्यर्थ ॥ १५ ॥

पादे पञ्चदश न्याया

भाष्यकारेण वर्णिता ।

स्पष्टम् ।

इति द्वादशस्य द्वितीय ।

### अथ द्वादशस्य तृतीयपादः

समुच्चय-तदपवादभूतविकल्प-विचारः

(१) १२।३।१-२ धार्या क्तमत्वक् पुरोक्ताहत च

( १ ) समुच्चयचिन्ता प्रवर्तते ।

( २ ) अष्टरात्रे प्रथममह विश्वजिन्नामकम्—तत् षडहो ज्योतिर्नामक — ततोऽष्टममह अभिजिन्नामकम् । विश्वजिन्नामके प्रकृति यागे परिधानार्था वत्सत्वात् विहिता—सा च विश्वजिदिति नामसाम्येन अष्टरात्रस्य प्रथमेऽहनि विश्वजिन्नामकेऽतिदेशेन प्राप्ता । ज्योतिष्टोमे च परिधानार्थमहत वासो विहितम्—तच्च ज्योतिरिति नामसाम्येन अष्टरात्रस्य द्वितीयभागे षडहेऽतिदेशेन प्राप्तम् । पुन अष्टरात्रस्यातिमे भागेऽभिजिन्नामकेऽपि वास एवातिदेशेन प्राप्तम् । सर्वत्र च नामातिदेशेनैव परिधानस्य प्राप्ति ।

( ३ ) तत्र सशय — कि वत्सत्वाद् धार्याऽथवाऽहत वासो धार्यमिति

विकल्प — उत द्वयमपि धार्यमिति समुच्चय इति ।

(४) पूर्वपक्ष — नामातिदेशस्य सर्वत्र समग्रत्वाद् विकल्प एवेति ।

(५) सिद्धान्त — अथ परिधानाय वासो योग्यतरं भवति ऊर्ध्वान्नप्रावरणाय च वत्सत्वम् योग्यतरम् । तस्मादुभयत्रोपकारकत्वाद् द्वयोरपि समुच्चय इति ।

एतदभिप्रेत्याह धार्येति । 'वत्सत्वम्' 'धार्या' परिधानीया 'गुणैः' प्राकृतं ज्योतिष्टोमात्प्राप्तम् 'अहत' वास इति शेष — अपि परिधानीयम् । एव च सति समुच्चय एवाश्रयणीय इत्याशयः ॥ १ ॥

(२) १२।३।३-८ न स्यात् तन्त्र देवसूनाम्परार्थम् ।

(१) तन्त्रिताविचारोऽनुवर्तते ।

(२) अग्नौ श्रूयते — 'अग्नीषोमोयपशुपुरोडाशमनु' अष्टौ देवसूना हवींषि निर्वपति' इति ।

(३) तत्र सशय — तन्त्रित्वमत्र किं देवसूना हविषाम् — उत पशुपुरोडाशस्येति ।

(४) पूर्वपक्ष — अष्टहविषामनुनिर्वाण्याणां बहुत्वात् तेषामेव तन्त्रित्वम् । तेषामेव तन्त्र पुरोडाशे प्रसज्यते इति ।

(५) सिद्धान्त — पशुपुरोडाशस्यैव तन्त्रित्वम् । तस्यैव पूर्वश्रुतत्वाभिरुच्यत्वम् — अष्टहवींष्यनुनिर्वाण्याणि पुरोडाशात् पश्चादागन्तुन्ति तस्मादागन्तुकत्वादमुच्यन्ति तानि इति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'देवसूनाम्' अनुनिर्वाण्याणां अष्टहविषाम् — 'तन्त्र' 'परार्थम्' पशुपुरोडाशार्थं न स्यात् । अनुनिर्वाण्याणां तन्त्र पुरोडाशे न निविशते — पुरोडाशे स्वकीया धर्मा अनुष्ठायन्ते इत्याशयः ॥ २ ॥

(३) १२।३।९ कर्मण्येकस्मिन् गुणा स्युः समस्ताः

(१) समुच्चयोदाहरणम् ।

(२) दर्शपूर्णमासयाराभ्यायने — 'ऋजुमात्रारयति सन्ततमाधारयति — ऊर्ध्वमाधारयति' इति ।

(३) तत्र सशय — ऋजुत्वादीनां त्रयाणामत्र समुच्चय उत विकल्प इति ।

(४) पूर्वपक्ष — आधारद्वारा तेषां कार्यस्यैकत्वात् विकल्प इति ।

(५) सिद्धान्त — दृष्टद्वारभेदाभावेऽप्यदृष्टद्वारभेदात् सहानुष्ठानसम्भवाच्च न विकल्पोऽपि तु समुच्चय एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह कर्मणीति । 'एकस्मिन् कर्मणि' आधारे — 'गुणा' अनेके ऋजुत्वादयः — 'समस्ता' समुच्चिता — 'स्युः' भवेयुः — अतो न विकल्प इत्याशयः ॥ ३ ॥

(४) १२।३।१०-१५ कार्यैकत्वे स्याद् गुणाना विकल्पः ।

(१) पूर्वाधिकरणशेषस्तदपवादरूप ।

(२) 'यवैर्यजेत' 'व्रीहिभिर्यजेत' इति यवा व्रीहयश्च विहिता ।

(३) तत्र सशय — किमनयोर्विकल्प उत समुच्चय इति ।

(४) पूर्वपक्ष — पूर्वाधिकरणन्यायेन समुच्चय इति ।

(५) सिद्धान्त — पुरोडाशनिष्पादनमेवैक कार्यमुभयो । 'यवैर्यजेत' इत्यत्र व्रीहिनिरपेक्षाणा यवाना तत्साधनत्वमुच्यते—'व्रीहिभिर्यजेत' इत्यत्र च यवनिरपेक्षाणा व्रीहोणा तत्साधनत्वम् । तथा सत्युभयोरेक कार्यत्वाद् विकल्प इति ।

एतदभिप्रेत्याह—कार्येति । 'कार्यैकत्वे' यदा बहूनामेकमेव कार्यं सम्पादनीयं तदा—'गुणाना' धर्माणा—'विकल्प' एव स्यात्—न तु समुच्चय इत्यर्थः ॥ ४ ॥

(५) १२।३।१६ प्रायश्चित्तं स्याद् विकल्पेन नाशे

(१) विकल्पोदाहरणम् ।

(२) दर्शपूर्णमासयोरनुष्ठाने प्रायश्चित्तद्वयं श्रूयते—वेश्वानर द्वा दशकपाल निर्यपदमात्रास्या वा पौर्णमासी वाऽतिपात्य'—'अग्नये पथि कृते पुरोडाशमष्टाकपालं निवपेत् यो दर्शपूर्णमासयाजो सन्नमावास्या वा पौर्णमासी वाऽतिपातयेत्' इति च ।

(३) तत्र सशय — प्रायश्चित्तयोर्विकल्प उत समुच्चय इति ।

(४) पूर्वपक्ष — अत्र दृष्टप्रयोजनाभावात् अदृष्टार्थमुभय समुच्चित्यानुष्ठेयमिति ।

(५) सिद्धान्त — विहिताकरणजन्यदोषसमाधानं दृष्टमेव प्रयोजनं प्रायश्चित्तयो । उभयोश्च यवव्रीहिवदन्योन्यनिरपेक्षत्वाद् विकल्प एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह प्रायश्चित्तमिति । 'नाश' शब्दस्य केनचिद्धेतुना वैगुण्ये सति 'प्रायश्चित्त' 'विकल्पेन' स्यात् । यत्र दोषसमाधानार्थान्यनेक प्रायश्चित्तानि विहितानि तत्र विकल्प एवेत्यर्थः ॥ ५ ॥

(६) १२।३।१७ नैमित्तं चेत्तत् समुच्चयमेव ।

(१) पूर्वाधिकरणशेषस्तदपवादरूप ।

(२) कश्चित्तु निमित्तभेदेनानेकानि प्रायश्चित्तानि श्रूयन्ते—यथा 'भिन्ने जुहोति' स्कन्ने जुहोति' इत्यादीनि ।

(३) तत्र सशय — एतेषा विकल्प उत समुच्चयः ।

(४) पूर्वपक्ष — स्कन्दादिजन्यदोषसमाधानार्थत्वात् प्रायश्चित्तानां पूर्ववद् विकल्प इति ।

( ५ ) सिद्धान्त—दोषसयोगमनुपपन्नस्य स्कन्धनादिनिमित्तमुपजी व्यात्र प्रायश्चित्तानि विधीयन्ते । तस्मात् निमित्तानेकत्वे नैमित्तिकाना मप्यनेकेषां कर्तव्यत्वात्समुच्चय एव प्रायश्चित्तानामिति ।

एतदभिप्रेत्याह नैमित्तमिति । 'तत्' प्रायश्चित्त- 'नैमित्त चेत्' अनेक निमित्तक यदा विधीयते तदा- 'समुन्वेयम्' 'पत्र' नतु प्रिकल्पनाय मित्याशय ॥ ६ ॥

( ७ ) १२।३।१८-१९ पाठोऽनध्यायेऽपि मन्त्रोऽ-परादौ

( १ ) अनुष्ठाने मन्त्रोच्चारणविषयो विचार प्रासङ्गिको वर्तते ।

( २ ) सन्ति कर्मानुष्ठाने पठनीया मन्त्रा । अस्ति चानध्याय योद कर्मन्त्रपाठनिषेध ।

( ३ ) तत्र सशय —पर्वण्यनध्याये यदा कर्मानुष्ठाने तदा मन्त्र पाठ कर्तव्य उत नति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —'पर्वणि नाव्येयम्' इति निषेधप्रलादनध्याय क्रतु प्रयोगे मन्त्रपाठो नास्ति इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —निषेधस्याध्ययनाध्यापनविषयत्वात् क्रतुप्रयोगे निषेधाभाव । तस्मादनध्यायेऽपि क्रतुप्रयोगेऽस्म्येव मन्त्रपाठ इति ।

एतदभिप्रेत्याह—पाठ्य इति । 'अध्यापनादौ' यज्ञानुष्ठानादौ- 'अन ध्यायेऽपि' यस्मिन् दिने वेदाध्ययन निषिद्ध तस्मिन्नपि दिने -'मन्त्र' , कर्माङ्गभूत -'पाठ्य' पठनीय एवेत्यर्थ ॥ ७ ॥

( ८ ) १२।३।२०-२२ मन्त्रोच्चारं भाषिको न स्वरः स्यात् ।

( १ ) मन्त्रपाठविचारो वर्तते ।

( २ ) मन्त्रोच्चारणे तत्तच्छास्त्रीयब्राह्मणस्वरौ वर्तते । अस्य स्वरस्य पारिभाषिक नाम 'भाषिक' इति । मन्त्रपाठे चास्ति मन्त्रेषु प्रावचनिक स्वरत्रयम् ।

( ३ ) तत्र सशय,—क्रतुप्रयोगे यदा मन्त्र उच्चार्यते तदा तत्र भाषि कस्वर प्रयोक्तव्यो न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —ब्राह्मणेनोक्तत्वात् भाषिक स्वरोऽप्यप्रयोक्तव्य इति ।

( ५ ) सिद्धान्त —कर्मकालिकमन्त्रोच्चारणे भाषिकस्वरौ न प्रयो क्तव्य । ब्राह्मणे हि 'इमामगृभ्यन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते' इत्यादौ स्वरौ नोपदिश्यते—केवलमन्त्र प्रदर्शयित तस्य मन्त्रकाण्डप ठितान्यत्तराण्यनूद्यन्ते इति । तस्मात् त्रैस्वर्येणैवोच्चारणं न भाषिक स्वरेणेति ।

एतदभिप्रेत्याह—मन्त्रेति । 'मन्त्रोच्चारं' कर्मानुष्ठानकाले यन्मन्त्रो 'उच्चारणं क्रियते तस्मिन्—'भाषिक स्वर' तत्तच्छास्त्रीयब्राह्मणस्वर -

‘न स्यात्-’ प्रयोक्तव्य इति शेषं -अपि तु प्रावचनिक स्वरत्रयमेव प्रयोक्तव्यमिति ॥ ८ ॥

(९) १२।३।२३-२४ स्यादेवायम्ब्राह्मणोत्पन्नमन्त्रे

( १ ) पूर्वाधिकरणपवाद ।

( २ ) मन्त्रकारणपठिता मन्त्रा यान् प्रकृत्य ब्राह्मणेषूपदेशो लभ्यते तेषां विचार पर्यवसित । कर्मकाले तेषां प्रयोगे स्वरो न प्रयोक्तव्य इति स्थितम् । सन्ति च केचिन्मन्त्रा ये मन्त्रकारणे न पठिता अपि तु ब्राह्मणे एव पठिता -यथा ‘वानस्पत्योऽसि’ इति । तान् प्रति-

( ३ ) सशय ---एतेषु भाषिक स्वर प्रयोक्तव्यो न वेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष ---पूर्वाधिकरणन्यायेन नैव प्रयोक्तव्य स्वर इति ।

( ५ ) सिद्धान्त ---येषां मन्त्राणां मन्त्रकारणे पाठ एव नास्ति तेषां नास्ति प्रावचनिक त्रैस्वर्यम् । तस्मात् तेषामुच्चारणे प्रयोक्तव्य एव भवति भाषिक स्वर इति ।

एतदभिप्रेत्याह---स्यादिति । ‘ब्राह्मणोत्पन्नमन्त्रे’ यस्य मन्त्रस्य मन्त्रकारणे पाठो नोपलभ्यते यस्य चाक्षराणि ब्राह्मणमात्रे समुपलभ्यन्ते तस्मिन् मन्त्रे-‘अयम्’ भाषिक स्वर -‘स्यात् एव’-तत्र प्रावचनिकस्य स्वरस्याभावादित्यर्थः ॥ ९ ॥

(१०) १२।३।२५ मन्त्रान्ते स्यात् कर्मणः सन्निपात’ ।

( १ ) म ओच्चारणविषयक एव विचारो वर्तते ।

( २ ) ‘इषे त्वा’ इति मन्त्र शाखाच्छेदे करणम्-‘इमामगृभ्णन्’ इति रशनादाने इत्यादि ।

( ३ ) तत्र सशय ---कर्मणोऽनुष्ठान किं मन्त्रोच्चारणात् प्रागेव उत पश्चादेव उत यदा कदाचिदनियमेन इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष ---नियामकाभावादनियम इति ।

( ५ ) सिद्धान्त ---कृत्स्नमन्त्रजन्यमर्थस्मरण कर्मणोऽङ्गम् । तच्च मन्त्रोच्चारणसमाप्ते प्राक् नोदेति । विलम्बे चोत्पन्न स्मरण विनश्येत् । तस्मात् मन्त्रस्यान्ते एव कर्मानुष्ठानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह---मन्त्रेति । ‘मन्त्रान्ते’ मन्त्रोच्चारणस्य समाप्तौ-‘कर्मण’ यस्मिन् कर्मणि स मन्त्रो विहितस्तस्य-‘सन्निपात’ अनुष्ठान-‘स्यात्’ इति सम्बन्धः ॥ १० ॥

(११) १२।३।२६-२७ धारायागेऽप्येवमेव क्रमः स्यात्

( १ ) पूर्वाधिकरणशेष ।

( २ ) ‘सन्तर्तां वसोर्धारा जुहोति’ इत्यग्नौ विहितम् । [ ‘सान्तत्य’

चात्राविच्छिन्नत्वम् । ।

(३) सशय — होमो मन्त्रात् प्रागुत पश्चादुतानियम इति ।

(४) पूर्वपक्ष — विहित सान्तत्य मन्त्रहोमयोर्युगपदुपक्रमे एव सम्भवति । तस्मान्मन्त्रादावेव होमारम्भ इति ।

(५) सिद्धान्त — वसोर्धाराख्ये कर्मणि 'द्वादश द्वादशानि जुहोति' इति श्रुतम् । 'वाजश्च मे' इत्यन्तौर्द्वादशभिर्मन्त्रवाक्यैर्हुता आहुति 'द्वादश' शब्देनात्र विवक्षिता । एतादृशा द्वादश द्वादशाख्याहुतयो वसोर्धाराया हूयन्ते । एतेषु द्वादशसङ्ख्यकद्वादशेषु विलम्बमात्र एव सान्तत्य वसोर्धाराया । तस्मात् पूर्वधिकरणन्यायेन मन्त्रान्ते एव होमानुष्ठानमिति ।

एतदभिप्रेत्याह धारेति । 'पारायागे' वसोर्धाराख्य कर्मणि 'अपि' 'एवमेव' पूर्वाधिकरणोक्त एव—'क्रम' मन्त्रकर्मणो पौर्वापर्यम्—'स्यात्' इत्यर्थः ॥ ११ ॥

(१२) १२।३।२८ आधारे स्यादेवमेव व्यवस्था ।

(१) पूर्वाधिकरणशेष ।

(२) 'सन्ततमाधारयति' इति श्रुत आधार ।

(३) तत्र सशय — मन्त्रान्ते मन्त्रादौ वा आधारानुष्ठानमिति ।

(४) पूर्वपक्ष — अत्राहुतेरेकपात् पूर्वाधिकरणोक्त नैरन्तर्यरूप 'सान्तत्यम्' न सम्भवति । एवं च मन्त्रसाहित्यमेवात्र सान्तत्यम् । मन्त्रादावेव कर्मोपक्रम इति ।

(५) सिद्धान्त — क्षार्यमाणाज्यविन्दुनैरन्तर्यमत्र सान्तत्यम् । तथा च सति एवमेव वाक्यार्थं सम्पद्यते—'आपाराय यदाज्य जुह्वा गृहीत तत्सर्वं शनैरविच्छेदेनाहवनीयेऽग्नौ पातयेत्' इति । एव च यदि मन्त्रकर्मणो सहोपक्रम स्यात् तदा 'अनेन मन्त्रेण' इति तृतीयायुक्त पूर्वका लक्षण मन्त्रस्य करणत्व हीयेत । तस्मात् पूर्वपक्षापि मन्त्रान्ते एव कर्मोपक्रम इति ।

एतदभिप्रेत्याह—आधार इति । 'आधारे' आधारहोमे—'एवमेव' वसोर्धारा-न्यायानुसारिणी एव—'व्यवस्था' क्रमनियम 'स्यात्' इति सम्बन्धः ॥ १२ ॥

(१३) १२।३।२९ स्यादेकार्थे मन्त्रवाक्ये विकल्पः ।

(१) मन्त्रविषयका विचारोऽनुवर्तते ।

(२) पुरोडाशविभजने त्रयो मन्त्रा श्रूयन्ते—'पूषा वां विभजतु'—'भगो वा विभजतु'—'अर्यमा वां विभजतु' इति ।

(३) तत्र सशय — अत्र मन्त्राणां समुच्चय उक्त विकल्प इति ।

(४) पूर्वपक्ष—समुच्चित्यानुष्ठात शक्यत्वात् समुच्चय इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — एकस्यैव मन्त्रान्ते कर्मण उपक्रमे द्वितीयस्य प्र योजनमेव नोपपद्यते । तस्माद्विकल्प एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह स्यादिति । 'एकार्थे' एकस्यैव कार्याय विहिते-  
'मन्त्रवाक्ये' नानामन्त्ररूपे- 'विकल्प' 'स्यात्'-त समुच्चय इत्यर्थः ॥ १३ ॥

( १४ ) १२।३।३० सङ्ख्योपेतास्ते समुच्चित्य वाच्याः ।

( १ ) पूर्वाधिकरणापवादः ।

( २ ) अग्नौ श्रूयते—'ता चतुर्भिर्गृह्यते' इति ।

( ३ ) तत्र सशय — चतुर्णामन्त्राणामत्र विकल्प उत समुच्चय इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — पूर्वाधिकरणन्यायेन विकल्प इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — पूर्वस्मिन्नधिकरणे प्रत्येकमन्त्रे विभजनमुक्त त तश्च प्रत्येकमन्त्रस्य स्वतन्त्रमेव करणत्वम्-तस्माद्विकल्प । अत्र तु चतुर्णां समूहस्यैव करणत्व 'चतुर्भि'रिति पदेन बोध्यते । तस्माच्चतुर्णां मपि मन्त्राणामन्ते एव कर्मोपक्रम । तथाच सति चतुर्णां समुच्चय एव न्याय्य इति ।

एतदभिप्रेत्याह सङ्ख्येति । 'ते' मन्त्रा यदा 'सङ्ख्योपेता' सङ्ख्या त्रिणेषत्रिणिष्ठा विहितास्तदा—'समुच्चित्य' समूहरूपेणैव—'वाच्या' पठनीया इत्यर्थः ॥ १४ ॥

( १५ ) १२।३।३१-३५ मन्त्रोऽनेको ब्राह्मणोक्तो विकल्प्यः

( १ ) मन्त्रविषयक एव विचारो वर्तते ।

( २ ) 'उक्तं प्रथममेति पुरोडाशं प्रथयति'—'उक्तं ते यज्ञपति प्रथतामि ति पुरोडाशं प्रथयति' इति ब्राह्मणवाक्यद्वयेन द्वौ मन्त्रौ पुरोडाशप्रथने विनियुज्येते ।

( ३ ) तत्र सशय — मन्त्रयो समुच्चय उत विकल्प इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — अत्र मन्त्रविनियोगस्य मन्त्रलिङ्गेनैव सिद्धत्वात् ब्राह्मणगतं वचनद्वयं चतुस्सङ्ख्यावत् समुच्चये एव पर्यवस्यतीति ।

( ५ ) सिद्धान्त — वचनद्वये मन्त्रयो परस्परनैरपेक्ष्य भासते । तस्मात् समुच्चयो न न्याय्य — लिङ्गसिद्ध एवार्थो ब्राह्मणवचनेनानूद्यत इत्यभ्युपेयम् । तस्मादेकार्थत्वाद् विकल्प एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह मन्त्र इति । 'ब्राह्मणोक्त' ब्राह्मणवाक्येन विहित — 'अनेक. मन्त्र' नाना मन्त्रा एकार्था यत्रोपलभ्यन्ते तत्र स 'विकल्प्य' विकल्पेनैव विनियोक्तव्य इत्यर्थः ॥ १५ ॥

( १६ ) १२।३।३६-३८ द्वौत्रो मन्त्रः स्यात् समुच्चय एव ।

( १ ) पूर्वाधिकरणापवादः ।

६३ मी०तु०



( २ ) यूपस्योच्छ्रयशो वरुणभूत एव मन्त्रोऽध्वर्युणा पठनीय - 'उ  
दिव स्तभाना' त्रिज पृण प्रविचीम्परेण दंह' इति—उच्छ्रयमाणा य  
पाय प्रेषितेन होत्रा एव मन्त्र पठनीय — 'उच्छ्रयस्व वनस्पते वर्ष्मन्  
पृथि'या अधि' इति ।

( ३ ) तत्र सशय — अनयोर्मन्त्रयोर्विकल्प उत समुच्चय इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — यूपोच्छ्रयणस्मारणमेकमेव कार्यं द्वयोर्मन्त्रयो ।  
तस्मादेककार्यत्वाद्विकल्प इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — प्रथमो मन्त्र 'उच्छ्रयण करोमि' इ यूपोच्छ्रयण  
स्मारयति द्वितीयस्तु क्रियमाणमुच्छ्रयणमनुवदन 'यूपोच्छ्रयण कर्तव्यम्'  
इत्यध्वर्यो स्मृति जनयति । तस्मात् 'करोमि' 'कर्तव्यम्' इत्यनयो  
स्मरणप्रकारस्यान्यत्वात् कार्यभेद — तस्मात् समुच्चय इति ।

एतदभिप्रेत्याह होत्र इति । 'होत्र' होत्रा पठनीयो द्वितीयो मन्त्रः—  
'समुच्चयेय' 'एव' अध्वर्युपठनीयेन मन्त्रेण सह समुच्चित्य एव पठनी  
य इत्यर्थः ॥ १८ ॥

अस्मिन् पादे भाष्यकारेण वीक्ष्य  
न्याया' सर्वे वर्णिता षोडश ।

स्पष्टम् ।

इति द्वादशस्य तृतीय ।

## अथ द्वादशस्य चतुर्थः पादः

- [ विकल्प तदपवादसमुच्चय-विचार

( १ ) १२।४।१-२ समुच्चयो जपादीनाम्

( १ ) समुच्चयोदाहरणम् ।

( २ ) दीक्षितस्य वाङ्मनियमनात् पूर्वं जपाय मन्त्रा आम्नाता - 'सा  
रस्वतीमनूच्य वाग् यन्तव्या— वैष्णवीमनूच्य वाग् यन्तव्या' इति ॥-तथा  
च स्तुतय 'अग्निर्मूर्धादिव' इत्यादि ।-आशिष 'आयुर्दा अग्ने' इत्यादि ।

( ३ ) तत्र सशय — अत्र जपनीयादिमन्त्राणा समुच्चय उत विक  
ल्प इति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—सर्वत्र मन्त्रस्य वचनमात्रं क्रियते । तस्मादेकार्थं  
त्वाद् विकल्प इति ।

( ५ ) सिद्धान्तः—कर्मप्रकाशकलिङ्गशून्या इमे मन्त्राः अदृष्टार्था  
एवोच्चार्यन्ते । तथा च कार्यभेदः—तस्मात् समुच्चय इति ।

एतदभिप्रेत्याह समुच्चय इति । 'जपादीनाम्' 'समुच्चय' एव न विकल्प-इत्यर्थः ॥ १ ॥

(२) १२।४।३-४ याज्याऽनेका विकल्प्यते ।

(१) विकटपोदाहरणम् ।

(२) ऐन्द्रावार्हस्पत्ययागे—'इदं वामास्ये हवि प्रियमिन्द्रावृहस्पती' इत्यादिके याज्यानुवाके द्विविधे आम्नाते ।

(३) तत्र सशय —अनयोस्समुच्चय उत विकल्प इति ।

(४) पूर्वपक्ष —पूर्वाधिकरणन्यायेन समुच्चय इति ।

(५) सिद्धान्त —दृष्टप्रयोजनस्य देवताप्रकाशनरूपस्यैकत्वाद् विकल्प इति ।

एतदभिप्रेत्याह याज्येति । 'अनेका याज्या' यत्र एकाधिके याज्यानुवाक्यं श्रूयते तत्र—'विकल्प्यते' न विकल्प एव इष्यते—न समुच्चय इत्यर्थः ॥ २ ॥

(३) १२।४।५-७ समुच्चयः क्रयद्रव्ये

(१) समुच्चयोदाहरणम् ।

(२) सामक्रयणार्थानि द्रव्याणि समाप्नातानि—'अजया क्रीणाति हिरण्येन क्रीणाति—वाससा क्रीणाति' इत्यादीनि ।

(३) तत्र सशय —एतेषां द्रव्याणां विकल्प उत समुच्चय इति ।

(४) पूर्वपक्ष —क्रयरूपस्य कार्यस्यैकत्वात् विकल्प इति ।

(५) सिद्धान्त —बहुभिर्द्रव्यैकिके तु स्वीकारस्य सौलभ्यात्—'दशभिः क्रीणाति' इति सङ्ख्याक्तश्च—समुच्चय इति ।

एतदभिप्रेत्याह समुच्चय इति । 'क्रयद्रव्ये' सोमक्रयणार्थानां द्रव्याणाम् विषय—'समुच्चय' न तु विकल्प इत्यर्थः ॥ ३ ॥

(४) १२।४।८ गुदानां स्यात् समुच्चयः ।

(१) समुच्चयोदाहरणम् ।

(२) अग्नौषोमीय'गुदेनोपयजति' इति गुदेनोपयजनं श्रूयते । तच्चैकादशेन चोदकप्राप्तम् । तत्र चैकादश गुदा प्राप्ता ।

(३) तत्र सशय —एतेषां गुदानां विकल्प उत समुच्चय इति ।

(४) पूर्वपक्ष —गुदोपयजनरूपमेकमेव कार्यम् । तस्मात् कार्यकत्वाद् विकल्प इति ।

(५) सिद्धान्त —अत्र शेषप्रतिपत्तिरूप सस्कारो विधीयतेऽदृष्टार्थः । तस्मात् समुच्चय इति ।

एतदभिप्रेत्याह गुदानामिति । 'गुदानां' गुदोपयजनकर्मणि विहितानामेकादशेन प्राप्तानां—'समुच्चय'—न विकल्प इत्यर्थः ॥ ४ ॥

(५) १२।४९ षडेकादौ विकल्प स्यात्

- (१) विकल्पोदाहरणम् ।
- (२) आधाने श्रूयते—‘एषा देया-पट्ट देया द्वादश न्याः’ इत्यादि ।
- (३) तत्र सशय—अत्रैकादीना समुच्चय उत विकल्प इति ।
- (४) पूर्वपक्ष—तृतीयाधिकरणन्यायेनानतिसोलभ्याय समुच्चय इति ।

(५) सिद्धान्त—नानासङ्ख्यानामेकत्वादीना परस्परनैरपत्त्य गम्यते । तस्मात् विकल्प इति ।

एतदभिप्रेत्याह षडिति । ‘षडेकादौ’ ‘पट्ट देया एका देया’ इत्यादौ ‘विकल्प स्यात्’—सङ्ख्यानामिति शेषः ॥ ५ ॥

(६) १२।४।१०-१६ जाघनी च विकल्प्यते ।

- (१) विकल्पोदाहरणम् ।
- (२) ‘जाघन्ना पत्नो सयाजयन्ति’ इति श्रूयते । एकादशिनादिषु पशुगणेषु सन्त्यनेके पशवः ।
- (३) तत्र सशय—अनेकासा जाघनीना विकल्प उत समुच्चय इति ।
- (४) पूर्वपक्ष—चतुर्थाधिकरणन्यायेन समुच्चय इति ।
- (५) सिद्धान्त—पत्नार याजनं प्रकृतिप्रथमम् । अर्थकर्मणश्चैक्यैव जाघन्या सिद्धत्वाद् जाघनाना विकल्प पवति ।

एतदभिप्रेत्याह जाघनानि । ‘जाघनां च’ यत्र पशुगणेषु अनेका जाघन्यो भवन्ति तत्र—‘विकल्प्यते’ विकल्प एवाभ्युपेयत न समुच्चय इत्यर्थः ॥ ६ ॥

(७) १२।४।१७-२५ वार्क्षामिर्वाधते तूख्यम्

- (१) विकल्पोदाहरणप्रासङ्गिको विचारः ।
- (२) आश्रयने उखा सम्पाद्य तस्यामुखायामग्निर्विद्यते स नित्योऽग्निः । तत्र प्रकरणे काम्याऽप्यग्निः श्रूयते—‘वृक्षाप्राज्ज्वलता ब्रह्मवर्चसकामस्याहत्यावद्भ्यात्’ इति ।
- (३) तत्र सशय—द्वयोरग्न्योर्विकल्प उत समुच्चय इति ।
- (४) पूर्वपक्ष—होमा नित्यस्योखाया धृतस्याग्नेः कार्यम्-फलाय धारण तु काम्यस्याग्नेः । एव च कार्यभेदात् समुच्चय इति ।
- (५) सिद्धान्त—फलाय धृतेनेवाग्निना होमस्यापि प्रसङ्गसिद्धौ नित्योऽग्निर्वाध्यते । तथासति अकामिन उखाया धृताऽग्निः-कामिनस्तु अग्न्यन्तरम्-इत्येष विकल्प इति ।

एतदभिप्रेत्याह—वार्क्षामिरेति । ‘वार्क्षामि’ वृक्षादाहृतोऽग्निः—‘तु-’

‘उख्यम्’ उखाया धृतमग्नि बाधते-काम्येन वार्त्ताग्निनैव कार्यनिर्वाहात् इत्यर्थः ॥ ७ ॥

(८) १२।४।२६-२७ नासावाहवनीयकः ।

(१) पूर्वाधिकरणपवादः ।

(२) यथोखागतोऽग्नि-वार्त्ताग्निश्च-तथैवाहवनीयोऽप्यस्यग्निः ।

(३) तत्र सशय-यथा उत्पत्त्याग्नेर्बाधः तथा किमाहवनीयस्यापीति ।

(४) पूर्वपक्षः—पूर्वाधिकरणन्यायेन काम्येन वार्त्ताग्नेर्वाग्निना होम कार्यसिद्धये आहवनीयस्य बाधः ।

(५) सिद्धान्तः—आधानरूपसंस्कारेण ह्याहवनीयत्वं भवति नाहुत्याधारमात्रत्वेन । काम्येऽग्नौ तत्संस्काराभावान्न सम्भवत्याहवनीयत्वम् ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । ‘असौ’ वार्त्ता काम्योऽग्निः—‘आहवनीयः’ ‘न’ भवति—आहवनीयकार्यं कर्तुं न शक्नोतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

(९) १२।४।२८-२९ नास्मिन्नाधानसंस्काराः

(१) पूर्वाधिकरणशेषः ।

(२) पूर्वोक्ते काम्येऽग्नौ—

(३) सशयः—आधानादयः संस्कारा भवन्ति न वेति ।

(४) पूर्वपक्षः—आधानस्य सर्वकर्मशेषत्वादस्त्येवाधानं काम्येऽग्नौ भवति ।

(५) सिद्धान्तः—संस्कृतस्याग्नेः स्थाने विहितं काम्योऽग्निः संस्कृतश्रिकार्यं करोति न तु संस्कारमपेक्षते । तस्मान्नास्त्याधानादिसंस्कारः काम्येऽग्नौ भवति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । ‘अस्मिन्’ संस्कृतस्याग्नेः स्थाने विहितेऽस्मिन् संस्कृते अग्नौ—‘आधानसंस्काराः’ ‘न’ क्रियन्ते इति शेषः ॥ ९ ॥

(१०) १२।४।३०-३१ नास्य स्यान्नित्यधारणम् ।

(१) पूर्वाधिकरणशेषः ।

(२) भवत्यग्निचयने उख्योऽग्निः ।

(३) तत्र सशयः—किमस्य धारणं सार्वकालिकमुत न—अथवा विकल्प इति ।

(४) पूर्वपक्षः—‘न’ प्रतिसमेधो—यत् प्रतिसमिध्येत् भ्रातृव्यमस्मै जनयेत् इति सार्वकालिकधारणनिषेधः श्रूयते । न चाप्राप्तस्य निषेधः—ततश्च निषेधोऽयं प्रापकविधिमापयति । एव च विधिनिषेधयोः सत्त्वाद् विकल्प इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — प्रापकविधि विनाऽपि निषेध सम्भवति । आहवनीयगत हि नित्यधारणमुख्ये निषिध्यते । तथा नति विप्ररक्तिपतत्त्वान्निषेध एव वर्तते । तस्मान्नास्य नित्यधारणमिति ।

एतदभिप्रेत्याह नेति । 'अस्य' उच्यस्याग्ने — 'नित्यधारणम्' सार्वकालिक धारणम् — 'न' भवतीति शेष ॥ १० ॥

( ११ ) १२।४।३२ गणे क्रतुर्थमेकस्य

( १ ) यजमानविषयो विचारः प्रवर्तते ।

( २ ) 'शुक्र यजमानोऽन्वारभते' — 'यजमानमग्नितादुभयो भवति' इत्यादि विहितम् । सत्रे च सन्ति बहवो यजमाना ।

( ३ ) तत्र सशय — सत्रादौ गणयागे किमेतत् सर्वं याजमानमेकस्य यजमानस्य भवेदुत सर्वेषामिति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — सर्वेषां यजमानत्वाप्रशयात् सर्वेषामभ्यति याजमानमिति ।

( ५ ) सिद्धान्त — उक्तानि याजमानानि क्रत्वर्थानि क्रतुगतग्रहादि सस्कारार्थानि । एव च एकैव शुक्रग्रहादिसस्कारस्य निद्रायादितरैस्तत्करणे प्रयोजन नास्ति । पुरुषसस्कारार्थं ये तु भवन्सर्वगाभिः । तत्तु नास्ति पुरुषार्थत्वम् । तस्मादकेनैव कर्तव्यमिति ॥

एतदभिप्रेत्याह — गण इति । 'गणे' सत्रादौ बहुकर्तृकं कर्मणि — यत् 'क्रत्वर्थ' कर्म क्रतुगतग्रहादिसस्कारार्थं याजमानविहितम् तत् — 'एकस्य' एकेनैव यजमानेन कर्तव्यं न सर्वस्वित्यर्थ ॥ ११ ॥

( १२ ) १२।४।३३ कुर्यात् कश्चिदहीनके ।

( १ ) पूर्वपक्षिकरणशेष ।

( २ ) अस्त्यहीनो यागो बहुकर्तृकः । तत्र एकैव कार्यं द्रव्यादिसस्कारादि इति पूर्वन्यायेन स्थितम् ।

( ३ ) तत्र सशय — स एको यजमानः क इति नियम उक्तः यः कश्चिदित्यनियम इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष — सत्रे नियमस्य दर्शयिष्यमाणत्वाद्वापि नियम इति ।

( ५ ) सिद्धान्त — अहीने विशेषावधारणस्याशक्यत्वाद् यः कश्चिदिति अनियम एवेति ।

एतदभिप्रेत्याह कुर्यादिति । 'अहीनके' अहीने 'यागे' — 'यः कश्चित्' यजमानः कुर्यात् — नियमो नास्तीत्याशयः ॥ १२ ॥

( १३ ) १२।४।३४ सत्रे गृहपतिः कुर्यात्

( १ ) याजमानविचारो वर्तते पूर्वाधिकरणापवाद् ।

( २ ) सन्ति याजमानानि कर्माणि । सन्ति च सत्रे गृहपतिसहि  
ता बहवो यजमाना । एतेषामध्ये एक एव याजमानानि कुर्यादिति स्थि  
तमेकादशाधिकरणे ।

( ३ ) तत्र सन्देहः—एतेषामध्ये याजमानानि कर्माणि क कुर्यात् ।  
किं गृहपतिरेवेति नियम —उत य कश्चिदेक इति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —पूर्वाधिकरणन्यायेन य कश्चित् कुर्यादिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —गृहपतिव्यतिरिक्ता अन्यऽन्यत्विक्कार्येषु व्या  
पृता न शक्नुवन्ति शुक्रग्रहस्पर्शादि याजमान कार्यं कर्तुम् । विलम्बे चा  
र्विज्यशुक्रग्रहस्पर्शादीना विहितमेककालीनत्व विहन्येत । तस्मात् गृह  
पतिरेव कुर्यादिति नियम इति ।

एतदभिप्रेत्याह सत्र इति । 'सत्रे 'गृहपति ' एव—'कुर्यात्'—याजमा  
नानि कर्माणीति शेष ॥ १३ ॥

( १४ ) १२।४।३५-४० सस्काराः सर्वकर्तृषु ।

( १ ) सत्रे यजमानानि गृहपतिरेव कुर्यादिति स्थितम् । सन्ति च  
याजमाना सस्कारा । त इदानीं चिन्त्यन्ते ।

( २ ) सन्यजनादयो यजमानसस्कारा ।

( ३ ) तत्र सन्देह —किमेतेऽपि गृहपतेरेव कार्या उत सर्वे  
षामिति ।

( ४ ) पूर्वपक्षः—पूर्वाधिकरणन्यायेन गृहपतेरेवेति ।

( ५ ) सिद्धान्त —फलित्वप्रयोजका एते सस्कारा । फलसम्बन्ध  
श्च सत्रे सर्वेषां यजमानानाम् । तस्मात् सर्वेषां यजमानानामङ्गनादिस  
स्कारा इति ।

एतदभिप्रेत्याह सस्कारा इति । 'सस्कारा' सत्रे अङ्गनादयो याज  
मानाः—'सर्वकर्तृषु'—सर्वेषु यजमानेषु—कर्तव्या इति शेष ॥ १४ ॥

( १५ ) १२।४।४१-४७ आर्त्विज्य ब्राह्मणस्यैव

( १ ) सर्वोपसहारेणार्त्विज्याधिकारो विचार्यते ।

( २ ) सन्यार्त्विज्यानि कार्याणि । सन्ति च ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या  
स्त्रयो वर्णा वेदशास्त्रज्ञा ।

( ३ ) तत्र सन्देह —आर्त्विज्यकर्माणि किं त्रिभिरपि द्विजातिभि  
कार्याणि उत ब्राह्मणेनैवेति ।

( ४ ) पूर्वपक्ष —त्रयोऽपि वर्णा अधीतवेदा विद्यावन्त । शक्नुवन्ति  
च त्रयोऽप्यार्त्विज्यानि कर्तुम् । तस्मात् त्रयोऽपि कुर्युरिति ।

( ५ ) सिद्धान्त —विद्ययाऽधिकारोऽस्ति त्रयाणामेव । किन्तु प्रा

माणिकै स्मृतिभिरात्विज्य ब्राह्मणे एव नियमितम्—‘प्रतिग्रहोऽधिको त्रिप्रे  
याजनाध्यापने तथा’ इति याज्ञवल्क्यवचनात् । तस्माद् ब्राह्मणस्यैवा  
त्विज्यमिति ।

एतदभिप्रेत्याह—आत्विज्यमिति । ‘आत्विज्य’ अस्त्वित्तां कर्मस्यधि  
कार—‘ब्राह्मणस्य एव’ न तु क्षत्रियवैश्ययोरिति भावः ॥ १५ ॥

न्याया. पञ्चदशोदिताः ।

॥ इति मण्डनमिश्रकृतः मीमामानुक्रमणिका ॥

स्पष्टम् ॥

इति द्वादशम्य चतुर्थ ।

इति द्वादशोऽध्यायः ॥

जमनीदेशवास्तव्यटीबोनामकपण्डितात् ।  
प्रासम्पुस्तकमेतस्य ग्रन्थस्य परिशोधितम् ॥  
श्रीमद्गोविन्ददासख्यमिश्रवर्णकृपावशात् ।  
पुस्तकान्तरमामाद्य स्वादर्शं प्रस्तुतो मया ॥  
व्याख्यासापक्षतां तस्य विभाव्य कृतवानहम् ।  
बालानां सुखबोधाय मीमासामण्डने त्विदम् ॥  
अनेन प्रीयता देवो विश्वेश काशिकापति ।  
श्रीमद्गोविन्ददासस्याप्यन्तरात्मा प्रसीदतु ॥

गुणवसुखिचरपृथ्वी—१९८३—मितसवत्सरफाल्गुने शुक्ले ।

श्रीमद्दशमीतिथ्या ग्रन्थोऽयं पूर्णतां नीत ॥

इति श्रीमैथिलश्रोत्रियमहामहोपाध्यायगङ्गानाथशाश्वर्य

कृतम् मीमासामण्डनम् ॥





|                           |               |                    |               |                    |                         |
|---------------------------|---------------|--------------------|---------------|--------------------|-------------------------|
| गोदोहनम्                  | १५७, १७६      | दर्भः              | ३६५           | निर्मन्थनं         | ३३                      |
| गोदोहनादिः                | १२२           | दर्विहोमपदम्       | ३०९           | निर्वापमन्त्रं     | ३३९                     |
| च                         |               | दर्विहामाः         | ३११           | निषादः             | ३७७                     |
| चमसा                      | १३५           | दर्शचोदिता         | ४८१           | नावार              | ३३५                     |
| चमसे                      | ११६           | दर्शयजेः           | १८९           | नाहादयः            | ४८                      |
| चरुगपः                    | ४५८           | दर्शवत्            | ४८१           | नाहम्              | ३४४                     |
| चरुम्                     | ३६४           | दर्शस्य            | २५१           | नाहः               | ३११, ३२१, ३४२, ३४३, ३४३ |
| चरुः                      | १०७, ३६१      | दर्शादिकाले        | २३४           | प                  |                         |
| चरूपधाने                  | ६०            | दर्शादियोगे        | २३१           | पक्षो              | २२१                     |
| चरोः                      | ३६२           | दर्शादियोगी        | २३४           | पक्षदशाहकः         | ३०५                     |
| चरौ                       | २९४, ३०२, ३६२ | दर्शष्टिधर्मः      | २९५           | पक्षशराव           | २५१                     |
| चातुर्होत्रे              | २७६           | दर्शोद्भूते        | ३५२           | पत्नीनाम्          | २२६                     |
| चितेः                     | १८१           | दर्शपयकयः          | ४८७           | पत्नीपदे           | ३४२                     |
| चित्रादियागेषु            | १३            | दाक्षायणे          | ८९            | पत्नीयजनान्तर्स्था | ३१७                     |
| चित्रापदम्                | ३०            | दानम्              | ३७२, ३७६      | पत्न्याः           | ४८०                     |
| छ                         |               | दाशिकी             | ४८०           | पयसा               | ८४                      |
| छागः                      | २८०           | दीक्षणीया          | ३७३           | पयस्या             | १५२                     |
| ज                         |               | दीक्षणीये          | ३७७           | पयोधर्माः          | ३०३                     |
| जाघनी                     | १७, ५००       | दीक्षा             | १३२, २२५      | पयोधतम्            | १७७                     |
| जुह्वादिपात्रम्           | २६८           | दीक्षादेः          | ४६५           | परस्वाकरणम्        | १७४                     |
| ज्योतिष्टोमे              | ५६, ११३       | दीक्षाम्           | १९२, ५५५      | परिक्रमः           | ३६८                     |
| ज्योतिष्टोमः              | ८९            | दीक्षाहुतानाम्     | ३८२           | परित्यागयुगे       | २००                     |
| ज्योतिः                   | ८२            | द्विमुनाम्         | ४८२           | परित्युक्तिः       | १८२                     |
| त                         |               | द्विमुख्य          | १२४, २६६      | पर्णता             | १२१                     |
| तक्षणादिकम्               | ३७९           | द्विपञ्चः          | २५६           | पर्जनः             | ३३८                     |
| तन्त्रैता                 | ४७१           | दाहयुगः            | १२४           | पञ्चकामेष्टौ       | ३५३                     |
| तन्त्रभेदः                | ४५४, ४६६      | दाहद्वय            | १२४           | पशुः               | १६३, ३०३                |
| तन्त्रम्                  | ४९०, ४९२      | दावापुत्रिर्वायस्य | ४९१           | पशुक्तिः           | ३६                      |
| तन्त्रिता                 | ४९१           | द्वियजे            | ९७            | पशाः               | १२४, १६०, ३६१           |
| तृणम्                     | ३२            | ध                  |               | पशौ                | ३८०, ४५६, ४६१, ४८४      |
| त्रिवर्णः                 | २३०           | धर्मः              | ३०४           | पाकः               | ३६६                     |
| त्रेतायाम्                | ४८४           | धर्मातिदेशो        | २८९           | पाकाग्निहोत्रयोः   | १९३                     |
| त्रयापेयवरणे              | २२९           | धर्मातिदेशे        | २८८           | पादः               | ४७८                     |
| त्वष्टा                   | ८५            | धर्मातिदेशः        | २९१           | पादयः              | ४९४                     |
| त्वाष्ट्रोत्सर्गः         | ६३            | धर्माः             | १२४, २८६, ३१२ | पातनीयतदेवता       | ८८                      |
| द                         |               | धर्मापदेशः         | १२८           | पातनीयते           | ८४                      |
| दक्षिणा३६८, ३७०, ३७१, ४८१ |               | धानाः              | १५२           | पात्राणाम्         | ४६४                     |
| दण्डप्रदानम्              | १६९           | धाव्या             | ११२           | प्रातम्            | ११७                     |
| दधि                       | ५४            | धायो               | १४९           | पावणे              | ३३८                     |
| दधिग्रहहोमम्              | १८७           | धारा               | ४९५           | पावमानां           | १२३, १२३                |
| दध्मः                     | ३३६           | धेनुका             | ३७१           | पावमान्याः         | १२२                     |
| दध्मादिः                  | १७६           | धेन्वादिषु         | ३७८           | पावामन्त्रौ        | ३४१                     |
| दम्पती                    | २२७           | न                  |               | पिकनेमशक्तिः       | २५                      |
| दम्पत्योः                 | २२६           | निकायिनाम्         | २९९           | पितृयज्ञः          | १८९                     |
|                           |               | निर्मन्थयशब्दः     | २८८           |                    |                         |

|                 |               |                         |            |                    |              |
|-----------------|---------------|-------------------------|------------|--------------------|--------------|
| पिपि            |               |                         |            | यागान्यथा          | २१३          |
| पिपिप्रयुक्तम्  | १२            | भक्षकम्                 | ११६        | यागे               | ९७, २१६, ४९६ |
| पिष्टम्         | ०१            | भक्षमन्त्र              | ८१         | यागम्              | २७७          |
| पुनोका          | ४४३           | भक्ष                    | ३६६        | याग १०८, १७७, २४९, | २६१, ३६०     |
| पुनोकाश         | २२२, ३६१, ४७४ | भद्रपदाभिधेयम्          | १६०        | यागा               | ९०           |
| पुराडांशगुणे    | ४००           | भाषिक                   | ४९४        | याञ्चा             | २७८          |
| पुनोकावण्ड      | १२१           | भित्तिद्वय              | १२         | याज्या             | ८०, ४९९      |
| पुर्णिमा        | २६९           | भित्तिद्वय              | २६२        | यूपगुणम्           | १९०          |
| पुष्टशब्द       | २९१           | भित्तिद्वयो             | २३६        | यूपगुण             | १३२          |
| पौरोडाश         | ४१            | भृगोलकम्                | २७०        | यूपवर्मभाक         | ३३६          |
| पौणमासिकी       | ४११           | भृम्ना                  | ३६         | यूपस्य             | २९१          |
| पौणपयणम्        | ९९            | भृतिभेदे                | ४६६        | युपाञ्जनाज्ये      | १६१          |
| पाण             | १००           | भेत्री                  | ६२         | यूपान्तिआहुति      | ४६४          |
| प्रकृतिर्विजाम् | २४८           | म                       |            | युपाहुति           | ३६९          |
| प्रगाथे         | ३२१           | म यमरवणा                | २८९        | यूपे               | ३६           |
| प्रगीतया        | ३३२           | मलिन्या                 | १०६        | यूपेकदेश           | १६७          |
| प्रवास          | २८            | माधी                    | २६९        | यूप                | २००          |
| प्रतिविधि       | २०९, २४४      | मापपावकवच               | २७४        | यौनिवर्णक्रम       | ३३३          |
| प्रतिनिधो       | २३८           | मामम्                   | १६४        | र                  |              |
| प्रतिहाम        | २६१           | मुनि                    | ६६         | रजाशयादिपु         | ४७           |
| प्रमा           | ८९            | मुष्टिलोपनम्            | ३७७        | रशना               | १२६, १८९     |
| प्रमाणत्व       | १०            | मुष्टि                  | ७४         | राजमखस्य           | १८६          |
| प्रमाणम्        | ७             | मुष्ट्यादय              | २०४        | राजसुप्रेष्टिषु    | ३६८          |
| प्रमाणत्व       | १०            | मघपते                   | ३४६        | राजशेषाशनादि       | २८०          |
| प्रमाणपञ्चकाभाव | १०            | मदौ                     | २६९        | रात्रिशेषाशनादि    | १७८          |
| प्रमाणानाम्     | १०            | मन्त्रप्रयोगात्         | २६         | रात्रिलत्रे        | २०९          |
| प्रमाणेन        | १०            | य                       |            | रक्मम्             | २०९          |
| प्रयाजाङ्गम्    | ७२            | यजते                    | ८०, २४९    | रुगर्थित           | ६३           |
| प्रयाजादौ       | २८१           | यजमानकर्म               | १४२, १४७   | रेवतीभ             | ६४           |
| प्रयाजपु        | ३८०           | यजमानगामि               | १४४        | ल                  |              |
| प्रयाज          | ६०            | यजिविधि                 | ३३९        | लशुनाशनादौ         | २३३          |
| प्रस्तार        | २६२           | यजिमत्                  | ६९         | लिङ्गदर्शनाम्      | १३६          |
| प्रस्तार        | ३६            | यजि ६०, ६२, ७८, १६२,    |            | लिङ्गम्            | १६०          |
| प्रारक्षणा      | ३८०           | १७४, २६७, २६१, ३६६, ३७० |            | लोके               | २७           |
| प्राधास्किातिदश | २८४           | यजुवदे                  | ८९         | लोभमूलम्           | २२           |
| प्राजापत्या     | ४६६           | यजु                     | ४६, ४६, ४७ | लोकिके             | ३१०          |
| प्रायश्चित्तम्  | ४९३           | यजे                     | ६२         | व                  |              |
| प्राय           | १७०           | यजौ                     | ६४         | वडुत्य             | ३४७          |
| प्राक्षणम्      | ३१०           | यत्पति                  | ३२०        | वत्सत्वक्          | ४९१          |
| प्राक्षणा नि    | ४८२           | यजे                     | २६६, २९०   | वत्सालम्भ          | ६०           |
| य               |               | यजु                     | २३६        | वत्ते              | ३८४          |
| यर्हिपाम्       | ४८२           | यजौ                     | २४         | वतिदुभाव           | ३४९          |
| यर्हि           | ३२, १३०       | यज्जुवाक्               | ३८         | वमने               | १०७          |
| याधक            | ९३            | यागत्रये                | ४६०        | वरणम्              | ६९३          |
|                 |               | यागविधि                 | ९१         |                    |              |

## शोधनपत्रम्

| पृष्ठ  | पङ्क्ति  | अशुद्ध                          | शुद्ध  |
|--------|----------|---------------------------------|--|
| उपादान | १९       | करणस्यलक्षणमु                   | करणस्यो  |
| ८      | ६        | ६                               | ५  |
| ३९     | १४       | पदेनसम्बन्ध                     | पदेनापूर्वस्य सम्बन्ध  |
| ९४     | २१       | सन्निधि                         | क्रम   |
| ११०    | ( अन्त ) | स्पष्टार्थम्                    | 'स्पष्टार्थम् । भाष्यपुस्तकेऽधिकरणपरिगणनसंख्या पञ्चदशैवोपात्ता । तत्र सप्तमाधिकरणमेकत्र स्थापितमत्र तु तत्रत्यानि षडधिकरणानि पृथक् परिगणिता नीत्यवधेयम्' । |
| १०३    | ११       | ७                               | ३  |
|        | १२       | ८                               | ४  |
|        | २३       | विष                             | निषे   |
|        | ३३       | ८                               | ५  |
| १०४    | १        | ९                               | ५  |
|        | १६       | १०                              | २३   |
|        | २३       | ७                               | ६  |
| १३१    | ३०       | मर्श                            | मर्श   |
| १४०    | २७       | पौत्रोयानप्रीया<br>इति पातुनष्ट | आध्वर्यवहौत्र<br>अध्वर्युहोत्र   |
| १४४    | १७       | दु खं                           | सुख  |
| १८९    | १        | ३३                              | ३  |
| १९७    | २२       | प्रकारा                         | प्रकारा  |
| १६२    | ३३       | क्रम                            | क्रम   |
| १६४    | २०       | आग्नेय एव                       | आग्नेययाग एव   |
| १६६    | २३       | शिष्टमेक                        | विशिष्टे एक  |
| १६७    | १३       | विद्य                           | छिद्य  |
| १७२    | १५       | द्रव्य                          | द्रव्ये  |
| १८४    | २०       | ॥ १९ ॥                          | ॥ १९ ॥ भाष्ये इदमधिकरणान्तरं न धृतम् । उक्तपत्राधिकरणेऽन्तर्भूतं विचारान्तरम् ।  |

| पृष्ठ | पङ्क्ति       | अशुद्ध                 | शुद्ध                                      |
|-------|---------------|------------------------|--|
| १९१   | २२-२३         | सुनीती वीक्ष्य         | सुनीतीर्वीक्ष्य                            |
|       | २४            | 'सुनीती' न्यायज्ञ      |  |
|       |               | 'तत्त्वचित्'           | 'तत्त्वचित्'                               |
|       | २५            | द्वादश अ               | द्वादश 'सुनीती' न्यायज्ञ अ                 |
|       | २६            | नीति शेष               | नीति यावत्                                 |
| १९२   | ७             | काण्डेन च              | काण्डेन मुख्येन च                          |
|       |               | पञ्चसु                 | पट्सु                                      |
| १९२   | १७            | ५।१।२                  | ५।१।१                                      |
| १९३   | ५             | ५।१।३                  | ५।१।२                                      |
| १९२   | २५            | प्रधान                 | प्रयाज                                     |
| २००   | ९             | प्रष                   | प्रेष                                      |
| २१५   | ३०            | मुता                   | मुत  |
|       | ३२            | यनात्त                 | यनानत्त                                    |
| २२८   | ९             | कारी                   | कारा                                       |
| २६२   | ६             | यदा परित्यज्यत         | यदाऽग्निहोत्रादयः परित्यज्यन्ते            |
|       | ८             | पाडशिन्या              | पाडशिनि हामस्या                            |
| २८०   | ८             | विहितत्व               | विहितत्वा                                  |
| ३०१   | ३             | दिकामत्रा (अताऽनन्तरं) | ज्ञानायैर्हवनश्रुते' इत्यन्तानि वाक्यानि । |
| ३०४   | <del>२२</del> | (५)                    | (५) ८।२। २४-२८                             |
| ३१२   | २७            | हन्ति पिपि             | हन्तिपिपि                                  |
| ३१७   | १२            | वह्ना                  | वह्नाऽन्यानि तस्मात् प्राक्                |
| ३१२   | २५*           | मुहि                   | मूहि                                       |
| ३२५   | ६             | धेया                   | धेयं                                       |
|       | ७             | र्थ सप्त               | र्थो द्वितीयाध्यायप्रथमपादे तथा सप्त       |
| ३२९   | २८            | वतिनी                  | वर्तिनी                                    |
| ३३४   | १४            | अकारः                  | आकारः                                      |
| ३४१   | ३१            | द्विवचन                | बहुवचन                                     |
| ३४८   | १३            | तेष्वस्य               | तेष्वभ्यस्य                                |
| ३५१   | २०            | धायी                   | धायी                                       |

| पृष्ठ | पङ्क्ति | अशुद्ध                                    | शुद्ध   |
|-------|---------|---|---|
| ३५३   | २५      | दशमा                                      | नवमा  |
| ३७८   | ५       | उज्ज                                      | उत  |
| ३८२   | २८      | तर्म                                      | तैर्म   |
| ३८७   | १२      | दक्षिणा । ताश्च                           | दक्षिणा । सा च  |
| ३८८   | २९      | मात्रस्यति                                | मात्रमिति   |
| ३९०   | ६       | स वा                                      | स एवा   |
| ३९६   | ३३      | स्योदाहरणानि                              | स्योदराणि   |
| ४०४   | २०      | त्रिचस्य                                  | तृचस्य  |
| ४०५   | १७      | पवना                                      | वपना  |
|       | १९, २६  |   |   |
| ४०८   | २४      | अग्नीषोमीये                               | अग्निष्टोमे   |
| ४१३   | १६      | न्था                                      | न्थ्या  |
| ४१९   | २७      | मत्रा                                     | मैत्रा  |
| ४३४   | १५      | ( पूर्वपक्षो नास्ति )—<br>( स एव पठनीय )— | ( ४ ) पूर्वपक्ष — बहिर्मात्र<br>वर्जयित्वाऽन्यत् सर्व प्रा<br>कृत कर्तव्यमिति |
| ४३४   | १६      | ( ४ )                                     | ( ५ )   |
| ४५०   | १७      | कृष्णा                                    | कृष्ण   |
| ४५६   | ३२      | न विहिता                                  | विहिता  |
| ४५८   | १७      | • 'उत्तरे' उ                              | 'उत्तरे' प्रधानकर्मान्तरे उ   |
| ४५८   | १८      | कर्मान्तरमिति                             | निष्कास्तृव्यक्रमेव कर्मा<br>न्तरमत्र विधीयत इति                              |
| ४५८   | २८      | स्यादुत कर्मणा                            | स्यादुताङ्गाना  |
| ४६२   | १       | अग्नि                                     | अग्नी   |
| ४६८   | १२      | ॥ ४ ॥                                     | ॥ ४ ॥ [ विपरीतमेतदधि<br>करण भाष्ये ॥ ]  |
| ४७९   | १६      | तग्रहो                                    | तग्रहो  |
| ४८३   | २५      | प्रथने                                    | हरणे  |
| ४८५   | २६      | प्रयोगे स्वरो                             | प्रयोगे भाषिकः स्वरो  |

हमारे यहां हर तरह की छपाई व जित-साजिका काय भी होता है।  
हर तरह के संस्कृत प्र. व. तथा भाषा पुस्तिका मिलाना पत —

**जयकृष्णदास-हरिदास गुप्तः—**

चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस,  
विद्याविलास प्रेम, गोपालमन्दिर के उत्तरफाउर  
बनारस सिटी ।

- ब्रह्मवाद । गोस्वामि श्रीहृत्प्रायजी महाराज विरचित । श्रीगोपालकृष्ण  
भट्ट विरचित त्रिवरणाख्यव्याख्यासमलङ्कृत । तथा गोस्वामी श्रीवज्रनाथ  
विरचितो \*ब्रह्मवाद । तथा \*शुद्धाद्वैतपरिष्कार श्रीमद्रामकृष्णभट्ट  
विरचित । श्रीरघुनाथशास्त्रि विरचित \*शुद्धाद्वैतपरिष्कारतात्पर्यम् ।  
श्रीहरिशङ्कर शास्त्रि—प्रेतान्तविशारदेन विस्तृत भूमिकया विविधपरिशिष्टै  
भाष्यनुवादेन टिप्पण्यादिना च समलङ्कृत । [ शुद्धाद्वैतसम्प्रदाय वि० १ ] २०१—०
- ६३ प्रेमसायनम् । श्रीविश्वनाथपण्डितरचितम् । [ का० वि० ८ ] २०१—०
- ६४ व्यासिपञ्चकरहस्यम् सिंहव्याघ्रलक्षणरहस्य च । श्रीमथुरानाथतर्क  
वागाशकृतम् । न्यायाचार्य प० शिवदत्तमिश्र विरचित गगानिह्वरिणीव्या  
ख्याया टिप्पण्यादिर्विभूषित च । [ न्या० वि० ८ ] २००—१२
- १ सिद्धांतविन्दु । श्रीमत्सूदनसरस्वती विरचित । श्रीभगवान्शङ्कराचा  
र्य विरचित देशलाकव्याख्यारूप श्रीगौड ब्रह्मानन्दविरचित न्यायस्तनावली  
नारायणतीर्थ विरचित लघुव्याख्या टिप्पणीसहित । [ वेदान्त वि० ८ ] २०५—०
- ६६ अन्त्यकर्मदीपक आशौचकालनिर्णयसहित । प्रेतकर्मब्रह्मीभूतयति  
कमनिरूपणात्मक महामहोपाध्याय प० श्री निन्यानन्दपन्तपर्वतीय विरचि  
त । [ कमकाण्ड वि० ६ ] २०१—८
- ७ सारयदर्शनम् । श्रीमद्विज्ञानभिक्षुकृत साख्यप्रपञ्चनभाष्यसमलङ्कृतम् ।  
[ साख्य वि० १ ] २०२—०
- अनेकार्थसङ्ग्रहो नाम कोश । आचार्यश्रीहेमचन्द्रेण विरचित ।  
[ कोश वि० २ ] २०२—०
- ८ शिशुपालवधम् । श्रीमन्माधकविनिर्मित श्रीवल्लभदेवकृतया सन्देहविषौ-  
पधिव्याख्यया महामहोपाध्याय श्रीमल्लिनाथकृतया सर्वङ्गषाव्याख्यया  
समेतम् । सजिल्द रेलज कागज । सम्पूर्णम् । [ काव्य वि० ९ ] २०३—०
- ९ " " " [ सपूर्णम् ] १५ मोटा केगज ० २—४
- १० जामदीशीपञ्चलक्षणी सिंहव्याघ्रलक्षण च । श्रीजगदीशतर्कालङ्कार  
रक्तम् । न्यायाचार्य प० शिवदत्तमिश्र विरचित गगानिह्वरिणीव्याख्या  
टिप्पण्यादि विभूषितं च । [ न्याय वि० ९ ] २००—८
- ७१ ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् । चतुःसूत्र्यन्त पूणानन्दीय व्याख्या सहितया  
श्रीमोविन्दानन्द प्रणीतया रत्नप्रभया समन्वितम् ।  
एषो ग्रन्थ भागद्वये पूर्णो भविष्यति किन्तु विद्यार्थिना शौकर्याधमस्याद्यौ भागो  
द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयपादान्तमस्माभिः समुदय निष्कासित । (द्वितीयोपि  
श्रीप्रभेवमुद्रयित्वा प्रकाशयिष्यते) । प्रथमोभाग (वेदान्तविभागे ९) २०२—८
- ७२ १-सिद्धान्तशिरोमणि । श्रीभास्कराचार्य विरचित । गणिताध्याय  
वासनाभाष्यसहित ज्योतिषाचार्य म० म० श्रीमद्वाणेश्वरशास्त्रिकृतटिप्प  
णी सहित । [ ज्यो० वि० ४ ] २०२—०
- ७२ २ सिद्धान्तशिरोमणि ।

- ७३ काकनरडीश्वरकल्पतन्त्रम् । पण्डित रामकृष्णशर्मेणा सम्पादितम् ।  
पण्डित बटुकनाथ शर्मा एव साहित्याचार्य इत्येतान् लिखितान्  
प्रस्तावनया सनाथीकृतम् । [ आयुर्वेद शास्त्रविभाग १ ] ४
- ७४ किरातार्जुनीयम् । श्रीमत्कविकल्चूडामणिभारविचित्रितम् महिनाथमूर्ति  
कृतया घण्टापथसमाख्यव्याख्या तथा पञ्चश्रावणशर्मणा कृतया सुधा  
व्याख्या समलङ्कृतम् । [ समग्रयमात्रम् ] [ काव्य वि १ ] ४
- ७५ चन्द्रालोक । पीयूषवर्षाजयदेवकवि प्रणीत । आमतत्त्वनाभिमताया  
भिधान प्रद्योतनभट्टाचार्य विरचितया चन्द्रालोकप्रकाशापराख्य 'भारतागम'  
टीकया सङ्कलित । साहित्याचार्य रित्त इत्युपाध्वनारायणशास्त्रिणा  
भूमिदादिभि सम्पाद्य सम्पान्ति । [ अलङ्कार वि ३ ] ४
- ७६ किरातार्जुनीयम् । श्रीमत्कविकल्चूडामणिभारविचित्रितम् । महिनाथ  
सूरिकृतया घण्टापथसमाख्यया तथा पञ्चश्रीकृतकालशर्मेणा कृतया भावा  
र्थदीपिनीव्याख्यया समलङ्कृतम् । [ समग्रयमात्रम् ] [ काव्य वि ११ ] ४
- ७७ शक्तिवाद , श्रीगङ्गाधरभट्टाचार्यप्रणीत , पण्डितप्रसादश्रीहरिनाथनर्कसिन्हा  
न्तभट्टाचार्यविरचितविवृतिसहित । [ न्यायविभाग १० ] ४०
- ७८ माथुरीपञ्चलक्षणी । पञ्चश्रीमानाथाज्यलङ्कृतव्याख्या सहिता तथा  
माथुरीसिंहव्याघ्रलक्षणम् । पञ्चश्रीहरिरामशुक्ल विरचितया व्याख्यया  
सहितं तथा पञ्चश्रीहरिरामशुक्ल सङ्कलित माथुरीपञ्चलक्षणी कोट्टपञ्चग  
च । [ न्याय वि ११ ] ४०
- ७९ रसद्वयाय । टीकया सवलित । [ आयुर्वेदशास्त्र वि० २ ] ४
- ८० पाणिनिव्याकरणे वादरत्नम् । न्यायव्याकरणाचार्य श्रीमातङ्ग क्षिरोमणि  
पञ्चसूर्यनारायणशुक्लेन विरचितम् । ( तत्र च न्याय परिष्कारपरिशिष्टमैत्रेय  
प्रकरण त्रयम् अथ पञ्चन्यून सार्धशतमूत्रेषु १४५ महताद्येन न्यासा  
विवारिता तत्र प्रथमं प्रकरण मुद्रित द्वितीय प्रकरणमपि मुद्रित प्रायः किञ्च  
मेव भवन्त दृष्टि पथमधिगमिष्यतीति । ) प्रथमो भाग । ( व्या० वि १० ) ४
- ८१ गणितकौमुदी-। ( हिन्दीभाषाटीकासहिता ) प्रथमापरीक्षापाठानिर्द्धार  
रितगणितसंग्रहपुस्तकम् । [ गणितविभाग १ ] ४०
- ८२ छन्द कौमुदी । ( हिन्दीभाषाटीकासहिता ) प्रथमापरीक्षापाठानिर्द्धार  
रितछन्दसंग्रहपुस्तकम् । [ छन्दोविभागे ३ ] ४०
- ८३ योगदर्शनम् । महर्षिप्रवरपञ्चजलिप्रणीतम् । तत्र (१) भोजवृत्ति ,  
(२) भावागणेशवृत्ति , (३) नागोजीमहवृत्ति , (४) मणिप्रभा , (५) योग  
चन्द्रिका , (६) योगसुधाकराख्य टीका पट्टकसमेतम् । [ योगदर्शनविभागे १ ] ४०

जयकृष्णदास-हरिदास गुप्त-—

चौखम्बा मस्कूल सीरिज आफिम,

बिद्याबिलास प्रेस, गोपालमन्दिर के उत्तर फाटक बनारस सिटी ।